TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182667

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H 784.71954 T 36H. Accession No. H 4678

Author Narayan. P.

Title Hamara Rashtraget.

This book should be returned on or before the date last marked below.

अनुक्रम

जो रेखाएँ न कह सकेंगी : ११

दृष्टि-पथ : २५

जीवन-वृत्त : ४२

स्मृति-चित्र : १५५

व्यक्तित्व : २८३

विश्रान्तिकाल : ३२९

स्वस्ति : ३४४

परिशिष्ट—१ : ३४५

निराला काव्य चित्रावली—२ : ४०८

युग प्रवर्तक कवि निराला—३ : ४१४

निराला का विराट बादल-राग—४ : ४२३

विद्रोही कवि निराला—५ : ४३१

व्यंग्यकार निराला—६ : ४४७

समापन—७ : ४५५

निराला साहित्य—८ : ४५८

जो रेखायें न कह सकेंगी

एक युग बीत जाने पर भी मेरी स्मृति से एक घटाभरी अश्रुमुखी सावनी पूर्णिमा की रेखाएँ नहीं मिट सकी हैं। उन रेखाओं के उजले रंग न जाने किस व्यथा से गीले हैं कि अब तक सूख भी नहीं पाए—उड़ना तो दूर की बात है।

उस दिन मैं बिना कुछ सोचे हुए ही भाई निराला जी से पूछ बैठी थी—'आप के किसी ने राखी नहीं बाँधी ?' अवश्य ही उस समय मेरे सामने उनकी बन्धन-शून्य कलाई और पीले, कच्चे सूत की ढेरों राखियाँ लेकर घूमने वाले यजमान-खोजियों का चित्र था। पर अपने प्रश्न के उत्तर में मिले प्रश्न ने मुझे क्षण भर के लिए चौंका दिया।

'कौन बहन हम ऐसे भुक्खड़ को भाई बनावेगी ?' में, उत्तर देने वाले के एकाकी जीवन की व्यथा थी या चुनौती यह कहना कठिन है। पर जान पड़ता है किसी अव्यक्त चुनौती के आभास ने ही मुझे उस हाथ के अभिषेक की प्रेरणा दी जिसने दिव्य वर्ण-गन्ध-मधु वाले गीत-सुमनों से भारती की अर्चना भी की है और बर्तन माँजने, पानी भरने जैसी कठिन श्रम-साधना से उत्पन्न स्वेद-विन्दुओं से मिट्टी का शृङ्गार भी किया है।

मेरा प्रयास किसी जीवन्त बवण्डर को कच्चे सूत में बाँधने जैसा था या किसी उच्छल महानद को मोम के तटों में सीमित करने के समान, यह सोचने-विचारने का तब अवकाश नहीं था। पर आने वाले वर्ष निराला जी के संघर्ष के ही नहीं मेरी परीक्षा के भी रहे हैं। मैं किस सीमा तक सफल हो सकी हूँ, यह मुझे ज्ञात नहीं, पर लौकिक दृष्टि से निःस्व निराला हृदय की निधियों में सब से समृद्ध भाई हैं, यह स्वीकार करने में मुझे द्विविधा नहीं। उन्होंने अपने सहज विश्वास से मेरे कच्चे सूत के बंधन को जो दृढ़ता और दीप्ति दी है वह अन्यत्र दुर्लभ रहेगी।

दिन-रात के पगों से वर्षों की सीमा पार करने वाले अतीत ने आग के अक्षरों में आँसू के रंग भर-भर कर ऐसी अनेक चित्र-कथाएँ आँक डाली हैं, जिनसे इस महान् कवि और असाधारण मानव के जीवन की मार्मिक झाँकी

मिल सकती है। पर उन सब को सँभाल सके ऐसा एक चित्राधार पा लेना सहज नहीं।

उनके अस्त-व्यस्त जीवन को व्यवस्थित करने के असफल प्रयासों का स्मरण कर मुझे आज भी हँसी आ जाती है। एक बार अपनी निर्बन्ध उदारता की तीव्र आलोचना सुनने के बाद उन्होंने व्यवस्थित रहने का वचन दिया।

संयोग से तभी उन्हें कहीं से तीन सौ रुपये मिल गए। वही पूँजी मेरे पास जमा कर के उन्होंने मुझे अपने खर्च का 'बजट' बना देने का आदेश दिया।

जिन्हें मेरा व्यक्तिगत हिसाब रखना पड़ता है, वे जानते हैं कि यह कार्य मेरे लिए कितना दुष्कर है। न वे मेरी चादर लम्बी कर पाते हैं न मुझे पैर सिकोड़ने पर बाध्य कर सकते हैं, और इस प्रकार एक विचित्र रस्साकशी में तीस दिन बीतते रहते हैं।

पर यदि अनुत्तीर्ण परीक्षार्थियों की प्रतियोगिता हो तो सौ में दस अंक पाने वाला भी अपने-आपको शून्य पाने वाले से श्रेष्ठ मानेगा।

अस्तु, नमक से लेकर नापित तक और चप्पल से लेकर मकान के किराए तक का जो अनुमान-पत्र मैंने बनाया वह जब निराला जी को पसन्द आ गया, तब पहली बार मुझे अपने अर्थशास्त्र के ज्ञान पर गर्व हुआ। पर दूसरे ही दिन से मेरे गर्व की व्यर्थता सिद्ध होने लगी। वे सबेरे ही आ पहुँचे। पचास रुपये चाहिए—किसी विद्यार्थी का परीक्षा-शुल्क जमा करना है, अन्यथा वह परीक्षा में नहीं बैठ सकेगा। सन्ध्या होते-होते किसी साहित्यिक मित्र को साठ देने की आवश्यकता पड़ गई। दूसरे दिन लखनऊ के किसी ताँगे वाले की माँ को चालीस मनीआर्डर करना पड़ा। दोपहर को किसी दिवंगत मित्र की भतीजी के विवाह से लिए सौ देना अनिवार्य हो गया। सारांश यह कि तीसरे दिन उनका जमा किया हुआ रुपया समाप्त हो गया और तब उनके व्यवस्थापक के नाते यह दान-खाता मेरे हिस्से आ पड़ा।

एक सप्ताह में मैंने समझ लिया कि यदि ऐसे अवढर दानी को न रोका जावे तो यह मुझे भी अपनी स्थिति में पहुँचा कर दम लेंगे। तब से फिर कभी उनका 'बजट' बनाने का दुस्साहस मैंने नहीं किया। पर उनकी अस्त-व्यस्तता में बाधा पहुँचाने का अपना स्वभाव मैं अब तक नहीं बदल सकी हूँ।

बड़े प्रयत्न से बनवाई रजाई, कोट जैसी नित्य व्यवहार की वस्तुएँ भी जब दूसरे ही दिन किसी अन्य का कष्ट दूर करने के लिए अन्तर्धान हो गईं, तब अर्थ के सम्बन्ध में क्या कहा जावे जो साधन मात्र है।

वह सन्ध्या भी मेरी स्मृति में विशेष महत्व रखती है जब श्रद्धेय मैथिली-शरण जी निराला जी का आतिथ्य ग्रहण करने गए।

बगल में गुप्त जी के बिछौने का बंडल दबाये, दियासलाई के क्षण प्रकाश क्षण अन्धकार में तंग सीढ़ियों का मार्ग दिखाते हुए निराला जी हमें उस कक्ष मे ले गए जो उनकी कठोर साहित्य-साधना का मूक साक्षी रहा है।

आले पर कपड़े की आधी जली बत्ती से भरा, पर तेल से खाली मिट्टी का दिया मानो अपने नाम की सार्थकता के लिए ही जल उठने का प्रयास कर रहा था। यदि उसके प्रयास को स्वर मिल सकता तो वह निश्चय ही हमें, मिट्टी के तेल की दूकान पर लगी भीड़ में सब से पीछे खड़े पर सब से बालिश्त भर ऊँचे गृहस्वामी की दीर्घ, पर निष्फल प्रतीक्षा की कहानी सुना सकता। रसोईघर मे दो-तीन अधजली लकड़ियाँ, औंधी पड़ी बटलोई और खूंटी से लटकती हुई आटे की छोटी सी गठरी आदि मानो उपवास-चिकित्सा के लाभों की व्याख्या कर रहे थे।

वह आलोकरहित, सुख-सुविधा-शून्य घर, गृहस्वामी के विशाल आकार और उससे भी विशालतर आत्मीयता से भरा हुआ था। अपने सम्बन्ध में बेसुध निराला जी अपने अतिथि की सुविधा के लिए सतर्क प्रहरी हैं। वैष्णव अतिथि की सुविधा का विचार कर वे नया घड़ा खरीद कर गंगाजल ले आए और धोती-चादर जो कुछ घर में मिल सका सब तख्त पर बिछा कर उन्हे प्रतिष्ठित किया।

तारों की छाया मे उन दोनों मर्यादावादी और विद्रोही महाकवियों ने क्या कहा-सुना यह मुझे ज्ञात नहीं, पर सबेरे गुप्त जी को ट्रेन में बैठा कर वे मुझे उनके सुख-शयन का समाचार देना न भूले।

ऐसे अवसरों की कमी नहीं जब वे अकस्मात पहुँच कर कहने लगे—'मेरे इक्के पर कुछ लकड़ियाँ, थोड़ा घी आदि रखवा दो—अतिथि आए हैं, घर मे सामान नहीं है।'

'उनके अतिथि यहाँ भोजन करने आ जावें' सुन कर उनकी दृष्टि मे बालकों जैसा विस्मय छलक आता है। जो अपना घर समझ कर आये हैं, उनसे यह कैसे कहा जावे कि उन्हें भोजन के लिए दूसरे घर जाना होगा।

भोजन बनाने से ले कर जूठे बर्तन माँजने तक का काम वे अपने अतिथि देवता के लिए सहर्ष करते हैं। तैंतीस कोटि देवताओं के देश में इस वर्ग के देवताओं की संख्या कम नहीं, पर आधुनिक युग ने उनकी पूजा-विधि में बहुत

छ सुधार कर लिया है। अब अतिथि-पूजा के पर्व कम ही आते हैं और यदि ा भी पड़े तो देवता के चौर, अभिषेक, शृंगार आदि संस्कार बेयरा आदि ही म्पन्न करा देते हैं। पुजारी गृहपति को तो भोग लगाने की मेज पर उपस्थित हने भर का कर्तव्य संभालना पड़ता है। कुछ देवता इस कर्तव्य से भी उसे ुक्ति दे देते हैं।

ऐसे युग में आतिथ्य की दृष्टि से निराला जी में वही पुरातन संस्कार है ो इस देश के ग्रामीण किसान में मिलता है।

उनके भाव की अतल गहराई और अबाध वेग भी आधुनिक सभ्यता के छिछले और बँधे भाव-व्यापार से भिन्न है।

उनकी व्यथा की सघनता जानने का मुझे एक अवसर मिला है। श्री सुमित्रानन्दन जी दिल्ली में टाइफाइड ज्वर से पीड़ित थे। इसी बीच घटित को साधारण और अघटित को समाचार मानने वाले किसी समाचार-पत्र ने उनके स्वर्गवास की झूठी खबर छाप डाली।

निराला जी कुछ ऐसी आकस्मिकता के साथ आ पहुँचे थे कि मैं उनसे यह समाचार छिपाने का भी अवकाश न पा सकी। समाचार के सत्य में मुझे विश्वास नहीं था, पर निराला जी तो ऐसे अवसर पर तर्क की शक्ति ही खो बैठते हैं। वे लड़खड़ा कर सोफे पर बैठ गए और किसी अव्यक्त वेदना की तरंग के स्पर्श से मानो पाषाण में परिवर्तित होने लगे। उनकी झुकी पलकों से घुटनों पर चूने वाली आँसू की बूंदें बीच-बीच मे ऐसे चमक जाती थीं मानो प्रतिमा से झड़े हुए जूही के फूल हों।

स्वयं अस्थिर होने पर भी मुझे निराला जी को सान्त्वना देने के लिए स्थिर होना पड़ा। यह सुन कर कि मैंने ठीक समाचार जानने के लिए तार दिया है, वे व्यथित प्रतीक्षा की मुद्रा में तब तक बैठे रहे जब तक रात में मेरा फाटक बन्द होने का समय न आ गया।

सबेरे चार बजे ही फाटक खटखटा कर जब उन्होंने तार के उत्तर के सम्बन्ध में पूछा तब मुझे ज्ञात हुआ कि वे रात भर पार्क में खुले आकाश के नीचे ओस से भीगी दूब पर बैठे सबेरे की प्रतीक्षा करते रहे हैं। उनकी निस्तब्ध पीड़ा जब कुछ मुखर हो सकी, तब वे इतना ही कह सके, 'अब हम भी गिरते हैं। पन्त के साथ तो रास्ता कम अखरता था, पर अब सोच कर ही थकावट होती है।'

प्रायः एक स्पर्धा का तार हमारे सौहार्द के फूलों को बेध कर उन्हें एकत्र

रखता है। फूल के झड़ते या खिसकते ही काला तार मात्र रह जाता है। इसी से हमें किसी सहयोगी का बिछोह अकेलेपन की तीव्र अनुभूति नहीं देता। निराला जी के सौहार्द और विरोध दोनों एक आत्मीयता के वृन्त पर खिले दो फूल हैं। वे खिल कर वृन्त का शृंगार करते हैं और झड़ कर उसे अकेला और सूना कर देते हैं। मित्र का तो प्रश्न ही क्या ऐसा कोई विरोधी भी नहीं जिसका अभाव उन्हें विकल न कर देगा।

गत मई मास की, लपटों में साँस लेने वाली दोपहरी भी मेरी स्मृति पर एक जलती रेखा खींच गई है। शरीर से शिथिल और मन से क्लान्त निराला जी मलिन फटे अधोवस्त्र को लपेटे और वैसा ही जीर्ण-शीर्ण उत्तरीय ओढ़े हुए धूल-धूसरित पैरों के साथ मेरे द्वार पर आ उपस्थित हुए। 'अपरा' पर इक्कीस सौ पुरस्कार की सूचना मिलने पर उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं अपनी सांस्थिक मर्यादा से वह रुपया मँगवा लूँ। अब वे कहने आये थे कि स्वर्गीय मुंशी नवजादिक लाल की विधवा को पचास प्रति मास के हिसाब से भेजने का प्रबन्ध कर दिया जावे।

'उक्त धन का कुछ अंश भी क्या वे अपने उपयोग में नहीं ला सकते ?' के उत्तर में उन्होंने उसी सरल विश्वास के साथ कहा, 'वह तो संकल्पित अर्थ है। अपने लिए उसका उपयोग करना अनुचित होगा।'

उन्हें व्यवस्थित करने के सभी प्रयास निष्फल रहे हैं, पर आज मुझे उसका खेद नहीं है। यदि वे हमारे कल्पित साँचे में समा जावें तो उनकी विशेषता ही क्या रहे !

इन बिखरे पृष्ठों में एक पर अनायास ही दृष्टि रुक जाती है। उसे मानो स्मृति ने विषाद की आर्द्रता ने हँसी का कुमकुम घोल कर अंकित किया है।

साहित्यकार-संसद में सब सुविधायें सुलभ होने पर भी उन्होंने स्वयं-पाकी बन कर और एक बार भोजन करके जो अनुष्ठान आरम्भ किया था उसकी तो मैं अभ्यस्त हो चुकी हूँ। पर अचानक एक दिन जब उन्होंने पाव भर गेरू मँगवाने का आदेश दिया तब मैंने समझा कि उनके पित्ती निकल आई है, क्योंकि उसी रोग में गेरू मिले हुए आटे के पुये खाये जाते हैं और गेरू के चूर्ण का अंगराग लगाया जाता है।

प्रश्नों के प्रति निराला जी कम सहिष्णु हैं और कुतूहल की दृष्टि से मैं कम जिज्ञासु हूँ। फिर भी उनकी सुविधा-असुविधा की चिन्ता के कारण मैं अनेक प्रश्न कर बैठती हूँ और मेरी सद्भावना में विश्वास के कारण वे उत्तरों

का कष्ट सहन करते हैं।

मेरे मौन में मुखर चिन्ता के कारण ही उन्होंने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया, 'हम अब संन्यास लेंगे।' मेरी उमड़ती हँसी को व्यथा के बाँध ने जहाँ का तहाँ ठहरा दिया। इस निर्मम युग ने इस महान कलाकार के पास ऐसा क्या छोड़ा है जिसे स्वयं छोड़ कर यह त्याग का आत्मतोष भी प्राप्त कर सके। जिस प्रकार प्राप्ति हमारी कृतार्थता का फल है उसी प्रकार त्याग हमारी पूर्णता का परिणाम है। इन दोनों छोरों में से एक मनुष्य के भौतिक विकास का माप है और दूसरा मानसिक विस्तार की थाह। त्याग कभी भाव की अस्वीकृति है और कभी अभाव की स्वीकृति पर तत्वतः दोनों कितने भिन्न हैं।

मैं सोच ही रही थी कि चि० वसन्त ने परिहास की मुद्रा में कहा, 'तब तो आपको मधुकरी खाने की आवश्यकता पड़ेगी।'

खेद, अनुताप या पश्चात्ताप की एक भी लहर से रहित विनोद की एक प्रशान्त धारा पर तैरता हुआ निराला जी का उत्तर आया, 'मधुकरी तो अब भी खाते हैं।' जिसकी निधियों से साहित्य का कोष समृद्ध है उसने मधुकरी माँग कर जीवन निर्वाह किया है, इस कटु सत्य पर आने वाले युग विश्वास कर सकेंगे यह कहना कठिन है।

गेरू में दोनों मलिन अधोवस्त्र और उत्तरीय कब रंग डाले गए इसका मुझे पता नहीं, पर एकादशी के सबेरे स्नान, हवन आदि कर के जब वे निकले तब गैरिक परिधान पहन चुके थे। अँगौछे के अभाव और वस्त्रों में रंग की अधिकता के कारण उनके मुँह, हाथ आदि ही नहीं, विशाल शरीर भी गैरिक हो गया था, मानो सुनहली धूप में धुला गेरू के पर्वत का कोई शिखर हो।

बोले 'अब ठीक है। जहाँ पहुँचे किसी नीम, पीपल के नीचे बैठ गए। दो रोटियाँ माँग कर खा लीं और गीत लिखने लगे।'

इस सर्वथा नवीन परिच्छेद का उपसंहार कहाँ और कैसे होगा यह सोचते-सोचते मैंने उत्तर दिया, 'आपके संन्यास से मुझे तो इतना ही लाभ हुआ कि साबुन के कुछ पैसे बचेंगे। गेरुये वस्त्र तो मैले नहीं दिखेंगे। पर हानि यही है कि न जाने कहाँ-कहाँ छप्पर डलवाने पड़ेंगे, क्योंकि धूप और वर्षा से पूर्णतया रक्षा करने वाले नीम-पीपल कम ही हैं।'

मन में एक प्रश्न बार-बार उठता है—क्या इस देश की सरस्वती अपने वैरागी पुत्रों की परम्परा अक्षुण्ण रखना चाहती है और क्या इस पथ पर पहले पग रखने की शक्ति उसने निराला जी में ही पाई है?

निराला जी अपने शरीर, जीवन और साहित्य सभी मे असाधारण हैं। उनमें विरोधी तत्वों की भी सामंजस्यपूर्ण संधि है। उनका विशाल डीलडौल देखने वाले के हृदय में जो आतंक उत्पन्न कर देता है उसे उनके मुख की सरल आत्मीयता दूर करती चलती है।

उनकी दृष्टि में दर्प और विश्वास की धूपछाँही द्वाभा है। इस दर्प का सम्बन्ध किसी हल्की मनोवृत्ति से नहीं और न उसे अहं का सस्ता प्रदर्शन ही कहा जा सकता है। अविराम संघर्ष और निरन्तर विरोध का सामना करने से उनमें जो एक आत्मनिष्ठा उत्पन्न हो गई है उसी का परिचय हम उनकी दृप्त दृष्टि में पाते हैं। कभी-कभी यह गर्व व्यक्ति की सीमा पार कर इतना सामान्य हो जाता है कि हम उसे अपना, प्रत्येक साहित्यकार का या साहित्य का मान सकते हैं, इसी से वह दुर्वह कभी नहीं होता। जिस बड़प्पन मे हमारा भी कुछ भाग है वह हममें छोटेपन की अनुभूति नहीं उत्पन्न करता और परिणामतः उससे हमारा कभी विरोध नहीं होता।

निराला जी की दृष्टि में सन्देह का वह पैनापन नही जो दूसरे मनुष्य के व्यक्त परिचय का अविश्वास कर उसके मर्म को बेधना चाहता है। उनका दृष्टिपात उनके सहज विश्वास की वर्णमाला है। वे व्यक्ति के उसी परिचय को सत्य मान कर चलते है जिसे वह देना चाहता है और अंत में उस स्थिति तक पहुँच जाते हैं जहाँ वह सत्य के अतिरिक्त कुछ और नहीं देना चाहता।

जो कलाकार हृदय के गूढ़तम भावों के विश्लेपण में समर्थ है उसमें ऐसी सरलता लौकिक दृष्टि से चाहे विस्मय की वस्तु हो, पर कला-सृष्टि के लिए यह स्वाभाविक साधन है।

सत्य का मार्ग सरल है। तर्क और सन्देह की चक्करदार राह से उस तक पहुँचा नहीं जा सकता। इसी से जीवन के सत्यद्रष्टाओं को हम बालकों जैसा सरल विश्वासी पाते हैं। निराला जी भी इसी परिवार के सदस्य हैं।

किसी अन्याय के प्रतिकार के लिए उनका हाथ लेखनी से पहले उठ सकता है अथवा लेखनी हाथ से अधिक कठोर प्रहार कर सकती है, पर उनकी आँखों की स्वच्छता किसी मलिन द्वेष में तरंगायित नहीं होती।

ओठों की खिंची हुई सी रेखाओं में निश्चय की छाप है, पर उनमे क्रूरता की भंगिमा या घृणा की सिकुड़न नहीं मिल सकती।

क्रूरता और कायरता में वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वृक्ष की जड़ों में अव्यक्त रस और उसके फल के व्यक्त स्वाद में। निराला किसी से सभीत नहीं, अतः

किसी के प्रति क्रूर होना उनके लिए सम्भव नहीं। उनके तीखे व्यंग की विद्युत-रेखा के पीछे सद्भाव के जल से भरा बादल रहता है।

घृणा का भाव मनुष्य की असमर्थता का प्रमाण है। जिसे तोड़ कर हम इच्छानुसार गढ़ सकते हैं, उसके प्रति घृणा का अवकाश ही नहीं रहता; पर जिससे अपनी रक्षा के लिए हम सतर्क हैं, उसी की स्थिति हमारी घृणा का केन्द्र बन जाती है। जो मदिरा के पात्र को तोड़ कर फेंक सकता है, उसे मदिरा से घृणा की आवश्यकता ही क्या है! पर जो उसे सामने रखने के लिए भी विवश है, और अपने मन में उससे बचने की शक्ति भी संचित करना चाहता है वह उसके दोषों की एक-एक ईंट जोड़ कर उस पर घृणा का काला रंग फेर कर एक दीवार खड़ी कर लेता है, जिसकी ओट में स्वयं बच सके। हमारे नरक की कल्पना के मूल में भी यही अपने बचाव का विवश प्रयत्न है। जहाँ संरक्षित दोष नहीं, वहाँ सुरक्षित घृणा भी सम्भव नहीं।

विकास-पथ की बाधाओं का ज्ञान ही महान् विद्रोहियों को कर्म की प्रेरणा देता है। क्रोध को संचित कर द्वेष और द्वेष को स्थायी बना कर घृणा में बदलने के लम्बे क्रम तक वे ठहर नहीं सकते। और ठहरें भी तो घृणा की निष्क्रियता उन्हें निष्क्रिय बना कर पथ-भ्रष्ट कर देगी।

निराला जी विचार से क्रान्तिदर्शी और आचरण से क्रान्तिकारी हैं। वे उस झंझा के समान हैं जो हल्की वस्तुओं के साथ भारी वस्तुओं को भी उड़ा ले जाती है; उस मन्द समीर जैसे नहीं जो सुगन्ध न मिले तो दुर्गन्ध का भार ही ढोता फिरता है। जिसे वे उपयोगी नहीं मानते उसके प्रति उनका किंचित मात्र भी मोह नहीं, चाहे तोड़ने योग्य वस्तुओं के साथ रक्षा के योग्य वस्तुएँ भी नष्ट हो जावें।

उनका मार्ग चाहे ऐसे भग्नावशेषों से भर गया हो जिनके पुनर्निर्माण में समय लगेगा; पर ऐसी अडिग शिलाएँ नहीं हैं, जिनको देख-देख कर उन्हें निष्फल क्रोध में दाँत पीसना पड़े या निराश पराजय में आह भरना पड़े।

मनुष्य की संचय-वृत्ति ऐसी है कि वह अपनी उपयोगहीन वस्तुओं को भी संगृहीत रखना चाहता है। इसी स्वभाव के कारण बहुत सी रूढ़ियाँ भी उसके जीवन के अभाव को भर देती हैं।

विद्रोह स्वभावगत होने के कारण निराला जी के लिए ऐसी रूढ़ियों पर प्रहार करना जितना प्रयासहीन होता है, उतना ही कौतुक का कारण।

दूसरों की बद्धमूल धारणाओं पर आघात कर उनकी खिजलाहट पर वे ऐसे

ही प्रसन्न होते हैं जैसे होली के दिन कोई नटखट लड़का, जिसने किसी की तीन पैर की कुर्सी के साथ किसी की सर्वांगपूर्ण चारपाई, किसी की टूटी तिपाई के साथ किसी की नई चौकी होलिका में स्वाहा कर डाली हो।

उनका विरोध द्वेषमूलक नहीं पर चोट कठिन होती है। इसके अतिरिक्त उनके संकल्प और कार्य के बीच में ऐसी प्रत्यक्ष कड़ियाँ नहीं रहतीं, जो संकल्प के औचित्य और कर्म के सौन्दर्य की व्याख्या कर सकें। उन्हें समझने के लिए जिस मात्रा में बौद्धिकता चाहिए उसी मात्रा में हृदय की संवेदनशीलता अपेक्षित रहती है। ऐसा सन्तुलन सुलभ न होने के कारण उन्हें पूर्णता में समझने वाले विरल मिलते हैं। ऐसे दो व्यक्ति सब जगह मिल सकते हैं जिनमें एक उनकी नग्न उदारता की प्रशंसा करते नहीं थकता और दूसरा उनके उद्धत व्यवहार की निन्दा करते नहीं हारता। जो अपनी चोट के पार नहीं देख पाते वे उनके निकट पहुँच ही नहीं सकते, अतः उनके विद्रोह की असफलता प्रमाणित करने के लिए उनके चरित्र की उजली रेखाओं पर काली तूली फेर कर प्रतिशोध लेते रहते हैं। निराला जी के सम्बन्ध में फैली हुई भ्रान्त किम्वदन्तियाँ इसी निम्नवृत्ति से सम्बन्ध रखती हैं।

मनुष्य-जाति की नासमझी का इतिहास क्रूर और लम्बा है। प्रायः सभी युगों में मनुष्य ने अपने में से श्रेष्ठतम, पर समझ में न आने वाले व्यक्ति को छाँट कर, कभी उसे विष दे कर, कभी सूली पर चढा कर और कभी गोली का लक्ष्य बना कर अपनी बर्बर मूर्खता के इतिहास मे नए पृष्ठ जोड़े हैं।

प्रकृति और चेतना न जाने कितने निष्फल प्रयोगों के उपरान्त ऐसे मनुष्य का सृजन कर पाती हैं, जो अपने स्रष्टाओं से श्रेष्ठ हो। पर उसके सजातीय, ऐसे अद्भुत सृजन को नष्ट करने के लिए इससे बड़ा कारण खोजने की भी आवश्यकता नहीं समझते कि वह उनकी समझ के परे है अथवा उसका सत्य इनकी भ्रान्तियों से मेल नहीं खाता।

निराला जी अपने युग की विशिष्ट प्रतिभा हैं, अतः उन्हे अपने युग का अभिशाप झेलना पड़े तो आश्चर्य नहीं।

उनके जीवन के चारों ओर परिवार का वह लौहसार घेरा नहीं जो व्यक्तिगत विशेषताओं पर चोट भी करता है और बाहर की चोटों के लिए ढाल भी बन जाता है। उनके निकट माता, बहन, भाई आदि के कोमल साहचर्य्य के अभाव का ही नाम शैशव रहा है। जीवन का वसन्त ही उनके लिए पत्नी-वियोग का पतझड़ बन गया है। आर्थिक कारणों ने उन्हें अपनी मातृहीन सन्तान के कर्तव्य-

निर्वाह की सुविधा भी नहीं दी। पुत्री के अन्तिम क्षणों में वे निरुपाय दर्शक रहे और पुत्र को उचित शिक्षा से वंचित रखने के कारण उसकी उपेक्षा के पात्र बने।

अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से उन्होंने कभी ऐसी हार नही मानी जिसे सह्य बनाने के लिए हम समझौता कहते हैं। स्वभाव से उन्हे वह निश्छल वीरता मिली है, जो अपने बचाव के प्रयत्न को भी कायरता की संज्ञा देती है। उनकी वीरता राजनीतिक कुशलता नहीं; वह तो साहित्य की एकनिष्ठता का पर्याय है। छल के व्यूह में छिप कर लक्ष्य तक पहुँचने को साहित्य लक्ष्य-प्राप्ति नहीं मानता। जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बाधाओं को चुनौती देता हुआ, सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुँचता है, उसी को युग-स्रष्टा साहित्यकार कह सकते हैं। निराला जी ऐसे ही विद्रोही साहित्यकार हैं। जिन अनुभवों के दंशन का विष साधारण मनुष्य की आत्मा को मूर्च्छित कर के उसके सारे जीवन को विषाक्त बना देता है, उसी से उन्होंने सतत् जागरूकता और मानवता का अमृत प्राप्त किया है।

किसी की व्यथा इतनी हल्की नहीं जो उनके हृदय मे गम्भीर प्रतिध्वनि नहीं जगाती; किसी की आवश्यकता इतनी छोटी नहीं जो उन्हें सर्वस्व दान की प्रेरणा नहीं देती।

अर्थ की जिस शिला पर हमारे युग के न जाने कितने साधकों की साधना-तरियाँ चूर-चूर हो चुकी हैं, उसी को वे अपने अदम्य वेग में पार कर आए हैं। उनके जीवन पर उस संघर्ष के जो आघात हैं वे उनकी हार के नहीं, शक्ति के प्रमाणपत्र है। उनकी कठोर श्रम, गम्भीर दर्शन और सजग कला की त्रिवेणी न अछोर मरु में सूखती है न अकूल समुद्र में अस्तित्व खोती है।

जीवन की दृष्टि से निराला जी किसी दुर्लभ सीप में ढले सुडौल मोती नहीं हैं, जिसे अपनी महार्घता का साथ देने के लिए स्वर्ण और सौन्दर्य-प्रतिष्ठा के लिए अलंकार का रूप चाहिए। वे तो अनगढ़ पारस के भारी शिला-खण्ड हैं। न मुकुट में जड़ कर कोई उसकी गुरुता सँभाल सकता है और न पदत्राण बनाकर कोई उसका भार उठा सकता है। वह जहाँ है, वहीं उसका स्पर्श सुलभ है। यदि स्पर्श करने वाले में मानवता के लौह-परमाणु है तो किसी ओर से भी स्पर्श करने पर वह स्वर्ण बन जायगा। पारस की अमूल्यता दूसरों का मूल्य बढ़ाने में है। उसके मूल्य में न कोई कुछ जोड़ सकता है, न घटा सकता है।

आज हम दम्भ और स्पर्धा; अज्ञान और भ्रान्ति की ऐसी कुहेलिका में चल

रहे हैं जिसमें स्वयं को पहचानना तक कठिन है, सहयात्रियों को यथार्थता में जानने का प्रश्न ही नहीं उठता। पर आने वाले युग इस कलाकार की एकाकी यात्रा का मूल्य आँक सकेंगे, जिसमें अपने पैरों की चाप तक आँधी में खो जाती है।

निराला जी के साहित्य की शास्त्रीय विवेचना तो आगामी युगों के लिए भी सुकर रहेगी, पर उस विवेचना के लिए जीवन की जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है, उसे तो उनके समकालीन ही दे सकते हैं।

साहित्यकार के जीवन का विश्लेषण उसके साहित्य के मूल्यांकन से कठिन है। साहित्य की कसौटी सर्वमान्य होती है, पर उसकी उर्वर भूमि आलोचक के विशेष दृष्टिविन्दु को फूलने-फलने का आकाश दे सकती है। एक कविता का विशेष भाव, एक चित्र का विशेष रंग और एक गीत की विशेष लय, किसी के लिए रहस्य के द्वार खोल सकती है और किसी से टकरा कर व्यर्थ हो जाती है। पर जीवन का इतिवृत्त इतनी विविधता नहीं सँभाल सकता। एक व्यक्ति का कर्म समाज को या हानि पहुँचा सकता है या लाभ, अतः व्यक्तिगत रुचि के कारण यदि कोई हानि पहुँचाने वाले को अच्छा कहे या लाभ पहुँचाने वाले को बुरा तो समाज उसे अपराधी मानेगा। ऐसी स्थिति में कर्म के मूल्यांकन में विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है।

असाधारण प्रतिभावान और अपने युग से आगे देखने वाले कलाकारों के इतिवृत्त के चित्रण में एक और भी बाधा है। जब उनके समानधर्मा उनके जीवन का मूल्यांकन करते हैं तब कभी तो स्पर्धा उनकी तुला को ऊँचा-नीचा करती रहती है और कभी अपनी विशेषताओं का मोह उन्हें सहयोगियों में अपनी प्रतिकृति देखने के लिए विवश कर देता है। जब छोटे व्यक्तित्व वाले किसी असाधारण व्यक्तित्व की व्याख्या करने चलते हैं, तब कभी तो उनकी लघुता उसे घेर नहीं पाती और कभी उसके तीव्र आलोक में अपने अहं को उद्भासित कर लेने की दुर्बलता उन्हें घेर लेती है।

इस प्रकार महान कलाकारों के यथार्थचित्र व्याख्याबहुल हों तो विस्मय की बात नहीं।

साहित्य के नवीन युगपथ पर निराला जी की अंक-संसृति गहरी, और स्पष्ट उज्ज्वल और लक्ष्यनिष्ठ रहेगी। इस मार्ग के हर फूल पर उनके चरण का चिन्ह और हर शूल पर उनके रक्त का रंग है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक, निराला जी के निकट सम्पर्क में भी रहे हैं और

उन्हें समझने वालों के भी। अपनी आँखों देखना अच्छा है, पर यदि दृष्टि को सहायता की आवश्यकता पड़े तो ऐसा स्वच्छ पारदर्शी शीशा लेना अच्छा होता है जो दृष्टि के आधार को विरूप न कर दे।

लेखक ने अपने व्यक्तित्व को निराला में समाहित कर उनके चित्रांकन का प्रयत्न किया है। साहित्य तो उतना ही आया है जितना रेखाओं से छलक न पड़े। कवि के आचरित साहित्य के लिए ऐसा सन्तुलन आवश्यक भी है।

ये मिली-अनमिल, मोटी-महीन रेखायें निराला जैसे विरोधी तत्वों के संघात का सम्पूर्ण चित्र देने में कहाँ तक समर्थ हैं यह दूसरे बता सकेंगे। लेखक के पक्ष में इतना कहना पर्याप्त है कि उसकी प्रत्येक रेखा की भंगिमा निराला जी के विशाल व्यक्तित्व के किसी न किसी अंश को घेरे हुए है।

विजयदशमी २००६ —महादेवी

प्रयाग

महाप्राण निराला

दृष्टि-पथ

आजकल जीवन में राजनीतिक दबाव के कारण यह आग्रह बढ़ता जाता है कि साहित्य व्यक्तिगत नहीं, एक सामाजिक या सामूहिक कर्त्तव्य है। पर मैं तो उसे एक सामूहिक चेतना का व्यक्तिगत स्वरूप मानता हूँ। व्यक्ति का अस्तित्व उठा देने से साहित्य-सर्जन की सम्भावना नहीं रह जाती। मानवता के लम्बे इतिहास में कभी भी किसी साहित्य का निर्माण समूह द्वारा न होकर व्यक्ति द्वारा ही हुआ है। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि साहित्य में व्यक्ति के अस्तित्व को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसकी विकृति अथवा उसके अहंकार को प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि चन्दन के शीतल होने का अर्थ यह नहीं होता कि उसकी आग भी ठण्डी होगी। व्यक्ति अपने साहित्य के साधन चुनने में स्वतन्त्र है पर उसका साध्य निश्चित है—सामूहिक उत्थान की चेतना का विस्तार और उसकी संतुलित व्याख्या। समाजवादी साहित्यकार गरीब, पीड़ित, शोषित तथा उपेक्षित, व्यक्ति, वर्ग एवं समाज के उपादानों से अपने साहित्यिक साधन जुटाता है; सब के समान जीवन-यापन पर जोर देता है, क्योंकि वह समानता और स्वतन्त्रता का उपासक है। छायावादी उसे वस्तु-आश्रय से हीन एक भावात्मक अभिव्यक्ति देता हैं। दोनों का उद्देश्य एक है पर साधन भिन्न-भिन्न। नीचे की दो कविताएँ परीक्षणीय हैं—

शोषित हों पोषित चिर परिचित,
मानवता सनेह-संरक्षित,
अलसित अंध अतीत-प्रीति तज,
नूतन रूप धरो !
आज नव-जीवन-शपथ करो !

—समाजवादी

है चेतन का आभास
जिसे, देखा भी उसने कभी
किसी को दास ?

—छायावादी

समाजवादी कवि शोषितों के लिए मानवता के समान अधिकारों का आग्रह एक प्रतीक अथवा जीवन की विशेष स्थिति के माध्यम से करता है और छायावादी सब को समान तथा स्वतन्त्र देखने की इच्छा को चेतन की सब से बड़ी सार्थकता कह कर उसका समर्थन करता है, जो अधिक सुन्दर और काव्योचित है। जीवन के विकास और गति के साधन समाजवादी भौतिक विज्ञान तथा बुद्धि के सहारे खोजना चाहता है। किन्तु क्या छायावादी 'निराला' की नीचे लिखी कविता में प्रगति के प्राण पुलकित नहीं हो उठे ?—

जिस गति से नयन नयन मिलते,
खिलते हैं हृदय, कमल दल-के
दल खिलते,
जिस गति की सहज सुमति
जगा जन्म-मृत्यु विरति,
लाती है जीवन से जीवन की परमा रति
(वही गति) चरण-नयन-हृदय-वचन
को तुम सिखला दो !
मेरी छवि उर-उर में ला दो !

गति का कितना भावपूर्ण तथा व्यापक निरूपण है, यह पाठक स्वयं देख लें। प्रगति के समाजवादी और सिद्धान्ती तथा उधार लिए हुए स्वरों से 'निराला' की छायावादी प्रगति-आकांक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर और साहित्यिक है। आज से कई वर्ष पहिले 'निराला' ने लिखा था—

और लगाना गले उन्हें—
जो धूल धूसरित खड़े हुए हैं—
कब से प्रियतम है भ्रम ?

क्या इस कविता में पीड़ितों के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण ही आकुलता नहीं है ?

उरवी में कलहीन होइ,
ऊपर कला प्रधान ?
तुलसी देखु कलाप गति
साधन घन पहिचान !

मोर के पैर उसके शारीरिक सौन्दर्य की तुलना में अत्यन्त कुरूप होते है और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति (नृत्य) पृथ्वी की किसी वस्तु के संयोग से सम्भव नहीं होती, पर वही मोर अपने से बहुत दूर आकाश में सजल-श्यामल बादल को देखकर मस्ती से नाच उठता है। इससे दो तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण होता है—पहला यह कि प्रत्येक चेतन का सम्बन्ध संसार की अन्य वस्तुओं में व्याप्त चेतना से होता है और दूसरा यह कि प्रत्येक चेतन व्यापक चेतना के उद्‌बोधन अथवा अभिव्यक्ति के लिए साधन चुनने मे स्वतन्त्र है। जब मोर पक्षी को यह स्वतन्त्रता है तब मनुष्य की इस स्वतन्त्रता का अपहरण करके उसकी कला की अभिव्यक्ति का माध्यम निश्चित करना स्वतन्त्रता के नाम की हत्या करना है। पर आज का मनुष्य विचारों का नहीं, शब्दों का मूल्य अधिक लगाता है, क्योंकि उसको मालूम नहीं कि आर्थिक, राजनीतिक तथा बुद्धिव्यावसायिक नारों को बुलन्द करना साहित्य नहीं है, उसका ढोंग है।

दूसरे विचारकों की विचारावली को बिना समझे-बूझे और बिना अनुभव किए ग्रहण करके व्यक्ति स्वयं कुछ सोचने-विचारने की झंझटों से मुक्त हो जाना चाहता है और फलस्वरूप वह किसी ऐसे व्यक्ति को जो आज की राजनीतिक मान्यता अथवा आर्थिक व्यवस्था के सुझाव से सहमत न होकर दलबन्दी से अलग किसी दूसरे व्यापक और स्वाभाविक सिद्धान्त की बात कहता-सुनता है, तुरन्त पागल या प्रतिक्रियावादी करार देता है। यह तो एक प्रत्यक्ष तत्व है कि व्यक्ति को ठोंक-पीटकर मशीन का पुरजा बनाने से साहित्य-सृजन नहीं होता। सम्भवतः विज्ञान से भी अभी तक साहित्य-सर्जक मशीनों का आविर्भाव नहीं हो पाया। विज्ञान की सारी बहुलता के बीच मे भी जीवन व्यक्ति से ही प्रारम्भ होकर व्यक्तिगत ही समाप्त होता है। यही जीवन की अबाध गति की सबसे बड़ी शपथ है। मशीन अपने एक छोटे से पुरजे के बिगड़ने पर भी अपनी गति, अपना काम रोक देती है, किन्तु अंग-भंग होकर भी मानव जीवनी-शक्ति को संरक्षित किए रहता है, यह सभी जानते हैं। मशीन और प्राणी मे यही मौलिक भेद है। क्या तथाकथित प्रगतिवादियों और राजनीतिज्ञों से यह कहा जा सकता है कि जीवन को मशीन बनाने की अपेक्षा उसे जीवन ही रहने दें?

भौतिक साधन ही जीवन का चरम लक्ष्य नहीं, फिर वह साहित्य का कैसे हो सकता है? साहित्य की सार्थकता जीवन की विविधता के भीतर निहित व्यापक चेतना के विकास तथा उसके कल्याणकर एवं मांगलिक प्रकाशन मे है, सिद्धान्तों के पारायण में नहीं, इतिहास इस बात का साक्षी है। जिस सभ्यता,

संस्कृति तथा साहित्य में आत्मिक उत्थान को अधिक महत्व मिला है, वह बहुत समय तक मानवता का पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ रहा है; जो भावधारा सिद्धान्त, तर्क और केवल भौतिक उन्नति को ही अपना सर्वस्व मान लेती है, वह क्षणिक और कलहपूर्ण होती है। आज का भीषण शीतयुद्ध इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। भारत अविकसित और गरीब रहते हुए भी आज यदि अपनी संस्कृति और अपने साहित्य का सम्मान के साथ स्मरण कर सकता है तो इसी आत्मिक उत्थान के बल पर न कि सैद्धान्तिक कलाबाजियों पर ? हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह परिवर्तनशील संसार अन्त में आत्ममय असंसारियों का ही होकर रहता है। हाँ, आत्मा के उपासक का लक्षण 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' समझने में भ्रम न होना चाहिए। आशय यह है कि साहित्य की सामग्री का कोई सिद्धान्त ऊपर से नहीं लादा जा सकता—

विहग के वे पंख बदले
किया जल का मीन;
मुक्त अंबर गया, अब हो
जलधि जीवन को!
कहा जो न, कहो!

—'निराला'

रूस के रक्त-रंजित हाथों ने जब से क्रान्ति की आहुति दी, तब से संसार में समाजवाद का प्रत्यक्ष प्रचलन हुआ। विश्व के पीड़ित तथा भूखे मानव ने उसमें सामूहिक कल्याण की कल्पना का स्वप्न देखा। वास्तव में समाजवाद एक सुन्दर राजनीतिक व्यवस्था है जिससे किसी का कोई विरोध नहीं हो सकता, किन्तु साहित्य मे उसका एकान्त अधिकार और आधिपत्य खतरे से खाली नहीं। जीवन एक प्रवाह है, उसकी गति और उसका विकास शाश्वत है। परन्तु राजनीति तथा सिद्धान्त सामयिक और अस्थायी होते है। जीवन का निर्माण सिद्धान्तों, आदर्शों और राजनीतिक समस्याओं के लिए ही नहीं हुआ वरन् इन सबका उपयोग उसकी पूर्णता के लिए होता है। तृप्ति-प्राप्ति के प्रयत्नों का ही नाम तो जीवन है। उसे किसी एक सिद्धान्त में बाँधने का प्रयत्न अत्यन्त भयावह होता है। फिर चाहे वह साम्राज्यवाद का सिद्धान्त हो, चाहे समाजवाद का।

साहित्य जीवन की विविधता का सूचक है, उसकी एकरसता का नहीं। यही कारण है कि साहित्य की सामग्री का विषय सदा से विविध और विवादमय

रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन को छोड़कर साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं पर वह जीवन का दर्पण मात्र नहीं, दीपक भी है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अभी तक साहित्य की सर्वमान्य परिभाषा नहीं निश्चित हुई और उसके उद्देश्यों में भी मतभेद है। संसार के मनीषी विचारकों तथा द्रष्टाओं ने अब तक इस विषय का जो विवेचन किया है उसमें भारतीय मत ही सर्वश्रेष्ठ है। 'जीवन क्या है' के दार्शनिक विवादों को उठाना हमारा ध्येय नहीं, क्योंकि हमें केवल उसके उद्देश्यों और उसके विकास के साधनों पर ही विचार करना है। भारतीय मत में जीवन के मुख्य चार उद्देश्य माने गये हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। फ्रायड और मार्क्स की कृपा से काम और अर्थ के आशयों से सभी परिचित हैं, केवल धर्म और मोक्ष का तात्पर्य समझना अनिवार्य है। विज्ञान और बुद्धिबल से आक्रान्त मानव, धर्म और मोक्ष को समझने की अपेक्षा उसका मखौल उड़ाता हुआ आगे बढ़ जाना चाहता है पर इस शुतुर्मुर्गी मनोवृत्ति का जो परिणाम हुआ है वह भी किसी से छिपा नहीं।

धर्म व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण मानवता की अन्तिम सद्भावना है, विकासशील धारणा है। उसे सूक्ष्म सांस्कृतिक उपादान भी कहा जा सकता है, सम्भव है सूक्ष्मता से कुछ लोग घबड़ा उठें, पर यह उचित नहीं। जीवन में सूक्ष्म का वही महत्त्व है जो स्थूल का; जीवन धारण करने के लिए भोजन आवश्यक है, पर जल कम आवश्यक नहीं, यद्यपि वह भोजन से सूक्ष्म है। पानी से भी अधिक वायु की उपयोगिता है जो उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म है। इसी प्रकार धर्म की सूक्ष्म चेतना भी अनिवार्य है। जो नियम तथा विधान मानवता के सामूहिक विकास के लिए आवश्यक है, उन्हीं का नाम धर्म है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म के नाम पर संसार मे समय-समय पर बहुत रक्तपात हुआ है, पर इससे धर्म की महत्ता में बाधा नहीं आती। नरसंहार के आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के दुरुपयोग से विज्ञान की महत्ता कम नहीं होती। उसमे विकार उत्पन्न होते है, जीवन भी विकृत होता है, किन्तु इसके लिए हमे धर्म, विज्ञान और जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए, बल्कि विकारों का परिहार करना चाहिए। आज का रूस ईसा की मूर्ति के सामने गर्दन झुकाने के बजाय लेनिन की मूर्ति को सिर झुकाता है। इसका आशय यह है कि जीवन में धर्म के प्रतीक बदल सकते है, किन्तु उसकी प्रवृत्ति नहीं बदलती। धर्म से यही अभिप्राय है। और मोक्ष? वह तो धर्म से भी बड़ी चीज है। वह जीवन की उसी संघर्षहीन स्थिति का नाम है जिसका स्वप्न आदिमानव-प्रेमी मनु से लेकर मार्क्स तक ने देखा है। मार्क्स इस दृष्टिकोण

से बुद्ध के बाद सबसे बड़ा मोक्षवादी है। यह बात दूसरी है कि बुद्ध ने महाकरुणा और महामैत्री को तथा मार्क्स ने महाबुद्धि और महाविज्ञान को अपना साधन बनाया है। दोनों का लक्ष्य मानवता का कल्याण है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

साधन के अनुसार ही सिद्धि होती है। इसी कारण साधनों के चुनाव और उनके समुचित समन्वय पर जोर दिया जाता है। साहित्य, जीवन का विकास और शान्ति के साधनों का एक समन्वयात्मक संस्कार लेकर चलता है। साहित्य ही क्यों, जीवन स्वयं बहुत से विरोधी तत्वों का संधान है। कहा भी गया है कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में। इसके पीछे समन्वय का ही सम्बल है। साहित्य का सृजन व्यक्ति के माध्यम से होता है, पर वह समूह (समिष्ट) को अपने में समन्वय के द्वारा समेट लेता है, जैसे ससीम सिन्धु अनन्त आकाश को अपने में प्रतिफलित करता है। यह विवाद का विषय नहीं कि जीवन का निर्माण जीवन से ही सम्भव है, निर्जीव जड़ से नहीं। और आदि जीवन, जिससे इस सामूहिक तथा व्यापक जीवन का निर्माण हुआ है, सामूहिक नहीं, व्यक्तिगत ही था। इस प्रकार स्वभाव से ही व्यक्ति का सम्बन्ध शेष समस्त जीवन से स्थापित हो जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु का, प्रत्येक व्यक्ति का अन्य वस्तुओं तथा व्यक्तियों से जन्मजात सम्बन्ध है। प्राणिमात्र मे दो प्रकार की वृत्तियाँ पायी जाती हैं, एक सामाजिक (थ्योरेटिक) और दूसरी काल्पनिक (इमैजिनेटिव) या बौद्धिक। साहजिक वृत्ति विश्व-व्याप्त है और इन्द्रिय-बोध से स्वतन्त्र है। फूल, एक समयविशेष मे वर्णमय रूप के साथ खिलता है और भौरा उसी समय वहाँ पहुँच जाता है। इससे पता चलता है कि विश्व-जीवन में एक साहचर्य (करेस्पॉन्डेन्स) का नियम अनादि काल से वर्तमान है। भौरे का फूल पर बैठ कर गुनगुनाना हमें प्रिय लगता है जो एक आन्तरिक गूढ़ अर्थ का द्योतक है, जिसके फलस्वरूप हम अनुमान कर सकते है कि जीवन में सहानुभूति का भी एक तारतम्य है। इस अखिल जीवन में एक सूत्र ऐसा है जिससे एक स्थान की गति का कम्पन शेष विश्व के तारों को भी कम्पित करने में समर्थ होता है, क्योंकि यह चेतना-सूत्र सब जगह परिव्याप्त है।

इस व्यापक सम्बन्ध का कारण विज्ञान नहीं, बुद्धि नहीं, हृदय नहीं, वरन् एक सहज चेतना है। मनुष्य से लेकर छोटे-छोटे जीव-धारियों तक में यह चेतना पायी जाती है। मधुमक्खी को मधुसंचय की शिक्षा नहीं दी जाती, चिड़ियों को घोसले बनाने की सीख नहीं मिलती, वे सब इसे अपनी सहज चेतना से जानते

हैं। स्वयं मनुष्य भी बहुत सा ज्ञान अपनी सहज चेतना से ही प्राप्त करता है। यही सहज तथा व्यापक चेतना वस्तु में, व्यक्ति में तथा साहित्य में आत्मा के नाम से प्रतिष्ठित है। यों भी प्रत्येक व्यक्ति के दो प्रत्यक्ष विभाग हैं—चेतन और जड़। भाव, विचार तथा बुद्धि व्यक्ति का चेतन रूप है और शरीर उसका जड़ स्वरूप। इन दोनों के समन्वय तथा सहयोग में जीवन की सार्थकता है। जीवन की इस द्वैतता को सूक्ष्म-स्थूल, अन्तर-वाह्य तथा पार्थिव-अपार्थिव एवं आदर्श-यथार्थ आदि कई नामों से अभिहित किया जाता है, पर सब में द्वैत की भावना का ही प्राधान्य है। इस विवेचना से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि संसार की सम्पूर्ण सत्ताओं-आकाश-पाताल, सूर्य-चन्द्र, मिट्टी-पत्थर, फल-फूल, पशु-पक्षी, सभ्य-असभ्य, बालक-युवा, नर-नारी, सब में एक ऐसी चेतना व्याप्त है जिसके कारण सबका स्वाभाविक सम्बन्ध है। साहित्य इस चेतना के संरक्षण तथा परिवर्धन का सबसे सशक्त साधन है। साध्य-साधन योग से साहित्य की व्यापकता इसी चेतना की भाँति विश्वव्यापक है। मरणशील मानव की अमरत्व की आकाक्षा उसकी इसी व्यापकता की सूचना-मात्र है जो उसके साहित्य मे साकार होती है। साहित्य-साधना मे व्यक्ति का जीवन व्यापक तथा बृहत्तर जीवन की प्राप्ति का साधन-मात्र रह जाता है। सभी साधनाओं का यही साफल्य है। जल की स्वाभाविक तरलता का आंशिक स्वरूप होने के कारण बिन्दु ही सिन्धु हो जाता है। साहित्य में व्यक्ति और समूह का भी यही सम्बन्ध है।

विदेशी शिक्षा-दीक्षा के फलस्वरूप आधुनिक हिन्दी-साहित्य में धर्म और विज्ञान के नाम पर सात्विक संस्कारों की अपेक्षा संकीर्ण विचारों और विकारों का बाहुल्य बढ़ता जाता है, जो शुभ नहीं, घातक है। विचार-पूर्वक देखा जाय तो इसका कारण बहुत स्पष्ट है। विदेशी साहित्य के अध्ययन और अध्यापन द्वारा स्वतन्त्र भारत मे भी सब प्रकार की सुविधाओं का उपयोग कर सकने वाला एक शिक्षित वर्ग इस समय देशी-साहित्य पर भी कुछ कृपा करना चाहता है, किन्तु वह अपने विदेशी व्यवहार-ज्ञान के अभिमान के कारण अपनी सांस्कृतिक महत्ता के सामने सिर नहीं झुकाना चाहता। इसलिए उसे एकदम नवीनता का संदेशवाही बनने का ढोंग करना पड़ता है। ऐसी दशा में उसकी अभिव्यक्तियाँ आभ्यन्तरिक अनुभूतियों से अनुप्राणित न होकर राजनीतिक शब्दावलियों और सैद्धान्तिक सूक्तियों से आकुल-व्याकुल रहती हैं। उसकी नव-निर्माण की साधना शब्दों तक ही सीमित है, जीवन में उसकी गति नहीं, क्योंकि नवविधान में अपने स्थानान्तरित होने की आशंका से भी वह भयभीत रहता है। अतएव गौरांग महाप्रभुओं

की भाँति वह सामूहिक ऐक्य का नहीं, व्यक्तिगत अथवा वर्गगत भिन्नता का ही पाठ पढ़ाना चाहता है। उसका ध्येय प्राणिपूजा नहीं वरन् प्राणपूजा है, उसकी शक्ति सृजन के लिए नहीं, संहार के लिए है। अस्तु, ऐसे ढेला-फेंक साहित्यिक नामधारी व्यक्तियों से सावधान रहने की नितान्त आवश्यकता है।

व्यक्ति के बाहर प्रकृति में प्रकाश और रंग की सत्ता फैली है, पर यदि उसकी अपनी आँखों मे प्रकाश और रंग न हो तो वह बाहर के प्रकाश और रंग का अनुमान तथा अनुभव नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब व्यक्ति किसी सिद्धान्त अथवा दल-विशेष का पक्ष लेकर साहित्य का स्वरूप निश्चित करना चाहता है तब उसका प्रयास हास्यास्पद हो उठता है, क्योंकि दलबन्दी की इस नीति के कारण वह कभी भी व्यापक सत्य का साथ नहीं दे पाता, केवल अपने दल की मान्यता का महत्व बढ़ाना चाहता है। उस मान्यता की परिधि के बाहर साँस लेने का प्रयत्न करनेवाला मनुष्य सहज ही में उस दल की घृणा का पात्र बन जाता है। यही कारण है कि सम्प्रति साहित्य में सद्भाव की अपेक्षा एक-दूसरे के प्रति राग-द्वेष का ही प्राधान्य है। प्रामाणिक प्रतिभा की जगह राजनीतिक गुटबन्दियों का बोलबाला है, सामूहिकता के स्थान पर वैयक्तिकता और सम्पूर्ण समाज के सिंहासन पर वर्ग-विशेष का आधिपत्य है। जीवन मे सत्य का पक्ष लेकर अकेले चलना कठिन होता है इसलिए जनसाधारण अपनी रक्षा के लिए किसी न किसी दल का साथ देने लगता है। किसी पार्टी का 'माउथ पीस' बनकर अपने व्यक्तित्व की महानता का अनुभव कर लेता है, किन्तु साहित्य में ऐसी दलबन्दी और वर्ग-संघर्ष का विधान बहुत ही खतरनाक है।

साहित्य का ध्येय सम्पूर्ण जीवन का सुचारु संरक्षण और संचालन है। उसमें कलह नहीं एकता, विभाजन नहीं संयोजन, विषमता नहीं समता, विश्लेषण नहीं संश्लेषण का स्वर-संधान रहता है। जीवन की अभिव्यक्ति का स्वरूप और उसके संचालन का सुझाव कभी साहित्य में पुराना नहीं पड़ता, क्योंकि जीवन के साथ-साथ वह नित नवरूप धारण करता चलता है। जीवन और साहित्य का यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। मैं जीवन को छोड़ कर साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं मानता। साहित्य के सत् तथा व्यापक उद्देश्यों के साथ अपने जीवन का तारतम्य न मिला सकने का एक कारण यह भी होता है कि व्यक्ति अपने को किसी अपरीक्षित विदेशी भाव-धारा में बाँध कर साहित्य में उसी का मान, उसी का प्रतिफलन देखना चाहता है। वर्गवादी के लिए यह और अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि सीमित स्वार्थदृष्टि उन विशेषताओं की ओर अधिक उन्मुख रहती है

जिनकी उसमें कमी होती है; शेष संसार की समस्याएँ उसके लिए नगण्य हो जाती हैं। यों भी मनुष्य का सबसे अधिक परिचय अपनी ही आशा-आकांक्षाओं से होता है न कि किसी दूसरे की आवश्यकताओं से। फिर स्वार्थ ही को सिद्धान्त बना कर प्रभुता को ही भूत-हित मान कर सम्पूर्ण मानवता का कल्याण कैसे किया जा सकता है?

एक जीव का जन्म दूसरे जीव के आधार पर ही होता है। कोई भी जीव कभी अपने-आप पैदा नहीं होता। इस क्रम से मानव-जीवन भी किसी न किसी अन्य प्राणी के जीवन का आधार लेकर ही विकसित हुआ है। मानव की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करने के लिए प्राणि-मात्र के विकास का अध्ययन अपेक्षित रहेगा। फिर उसके विकास के नवीन साधनों का निर्माण किसी भी वर्ग-सिद्धान्त से कैसे सम्भव हो सकता है? जीवन के अभाव और उनकी पूर्ति की विविधता का ध्यान रखे बिना जीवन की गति का निर्देश नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि हम केवल बुद्धिवादी बन कर ही न रह जायं बल्कि बौद्धिक जिज्ञासाओं को जीवन की व्यावहारिक दृष्टि से भी परीक्षित कर लें। इस व्यावहारिकता और जीवन की अनुभूत सद्गति के लिए भारत को विदेशियों का मुखापेक्षी न होकर अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर उन्मुख होना पडेगा और तभी वह अपना, अपने पड़ोसियों का और सारे विश्व का कल्याण कर सकेगा अन्यथा नहीं। संस्कृति का आग्रह रूढ़ि-प्रियता के लिए नहीं होता, क्योंकि जीवन-विकास के सन्तुलित और परीक्षित विचारों की समन्वयात्मक शक्ति को ही संस्कृति का नाम दिया जाता है। समन्वय की भावना भारतीय संस्कृति की मूल-चेतना है। वस्तुतः यहाँ का साहित्य भी समन्वयात्मक रहा है और रहेगा। समन्वय के सार्वजनीन स्वरूप की रक्षा के लिए हमारे दार्शनिक द्रष्टाओं ने जीवन के आधार-भूत सत्य और उसके उत्तरोत्तर विकास की संगति के साथ कुछ सामूहिक मान निर्धारित किये हैं—उनका अनुसरण ही स्थायी शान्ति का वाहक होगा, यह मेरा विश्वास है।

यह बात किसी से छिपी नहीं कि भगवान बुद्ध ने भारतीय संस्कृति के सभी सुन्दर साधनों के समन्वय से ही अपने तत्व-ज्ञान का नव-निर्माण किया था, जिसमें सम्पूर्ण सचराचर के विकास की सम्भावनाएँ सन्निहित है। मानव सदैव से ही जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु से पीड़ित होता आया है, किन्तु उसके लिए सबसे बढ़ कर दुख की बात यह रही है कि वह अप्राप्य वस्तु की तृष्णा से जर्जरीभूत होता रहता है। तृष्णा ही सब दुखों की जननी है। अस्तु, तृष्णा का निरोध ही

दुखों का शमन कर सकता है। इस तृष्णा के निरोध का साधन आर्य-अष्टांगिक मार्ग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न), सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि से ही मानव-मात्र का कल्याण हो सकता है, क्योंकि इसके अनुसरण से दूसरे को दबा कर अपना सुख-साधन करने की तृष्णा का उत्थान नहीं हो सकता। बुद्ध की महाकरुणा और महामैत्री इसी मार्ग का समष्टि-बोध है। यह अनुभूत सत्य है कि बैर से बैर का शमन नहीं होता बल्कि क्षमा से ही होता है। इतिहास के विद्यार्थियों से यह छिपा नही कि बुद्धमत के प्रचार तथा प्रसार में कभी रक्तपात नहीं हुआ।

क्रिश्चियन मत ने इसको अपनाने की चेष्टा की थी परन्तु उसकी परिणति ईश्वरवाद के सिद्धान्त के नाम पर क्रूसेड्स में ही हुई। आज के संसार में ईश्वर की भावना का शैथिल्य है पर उसकी जगह वर्गवाद तथा सिद्धान्तवाद की प्रतिष्ठा हो गयी है। अपने सिद्धान्त के लिए दूसरो की हत्या वांछनीय समझी जाती है। बौद्ध होकर भी चीन और जापान इसीलिए लड़े। स्वदेशाभिमान भी बर्बरता की सीख धारण कर रहा है। अमेरिका और यूरोप इसके अगुआ है। योरोप तथा अमेरिका के प्रभाव मे होने के कारण क्या भारत भी इसी संकुचित प्रवाह मे बह जायगा ? राजनीतिक प्रभाव के कारण क्या वह अपनी सांस्कृतिक महत्ता को भी छोड देगा ? यदि ऐसा हुआ तो परिणाम कभी अच्छा नही हो सकता। एक और भी नयी समस्या सामने आ रही है। मार्क्सवादी कम्यूनिस्टों का कहना है कि ये सभी समस्याएँ वर्ग-चेतना से ही सुलझ जायँगी। पर क्या साध्य के अनुसार ही सिद्धि का होना असत्य हो जायगा ? जर्मनी के प्रतिकार के लिए स्वयं रूस भी अपने वर्ग-चेतना के सिद्धान्त का पालन नहीं कर सका और उसे फिर से उसी संकुचित स्वदेशाभिमान का सहारा लेकर जर्मनी की ही भाँति लाखों निरीह मानवों की हत्या करनी पड़ी है। जर्मनी की युद्ध-घोषणा के बाद मास्को का नीति-प्रचार का आयोजन हमारे सामने है।

जहाँ तक हत्या, दबाव और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हरण का प्रश्न है वहाँ तक रूस और जर्मनी में कोई अन्तर नहीं। रसल महोदय ने ठीक ही लिखा है :—

"मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर फाशिस्टवाद और साम्यवाद असाधारण रूप से समान है। अब तक राजनीतिज्ञों और पूंजीपतियों में जो शक्ति विभाजित रही है, उसे अपने व्यक्तित्व में सीमित करने के लिए महत्वा-

कांग्री राजनीतिज्ञ इन दोनों सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं। बेशक इनके सिद्धान्त भिन्न-भिन्न है, लेकिन सिद्धान्त तो राजनीतिज्ञों का अस्त्र-मात्र है। जिस प्रकार सैनिक के लिए बन्दूक है उसी प्रकार उनके लिए सिद्धान्त। अगर राजनीतिज्ञ के शब्दों पर विचार करें तब भी यह मनोवैज्ञानिक रूप मे सत्य सिद्ध होगा। दोनों दलों की टेकनीक भी एक ही है। पहले किसी अल्पमत को घृणा फैलाने वाले सिद्धान्त के द्वारा प्रभावित करना, फिर इस अल्पमत मे सैनिक-शक्ति केन्द्रित करना और अन्त मे रक्तपात की स्थापना करना।"

तो क्या भारत भी ऐसे सैद्धान्तिक सर्वनाश का प्रयास करेगा? कदापि नहीं। मातृभूमि से अधिक पितृभूमि के प्रति अपना अधिक उत्तरदायित्व समझने वाले अवसरवादी राजनीतिज्ञों के चक्कर मे पड़ कर हमे अपने भीतर घृणा का बीज नहीं बोना चाहिए। हमारा कल्याण तो सारे विश्व के साथ भारतीय कर्म, ज्ञान और आस्था अर्थात् सम्पूर्ण मानवता के हित प्रयत्न (हाथ), मस्तिष्क और हृदय के समन्वय से ही होगा। भारतीय साहित्य मे इसी कर्मयोग के प्रचार की आवश्यकता है न कि वर्ग-विद्रोह की? हमे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि निर्माण मे उद्वेलन की नही, स्निग्ध स्पन्दन की आवश्यकता होती है। स्वास्थ्य के लिए आँधी की नही, शीतल मन्द-समीर की अपेक्षा रहेगी, इसे कौन नहीं जानता? सहृदयतापूर्ण-भाव से 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की सामूहिक चेतना के साथ गतिशील होकर ही हम प्रगतिशील कवि के उज्ज्वल भविष्य का दर्शन कर सकेंगे जहाँ :—

डूब गये सब तर्क, वाद,
सब देशों-राष्ट्रों के रण,
डूब गया रव घोर क्रान्ति का,
शान्त विश्व-संघर्षण!

पुराने पश्चिमी बादशाह सप्ताह के किसी शुभ दिन को समीप के किसी रोगी के पास जाकर अपने प्रति एक पुण्यलाभ का अनुमान किया करते थे। एक दिन बादशाह ने अपने गुलाम से पूछा—'आस-पास कोई बीमार है?' गुलाम ने उत्तर दिया—'नहीं सरकार, आपकी कृपा से सब स्वस्थ हो गये।' बादशाह बिगड़ उठा और बोला—'अभी तुझे हंटर लगवाता हूँ। तू खुद बीमार पड़ेगा और फिर मेरी दया से अच्छा होगा।' वह गुलाम इतना पीटा गया कि प्रायः अर्द्ध-मूर्छित हो गया और बादशाह सलामत के विशेष अनुसन्धान से अच्छा

हुआ। आज के जीवन की भी कुछ वैसी-ही स्थिति है। विदेशी वर्ग-सिद्धान्त यदि बादशाह है तो देशी भारतीय सर्ववाद गुलाम। यों भी 'साहब की जाति, जाति होत है गुलाम की'। भारतीय जीवन अपनी सांस्कृतिक महत्ता और अपने सार्वभौम सिद्धान्तों को भूल कर विदेशियों के अन्धानुकरण में व्यस्त है, किन्तु भारतीय जीवन की रक्षा किसी बादशाह (व्यक्ति विशेष) से अथवा किसी वर्ग-विशेष से सम्भव नहीं। उसका नव-निर्माण और अभिनव-विकास उसकी दिगन्त व्याप्त सांस्कृतिक चेतना से ही, जिसका सहज स्वर "वसुधैव कुटुम्बकम्" है, सम्भव होगा। जीवन की इस सामूहिक भावना का प्रतिफलन भारतीय साहित्य का संविधान सदैव अखण्ड और अविभाज्य रहा है।

साहित्य में व्यापक, विराट और अखण्ड रूपों की स्थापना जीवन को उदार बनाने में सहायक होती है। उसी मे यदि सीमित, लघु और खण्ड-रूपों की प्रतिष्ठा की जाय तो उससे जीवन में अनुदारता का आधिक्य होने लगता है, क्योंकि वर्ग-स्वार्थ की सीमा में ही अनुदारता को प्रश्रय मिलता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उदारता विकास, गति, विस्तार और सजीवता की स्वाभाविक सूचना है और अनुदारता ह्रास, स्थिरता, संकोचन और मृत्यु की सहचरी है। साहित्य में उदात्तीकरण को अनिवार्यता निश्चित है। मनीषियों ने सम्भवतः ऊर्ध्वगामी साहित्य को इसीलिएस्वभावतः अन्तःकरण की साधनात्मक अभिव्यक्ति कहा है। जीवन की भाँतिसाहित्य भी द्वन्द्वात्मक होता है। साहित्य की गति की आहुति सद्वृत्तियाँ है। जीवन मे, साहित्य मे, सद्वृत्तियों और दुर्वृत्तियों का निरन्तर संघर्ष होता रहता है। जीवन मे कभी-कभी सद्वृत्तियाँ पराजित भी हो सकती हैं, होती भी हैं, किन्तु साहित्य में उनकी विजय अवश्यम्भावी है। आभ्यन्तरिक उत्ताप और दबाव से कोयला हीरा बन जाता है। इसी तरह साहित्य में मानवीय प्रवृत्तियाँ भी प्रोज्ज्वल होकर ही प्रकाशित होती है। जीवन और साहित्य में यही अन्तर है। यह पहले कहा जा चुका है कि साहित्य अंतःकरण की अभिव्यक्ति है और अंतःकरण मानव की उस चेतना का केन्द्र है जहाँ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का समन्वय होता है। जीवनोपयोगी किसी भी भावधारा का परीक्षण इन्हीं मानसिक शक्तियों से होता है। आधुनिकतम पाश्चात्य मनोविज्ञान भी किंचित उलट-फेर के साथ विचार-निर्धारण की स्थितियाँ इन्हीं को मानता है। कवि 'प्रसाद' ने इसी अंतःकरण को 'चिति का विराट वपु मंगल' कहा है।

सूर्यमुखी फूल का सूर्य के साथ-साथ पश्चिम की ओर घूमना किसी वैज्ञानिक तथा राजनीतिक एवं धार्मिक सत्य का प्रमाण नहीं वरन् इसी कण-कण में

व्याप्त चेतना का प्रत्यक्ष प्रतीक है। साहचर्य, सहानुभूति और संघर्ष की समष्टिव्यापी चेतना पर आज का श्रेष्ठ वैज्ञानिक आइंस्टाइन भी विश्वास करता है। यह चेतना केवल चेतन में ही नहीं वरन् जड़ में भी प्रसुप्त रूप से व्याप्त रहती है। सर विलियम क्रुक्स ने ठीक ही कहा है—"जड़ वस्तु (मैटर) और भौतिक शक्ति (इनर्जी) के मूल में जो सूक्ष्म तथा व्यापक शक्ति (सटिल फोर्स) है उसी का अन्वेषण करना भविष्य के वैज्ञानिकों का काम होगा"। इस प्रकार वैदिक ऋषियों के साथ-साथ पाश्चात्य वैज्ञानिक हेगेल, टाम्सन, रेम्जे तथा क्रुक्स आदि भी यह मानते हैं कि जड़-जगत् और उस पर क्रिया करने वाले विद्युत, आलोक, ताप आदि भौतिक पदार्थों के मूल में एक व्यापक चेतना का अदृश्य अस्तित्व अवश्य है और यह विश्व-व्यापक भी है। इसी चेतना के प्रबुद्ध और प्रसुप्त स्वरूपों से इस चेतन एवं अचेतन जगत् का क्रमिक विकास के द्वारा प्रादुर्भाव हुआ है। कणाद का परमाणुवाद इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। बुद्ध और कणाद यह भी मानते हैं कि एक वस्तु का नाश होकर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। बीज का नाश होने से अंकुर और अंकुर का नाश होकर पेड़ पैदा होता है। किन्तु यहाँ स्मरण रखना होगा कि पेड़ के सभी गुण बीज में वर्तमान हैं, क्योंकि बीज के स्वरूप का नाश होने पर भी उसमें सन्निहित द्रव्य का नाश नहीं होता। आशय यह है कि इस विश्वव्यापक चेतना का अस्तित्व सभी स्वीकार करते हैं।

साहित्य में इसी चेतना की आन्तरिक एकता के माध्यम से मानवीय सामूहिक समता का सामाजिक साधन संगठित होता है। महर्षि टालस्टाय ने लिखा है—"अध्यात्मवादियों के कथनानुसार कला सौन्दर्य की रहस्यमय प्रज्ञा अथवा ईश्वर की अभिव्यक्ति ही नहीं है, बल्कि यह मनुष्य की, प्राणिमात्र की परस्पर एकता तथा समता का साधन है, जो व्यक्ति तथा समाज के कल्याण और जीवन के विकास के लिए अनिवार्य है।" सम्भवतः सामूहिक एकता और समता का शाश्वत ध्येय साहित्य के अस्तित्व की सबसे बड़ी शपथ है। तभी तो साहित्य की एकता और समता केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहती वरन् उसके द्वारा हम पशु-पक्षियों एवं कीट-पतंगों तथा शिला-निर्झरों से भी तादात्म्य का अनुभव करते हैं। अपने नवजात शिशु के लिए व्याकुल गाय का वर्णन हमारे मन में एक सहानुभूति का संचार करता है। उस समय हम भूल जाते हैं कि गाय पशु है और हम मानव। शिलामयी अहल्या का रूपक जड़-चेतन की सहज सहानुभूति का ही उदाहरण है। जीवन की सारी हीनताओं और कुरूपताओं

के बीच भी अपने लक्ष्य की इसी व्यापकता और महानता के कारण साहित्य जंगल की सरला मृगी की भाँति, सरिता की जलधारा की भाँति मलिनता के सम्पर्क में रहने पर भी बिना प्रयास ही अपनी निर्मलता को बचाये रखता है, क्योंकि साहित्य जीवन का ऐसा स्वर है जो आलसियों की भाँति कार्यविमुख होकर सो नहीं जाता, संकीर्ण स्वार्थगत स्थितियों मे स्थिर नहीं हो जाता, भौतिक वैभव की वांछा में बँध नहीं जाता, सत्य-प्राप्ति के प्रयत्नों से प्राण नहीं बचाता किन्तु विशाल और व्यापक विश्व-जीवन के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझता हुआ जीवन के उत्तरोत्तर विकास का सहयोगी और संरक्षक बनता है। इसलिए मैं साहित्य को जीवन का केवल दर्पण नहीं, वरन् दीपक भी मानता हूँ।

साहित्य का यह स्वरूप वर्ग-विषमताओं की उन अभिव्यक्तियों को जो ईर्ष्या-द्वेष को सन्तुष्ट और सहानुभूति को शिथिल करती है, कभी संरक्षण नहीं दे सकता। भारतीय साहित्य का यही दृष्टि-पथ है। पाश्चात्य देशों की भाँति भारतीय साहित्य बल के द्वारा विजय-प्राप्ति का आयोजन नहीं करता वरन् उसकी सिद्धि, मंगल के द्वारा प्राप्त होती है। महाकवि कालिदास की 'शकुन्तला' और शेक्सपियर का 'टेम्पेस्ट' पूर्वी और पश्चिमी भावधाराओं के विश्वमान्य प्रतीक हैं। शकुन्तला मे प्रीति, शान्ति और सद्भाव का उत्थान है, तो 'टेम्पेस्ट' मे पीड़न, शासन और दमन का ताण्डव नृत्य। शकुन्तला मे चेतन-अचेतन सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एक आन्तरिक आत्मीयता और विकासशील कल्याण का बन्धन है, तो 'टेम्पेस्ट' मे मनुष्य-मनुष्य, तथा मनुष्य-प्रकृति के साथ आधिपत्य-प्राप्ति के लिए षड्यन्त्र, विश्वासघात और गुप्त हत्या का तुमुल कोलाहल। शकुन्तला में मानव-जीवन तपस्या, साधना और संयम के द्वारा आन्तरिक शान्ति प्राप्त करता है, तो 'टेम्पेस्ट' मे भय, अवसर और विनाश के द्वारा सम्पत्ति-लाभ। 'टेम्पेस्ट' की चरम परिणति धनियों का लक्ष्य हो सकती है, साहित्यकार का नहीं। मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य-प्रकृति की सहज एकता तथा भिन्न भावों का समन्वय भारतीय साहित्य की अन्यतम विशेषता है। गेटे ने शकुन्तला के विषय में ठीक ही कहा है—"यदि कोई तरुण वत्सर के फूल और परिणत वत्सर के फल, मर्त्य और स्वर्ग एकत्र देखना चाहे तो वे उसे शकुन्तला मे मिलेंगे"। वास्तव में आत्म-स्वरूप की रक्षा के साथ सम्पूर्ण सृष्टि से आत्मीय भावनाओं का स्निग्ध तथा सुन्दर समन्वय एकमात्र भारत की ही स्थायी निधि है।

मैं किसी तरह भी यह समझ नहीं पाता कि अपने साहित्य के इस उच्च आशय को छोड़ कर उसे किसी राजनीतिक या सैद्धान्तिक विशेष वर्ग मे बाँधना उचित है ? साहित्य को मध्यकालीन सैद्धान्तिक तथा मार्मिक कलह और हत्या का अखाड़ा बनाना भयावह होगा, इसमें सन्देह नहीं। समाज का नव-निर्माण सामूहिक मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति और उसकी चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर ही होगा न कि किसी दल-विशेष की स्वार्थ-परायण कुटिल नीति से ? अपने को सर्वज्ञ मान लेना मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता है क्योंकि इस आवेश मे वह यह नहीं समझ पाता कि कौन-सी बात विवेकपूर्ण तथा स्वाभाविक है और कौन सी बात झूठी और भ्रमपूर्ण है। उसका लक्ष्य केवल अपनी ही रुचि की वस्तु ग्रहण करना होता है। जो लक्ष्य उसकी रुचि के अनुकूल नहीं पड़ता, उसका महत्व वह कभी स्वीकार नही करना चाहता। आजकल सबसे खूँखार और भयानक मनुष्य का शत्रु मनुष्य ही है, क्योंकि आक्रमण को ही वह अपनी रक्षा का सर्वश्रेष्ठ साधन समझता है। वर्तमान महायुद्ध इसी कारण हुआ। बल तथा दण्डनीति से जीवन को दबा रखना केवल सामयिक उपचार है। शाश्वत सुधार तो स्नेह और मंगल की सामूहिक साधना मे ही हो सकता है। जीवन की तात्कालिक समस्याएँ महत्व रखती हैं; पर उनका महत्व साहित्य की सनातनता मे आघात नहीं पहुँचाता। साहित्य सामयिकता के साथ-साथ शाश्वत चेष्टा को भी चरितार्थ करता है, अस्थायी समस्याओं के सुझाव के साथ चिरस्थायी प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता है। प्रत्यक्ष सृष्टि के प्रतिघात स्वरूप हमारे भीतर जो सृष्टि का आवेग भरता है उसी का विकास साहित्य है, वह आविष्कार नहीं, अनुकरण भी नहीं, वह एक सृष्टि है। और कोई भी सृष्टि बाहर से पहले भीतर अपना स्वरूप पा लेती है, तब उसकी बाहर प्राण-प्रतिष्ठा होती है। इसी कारण साहित्य का प्रधान आधार ज्ञान का विषय न होकर भाव का विषय है। भाव का विषय प्रचारित होने से पुराना नहीं पड़ता पर ज्ञान की बात को एक बार जान लेने के पश्चात् दूसरी बार जानने की आवश्यकता नहीं रहती। सूर्य के पूरब से निकलने की बात मे उतना आकर्षण नहीं जितना सूर्योदय में। ज्ञान पुराना पड़ने पर फीका पड़ जाता है, पर अनुभव की प्राचीनता उसकी प्रौढ़ता का प्रमाण है। ज्ञान प्रचार और अपने उद्देश्य की सफलता के पश्चात् समाप्त हो जाता है, पर अनुभव अपनी सारी प्राचीनता के साथ भी प्रत्येक व्यक्ति के साथ नित नव-नवीन रूप में अपना विकास करता चलता है। आग गरम है, जल तरल है और बर्फ शीतल है, इसे हम सभी ज्ञान से जानते है, पर आग की

गरमी, जल की तरलता और बर्फ की शीतलता का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति अभिनव रूप से करता है और चिरकाल तक करता जायगा। ज्ञान, बुद्धि के द्वारा स्थायी और निश्चित हो जाता है, किन्तु अनुभव, हृदय के साथ सतत् संचरणशील रहता है। बुद्धि, कभी प्रमाण की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती, पर हृदय देह की सीमा का उल्लंघन करके उसके बाहर भी विहरण करता है। संक्षेप में कहा जाय तो साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है जो ज्ञान की अपेक्षा अनुभव से अधिक प्रस्फुटित होता है। वस्तुतः बाह्य-प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय में जो अनुभूत स्वरूप धारण करते हैं, जिस संगीत को झंकृत करते हैं, वही चित्र और वही गान साहित्य है।

जिस प्रकार बाह्य-सृष्टि अपनी अच्छाई-बुराई और अपनी अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा अपनी असम्पूर्णता के साथ अनादि काल से अपने को व्यक्त कर रही है उसी प्रकार मनुष्य के भीतर की अनुभूत सृष्टि अपने को प्रकाशित करने का प्रयत्न करती है, क्योंकि अनुभव के प्रकाशमय विकास को ही तो सृष्टि कहते हैं। निराला जी ने लिखा है—'यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बंद होकर नहीं निकलता है। वह किसी उद्देश्य की पुष्टि के लिए नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं आता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का कल्याण हुआ है। जब कुछ खास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। यह अनुल्लंघ्य दर्शन है। इसीलिए वृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावों से भरा हुआ साहित्य कभी देश, काल या संख्या में नहीं रहा और उसी से देश, काल और संख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। गेटे के समय में जर्मनी पर नैपोलियन का आक्रमण हुआ था, गेटे इस आक्रमण से उदासीन रह कर अपने साहित्य-सृजन में व्यस्त था। उसके कुछ जर्मन राजनीतिक मित्रों ने कहा कि उसे आक्रमणकारिणों के विरुद्ध प्रचारात्मक तथा घृणात्मक साहित्य लिखना चाहिए, पर गेटे ने उत्तर दिया कि उसने प्रेम करने के बाद, उसका अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही प्रेम-गीत लिखे हैं फिर वह बिना घृणा किए किसी के विरुद्ध घृणा-पूर्ण साहित्य कैसे लिख सकता है? ऐसा न करने से गेटे की महानता में कोई अन्तर नहीं आया। गोस्वामी तुलसीदास ने विदेशी शासक मुसलमानों के विरुद्ध घृणा का प्रचार करने की अपेक्षा रामचरित मानस की रचना की, किन्तु उनमें साहित्यिक विशेषताओं और महानताओं की कमी का किसी ने आरोप नहीं किया,

क्योंकि उनमें हृदय की व्यापकता और अनुभव की सचाई है, प्रचार की परवशता और नीति की निपुणाई नहीं। अस्तु,

साहित्य का विचार करते समय केवल दो बातों पर ध्यान देना चाहिए। पहली, साहित्यकार का हृदय कितना व्यापक है और संसार के ऊपर उसका कितना अधिकार है। दूसरी, वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है, अनुभव का बल उसे कहाँ तक प्राप्त है और इन दोनों का सामंजस्य उसने किस सीमा तक किया है। साहित्य की विशिष्टता का यही मापदण्ड है। मानव-हृदय की इसी अनुभावित और आकस्मिक तथा अनानुमात्मक अनुभूति की सृष्टि संसार के सभी महान् साहित्यकार व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, टैगोर, गेटे, शेक्सपियर, दान्ते, टालस्टाय, ह्यूगो आदि करते आये हैं और आज भी उनके उत्तराधिकारी करते जा रहे हैं। निराला जी इसी मानव-हृदय और उनके चरित्र की चिरन्तन चेष्टा के सृष्टिकार हैं, साहित्यकार हैं। उनका कहना है—

मुदें पलक, केवल देखें उर में—
सुनें सब कथा परिमल सुर में,
जो चाहें, कहें वे कहें।
जैसे हम हैं वैसे ही रहें!

• • •

जीवन-वृत्त

भारतीय पद्धति में नारियों और कवियों की जीवनी लिखना उचित नहीं माना जाता। इसका आशय यह नहीं कि इनके जीवन में निश्चितरूप से कुछ वर्जनीय अथवा अवर्णनीय होता है। सभी के जीवन-क्रम-विकास में कुछ कठोरता, उदासी और कवित्व-हीनता का दोष आ ही जाता है और स्थितियों की रहस्यमयता भी अनिवार्य हो उठती है।

कवि भावन करता है, सृजन करता है और तटस्थ हो जाता है; नारी की भी यही स्थिति होती है। कवि का जीवन तो उसका काव्य है न कि उसका दैनिक कार्य-कलाप ? उसके आन्तरिक जीवन का परिचय उसकी प्रतिभा से मिलता है; बाह्य परिस्थितियों की प्रतिपल परिवर्तित होने वाली घटनाओं में जीवन का वास्तविक तारतम्य खोजना भी तो सहज नहीं। और सच तो यह है कि कवि की जीवनी की अपेक्षा उसके काव्य का अनुशीलन हमे कवि का अधिक सच्चा और सजीव परिचय दे सकता है, देता है।

कवि किसी एक देश अथवा एक जाति का व्यक्ति नहीं होता, वह अपने समय की अखिल मानवता का प्रतिनिधित्व करता है और उसकी इस विशाल-व्यापकता का ग्रहण उसके जीवन की अपेक्षा उसकी कृतियों से ही सम्भव है, क्योंकि वस्तु-जगत से बहुत ज्यादा अधिकार उसका भाव-जगत में होता है।

इस कारण इस जीवन-वृत्त में निराला के जीवन की केवल कुछ प्रधान तथा उल्लेखनीय स्थितियों और घटनाओं की चर्चा-मात्र से हमें संतोष करना है, विस्तार में नहीं जाना, क्योंकि निराला के पूर्ण परिचय के लिए उनके साहित्य के अध्ययन और मनन की ही अपेक्षा रहेगी।

ऋतुओं में वसंत का स्थान सुन्दरतम है, वह ऋतुराज है। वसंत के आते ही सारी प्रकृति सजीव और सौन्दर्य-पूर्ण हो उठती है। सारी प्रकृति में एक यौवन हँसने लगता है। प्रसाद जी ने यौवन और वसंत का रूपक इस प्रकार बाँधा है—

मधुमय वसंत जीवन-वन के
बह अन्तरिक्ष की लहरों में

कब चुपके से तुम आए थे
रजनी के पिछले पहरों में !

उस समय लताएँ फूलों से लद जाती हैं, जल में कमल भी खिल उठते हैं और वायु के साथ एक भीनी-भीनी सुगंध बहने लगती है। दिन लुभावने, संध्या सुहावनी और रात उन्मादिनी होने लगती है। बसुन्धरा सुसज्जित और आकाश स्वच्छ हो जाता है। वास्तव में अखिल प्रकृति और निखिल विश्व अत्यन्त मनोहर और रमणीय हो जाता है। निराला जी ने लिखा है—

घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मय-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेरे निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के,
प्रथम वसंत में गुच्छ-गुच्छ।

फूलों के गुच्छे, कोयल की कूक, भ्रमरों का गुञ्जार, तितलियों का नृत्य, पक्षियों का फुदकना सभी प्राणों को पुलकित कर देते हैं। लाल-लाल कोपलों तथा रंग-विरंगे सुमनों से आभूषित, मंजरियों के भार से नमित मुक्त कलरव से आपूरित वासंती छटा की महत्ता और उसका आकुल कर देने वाला आकर्षण कौन नहीं जानता ? कालिदास की इस उक्ति में प्राकृतिक शोभा जैसे स्पंदित हो उठी है—

मलयपवनविद्धः कोकिलालाप रम्यः
सुरभिमधुनिषेकाल्लब्ध गन्ध प्रबन्धः
विविध मधुपयूथैर्वेष्ट्मानः समन्ता—
द्भवतु तव वसन्तः श्रेष्ठकालः सुखाय ?

भारत मे हिमालय और बंगाल का वसंत और भी मुग्धकर होता है। 'वहाँ (बंगाल में) मलय पवन बहता है, युक्तप्रान्त (हिन्दी-प्रान्त) में नहीं। बंगाल में ऋतु पहले आती है'। यह निराला ने लिखा है।

ऐसी ही प्राकृतिक सुषमा के बीच निराला का जन्म प्रभात-कालीन प्रकाश-मान कोमल किरणों के साथ सन् १८९६ ई० मे वसंत-पंचमी के दिन महिषादल में हुआ। बालक की ओज-तेजमय मुखाकृति के अनुरूप 'सूर्यकान्त' नाम रखा गया। निराला के पिता पं० रामसहाय जी गढ़ाकोला, जिला उन्नाव के रहने वाले थे। गार्हस्तिक परिस्थितियों की विपन्नता के कारण वे धनोपार्जन के लिए

कलकत्ता चले गए, मेदिनीपुर जिले की महिषादल नाम की जमींदारी में नौकरी कर ली। रामसहाय जी शरीर से स्वस्थ और स्वभाव से आश्वस्त व्यक्ति थे। अपनी कार्यकुशलता और शारीरिक सौम्यता के बल पर उन्होंने शीघ्र ही अपने मालिकों की कृपा का अधिकार प्राप्त कर लिया। उनकी प्रथम पत्नी का देहावसान हो चुका था इसलिये करीब चालीस वर्ष की अवस्था मे उन्होंने दूसरी शादी कर ली और पत्नी को भी बुढ़ौती की लकड़ी की भाँति अपने साथ ही महिषादल लेते गए। उनकी पत्नी बहुत ही स्वस्थ-सुन्दर और समझदार थीं, थोड़ी बहुत शिक्षित भी। निराला की माँ होने का सौभाग्य स्वयं उनके जीवन की सार्थकता का अद्वितीय प्रमाण है।

अभी निराला किशोर ही थे कि उनको माँ का किसी रहस्यात्मक घटना के फलस्वरूप स्वर्गवास हो गया। निराला माँ की ममता और स्नेह-दुलार से वंचित हो गए। उनके मुख पर विषादमयी कोमल करुणा की अमिट छाप इसी आघात की सूचना सदा देती रही। वास्तव मे निराला का जन्म ही वेदना और कठिनाइयों की गोद में हुआ था। माँ की मृत्यु के बराबर शिशु के लिए कोई दूसरा अभिशाप नहीं होता। माँ के वात्सल्य से वंचित बालक अपने कुतूहल का सहानुभूतिमय समाधान और किसी से न पाकर प्रायः आत्मलीन हो जाता है, अपनी सारी जिज्ञासाओं का उत्तर स्वयं अपने मन से माँगने लगता है। माँ के धीरज के साथ बच्चे की बातों को और कोई शायद सुन भी नहीं सकता। पंतजी की माँ का भी, जब वे केवल छः माह के थे, स्वर्गवास हो गया था। निराला और पंत के काव्य में इन अप्रत्याशित दुर्घटनाओं का बहुत भारी प्रभाव परिलक्षित होता है।

माँ के रूप में ही मनुष्य को नारी का प्रथम परिचय प्राप्त होता है और संसार के सभी महापुरुषों के निर्माण में माँ का ममत्व बहुत बड़ा हाथ रखता रहा है, किन्तु शैशव में ही माँ की मृत्यु भी अपना एक विशेष महत्व रखती है। कभी कभी दुलार और स्नेह व्यक्ति के विकास में बाधा बन कर भी उपस्थित होते-हैं और बिना माँ का बालक प्यार के सौभाग्य के साथ उसके दबाव से भी बच जाता है। माँ की ममता से नितान्तहीन व्यक्ति नारी-मनोविज्ञान की पूर्णता से यदि अनभिज्ञ रह जाय तो इसमें आश्चर्य नहीं। निराला को माँ के स्नेह-संसार का कुछ अंश मिला था। जब कि पंतजी इस ममता से एकदम अबोध हैं। स्वभावतः निराला का दृष्टिकोण नारी के प्रति एक दार्शनिक की अतृप्ति का भाव लिए हुए था तो पंत उसके प्रति केवल एक आश्चर्य का भाव रखते हैं।

जहाँ नारी का बोध निराला को करुणा के रूप में हुआ है वहीं पंत को केवल उसकी कल्पना की रहस्यमयता ही अधिक मिली है। इन दोनों कवियों की नारी-विषयक कविताओं में भी यही अंतर स्पष्ट है। निराला ने आगे चल कर पत्नी का प्यार पाया, किन्तु पंत केवल 'भावी पत्नी' की ही कल्पना करते रहे। जहाँ निराला ने लिखा है—

बिना अर्थ की—एक प्रेम ही अर्थ—और निष्काम,
और बहाती हुई शान्ति-सुख की धारा अविराम!
उसमें कोई चाह नहीं है,
विषय-वासना तुच्छ, उसे कोई परवाह नहीं है।
रहे देखते प्रिय को उसके नेत्र निमेष-विहीन
मधुरभाव की इस पूजा में ही वह रहती लीन!

वहाँ पंत जी नारी का यह रूप नहीं दे सके। उनका दृष्टिकोण ही दूसरा है—

बजा दीर्घ साँसों की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार,
पलक पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित प्रतिहार!
बाल युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार,
मदन तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत् उत्सुक दृग-द्वार!

★ ★ ★

सरकाती पट,
खिसकाती लट,
शरमाती झट,
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के घट!

इस प्रकार पंत ने नारी रूप को केवल उसकी स्थूल कमनीयता के कामिनी रूप मे ही देखा है, किन्तु निराला का नारी-दर्शन अधिक सूक्ष्म और स्वस्थ है। निराला के सभी नारी चित्र संयमित और स्वाभाविक हैं। उनमें माँ की महिमा और पत्नी की स्नेहशीलता का उभार है। पंत के प्रायः नारी चित्र मांसल और

स्थूल हैं; कामिनी अथवा प्रेयसी के क्रीड़ा-कलरव से मुखरित और काल्पनिक। निराला के चित्रों में कहीं भी वासना की गंध नहीं मिलती। उनका एक गीत इस प्रकार है—

(प्रिय) यामिनी जागी।
अलस पंकज-दृग अरुण-मुख—
तरुण अनुरागी!
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित—
द्युति ने क्षमा माँगी!
हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक चली मंद-मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल,
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी।

निराला का व्यक्तित्व कभी नारी-आसक्ति से स्खलित नहीं हुआ। वे शृङ्गार और सौन्दर्य के श्लथ से श्लथ चित्रण में भी सदा निर्लेप रहे हैं। प्रसाद और पंत दोनों से अधिक संयमित और सूक्ष्म। प्रसाद और पंत के काव्य में ऐन्द्रिकता का आभास पा लेना कठिन नहीं है, पर निराला में इसका एकान्त अभाव है। महादेवी का शृङ्गार भी शारीरिकता से परे और दिव्य है।

निराला के पिता राजा के प्रियपात्र होने के कारण सम्पन्न भी हो गए थे। वस्तुतः निराला का पालन-पोषण करने में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। इसके अलावा उनके पिता ने एक भारतीय कृषक की मानसिकता और स्वाभाविकता के कारण निराला को किसी धाय के पास अथवा स्कूल में छोड़ना भी उचित नहीं समझा। निराला की स्वस्थ-सुन्दर शिशुता और मातृ-हीन निरीहता पर मुग्ध होकर राजा महिषादल के छोटे भाई उन्हें गोद भी लेना चाहते थे, पर दुर्भाग्य से अधिक सौभाग्य से वे स्वयं ही निराला के इस योग्य होते-होते मर गए और गोद का प्रश्न उनके साथ ही सदा के लिए स्थगित हो गया। अपने जीवन-काल में उन्होंने निराला को कलकत्ते के किसी 'कान्वेन्ट' में रखने की राय

दी थी पर उनके पिता ने इसे नहीं माना और वे स्वयं निराला के माँ-बाप दोनों बने रहे। रामसहाय जी के सहारे वैसवाड़े के बहुत से लोग वहाँ नौकर हो गए थे। इन लोगों के साथ घर पर निराला वैसवाड़ी भाषा में बोलते थे, पर घर के बाहर राजपरिवार में उन्हें बँगला बोलना पड़ता था। निराला के लिए ये दोनों ही भाषायें मातृ-भाषा के समान हैं। उन्होंने 'प्रबंध-प्रतिमा' में लिखा है—बँगला मेरी वैसी ही मातृ-भाषा है जैसी हिन्दी।

निराला जब पाँच वर्ष के हुए तब उन्हें एक बँगला पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा गया। तीन-चार साल तक वहीं पढ़ाई होती रही। भावुक बंगाली अध्यापक निराला को शिक्षण के साथ-साथ अपना स्नेह भी देते रहे तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इसके बाद वे महिषादल के हाई स्कूल में अँग्रेजी पढ़ते रहे। स्कूल में हिन्दी पढने की कोई सुविधा नहीं थी, घर पर सिपाहियों के साथ वे रामायण और ब्रजविलास के द्वारा हिन्दी भी सीखते रहे। लड़कपन से ही निराला का कंठ बहुत सुरीला था और इसके लिये वे रामायणियों के बीच काफी महत्ता भी पाते थे। काम से थके-माँदे सिपाहियों को गा-गाकर रामायण सुनाना एक तरह से इनका नियमित और दैनिक कार्य था। हाई स्कूल में निराला ने द्वितीय भाषा के रूप में संस्कृत ली थी। इस तरह हिन्दी-संस्कृत-बंगला-अंग्रेजी चारों भाषाएँ उन्होंने साथ-साथ सीखीं। निराला ने कक्षा में सदैव सबको पछाड़ा, पढ़ने और लड़ने दोनों में। पर शैशव-काल से ही निराला के स्वभाव में यह बात आ गई थी कि वे अपनी रुचि के विषय को खूब पढ़ते, किन्तु जो अच्छा न लगता उसे एकदम छोड़ भी देते।

आठवीं-नवीं कक्षा तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने अखबार तथा पत्र-पत्रिकाएँ पढ़नी भी प्रारम्भ कर दीं और उसी समय हिन्दी की 'सरस्वती' से उनका परिचय हुआ। बँगला के दबाव की प्रतिक्रिया स्वरूप वे हिन्दी की ओर अत्यधिक आकर्षित हुए। कौन जाने उस बंग-देश में हिन्दी का ज्ञान लेकर वे अपनी महानता भी सिद्ध करना चाहते रहे हों? अब तक वे बँगला में कुछ पद लिखा करते थे, किन्तु अब उनका मन हिन्दी लिखने की भी प्रेरणा पाने लगा। सबसे अलग एक विशेषता रखने की कल्पना से वे पुलकित हो उठे। अवधी और ब्रजभाषा मिश्रित भाषा में वे कुछ कवित्त-सवैया लिखने भी लगे। उन्होंने उस समय लिखे गए एक कवित्त का कुछ अंश इस प्रकार बताया—

करि अंग-भंग बंग-भाषा के समस्त छन्द
ब्रज-अवधी में अब कवित्त हमें लिखनो है।

उस समय कुछ संस्कृत पद भी लिखे थे। तब उनकी उम्र चौदह साल से अधिक नहीं थी। उस संस्कृत पद का कुछ अंश यह है—

जड़ो मूर्खो बालः पशुभरणकार्येषु निरतः
कृपादृष्ट्या जातः कविकुलशिरोभूषण मणि

दसवीं कक्षा तक निराला ने राज-पुस्तकालय के अँग्रेजी-बँगला तथा संस्कृत के बहुत से काव्य पढ डाले, गीता और दर्शन का भी अध्ययन किया। फलस्वरूप क्लास का काम पिछड़ने लगा, किन्तु निराला ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। मातृहीन होने के कारण पिता ने भी कुछ अधिक जोर नहीं डाला और वे बाधाहीन अपने मन का अध्ययन करते गए।

अध्ययन के साथ-साथ सौ सिपाहियों के ऊपर के जमादार का लड़का बन्दूक चलाना न जाने तो निराला उसको कपूत कहेगे। उन्होंने कभी बाप की चोरी में कभी जानकारी में बन्दूक का हथियाना भी शुरू किया और सीखा। निराला जी का कहना था कि लकड़ी-पटा और शैला खेलने में वे पटु थे और कुश्ती तो उन्होंने कभी नहीं खाई। गामा का भी नाम लीजिए कि वह कह उठते—लखनऊ नुमायश मे दो मिनट में पटका था। उनकी इस चतुर्दिक दौड़ में घुड़दौड़ भी शामिल थी, कहने की आवश्यकता नहीं। साधारण जनों के घर के सहपाठी से लेकर राजकुमार तक निराला का लोहा मानते थे। रवीन्द्र के 'ब्वाय आफ फोर-टीन' के पूरे कथा-नायक।

हाई स्कूल की परीक्षा कलकत्ते में होनी थी, निराला भी परीक्षा देने गये। उन दिनों की चर्चा में निराला ने 'सुकुल की बीबी' नामक कहानी मे लिखा है—

'मैं कवि हो चला था। फलतः पढ़ने की आवश्यकता न थी। प्रकृति की शोभा देखता था। कभी-कभी लड़कों को समझाता भी था कि इतनी बड़ी किताब सामने पड़ी है, लड़के पास होने के लिए सर के बल हो रहे है, वे उद्भिज कोटि के है। लड़के अवाक् दृष्टि से मुझे देखते रहते थे, मेरी बात का लोहा मानते थे। किताब उठाने पर और भय होता था, रख देने पर दूने दबाव से फेल हो जाने वाली चिंता। फलतः कल्पना में पृथ्वी-अन्तरिक्ष पार करने लगा। कल्पना की वैसी उड़ान आज तक नहीं उड़ा। वह मसाला ही नहीं मिला। और लड़कों ने पूरी शक्ति लड़ाई थी, इसलिए परीक्षा-फल के निकलने के पहले, तरह-तरह से हिसाब लगा कर अपने-अपने नम्बर निकालते थे, मैं निश्चित, इस-

लिए निश्चिन्त था; मैं जानता था कि गणित की नीरस कापी को पद्माकर के चुहचुहाते कवित्तों से मैंने सरस कर दिया है; फलतः परीक्षा-समुद्र-तट से लौटते वक्त, दूसरे तो रिक्त हस्त लौटे, मैं दो मुट्ठी बालू लेता आया'। इसका आशय यह कदापि नहीं कि निराला पढ़ने में किसी से कमजोर थे। उन्होंने सौ में नब्बे अंक तक पाये हैं। पर हाई स्कूल वाली परीक्षा की तो बात ही विचित्र है; जिसने परीक्षाओं की प्रणाली को ही तोड़ डाला।

किसी ने निराला से कह दिया कि प्रतिभाशाली व्यक्ति कभी परीक्षाओं के चक्कर में नहीं पड़ते, स्वयं रवीन्द्रनाथ नाइन्थ पास हैं-कि निराला को पड़ी निधि मिली। उन्होंने सोचा—मुझे रवीन्द्र से कम थोड़े न होना है, और परीक्षा नहीं दी ताकि केवल नवीं कक्षा पास रहें। जीवन की ऐसी ही घटनाएँ अज्ञातरूप से अपने आदर्श का आकलन करती चलती हैं; व्यक्ति अपने को किसी अपने क्षेत्र के बड़े के साथ मिलाता-जुलाता चलने लगता है, 'आइडेन्टीफाई' करने लगता है। स्कूली परीक्षाओं की यहीं समाप्ति हो गई।

'वंश मर्यादा की रक्षा के लिए विवाह बचपन में हो गया था'। चौदह वर्ष की अवस्था में चाँदपुर जिला फतेहपुर मे निराला की शादी हो गई। स्त्री-हीन गृह के गृहस्थ निराला के पिता पुत्रबधू को घर मे देखने के लिऐ इतने उत्सुक हो उठे कि उन्होंने शादी के बाद शीघ्र गौना भी करा लिया। बहू की अवस्था केवल ग्यारह वर्ष की थी। साधारण हिन्दी-पढी-लिखी, गृह-काज में निपुण और स्वस्थ-सुन्दर पुत्रबधू पाकर निराला के पिता प्रसन्न हो गए। कुछ दिनों तक वे महिषादल में रहीं और बाद मे अपनी ननिहाल मे रहने लगीं। निराला का उनसे बहुत घनिष्ट प्रेम था। उनके पिता जी पेन्शन लेकर भी महिषादल मे ही रहते थे, किन्तु निराला बीच-बीच में बराबर आते-जाते थे; कभी घर, कभी समुराल। पत्नी का एक छोटा-सा चित्र निराला ने सुकुल की बीबी मे दिया है—'एकान्त मे पत्नी जी मिलीं, बड़ी तत्परता से बोलीं—वहाँ नाच देखकर भूल न जाइएगा।' निराला जी एक जमींदार की बारात मे जा रहे थे। उन्होंने उत्तर दिया—'राम भजो'—'क्व सूर्य प्रभवोवंशः क्व चाल्पविषयामतिः'। 'मैं इसका मतलब भी समझूँ'? वह एक कदम आगे बढ़कर बोली, मन मे निश्चय कर कि तुलना में मैंने उन्हें श्रेष्ठ बताया है, समझ कर मैंने कहा—'कहाँ तुम्हारी बाँस-सी कोमल दुबली देह से सूरज का प्रकाश, कहाँ वह जहर की भरी मोटी रंडो'। 'चलो' कह कर वह गर्व-गुरु-गमन से काम को चल दीं। स्नेह-सिक्त इस माधुर्यमय लीलालाप का वर्णन दोनों की आस्थामयो आत्मीयता का एक

छोटा-सा उदाहरण मात्र है। गीतिका का समर्पण भी उन्होंने अपनी पत्नी को किया है—

'जिसकी हिन्दी के प्रकाश से, प्रथम परिचय के समय मैं आँखें नहीं मिला सका—लजाकर हिन्दी की शिक्षा के संकल्प से, कुछ काल बाद देश से विदेश, पिता के पास चला गया था और उस हीन-हिन्दी प्रान्त में, बिना शिक्षक के 'सरस्वती' की प्रतियाँ लेकर, पद-साधना की और हिन्दी सीखी थी; जिसका स्वर गृहजन, परिजन और पुरजनों की सम्मति में मेरे (संगीत) स्वर को परास्त करता था; जिसकी मैत्री की दृष्टि क्षण-मात्र में मेरी रुक्षता को देख कर मुस्करा देती थी, जिसने अन्त में अदृश्य होकर मुझसे मेरी पूर्ण-परिणीता की तरह मिल-कर मेरे जड़ हाथ को अपने चेतन हाथ से उठाकर दिव्य शृङ्गार की पूर्ति की उस सुदक्षिणा स्वर्गीया प्रिया-प्रकृति श्रीमती मनोहरा देवी को सादर।'

इस समर्पण में निराला का अपनी प्रियतमा के प्रति जो भाव सामने आता है वह स्वाभाविक स्नेह के साथ-साथ निश्छल पवित्र-बंधन का महत्व प्रकट करता है। निराला जी का कहना है कि अपनी पत्नी के समान सुघर स्त्री उन्होंने नहीं देखी। उनके जन्मजात कवि स्वभाव और मानसिक स्थितियों के अनुसार मनो-हरा देवी अपने को इस प्रकार परिवर्तित करती चलती थीं कि स्वयं निराला को स्तब्ध रह जाना पड़ता था।

एक बार निराला ने उनको एक पद सुनाकर कहा कि वह उन (पत्नी) के प्रेम पर लिखा गया है, इस पर श्रीमती जी ने उत्तर दिया कि प्रेम व्यवहार की वस्तु है, लिखने से उसकी व्यावहारिक तीव्रता कम भी हो सकती है। निराला से इसका कुछ उत्तर नहीं बन पड़ा और वे चुप हो गए। चार-पाँच वर्ष दोनों ने एक-दूसरे के साथ और सद्भाव का सुख पाया था कि नियति के कठोर हाथों ने एक को बरबस खींच लिया। पत्नी की मृत्यु से निराला का बढ़ता-चढ़ता उत्साह एकदम सिमट कर जम सा गया। वे कुछ खोये-खोये से रहने लगे। कुछ दिन बाद उन्होंने उस प्रेम को अपने काव्य के रूप में हिन्दी-संसार के सामने रखा। यही कारण है कि स्नेह-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में निराला एक दार्शनिक की तटस्थता और विदग्धहृदय की करुणा को नहीं छोड़ पाते। कविता के रूप में उनकी पत्नी का स्नेह व्यापक होकर उनमें समा गया, तो यह स्वाभाविक ही कहा जावेगा।

पाया अमर प्रसाद प्रणय का
मिला तत्व निर्मल परिणय का
लौटी स्नेह-भरी।

सन् '१६ के करीब निराला जी के पिता को लकवा मार गया। निराला बंगाल से उन्हें घर ले आये, पर बीमारी ने मृत्यु के रूप में ही उन्हें ग्रहण किया। इसके पश्चात् निराला पर आपत्तियों की झड़ी लग गई। सन् १८-१६ में निराला का पूरा परिवार ही मृत्यु के मुँह में समा गया। उसी समय उनकी पत्नी की भी मृत्यु हुई थी, जिसने अपनी स्मृति के रूप में एक पुत्र और एक पुत्री को अपने पीछे छोड़ा था। निराला जैसे स्वातन्त्र्य-प्रिय व्यक्ति के लिये इन अबोध बच्चों का भार एक स्थायी बंधन-सा बन गया। पत्नी की असामयिक मृत्यु का शोक ही निराला के लिए वज्रपात से कम नहीं था। ऊपर से बच्चों का पालन-पोषण एक विकट समस्या के रूप में सामने आया। निराला जैसे स्तब्ध रह गए। व्यापक कर्मठता और विचारों की अडिग दृढ़ता शैशवकाल से ही उनकी बहुत बड़ी विशेषता थी। अब निराला, साहित्य-जीवन में पूरे प्राण-प्रवेग के साथ प्रवेश करने को कटिबद्ध हो गए। साहित्य को उन्होंने अपनी पारिवारिक तथा सामाजिक क्षतिपूर्ति का साधन बनाया।

निराला ने जन्म से ले कर हाईस्कूल तक का अधिकतर जीवन महिषादल में ही बिताया था। वहीं राजकुमारों के साथ बढे और पढ़े थे। राज-परिवार में संगीत का शौक था, निराला ने भी संगीत मे निपुणता प्राप्त की थी। गाना-बजाना उनके लिए सहज ही लभ्य था। अभिनय की कला का भी निराला ने अभ्यास किया था—'मैंने गिरीशचन्द्र, डी० यल० राय आदि के बीसियों बँगला नाटक पब्लिक स्टेज पर खेले हैं'! (प्रबन्ध प्रतिमा)! ऐसी स्थिति में उस जगह के प्रति निराला का स्नेह स्वाभाविक ही है। अखाड़े की चर्चा छिड़ने पर निरालाजी वहाँ के अखाड़े की बेहद तारीफ करते थे। उनका अखाड़ा तेल से सींचा जाता था ताकि उसकी मिट्टी मुलायम बनी रहे। गिरने वाले को चोट न लगे। किशोर-कालीन अनेक स्मृतियों का स्थान महिषादल उन्हें बहुत प्रिय था। वे प्रायः उसका स्मरण उच्छ्वास के साथ करते थे। यद्यपि अवध का हृदय वैस-बाडा, कम सुन्दर नहीं, ताल-तलैया, छोटी नदियाँ और नाले, घनी और बड़ी-बडी अमराइयाँ इस प्रान्त की अपनी निजी शोभा है। अवधी का सबसे सुन्दर रूप यहीं बोला जाता है। हिन्दी के पंडित प्रतापनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी

आदि साहित्यिकों की जन्म-भूमि भी यही प्रांत है। जीवन के हर काम में कवियों की उक्तियाँ उद्धृत करना यहाँ के बोल-चाल की सबसे बड़ी खासियत है। वित्त-हीन किसानों के मुँह से कवित्त सुनने को यहीं मिलते हैं। आल्हा तो यहाँ का जन-प्राण है। होली में फाग और सावन में झूले के गीत यहाँ की जनता की सम्पत्ति हैं। गद्य की अनेक कहानियाँ, कहावतों और मुहावरों को नवजीवन देती रहती हैं। निराला की अर्थवाही भाषा मे इस मिट्टी की प्रेरणा प्रत्यक्ष थी; तथापि बंगाल से उनको स्नेह अधिक था।

पिता और पत्नी की मृत्यु के बाद निराला ने महिषादल जाकर स्वयं नौकरी कर ली। राज के काम से प्रायः निराला को कलकत्ते आना-जाना पड़ता था। धीरे-धीरे लोग-बाग उन्हे कलकत्ते में भी मानने-जानने लगे। उनकी बँगला कविताओं की तारीफ महिषादल से कलकत्ते तक समान रूप से होने लगी। 'जुही की कली' का रोब सन् '१६ से ही जम चुका था। जीवन के पचीसे में चढ़ते-चढ़ते वे पूरे सिद्धहस्त कवि बन गए। नौकरी से मन ऊबने लगा; और उन्होंने मन बहलाने के लिए अध्ययन और मनन का सहारा लिया। घर-आफिस सभी जगह कुछ न कुछ पढ़ते-सोचते रहते थे।

माँ-बाप की मृत्यु का आघात तथा पत्नी का अप्रत्याशित वियोग निराला का दृढ़ और दार्शनिक हृदय सहन तो कर गया, किन्तु उनके जीवन में एक प्रकार की अन्यमनस्कता भी निश्चित रूप से छा गई। संसार से क्षोभ-भरी उदासी की प्रवृत्ति भी अपना आभास देने लगी। नौकरी छोड़ने की बात सोचते ही बच्चों की समस्या सामने आ खड़ी होती थी और निराला चुपचाप अपने काम में जुट जाते थे। लोगों ने इस भाव-मुद्रा को सूचना वहाँ के अधिकारियों तथा राजा को भी दी, जिसके फलस्वरूप निराला को लेकर एक विवाद ही चल पड़ा। इस बात से क्षुब्ध होकर सन् '२० मे निराला ने वहाँ से इस्तीफा दे दिया और घर चले आए।

बंगाल छोड़ कर आने पर हिन्दी-प्रांत ने भी उनका स्वागत नहीं किया। घर आने से उनकी परिस्थितियाँ दिन पर दिन जटिल होती गईं। एक दुर्निवार संघर्ष से निराला को भिड़ना पड़ा। इसी समय निराला ने अपनी प्रथम प्रौढ़ रचना 'जुही की कली' सरस्वती में छपने के लिये भेजी, किन्तु द्विवेदी जी ने उसे लौटा दिया। निराला ने सम्भवतः इसी को लक्ष्य कर के लिखा है—

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकले फिर, गंगा-जल-धारा

गृह-गृह की पार्वती
पुनः सत्य सुन्दर शिव को सँवारती।
उर-उर की बनो आरती
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुव तारा।

सरस्वती से कविता लौटने का दुख निराला को कुछ कम नहीं हुआ, पर इससे उनकी प्रतिभा के विकास मे कोई बाधा नहीं पड़ी। जिस प्रकार एक स्वस्थ बीजांकुर पृथ्वी की सारी कठोरता को चीर-फाड़ कर बाहर निकल ही आता है, उसी प्रकार एक सच्चे कवि की प्रतिभा भी अनेकानेक मानसिक, शारीरिक तथा समाजिक बाधाओं के आवरण को छिन्न-भिन्न करके अपना आह्लादकारी आलोक फैला ही देती है। सरस्वती मे निराला ने इस समय एक लेख और भेजा, जो छप भी गया। तभी से द्विवेदी जी से उनका पत्र-व्यवहार भी चलने लगा। द्विवेदी जी नये होनहार लेखकों को प्रोत्साहन देने में कभी नही चूकते थे, पर नवीनता का उनका एक अपना अलग दृष्टिकोण था। निराला के मुक्त-छन्द की मान्यता उनकी समझ-सीमा के बाहर की वस्तु थी। इसके अलावा द्विवेदी जी की एक और आदत थी। अपने सयानेपन की प्रतिष्ठा वे उगाहने में अद्भुत थे। सन् '२० के अन्त मे श्री रामकृष्ण मिशन वाले 'समन्वय' नाम से एक हिन्दी का पत्र निकालने वाले थे जिसके लिए उन्हें एक योग्य संपादक की आवश्यकता थी। द्विवेदी जी ने उन्हे निराला का नाम सुझाया। निराला जी ने भी अपनी उस विवशता में काम करना स्वीकार कर लिया। उधर महिषादल वालों ने भी उन्हे फिर बुला भेजा और निराला जी वहाँ चले गए।

वहाँ पहुँचकर निराला ने देखा कि राज-वंश की मनोवृत्ति ज्यों की त्यों बनी है, सम्भवतः उसमें कोई सुधार होना सम्भव भी नहीं था। स्वभावतः निराला के सम्बन्ध वहाँ समन्वित होने की अपेक्षा विशृङ्खलित होते गए। वैभव की स्वाभाविक मदान्धता से उन्मत्त स्वामी और साधना की शक्ति से सबल निराला की कवि-प्रकृति मे मेल-जोल होना भी एक आश्चर्य की ही बात होती। निराला सहज रूप से बहुत उदार और सहृदय थे पर किसी के दबाव और अन्याय को सहन करने की क्षमता उनमें नहीं थी। वे किसी की स्वार्थगत चाटुकारी करना भी तो नहीं जानते थे। स्वभाव के इस वैषम्य तथा दो-एक भीतरी घटनाओं के कारण निराला को महिषादल फिर छोड़ देना पड़ा। महिषादल वालों के व्यव-

हार से और उनकी निर्मम क्रूरता से निराला को बहुत बड़ी पीड़ा पहुँची और उनका अन्तर्द्वन्द्व और भी तीव्र हो उठा। निराला ने अच्छी तरह से समझ लिया कि नौकरी-चाकरी उनके बूते की बात नहीं।

इस समय उनकी अन्तरात्मा और बाहर की दुनिया से एक ऐसा संघर्ष चल पड़ा जो प्रायः कवि-जीवन की सनातन-सम्पत्ति है। निराला का मन मुक्त वातावरण के लिये लालायित हो उठा और वे वहाँ से सीधे 'समन्वय' में कलकत्ता चले आए। उस पत्र में बहुत दिनों तक उन्होंने अवैतनिक कार्य किया, पर बाद में परिस्थितियों की परवशता के कारण निज के खर्च के लिए कुछ थोड़ा-बहुत रुपया भी लेने लगे। समन्वय मे आने के पहले वे 'जुही की कली' जैसी सुन्दर रचना कर चुके थे, मुक्तछन्द के बन्द बाँध चुके थे, माइकेल मधुसूदन दत्त के साहित्य का पारायण कर चुके थे और हिन्दी के कवि गुप्त जी, हरिऔध जी तथा सनेही जी की कृतियाँ भी पढ़ चुके थे। निराला जी बताते हैं कि वास्तव में हिन्दी के इन आदि कवियों की कृतियों मे भाव-भाषा तथा काव्य-सौन्दर्य की कोई नवीनता उन्हें उस समय दिखाई नहीं पड़ती थी।

निराला को नवीनता की झक थी। आधुनिक काव्य-शैली में उन्होंने स्वयं कई नवीन प्रयोग किए हैं और करते जा रहे थे। कविता को सम्बोधित करके उन्होंने कहा भी तो है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह ?

—(अनामिका)

★ ★ ★

मेरे प्राणों के प्याले को भर दो,
प्रिये, दृगों के मद से मादक कर दो;
मेरी अखिल पुरातन-प्रियता हर दो,
मुझको एक अमर वर दो;
मैंने जिसकी हठ ठानी
कल्पना के कानन की रानी!

—(गीतिका)

समन्वय-काल में मुक्तछन्द में लिखी उनकी रचना 'पंचवटी प्रसंग' निराला

की इसी मुक्त रुचि की प्रसूति है। निराला ने लिखा है—पुराण, इतिहास और समाज तीन मुख्य आधार नाटकों के लिए हैं। पौराणिक नाटकों की भाषा प्रवाह पूर्ण होनी चाहिए। प्राचीन युग का रूप तभी पूरा उतरता है। भाषा इतनी क्लिष्ट न हो कि जनता समझ न सके, पर ऐसी सीधी और शिथिल भी नहीं कि प्राचीनता का गम्भीर वातावरण नष्ट हो जाय। मेरा लिखा हुआ स्वच्छन्द छन्द ऐसे ही नाटकों के लिये उपयोगी है। इसी विचार से मैंने लिखा भी था। अवश्य काव्य लिखने के विचार से पहले मैंने उसे मिल्टन की तरह क्लिष्ट-भाषा-पूर्ण कर दिया था, पर मेरा असली मतलब उसे पौराणिक नाटकों में लाना ही था। 'पंचवटी-प्रसंग' की अवतारणा का यही कारण है। इसका उदाहरण पेश करने के लिए मैंने तो अपने लिखे एक सामाजिक नाटक के एक पार्ट में इसका समावेश कर दिया था और वह पार्ट कलकत्ता स्टेज पर मैंने खुद खेला था।

—(प्रबंध प्रतिमा)

इसमे संदेह नहीं कि 'पंचवटी-प्रसंग' आधुनिक-काव्य में अनन्य और आदर्श मुक्त नाट्य-गीत है। उन्होंने अपनी प्रथम कविता-पुस्तक 'परिमल' की भूमिका मे भी लिखा है—

मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मो के बंधन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना। जिस तरह मुक्त मनुष्य कभी किसी भी दूसरे के प्रतिकूल आचरण नहीं करता, उसके तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं—फिर भी स्वतंत्र, इसी तरह कविता का भी हाल है। मुक्त-काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।

H 4678 —(परिमल)

इस प्रकार वैदिक काल के मुक्त-स्वभाव कवियों के उदाहरण से निराला ने हिन्दी में मुक्तछन्द की उद्भावना की, जो निराला की एक अक्षय देन है। निराला के मुक्त-छन्द के साथ ह्विटमैन का नाम लेना हास्यास्पद और उपहासास्पद भी है। निराला को काव्य की इस मुक्ति में बहुत सी यातनायें और आरोप सहने पड़े हैं पर उन्होंने कभी अपनी गति मे विराम नहीं लगने दिया। अडिग धैर्य के साथ अपना, मन का साहित्य-सृजन करते रहे। 'परिमल' की ये पक्तियाँ उनके मनोभावों और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के उद्घाटन में सहायक सिद्ध होती हैं—

कवि तुम, एक तुम्ही,
बार-बार, झेलते सहस्रों वार
निर्मम संसार के
दूसरों के अर्थ ही लेते दान,
महाप्राण ! जीवों में देते हो
जीवन ही जीवन जोड़
मोड़ निज सुख से मुख !

यह कौन नहीं जानता कि कवि-कर्म एक साधना है, संसार के लिए अपनेपन का त्याग है। सत्य केवल कुछ दिनों के लिए दबाया जा सकता है, अंत में वह अवश्य ही प्रतिष्ठित होता है—सम्भवतः उसी प्रकार अधिक तेजोमय बन कर जिस प्रकार बादलों में छिपा सूर्य जब प्रकट होता है तब अधिक प्रकाशमय ज्ञात होता है। सन् '२२ में निराला की 'अनामिका' नामक कविता पुस्तक प्रकाशित हुई। सेठ महादेव प्रसाद ने निराला की प्रतिभा का स्वागत और सम्मान किया। निराला की शक्ति-सामर्थ्य पर उन्होंने 'मतवाला' पत्र भी निकाला। निराला ने 'सुकुल की बीबी' में उस समय का स्मरण इस प्रकार किया है—

'बहुत दिनों की बात है। तब मैं लगातार साहित्य-समुद्र-मंथन कर रहा था। पर निकल रहा था केवल गरल। पान करने वाले अकेले महादेव बाबू ! शीघ्र रत्न और रंभा के निकलने की आशा से अविराम मुझे मथते जाने की सलाह दे रहे थे। यद्यपि विष की ज्वाला महादेव बाबू की अपेक्षा मुझे ही अधिक जला रही थी, फिर भी मुझे एक आश्वासन था कि महादेव बाबू को मेरी शक्ति पर मुझसे भी अधिक विश्वास है। इसी पर वेदान्त-विषयक नीरस एक साम्प्रदायिक पत्र (निराला का आशय 'समन्वय' से है) का संपादन भार छोड़कर मनसा-वाचा-कर्मणा सरस कविता-कुमारी की उपासना मे लगा'। सन् २३ से इसी पत्र मतवाला में निराला नाम से लिखना प्रारम्भ किया और तभी से वे इस नाम से चिर प्रसिद्ध हुए। उपनाम तो अनेक थे पर निराला वास्तव में एकदम निराला थे। निराला के साहित्य ने इस नाम की सार्थकता को इतना सबल और सजीव बना दिया है कि उसके सामने सूर्यकान्त भी नहीं ठहरता। हिन्दी काव्य का यह महा-ग्रह वस्तुतः निराला थे।

'समन्वय' और 'मतवाला' में निराला ने कविताओं के अतिरिक्त साहित्य और दर्शन पर बहुत प्रौढ़ और महत्वपूर्ण लेख भी लिखे थे। मतवाला

में भी उन्होंने बहुत दिन काम नहीं किया, पर एक ही वर्ष में निराला की प्रखर प्रतिभा ने अपने अदम्य पावन-प्रवाह से हिंदी-जगत को प्लावित कर दिया। मुखपृष्ठ पर लिखी निराला की ये दो पंक्तियाँ—

अमिय गरल शशि सीकर रविकर राग-विराग भरा प्याला,
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला।

जीवन के विविध रसों का ऐसा ही समन्वय निराला-साहित्य में हमें मिलता है और यह भी सच है कि निराला के काव्यामृत पान करने लिए एक प्रकार की साधना भी करनी पड़ती है। यों भी साधना के बिना सुफल दुर्लभ है।

'मतवाला' छोड़ने के बाद निराला ने बाजारू काम करना शुरू कर दिया, क्योंकि उस समय उनके लिए सभी मार्ग अवरुद्ध थे। नौकरी उन्होंने छोड़ दी, 'समन्वय' और 'मतवाला' से भी उनकी पटरी नहीं बैठी, पर उनके सिर पर बच्चों के पोषण का भार ज्यों का त्यों बना रहा। इसके अलावा स्वयं निराला को अपने बड़े-पेट के भरने के लिये किसी न किसी बड़े उपाय की आवश्यकता पड़ती रही। वस्तुतः उन्होंने विज्ञापन बनाना, अनुवाद करना, और दवाइयों के पैम्फलेट लिखना शुरू कर दिया। जीने के लिए मनुष्य को न जाने क्या-क्या करना पड़ता है, उनकी आर्थिक स्थिति दिन प्रति दिन खराब होती गई। इस बाजारू काम में न तो उनको स्वतंत्र-साहित्य-सृजन का अवसर मिला न उनकी आर्थिक स्थिति में ही कोई अन्तर आया। न माया मिली न राम की हालत देख-कर निराला घबड़ा उठे और वह काम भी छोड़ दिया। कलकत्ता छोड़ कर वे सन् '२८ में लखनऊ आ गए। 'सुधा' ने उनकी कृतियों का स्वागत किया, पर विशाल-हिन्दी-क्षेत्र मे भी निराला का पेट नही भरा। 'परिमल' का कापीराइट नगण्य मूल्य में बेच देना पड़ा। इसी समय 'अप्सरा', 'अलका' (उपन्यास) और 'लिली' (कहानी संग्रह) प्रकाशित हुए।

सन् '१९-२० से लेकर अब तक आधुनिक काव्य ने अपना पर्याप्त विकास प्राप्त कर लिया था। किन्तु निराला के रवड़ छन्द और केचुआ छन्दों का अब भी लोग बराबर विरोध करते जाते थे। साहित्य-सेवियों और जनता पर निराला की धाक के साथ उनकी उपेक्षा भी बढ़ती जाती थी। काश कि उस समय लोगों ने यह सोचा होता कि यौवन स्वभावतः मुक्त होता है और निराला का मुक्त छन्द छायावाद की इसी अवस्था का प्रतीक है तो बहुत अच्छा होता, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। और तो और स्वयं पंतजी ने 'पल्लव' की भूमिका में निराला के नये

छन्दों का मजाक उड़ाया और विवश होकर निराला को 'पंतजी और पल्लव' लिखना पड़ा। 'सुधा' में प्रकाशित जोशी बन्धुओं के लेख 'साहित्य-कला और विरह' का भी निराला ने उत्तर 'कला के विरह में जोशी बन्धु' नामक निबंध से सन् २९ में दिया।

लेख के प्रारम्भिक अंश से उस समय की साहित्यिक स्थिति का कुछ आभास अवश्य मिलता है—'कभी सोचा था, दलबंदी के दलबल में न फँसूंगा, मार का जवाब प्यार से दूँगा; परन्तु 'आपन चेती होय नहिं, हरि चेती तत्काल' की आफत का पहाड़ हरि की इच्छा से मुझी पर आ टूटा। जिस रोज मैंने साहित्य के खाते में नाम लिखवाया, उसी रोज से हिन्दी साहित्य के आचार्यों ने पाठ-पढ़ाना शुरू कर दिया कि जब तक जियो, अपने हाथों अपनी नाक काट कर दूसरों का सगुन बिगाड़ते रहो, बस, साहित्य-सेवा के यही माने है। कुछ ही काल की साहित्य-सेवा के फलस्वरूप जब चारों ओर से साहित्य के स्वाधीनचेता महापुरुषों ने बगावत का झंडा खड़ा किया, डेढ़ इंच की कविता की खाई को पार कर जाने की सलाह साहित्य के वृद्ध संपाती ने समागत लंगूर दल को दी। किसी ने कहा यह है तो डेढ़ इंच की चौड़ी खाई, लेकिन छायावाद की माया से कभी डेढ़ हाथ की और कभी-कभी गज भर की भी हो जाती है।' उस समय समस्त छायावादी साहित्य का, खासकर निराला-साहित्य का पुराने पंडों और नये गुंडों द्वारा डट कर विरोध हो रहा था। निराला का मुक्तछंद सारे साहित्य-समाज के द्वारा एक ऐसा 'हौवा' बना दिया गया था जिसे देख कर एक बार सभी चौंक पड़ते थे और निराला को भला-बुरा कहे बिना उन्हें संतोष नहीं होता था। वह यौवन और स्फूर्ति, जो निराला, साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी हिन्दी की जीर्ण-शीर्ण धमनियों में भर देना चाहते थे, उसकी ऐसी संगठित उपेक्षा उस समय के पदवीधर साहित्यिकों की बुद्धि-विकृति का चरम उदाहरण है। अन्यथा इस युग के काव्य में निराला ने जिस यौवन और ओज की स्थापना की है, वह उनकी प्रतिभा का हिन्दी के लिए सबसे बड़ा दान है। सन्देह नहीं कि प्रसाद जी ने इस युग को एक सुष्ठ प्रौढ़ता दी पर निराला ने तो उसमें एक नवजीवन भर दिया। निराला ने हिन्दी के लिये अपने को खपा दिया, राज की नौकरी छोड़ी और भूखे रह कर भी हिन्दी की सेवा की। निराला जैसे कवियों के लिए ही तो कहा जा सकता है—

राजा से आसन उठता है—
ऊँचा कभी फकीरों का

मुकुटों से भी कभी मान—
बढ़ जाता है जंजीरों का !
मस्ती के दीवाने कवि को
मोद न मिला अमीरी में
आग लगा दौलत में आखिर
ढूंढ़ी शान्ति फकीरी में !

निराला की प्रतिभा, एक स्वतःस्फूर्ति लिए हुए जल-प्रवाह की तरह अपने पथ का निर्माण करती हुई अविरल गति से आगे बढ़ती जाती है। निराला के लिए कहने में किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं होता कि—

चौड़ी छाती फुला अकड़ता
अल्हड़ धूम मचाता,
छाता चारों ओर एक
जल-पथ का सँमा रचाता !
बड़े-बड़े बाँधों को टक्कर मार
तोड़ कर बहता,
अपने ही बल के वेगों से—
व्याकुल उमग उमड़ता !

निराला ने कभी 'ज्ञानलव दुर्विदग्ध' आलोचकों की चिंता नहीं की, वे तो—

टोकों को अनसुनी किए सा
रोकों से टकराता,
ताल ठोंक सब ओर जवानी
के जौहर दिखलाता।

वास्तव में जवानी का दुर्दम्य जोश और गति की तीव्रता निराला में कूट-कूट कर भरी थी।

भावों और छन्दों की क्रान्ति छायावाद में सबसे अधिक हुई। नवीनता की जो प्रवृत्तियाँ और प्रणालियाँ द्विवेदी युग मे बंदी कर ली गई थीं वे सब को सब छायावाद की शीतल छाया में मुक्त होकर फिर लहलहा उठीं। छायावाद की धारा चूंकि किसी भाव-विशेष से नहीं फूटी थी, वरन् उसमें जीवन-व्यापी विविध भावों का समावेश था, वस्तुतः उसने युग-धारा का विशेषण-आभूषण पाया।

उसके भीतर राजनीति का ताप भी था और समाज का क्षोभ भी, नई सृष्टि रचने की उमंग भी थी और रूढ़ियों को तोड़ फेंकने का उन्माद भी। उसमें मानव-हृदय की स्वच्छन्द पुकार और मानव मन की मुक्त मनोदशा की गुहार का उदात्त स्वरों में आह्वान था और इस कार्य में छन्दों-बंदों की अवहेलना भी अनिवार्य थी, क्योंकि अभिव्यक्ति की अनुकूलता के लिए माध्यम खोजना भी तो आवश्यक होता है।

निराला जी भाषा, भाव, छन्द, वेश-भूषा की सम्पूर्ण परम्परा से विद्रोह करते हुए आये थे और उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि उनकी बात-चीत, चाल-ढाल सभी में एक नवीनता का आभास मिले। निराला ने अपनी शक्ति-साहस से समाज में कवि का एक अलग स्थान बनाया और साहित्यकार की, जीवन में प्रतिष्ठा और महत्ता को उद्घाटित किया। चारों ओर निराला के छन्दों की पैरोडी बनने लगी पर निराला इससे घबड़ाने वाले नहीं थे। उन्हें अनेक प्रकार से चिढ़ाने की भी चेष्टा की जाती थी, किन्तु निराला कह दिया करते थे—'कुत्ते भूंकते ही रहते है, हाथी अपनी चाल मे चला जाता है, मेढकों की टर्र-टर से बादलों का गरजना नहीं रुकता'। हुआ भी यही 'क्योंकि धीरे-धीरे इस नवीन भावधारा के पाँव जमने लगे और वह सर्वसम्मति से इस युग की मूल प्रेरणा-शक्ति के रूप में स्वीकार भी कर ली गई।

निराला ने 'परिमल' की भूमिका में लिखा है—

'इस युग में कुछ, प्रतिभाशाली अल्प-वयस्क साहित्यिक प्राचीन गुरुडम के एकछत्र साम्राज्य में बगावत के लिए शासन-दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हे साहित्य के राज-पथों पर साधिकार स्वतंत्र-रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँध कर उठने वाला है कि जिसके साथ साहित्य के अगणित जल-कण उस एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जायँगे और लक्ष्य-भ्रष्ट या निदाघ से शुष्क न हो एक ही जीवन के उदार महासागर में विलीन होंगे। अभी प्रतिभाशाली साहित्यिकों को निष्प्रभ तथा हेय सिद्ध करके ससम्मान आसन ग्रहण करने वाले महालेखक और महाकविगण साहित्य में अपनी प्राचीन गुलामी-प्रथा की ही पुष्टि करते जा रहे हैं।

ऐसी स्थिति में 'परिमल' निकल रहा है। इसके मैंने तीन खंड किये हैं। प्रथम खंड में सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं जिनके लिये हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों के द्वारपालों को 'प्रवेश-निषेध' या 'भीतर जाने की सख्त मुमानियत है।' दूसरे खंड में विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ हैं। तीसरे खंड में स्वच्छन्द

छन्द हैं, जिसके विषय में मुझे विशेष कहने की जरूरत है, कारण इसे ही हिन्दी में सर्वाधिक कलंक का भाग मिला है।

लाखों ब्राह्मण गायत्री-मंत्र का जप करते हैं। उसके जप के साथ-साथ भाषा की मुक्ति का प्रवाह प्रतिदिन उनके जिह्वाग्र से होकर बहता है, पर वे उसका अर्थ, उसकी सार्थकता, सब कुछ भूल गए। जिस तरह ब्रह्म मुक्त स्वभाव है, वैसे ही यह छन्द भी। पर आज इस तरफ कोई दृक्पात् भी नहीं करना चाहता। इतनी बड़ी दासता-रूढ़ियों की पाबन्दी इस मंत्र के जपने वालों पर भी सवार है। वेदों में काव्य की मुक्ति के ऐसे हजारों उदाहरण हैं।

साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्ति-प्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्रप्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है। और यही जाति के मस्तिष्क में विराट् दृश्यों के समावेश के साथ ही साथ स्वतंत्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं। यही बात छन्दों के सम्बन्ध में भी है। मुक्त छन्द भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक हो अनन्त महासमुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों, दूर प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।

मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की भूमि में रह कर भी मुक्त है। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति। यदि हिन्दी का जातीय छन्द चुना जाय तो वह यही होगा। नाटकों में सबसे अधिक रोचकता इसी स्वच्छन्द छन्द द्वारा आ सकती है। अब इसके समर्थन में अधिक कुछ नहीं लिखना। कारण, समर्थन की अपेक्षा अधिकाधिक रचना इसके प्रचार तथा प्रसार का योग्य उपाय है।'

निराला ने प्रथम बार हिन्दी काव्य में इस छन्द का प्रयोग और प्रसार किया। उनके पहले किसी ने इसका उपयोग करने की क्षमता नहीं दिखलायी। वे इस छन्द के जन्मदाता और त्राता दोनों ही तो हैं। छंदोबद्ध से कविता को मुक्त करने वाले मनीषी और उद्धारक के रूप में वे अजर-अमर रहेंगे। यह विशेषता उनके किसी भी समकालीन कवि मे दिखाई नहीं पड़ती। यही नहीं उन्होंने कई प्रकार के अन्य पुराने छन्दों को भी परिष्कृत किया है। ऐसे छन्दों की सफलता का मुख्य आधार निराला जी की लय-ताल विषयक ज्ञान की पूर्णता और उनके हृदय की अजस्र संगीतमयता है। 'तुलसीदास' नामक काव्य में

निराला जी ने एक और छंद का आविष्कार किया है। उनको विचारपूर्ण सार्थक कल्पना का जो आश्चर्यकारी प्रभाव 'तुलसीदास' में इस छन्द के द्वारा उत्पन्न होता है; वह सम्भवतः किसी अन्य छन्द से सम्भव नहीं था। निराला ने अपने छन्दों और भावों की एकरूपता से मानव की श्रुति-चेतना को जो उद्‌बुद्धता दी है, वह उनकी अभिनव कल्पना और क्रान्तिकारी विचारों को ग्रहण करने में सहायक है। 'परिमल' से लेकर 'नये पत्ते' तक उन्होंने छन्दों की एक नई व्यवस्था ही उपस्थित कर दी है, जिससे भावों के अनुकूल छन्दों का ग्रहण सबके लिए सहज-सुलभ हो गया है।

केवल १९ वर्ष की अवस्था में निराला के मुख से स्वच्छन्द छन्द की निर्झरिणी फूट निकली थी। भीतर के सशक्त भावों ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम स्वयं खोज कर अपना काव्य-रूप प्रकट किया तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? उनके उन्मुक्त भावों ने अपने अनुकूल यति और प्रवाह का आवेग लेकर सर्वप्रथम 'जुही की कली' की रचना की जो आधुनिक हिन्दी कविता की एक श्रेष्ठ और बहुत ही प्रभावपूर्ण रचना है। इस कविता के भीतर उन्होंने जिस भाव चमत्कार का उन्नयन किया है, वह भाषा, भाव तथा छन्द सभी दृष्टियों से अत्यन्त सुन्दर और भावपूर्ण होने के साथ-साथ घोर मौलिक और सर्वांशतः सारगर्भित है। रीतिकालीन नायक-नायिकाओं की स्थूल और परिपाटीबद्ध भाव-व्यञ्जना को निराला ने प्राकृतिक सूक्ष्मता के साथ उपस्थित करके बद्ध-रूप भावना को एक प्राञ्जल और प्रशस्त भूमि दी। महाकवि की अनन्त प्राण चेतना ने जिस समय अनुराग-राग के स्वरों को 'जुही की कली' का स्वरूप दिया होगा। वह क्षण आधुनिक युग का पवित्रतम मुहूर्त और युगान्तकारी पर्व था। कला अपने जन्म से ही विज्ञान से बड़ी है, उसकी चोट भी सर्जनात्मक होती है, पर विज्ञान के साथ ऐसी कोई मार नहीं; उसके पास तो एकदम अटमबम है। साहित्य कभी राग को नहीं छोड़ सकता, क्योंकि राग जीवन का आधार और साहित्य-जीवन का परिष्कार है। विज्ञान में राग-विराग का स्थान नहीं। वस्तुतः पिछले प्रथम महायुद्ध की हत्या से क्षुब्ध होकर कला ने पिछले युगों की बर्बरता को उखाड़ फेंकने की हुंकार की; भारत भी उसका स्वर-साधन बना।

जीवन को आधारभूत प्रवृत्तियों के साथ महाराग-विराग की समताल पर ले चलने की चेष्टा इस देश में परिव्याप्त हो उठी और बीसवीं सदी का प्रारम्भ इतिहास का एक अभिनव पृष्ठ बना। समस्त भारतीयता उद्‌बुद्ध होकर गतिशील हो चली। प्रेम के नाम पर रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने जिस स्थूल

शृंगार और विकृत मनोदशा तथा वासनोत्तेजक भावों के सड़ाके शान के साथ लगाये थे, वह ध्वस्त हो गए; जनता उनकी उस भावना की मांसलता से आहत हो गई। सरस-विलासलता कुंजन का प्रणय सहसा प्रलय बन बैठा। स्वभावतः उसका विनाश हुआ। हिन्दी में भारतेन्दु से लेकर द्विवेदी-युग के अन्तिम क्षण तक साहित्य एक असमञ्जस्य में पड़ा हुआ जान पड़ता है। कभी ग्लानि, कभी भक्ति, कभी प्राचीन कथा-काव्य, कभी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन, कभी किसी वर्ग, समाज अथवा राष्ट्र की प्रशस्ति तो कभी राष्ट्रीयता की संकुचित रागिनी की जो हवा चलती रही वह युग की जलन शान्त करने में अक्षम ठहरी और छायायुग का शीतल्छाय आलोक उद्भाषित हुआ। प्राचीनों ने भाषा (ब्रज से खड़ी बोली) और भाव के इस नये प्रवाह में अपने को समर्पित कर दिया, गुप्त जी की 'झंकार' में संग्रहीत छायावादी कविताएँ इसका प्रमाण हैं।

'जुही की कली' निराला ने सन् '१६ में लिखी थी जिससे आधुनिक युग की उन्नयन प्रतिमा का प्राण प्रवेग प्रस्फुटित है। यदि इस कविता को छाया युग की विजय का महाराग कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। भाव-भाषा-ताल-स्वर-लय सब एक साथ सधे हुए सामने आए। इसके पहले इस प्रकार का मुक्त स्वर सामञ्जस्य हिंदी काव्य के लिए स्वप्न मात्र था। कविता उन्होंने सरस्वती मे भेजी, किंतु द्विवेदी जी ने छन्द-दोष का इलजाम लगाकर वापस कर दिया, पर निराला को इससे निराशा नहीं हुई। सृष्टि की मूल तथा मुक्त चेतनाओं को अपने स्वर मे बाँधने वाले मनीषी कभी ऐसी परिस्थितियों से विचलित होते भी नहीं। वे रूढ़ियों के जाल को छिन्न-भिन्न करके अपनी विधायक कल्पना और अनुभूत भावना के प्रवाह को मानवता के लिए मुक्त करते आगे बढ़ते जाते हैं। अनुभूति की नवीनता में, वैयक्तिक स्वाधीनता की लहर ही तो साहित्य में नवीन-युग के अवतरण का कारण बनती है। शृंखला की सड़ी स्वीकृति में समाहित होने वाले भाव कभी युगान्तकारी परिवर्तन नहीं कर पाते, 'लीक-लीक गाड़ी चलै' में नया कवि, नया विचारक कभी गड़ नही पाता, क्योंकि उसे तो आनन्द का आकलन करने के लिए जीवन के नये-नये स्तरों का उद्घाटन करना पड़ता है। निराला की इस कविता में नये युग के महाजागरण की भैरवी गूंज उठी तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

विद्रोह की भूमि में पनपने वाला साहित्य कभी दबाया नहीं जा सकता बल्कि उलटे दबाने के प्रयत्नों से वह और अधिक उद्वेलित हो उठता है। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि छायायुग के साथ ही साथ देश में स्वतंत्रता-

संग्राम भी छिड़ा जिसे साहित्य से बराबर प्रेरणा मिलती रही। विचारों की मुक्ति ने देश को मुक्ति का सन्देश दिया। उसके जन्म और विकास की स्थूल वास्तविकता को ही अपना सर्वस्व मानकर साहित्य के क्षेत्र को एक प्रकार से बहुत ही सीमित बना दिया था। इतिवृत्तात्मकता की चट्टान के नीचे उन्मुक्त कल्पना दबी हुई छटपटा रही थी कि निराला के सबल करों ने उसे सहारा देकर उबार लिया और नवीन-नवीन भाषा-भाव-छन्दों से विद्रोह तथा नव जागरण का झंडा गाड़ा, नये-नये प्रयोग किये, नई-नई शैलियाँ चलाईं और मानव-मनोभावों को विशुद्ध काव्य-भूमि में लाकर खड़ा किया। 'जुही की कली' में नवोन्मेष की प्रसन्न मुद्रा और जीवन के प्रति सजग जागरूकता का आवेग उच्छलित होता है।

निराला जी का इस कविता के विषय में वक्तव्य बहुत ही महत्वपूर्ण और आलोचनात्मक तथा उल्लेखनीय है—

हिन्दी में 'जुही की कली' मेरी पहली रचना है। यह ऐसी रचना नहीं कि सूक्तिरूप इसका एक अंश उद्धृत किया जा सके। मेरी छोटी रचनाएँ (Lyrics) और गीत (Songs) प्रायः ऐसे ही हैं। इनकी कला इनके सम्पूर्ण रूप में है, खण्ड में नहीं। सूक्तियाँ-उपदेश मैंने बहुत कम लिखे हैं, प्रायः नहीं; केवल चित्रण किया है। उपदेश को मैं कवि की कमजोरी मानता हूँ। साधक जिस तरह विभूति मे आकर इष्ट से अलग हो जाता है, कवि उसी तरह उपदेश करता हुआ कविता की दृष्टि से पतित हो जाता है।

'जुही की कली' का उद्धरण देकर मैं यह दिखलाने की चेष्टा करूँगा कि ठीक-ठीक चित्रण होने पर उपदेश किस तरह उसमें भीतर छिपे रहते हैं और कला का विकसित रूप स्वयं किस तरह उपदेश बन जाता है। पुनः ऐसी रचनाओं का खण्डोद्धरण आलोक का अधूरा सौन्दर्य-दर्शन और कवि पर की गई कृपारूपिणी अकृपा है। अस्तु

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बंद किए, शिथिल-पत्राङ्क में।
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन

जिसे कहते हैं मलयानिल !
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधीरात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात
फिर क्या ? पवन

उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुंज-लतापुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली साथ !

सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
हिल उठी बल्लरी की लड़ी
जैसे हिंडोल

इस पर भी जागी नहीं
चूक-क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—
किम्बा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये,
कौन कहे ?

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती—

चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी-खिली,
खेल रंग प्यारे संग।

अर्थ और कला—

विजन वन की वल्लरी पर, सुहाग से भरी हुई, स्नेह के स्वप्न में डूबी, निर्मल-कोमल-देह वाली तरुणी जुही की कली आँखें मूँदे हुए, शिथिल, पत्रांक में सो रही थी। सौन्दर्य की कल्पना प्रासाद से नहीं वन से शुरू होती है। (कालिदास के प्रसिद्ध नाटक शकुंतला का भी प्रारम्भ वन से होता है) फिर भी सौन्दर्य के उपकरण प्रासाद वालों से अधिक कोमल हैं या नहीं, यह विचार्य है। यहाँ दो उपकरण आए हैं। एक—'विजन-वन-वल्लरी', एक—'पत्रांक'। प्रेम की प्रतिमा तरुणी प्रासाद या रम्य गृह में रहती है; जुही की कली विजन-वन-वल्लरी पर है। यह भी एक ऊँचा स्थान है। तरुणी पलंग पर सोती है, कली पत्रांक में सोई हुई है। दो पत्तों के बीच का स्थान देखिए, स्प्रिंगदार जो मोड़ा जा सकता है, ऐसे पलंग पर जुही की कली है। पाठक सोच सकते हैं कि प्रासाद की युवती के पलंग से तरुणी जुही की कली का पत्रांक अधिक सुन्दर है या नहीं और पलंग या पर्यक से पत्रांक का कैसा शब्द-साम्य है। सोते समय तरुणी आँखें मूँद लेती है; इसके दल बन्द हैं; जिससे आँखें मूँद कर सोने का अनुमान सार्थक है। बाकी जितने विशेषण जुही की कली के रूप तथा भाव-सौन्दर्य के लिए आए हैं, वे सब एक तरुणी प्रेमिका पर घट सकते हैं। मतलब यह है कि जुही की कली का Personification स्त्री-रूप में निर्वाचन अच्छी तरह मिला लीजिए और आगे भी मिलाते चलिए। इतने में केवल स्थान और पत्रांक पर सोती तरुणी कली का रूप वर्णन है। वह वसंत की रात थी। अब समय का वर्णन आया है।

तरुण और तरुणी के प्रेम-आलाप का कौन-सा समय अधिक उपयुक्त है, यह परिणत पाठक जानते हैं। विरह से विधुरा प्रिया का साथ छोड़ कर पवन जिसे मलयानिल कहते हैं, किसी दूर देश में था। कविता बंगाल में लिखी गई है। इस जगह दृष्टव्य यह है कि जुही की कली अभी खिली भी नहीं—प्रिय से उसका सम्मेलन नहीं हुआ, फिर भी उसके लिए 'विरह-विधुर' प्रयोग आया है। यहीं, पहले कहा हुआ वह उपदेश-रूप-चित्रण-सौन्दर्य में छिपा दिया गया है। इससे अर्थगाम्भीर्य बढ़ गया है। यहाँ 'विरह-विधुर-प्रिया' द्वारा कली के अनन्त यौवन की व्यंजना होती है। यह दर्शन इस प्राकृतिक सत्य पर अवलम्बित है कि कली हर साल खिलती है और पवन से मिलती है। पवन उसका ऐसा प्रिय है जो हमेशा उसके पास नहीं रह सकता। वह स्वभाव से परदेशी है। कली भी उसके चले जाने पर अपने अदृश्य तत्व में लीन हो जाती है, समय

पर फिर उससे मिलती है। पवन के चले जाने के बाद वियोग-शृङ्गार सुदृढ़ होता है, फिर मिलन, जो बड़े परिचय का है। यह वियोग-भाव आगे थोड़े में प्रदर्शित है। पवन जब आता है, एक साल तक भिन्न-भिन्न देशों में भ्रमण करने के बाद, तब कली को जैसी वह देख गया था वैसी ही पूर्ण यौवना देखता है। इस तरह कली का अनन्त यौवन व्यंजित हुआ। पर 'विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़' इस शब्द-बन्ध से वियोग के भाव-चित्र द्वारा काव्य को महत्व मिला है, दर्शन गौण हो गया है। यदि 'विश्व में शाश्वत दे यौवन', इस तरह की कोई पंक्ति यहाँ होती तो चित्रण-सौन्दर्य की अपेक्षा दर्शन-उपदेश प्रबल होता। पर रचना जैसी कहानी की तरह चली है वैसी ही जा रही है। वियोग के समय मिलन की ही बातें याद आती हैं, जो आगे वर्णित हैं।

बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात (पहले वाली) याद आई, चाँदनी की धुली हुई आधी रात (मिलन का समय, सुन्दरता) याद आई, कान्ता की कंपित कमनीय गात याद आई। प्रिय से मिलते समय कान्ता का कंपित होना स्वभाव और सौन्दर्य है। यह स्वाभाविकता पवन से मिलते समय कली में और स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। फिर क्या ? पवन उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन कुजलता पुजों को पार कर (पवन की गति जल्द-जल्द स्थानों को पार करना सूचित करती है। यहाँ वेग का वर्णन खुलासा नहीं किया गया, उसकी आकांक्षा और गति आप स्पष्ट होती है), जहाँ उसने खिली कला के साथ केलि की थी, (वहाँ) पहुँचा। कली सोती थी, (फिर) प्रिय का आगमन, कहो वह कैसे जाने ? (युवती के प्रति सहानुभूति)

नायक ने कपोल चूमे, वल्लरी की लड़ी हिंडोल की तरह डोल उठी। यहाँ भी सुप्त सौन्दर्य पर उपदेश के स्वर मे कुछ नही कहा गया। पर कली की शय्या जो चूमने पर हिंडोल की तरह डोल उठी, कली का सुप्त-सौन्दर्य और उस पर परिचय की पड़ी पवन की दृष्टि पाठक अच्छी तरह देखें। इस पर भी उसने आँखें नहीं खोलीं, चूक के लिए, आने पर भी सोती रहने के लिए, क्षमा नहीं माँगी, नींद से अलसाई हुई तिर्यक बड़ी-बड़ी आँखों का दर्शन—जैसे मुँदी आयत आँखें ही देख पड़ती हैं, रूप भर में ? आँखों में लिए आँखें ही सबसे अधिक प्रिय है, अथवा यौवन की मदिरा पिये वह मतवाली थी, यह कौन कहे ? उस निर्दय नायक ने अत्यन्त निष्ठुरता की, झोंकों की झड़ियों से सारी सुन्दर सुकुमार देह झकझोर डाली, गोरे गोल, कपोल मसल दिये। यह प्रेम का सहृदय उत्पात या आवेश है। कली के प्रति सहानुभूति नायक को 'निर्दय' कहने में सूचित है।

युवती चौंक पड़ी—चारों ओर चकित चितवन फेर कर, सेज के पास प्रिय को देख नम्रमुखी (लज्जित होने के कारण हवा से झूलती हुई कली झुक जाती है, जिससे उसके नम्रमुख होने का चित्र बनता है) हँसी, प्रिय के संग रंग खेलकर (अनेक प्रकार की रंगरेलियाँ करके) खिल गई।

यहाँ जुही की कली में, कला सुप्ति से जागरण में आती है—यह उसका क्रम परिणाम है। कली की सुप्ति-आत्म-विस्मृति मन के अंधकार के बाद है जागरण-आत्म-परिचय-प्रिय साक्षात्कार—मन का प्रकाश-खिलना। कली सोते से जगी हुई, प्रिय से मिली हुई, खिली हुई पूर्ण मुक्ति के रूप में सर्वोच्च दार्शनिक व्याख्या भी सामने आती है या नहीं, देखें। उत्कृष्ट कला का एक उदाहरण 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' को काव्य में उतरी हुई यह तस्वीर है या नहीं, परीक्षा करें। यहाँ सुप्ति तम और प्रिय-परिचय ज्योति है? रचना में केवल अलंकार, रस या ध्वनि नहीं, उनका समन्वय है।

सच तो यह है कि रूप-रस-रंग और प्राणमय यह कविता छायावाद की स्थापना का उद्घोष है। इस युग की सम्पूर्ण कलात्मकता इसमें व्यंजित है। प्रकृति मे रूप, गुण और चेतना की प्राण-प्रतिष्ठा एवं उसके प्रति साधकों की भावात्मक अनुभूति का क्रमबद्ध इतिहास वेदों तथा उपनिषदों से लेकर आज तक भारतीय साहित्य का आवश्यक अंग रहा है। यही कारण है कि ज्ञानाश्रयी शाखा के भक्त कहे जाने वाले कवियों को भी काव्यगत अनुभूतिमयी प्रेरणाओं को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान सिद्ध विषय हमारी बुद्धि-वृत्ति को तृप्ति दे सकते हैं किन्तु हृदय को स्पर्श करने की क्षमता उनमे नहीं होती। अनुभूति के आधार के बिना काव्यात्मक अभिव्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं होता। इसीलिए ज्ञान के अद्वैत को काव्य का विषय बनने के लिए गुणों का आरोप सहना पड़ा।

'जुही की कली' में व्यापक अनुभूति के साथ प्रकृति के माध्यम से कला का शृंगार किया गया है, किन्तु उस समय किसी ने इसको महत्ता को नहीं समझा, कोई आलोचक भी सामने नहीं आया और प्रशंसा की अपेक्षा निराला को ऐसी कविताओं के लिखने का कलंक ही मिलता रहा।

यह जानकर बहुत क्षोभ होता है कि छायावाद की इतनी महान भावधारा को एक भी ऐसा आलोचक न मिला जो उसके गुण-दोष का विवेचन जनता के सामने रखता। आचार्य शुक्ल उस समय के सब से बड़े आलोचक थे पर वे इस नवीन धारा को समझ ही न सके। पुराने-प्रतिष्ठित कवियों के यशोगान का

सीधा रास्ता उन्होंने पकड़ा और युग का विश्लेषण करने में पिछड़े रहे। अपने स्वर्गवास के पहले उन्होंने इस भावधारा के समझने की भी चेष्टा की पर सम्भवतः उनका काम पूरा हो चुका था, इसकी पकड़ वे नहीं पा सके। श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी ने भी इधर-उधर कुछ छुट-पुट लेखों के अलावा इस युग की साहित्यिक-प्रेरणाओं की व्यवस्थित एवं निर्णायक व्याख्या करने मे अपनी प्रतिभा का परिचय नहीं दिया। हाँ, यह बात ठीक है कि शुक्ल जी की तरह एक पुस्तक 'काव्य में रहस्यवाद' लिख कर उन्होंने आधुनिक कवियों को साम्प्रदायिक और पागल भी नहीं बताया बल्कि समय-समय पर उनकी दाद ही देते रहे। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी का कोमल-करुण कार्य भी छायावाद को किसी प्रकार की निश्चित दृढ़ता नहीं दे सका। आशय यह कि इस युग के कवियों निराला-प्रसाद-पंत-महादेवी को इस काव्य की महत्ता और विशेषता भी बतानी पड़ी। प्रसाद जी का निबंध 'यथार्थवाद और छायावाद', 'महादेवी जी का विवेचनात्मक गद्य'—उनकी काव्य–कृतियों की भूमिका और सबसे बढ कर 'मेरे गीत और कला' में निराला ने इस युग की कला और उसकी सार्थकता का बहुत विषद और पांडित्य-पूर्ण परिचय दिया है। वस्तुतः आलोचकों की तरफ से ऐसा दिवालिया युग कोई दूसरा नहीं रहा।

पं० इलाचन्द्र जोशी ने कितना ठीक लिखा है—

'मानव मन सदा रूढ़िवादी होता है। साहित्य-क्षेत्र में भी इस नियम में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता। कोई भी नया आदर्श वर्षों के विरोध, प्रतिरोध और संघर्ष के बाद ही साहित्य-जगत् में मान्य हो पाता है। उदाहरण के लिए हमारे यहाँ के छायावाद ही को लीजिए। आरम्भ में जब वह काव्य-क्षेत्र में एक नई भाव धारा, एक नई शैली, एक नया रंग और एक ढंग लेकर आया था, तब उसे चारों ओर से कैसे बड़े तूफानी विरोध का सामना करना पड़ा था। तत्कालीन बड़े-बड़े खुर्राट आलोचकों ने उसका कितना बड़ा परिहास और विद्रूप किया था और उसकी कैसी घोर अवज्ञा की थी, यह साहित्य-सेवियों से छिपा नहीं। पर चूँकि छायावाद एक वास्तविक और गहन अन्तरीणशक्ति के बीज अपने साथ लाया था, इसलिए चारों ओर के विरोधी प्रयत्न उसकी प्रगति को रोकने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए। उसके काव्यात्मक महत्व को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।'

जो भी हो, पर छायावाद को कोई पेशेवर समालोचक भी पहले नहीं मिला यह घोर सत्य है। 'सन् '३० के बाद कुछ लोगों का ध्यान इधर गया भी तो वे

या तो भाट या भाँड़ का कार्य-क्रम पूरा करते रहे। सच्ची साधना की अन्तरानुभूति की गहनता और सत्य की निरपेक्ष सौम्यता के साथ समालोचना की सर्जनात्मक प्रक्रिया अभी हिन्दी में प्रारम्भ नहीं हुई। अभी पुस्तकगत अध्ययन और परम्परा-गत विवेचन का ही यहाँ बाहुल्य है।

इस युग की समालोचना का सर्जनात्मक होना सम्भव भी नहीं था। सौ में नब्बे आलोचक अध्यापक वर्ग से आये हैं। बँधा-बँधाया पाठ्यक्रम और करीकूलम ही उनका जीवन होता है। इस विस्तार के बाहर उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती, घूम फिर कर अनन्त-काल उनकी कल्पना में दस से तीन या चार में फँस जाता है फिर ऐसे एकडमिक महानुभावों से किसी प्रशस्त समालोचना की आशा रखना भी उसी प्रकार है जैसे शासन से सहानुभूति पाने की आकांक्षा। आज पं० हजारी-प्रसाद जी द्विवेदी की गणना अच्छे खासे समालोचकों में है। शुक्लजी की तरह उन्होंने भी कुछ गड़े मुर्दों मे जान डालने की कोशिश की है। कहते है सिद्ध-साहित्य और कबीर के वे आचार्य है, पर उन्होंने भी आधुनिक साहित्य को अपनी पंडिताई की ममता पाने योग्य नहीं समझा।

सम्वत् २००१ के मंगलाप्रसाद पारितोषिक के निर्णायक की हैसियत से उनकी सम्मति उनके समालोचक का स्वरूप स्पष्ट करने में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाती है। और भी कई निर्णायक थे—कलेक्टर से लेकर सम्मेलन के सभापति तक, पर उनकी चर्चा चलाना भी साहित्य-पुरस्कार के सम्मान को घटाना है। निश्चय ही नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट का वहाँ होना और उनकी सम्मति साहित्य की श्रीशोभा है। आचार्य द्विवेदी ने लिखा है—

मेरी सम्मति मे नीचे लिखी पुस्तकों ने क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय स्थान प्राप्त किया—प्रथम—श्रीमती महादेवी वर्मा, द्वितीय श्री सुमित्रा-नन्दन पंत और तृतीय—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'। मेरी सम्मति के कारण संक्षेप में ये है :

इन तीनों कवियों की कविताएँ मुझे बहुत दिनों से प्रिय हैं। इसलिए इनमें से किसी एक को श्रेष्ठ घोषित करने मे मुझे व्यक्तिगत रूप से संकोच होता है। परन्तु जब मैं निर्णायक होना स्वीकार कर चुका हूँ तो धर्मतः ऐसा घोषित करने को बाध्य हूँ। मैंने निर्णय करने मे जल्दी नहीं की है। मैने काव्य-गुणों की दृष्टि से भी इन पुस्तकों पर विचार किया है। और फिर यह भी विचारा है कि किसके काव्य से ज्यादा शान्ति और बल मिलता है। निस्सन्देह महादेवी वर्मा की कविताओं से अन्य कविताओं की अपेक्षा अधिक शान्ति मिलती है। इसीलिये मैंने अपना

यह निर्णय दिया है कि उन्हें ही इस वर्ष का पुरस्कार मिलना चाहिए। (सम्मेलन पत्रिका २००३)।

पुरस्कार किसी को भी मिले पर इतने महान कलाकारों की कृतियों को लेकर यह निर्णय कुछ हल्का-सा जान पड़ता है। यदि द्विवेदी जी ने इन कवियों की कुछ काव्यगत विशेषताओं का भी उल्लेख किया होता तो हिन्दी जनता उनका अधिक आभार मानती पर उन्हें न तो अवकाश है और न इन कवियों के विश्लेषण में वे अपनी बुद्धि का हो व्यय करना चाहते हैं। आशय यह कि इस युग के प्रति—खास कर निराला के प्रति आलोचकों की एक ऐसी नीति रही है जो मेरी समझ के बाहर है।

यहाँ पर मैं एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। 'जुही की कली' के प्रणयन के साथ-साथ इस युग का नामकरण—छायावाद—भी निराला ने ही दिया है। उनके किसी सयाने साहित्यिक मित्र ने पूछा कि उनकी यह कविता किस वाद के अन्दर आएगी। निराला ने यों ही मजाक में कह दिया कि यह छायावाद है, क्योंकि नायक-नायिका की छाया यहाँ पर पवन और कली की रूपरेखा में स्पष्ट हुई है। तब से इस भावधारा का नाम ही छायावाद पड़ गया। कवि के शब्दों का ऐसा महत्व होना स्वाभाविक और सहज होता है। यदि इस कविता को केवल स्वच्छन्द छन्द की दृष्टि से भी देखा जाय तो यह इस युग की युग-प्रवर्तक कविता है और निराला युग-प्रवर्तक कवि।

निराला का दूसरा छन्द जो उन्होंने अपने प्रथम मनोवैज्ञानिक काव्य 'तुलसीदास' में आविष्कृत किया है, दे देना भी ठीक होगा। छन्द की नवीनता के साथ यह स्मरण रखना होगा कि यह काव्य-कल्पना निरालाजी की एक मौलिक सूझ है और उसका छन्द तो एकदम नया है हो—

वीरों का गढ़, वह कालिंजर,
सिंहों के लिए आज पिंजर,
नर हैं भीतर, बाहर किन्नर-गण गाते;
पीकर ज्यों प्राणों का आसव
देखा असुरों ने दैहिक दव,
बंधन में फँस आत्मा-बांधव दुख पाते !

आवेग के साथ आगे बढ़ता हुआ यह छन्द भावों के उतार-चढाव को स्वतः स्पष्ट करता चलता है।

इस प्रकार निराला ने अपने भावों के अनुसार नये छन्दों का निर्माण करने में अपनी प्रतिभा की प्रखरता का जो रूप दिखलाया है, वह उनका अपना नितान्त मौलिक है।

लखनऊ आने के बाद निराला ने अपनी रहन-सहन और अपने खान-पान में भी ढोंगी सामाजिकता को उतार फेंका। मन की मौज और परिस्थितियों के अनुकूल उनका कार्य-क्रम सभी क्षेत्रों में चलने लगा। कभी कुर्त्ता-धोती और बड़े-बड़े तेल-सिक्त-बाल, तो कभी केवल फटी लुंगी और धूल-धूसरित उलझी अलकें, कभी छैल-छबीला तो कभी फटे हाल अमीनाबाद पार्क में घूमते हुए निराला गदि लोगों के विस्मय का कारण बने तो यह स्वाभाविक ही था। लोगों की समझ ही में नहीं आता था कि आखिर यह व्यक्ति कैसा और किस मूड का है। उस समय उन्हें चिढ़ाने के लिये कविजी, कपिजी, स्त्री रूपी जी आदि विशेषणों की झड़ियाँ लग जाती थीं। साहित्यिक और जनसाधारण सभी उनको एक ताज्जुब की निगाह से ही देखते थे। कविसम्मेलनों और साहित्यिक गोष्ठियों में पं० श्यामबिहारी मिश्र जैसे विद्वान भी भौंचक्के होकर पूछने लगते थे—'का हो, निराला गद्य पढ़त हैं कि पद्य'। निराला जी चुपचाप अपनी हँसी दबा कर रह जाते थे।

सन् '२४ के दिल्ली वाले साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में निराला जी सम्मिलित हुए थे पर वहाँ की व्यवस्था से वे इतने असंतुष्ट हुए कि सन् '३० तक वे सम्मेलन में नहीं गए। सन् '३० में जाकर उन्हें और भी ग्लानि हुई। उन्होंने लिखा है—

'दिल्ली सम्मेलन (सन् '२४) से मेरी धारणा दृढ़ हो गई कि हिन्दी में अभी साहित्य का सही-सही युग नहीं आया। सदी-फीसदी साहित्यिक सदियों पीछे हैं। जिन उपकरणों से बीसवीं सदी का साहित्य निर्मित होता है, हिन्दी के प्रवर्तन-काल के लिए जो विचार-प्रणाली प्रशस्त और प्रखर होनी चाहिए, वह हिन्दी में नहीं है। नवीन हिन्दी, नवीन खड़ी बोली, प्राचीन परम्परागत भावों से बद्धमूल है—सोचकर सम्मेलन जाना मैंने उचित नहीं समझा'। (प्रबंध प्रतिमा)

पर चूँकि सन् '३० का सम्मेलन कलकत्ता में हुआ, जो निराला का बहुत दिनों तक कार्य-क्षेत्र रहा था, निराला ने वहाँ जाने में कोई हर्ज नहीं समझा। इसके अलावा अब तक निराला ने काफी साहित्य भी लिख लिया था और स्वभावतः वे यह आशा करते थे कि अब जनता और सम्मेलन दोनों का रुख

उनके प्रति अवश्य ही कुछ उदार हो गया होगा, किन्तु कलकत्ते पहुँचकर उन्होंने सब को ज्यों का त्यों पाया, जो सन् '२४ में वही सन् '३० में।

निराला ने लिखा है—'एक रोज जे० यम० सेन गुप्त महाशय सम्मेलन पधारे। कुछ देर वह बोले भी, लेकिन भाषण गरूर से भरा हुआ, बंगाल की उच्चता से अहंकृत। हिन्दी वाले जैसे उसकी ऊँचाई की समझ भी न रखते हों। मैं जे० यम० सेन गुप्त महाशय की बँगला की ताकत जानता था। साथ ही हिन्दी की भी। मैंने एक स्लिप लिख कर सम्मेलन के अधिकारियों से पाँच मिनट का समय माँगा था, दूसरों पर हुई वैसी अशिष्ट वक्तृता के जवाब के लिए—हिन्दी की उच्चता को कल्पना से ही समझने वाले बंग-भाषा के भी मामूली व्यक्ति जे० यम० सेन गुप्त महाशय को प्रबोध देने के लिए; लेकिन मुझे पाँच मिनट का वक्त भी नहीं दिया गया ; इसका कारण अधिकारियों पर पड़ा बँगला और बंगालियों का प्रभाव ही है और हिन्दी-ज्ञान की शून्यता, बल्कि ज्ञान की ही रिक्तता। उन्होंने किसी सभ्यता के ख्याल से मुझे नहीं रोका, बल्कि डर से रोका। यहाँ मैं स्पष्ट रूप से समझा कि हिन्दी कुछ असाहित्यिकों के हाथों की पुतली है—वह भक्तों के हृदय की सप्राण देवी नहीं। लेकिन इसका जवाब मैंने दिया, बंगीय साहित्य परिषद में।'

सभापति रत्नाकर जी थे। हिन्दी की तरफ से बोलने वालों के दो ही नाम टंडन जी ने निश्चित किए—एक अमृतलाल चक्रवर्ती का और दूसरा अपना। निराला, इन दोनों के प्रति आदर का भाव रखते थे, पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि ये लोग हिन्दी की साहित्यिक मर्यादा, साहित्यिकता के द्वारा बंगाली विद्वानों के बीच रख भी सकेंगे या नहीं ? उन्होंने टंडन जी से अपना नाम भी बोलने वालों में लिखने की प्रार्थना की पर टंडन जी ने इन्कार कर दिया। निराला के बहुत आग्रह और औरों के दबाव से उनको पन्द्रह मिनट का समय दिया गया। निराला जी ने आधुनिक बँगला में प्राचीन हिन्दी और नवीन बँगला पर वक्तृता की। उसी समय एक बंगाली महाशय ने हिन्दी के विद्वानों को सम्बोधित करते हुए कहा कि ऐसी विशुद्ध बँगला भिन्न भाषा-भाषी के कंठ से हमलोगों ने नहीं सुनी। यह अवश्य हिन्दी-भाषी मात्र का महत्व है। यह स्मरण रखना होगा कि हिन्दी वाले निराला की इस महत्ता के कायल नहीं हुए बल्कि विद्वेष की विभीषिका से और भी अधिक भड़क उठे। और सम्मेलन ने तो बराबर ही निराला की उपेक्षा की है, यह किसी से छिपा नहीं। सम्मेलन के विषय में

निराला जी की राय चाहे कटु हो, पर है सत्य। उन्होंने अपनी, सम्मेलन से तटस्थता का कारण इस प्रकार दिया है—

'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार विद्यार्थियों के कर्ण-धारण के लिए जितने उद्यत रहे, साहित्य के ध्रुव-ज्ञान से उतने ही रहित। मतलब यह कि सम्मेलन ने अधिक आधुनिक साहित्य को, उस साहित्य को जो खास तौर से मेरा है, विद्यार्थियों से परिचित नहीं कराया। (सम्मेलन अपने कोर्स के लिए पुस्तकों का प्रकाशन भी करता है। निराला को छोड़ कर प्रायः सभी आधुनिक कवियों की कविता-पुस्तकें वहाँ से प्रकाशित होकर कोर्स में चलती हैं, किन्तु निराला को जाने क्यों छोड़ दिया गया है) इसका नतीजा यह हुआ कि प्राचीन विरोधियों से लड़कर अगर मैंने छुट्टी पायी तो सम्मेलन ने मेरे नये विरोधी तैयार किए।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी एक साल, सम्मेलन की अन्तिम उत्तमा परीक्षा के परीक्षक थे, समालोचना के। मैंने पुलिन्दा देखा तो सोचा, कोई किताब लिखी है। खोल कर देखा तो उत्तमा परीक्षा की कापी निकली। पढ़ने लगा। बड़ा मजा आया, सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा के परीक्षार्थियों की मूर्खता पढ़-पढ़ कर। एक प्रश्न था, प्राचीन रहस्यवाद से आधुनिक छायावाद की तुलना कीजिए। इसके उत्तर में किसी विद्यार्थी ने ऐसा भी लिखा था—कहाँ कबीर का रहस्यवाद कहाँ आधुनिक छायावाद? यह प्रश्न ही वाहियात है। हिन्दी की उत्तमा-परीक्षा के विद्यार्थी इतने तमीजदार बनाए गए हैं कि अपने परीक्षक की भी ऐसी इज्जत की है। अभी उस दिन मेरे एक विद्वान मित्र ने कहा—सम्मेलन की परीक्षा में भिन्न प्रान्त वालों के उत्तर जितने अच्छे आते है, हिन्दी-भाषी प्रान्त वालों के उतने नहीं। कारण स्पष्ट है कि भिन्न भाषा-भाषी प्रान्त अपने विद्यार्थियों को जितना तगड़ा बनाते हैं, हिन्दी-भाषी प्रान्त नहीं बना सकते। क्योंकि आधुनिक हिन्दी की शिक्षा सम्मेलन के कर्णधारों ने आवश्यकता-अनुसार उन्हें नहीं दी या देने का प्रयत्न नहीं किया। अगर करते तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी की तरफ तमाम प्रान्त ताज्जुब की निगाह से देखते होते और प्रोत्साहन होने पर एक से एक बढ़ कर साहित्यिक अब तक यहाँ पैदा हो गए होते।

सम्मेलन की इस दुर्दशा, हिन्दी की इस हेठी, साहित्यिकों के ऐसे अपमान और प्रभावित अपरिणामदर्शी राजनीतिकों के प्राधान्य के कारण मैं सम्मेलन में शरीक नहीं हुआ।'

सम्मेलन की जिस दुर्गति का उल्लेख निराला जी ने किया है, वह अक्षरशः सत्य है। उस संस्था में साहित्यकों की अपेक्षा राजनीतिकों का महत्व अधिक है। यही कारण है कि जमनालाल बजाज उसके सभापति हो सकते हैं पर निराला-पंत नहीं। अभी उस दिन श्रीमती महादेवी वर्मा को मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया था और जब वे वहाँ गई तो उनके सम्मान में कोई खड़ा तक नहीं हुआ। सभापति वियोगी जी स्वयं अपने आसन से टस से मस नहीं हुए। महादेवी जी जाकर चुपचाप एक किनारे बैठ गई। मैं भी दर्शकों की भीड़ में बैठा था। सारा वातावरण इतना असभ्य और असाहित्यिक लगा कि मुझे बड़ी ग्लानि हुई। बाद में मैंने देवी जी से कहा—आप वहाँ व्यर्थ ही गईं। वे बोलीं—कोई हर्ज नहीं, बहुत दिनों बाद कौरव-पाण्डवों की सभा देखी। इस प्रकार धीरे-धीरे साहित्यिक, सम्मेलन से अलग होते जा रहे हैं, तो ठीक ही है। प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन, फैजाबाद में निराला अन्तिम बार शरीक हुए और तब से उन्होंने सदा के लिए सम्मेलन को प्रणाम किया। इस समय का पूरा तमाशा निराला ने अपने संस्मरण-प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन फैजाबाद में, 'प्रबन्ध प्रतिमा' में लिखा है। वहीं श्री सम्पूर्णानन्द जी ने कहा था—'लेकिन कवियों को राजनीतिज्ञों का साथ देना है।' निराला ने उत्तर दिया—'हिन्दी के कवि राजनीतिज्ञों से और आगे है।' स्वागताध्यक्ष नरेन्द्रदेव जी ने स्वागत-भाषण में माननीय पुरुषोत्तमदास टंडन और माननीय सम्पूर्णानन्द का नाम लिया और आचार्य शुक्ल का कोई उल्लेख नहीं किया। इस बात से यह साफ जाहिर है कि राजनीतिक व्यक्ति साहित्यिक का कितना सम्मान-स्वागत करता है। आचार्य शुक्ल इन दोनों माननीयों से हजार गुना ऊँचा स्थान साहित्य-क्षेत्र में रखते हैं पर राजनीतिक व्यक्ति उसको उपेक्षा की दृष्टि से ही देखेंगे, यह निर्विवाद है।

टंडन जी से भी निराला जी की कुछ कहा-सुनी हुई, क्योंकि वे भी साहित्य को राजनीति का अनुगामी करार दे रहे थे। उपस्थित जनता, जिसमें स्कूल-अध्यापक और फैजाबाद के नायक प्रतिष्ठित रईस मात्र थे और जो इन राजनीतिकों की खुश करने के सिवाय साहित्य से कोई सरोकार नहीं रखते थे, आवाजें कसनी शुरू कर दीं—चुप रहिए, बैठ जाइए, निकल जाइए आदि-आदि। निराला ने इस घटना से बहुत अपमानित अनुभव किया और सम्मेलन से सदा के लिए अपना नाता तोड़ लिया। वस्तुतः सम्मेलन का इतिहास अपनी असाहित्यिकता का ही लेखा-जोखा रहा है और है, यह डंके की चोट पर कहा जा सकता है। उसके पुरस्कारों और सम्मानों का सारा विवरण घोर दुर्नीति और

दलबंदियों के दलदल में फँसा रहा है। आज तक भी पंत-निराला उसके पुरस्कार के योग्य नहीं बन सके, ऐसी स्थिति में इस संस्था को साहित्यिक कहना भी उचित नहीं जान पड़ता। सम्मेलन, नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दुस्तानी एकेडेमी सभी एक ही थैली के लौंग-खैर-चूना है, क्योंकि निरपेक्ष निगाह से देखने पर सभी अपनी-अपनी व्यवस्था में अनधिकारी व्यक्तियों की मन की मौज की महिमा से मंडित और साहित्य अथवा साहित्यकार की स्वीकृति से खंडित हैं।

इतना ही नहीं देशव्यापी हिन्दी-पढ़ाइयों में भी निराला का पूरा वहिष्कार किया गया, क्योंकि निराला किसी की मालिश करना तो जानते नहीं और बिना मक्खन के कोर्स-बुक-कमेटी के साहब लोग खुश नहीं होते। प्रायः प्रत्येक कवि अथवा साहित्यकार की कोई न कोई कृति कहीं न कहीं कोर्स में थी और पढ़ाई जाती थी, किन्तु निराला की कोई भी कृति कोर्स-बुक-कमेटियों के महानुभावों ने पढ़ाई जाने के लायक नहीं समझी। विश्व-विद्यालयों के प्रास्पेक्टस उठा कर देखने से घुरहू-मगरू-कुबरू सब के नाम उनकी महान कृतियों के साथ मिल जाते, पर निराला का नामोनिशान नहीं। निराला ने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उनका ख्याल था कि—'प्रसिद्धि का भीतरी अर्थ यशोविस्तार नहीं, विषय पर अच्छी सिद्धि पाना है। यदि यशोविस्तार पर निगाह रखकर निर्णय किया गया तो धोखे की जितनी गुंजायश है उतनी प्रसिद्धि के विवेचन में नहीं; कारण, बगीचे के प्रशंसा-प्राप्त फूल से सम्भव है, उपवन का न जाना हुआ फूल और बड़ा, और सुंदर एवं और सुगंध हो। इसलिए फूल के खुल जाने पर खुशबू के खोलने की जरूरत नहीं, जो कहा गया है, यह समझदारों के लिए है, नहीं तो राजा के लड़के की इत्र चाट जाने वाली बात मशहूर है।' (प्रबंध प्रतिमा)

'प्रसिद्धि' की सच्ची साधना में वे बराबर लगे रहे और लखनऊ रहते हुए उनकी अनेक कृतियाँ गद्य-पद्य की निकलीं। 'प्रभावती', 'निरुपमा' (उपन्यास) 'सखी', 'सुकुल की बीबी' (कहानी संग्रह) 'कुल्लीभाट' (संस्मरण लिये हुए स्केच) 'प्रबंध पद्म', 'प्रबंध-प्रतिमा' (निबंध-संग्रह) आदि रचनाएँ उसी समय की हैं। जरूरत के अनुसार बीच-बीच में बाजार का काम—अनुवाद अथवा संशोधन भी करते जाते थे। लखनऊ का रहना भी अव्यवस्थित रहा, कभी घर लेकर रहते तो कभी होटल में। एक बार वे लखनऊ छोड़ कर अपने घर—गाँव में भी गए, पर फिर शीघ्र ही वहाँ से लौट कर लखनऊ में स्थायी रूप से रहने लगे। इस प्रकार सन् '२८ से करीब सन् '४२ के अन्त तक निराला जी लखनऊ में रहे। बीच-बीच में इधर-उधर आना-जाना भी होता रहता था। इसी बीच वे कुछ

दिनों उन्नाव में भी रहे । वहीं से 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा' (काव्य-संग्रह) 'बिल्लेसुर बकरिहा' (हास्यपूर्ण-स्केच) कृतियाँ भी प्रकाशित हुईं ।

सन् '३० में निराला की पुत्री 'सरोज' ब्याह के लायक हो गई, किन्तु कान्य-कुब्ज ब्राह्मणों में लड़की की शादी में बड़ी-बड़ी आफतें उठानी पड़ती हैं—दहेज के लिए काफी रुपया देना पड़ता है और निराला की हालत जो थी, वह—

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द,
पर सम्पादक गण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक-पंक्ति-दो में उत्तर ?

लौटी रचना लेकर उदास
ताकता हुआ मैं दिशाकाश
बैठा प्रान्तर में दीर्घ प्रहर
व्यतीत करता था गुन-गुन कर
सम्पादक के गुण; यथाभ्यास
पास की नोचता हुआ घास
अज्ञात फेंकता इधर-उधर
भाव की चढ़ी पूजा उन पर

से स्पष्ट है । इसलिये निराला ने बहुत सोच-विचार के पश्चात् अपनी पुत्री की शादी कलकत्ते के परिचित नवयुवक श्री शिवशेखर द्विवेदी जी से सारे सामाजिक बंधनों की उपेक्षा करके कर दी । न लगन, न मूहूर्त, न बाजा-गाजा और न बारात, यों ही विवाह सम्पन्न कर दिया और पड़ोसी टुकुर-टुकुर देखते रहे, किन्तु पाँच वर्ष में सरोज की मृत्यु हो गई । निराला ने 'सरोज स्मृति' में इन तमाम घटनाओं का हृदय-विदारक चित्रण किया है । 'सरोज स्मृति' आधुनिक युग की सब से अधिक मार्मिक दुखान्त कविता (यलजी) है । विवाह के बाद का एक चित्र निराला ने खींचा है—

देखा विवाह आमूल नवल
तुझ पर शुभ पड़ा कलश का जल ।

देखा, मैंने वह मूर्ति-धीत
मेरे वसंत की प्रथम गीति-
शृंगार, रहा जो निराकार,
रस कविता में उच्छ्वसित धार
गाया स्वर्गीया-प्रिया-संग
भरता प्राणों में राग-रंग
रति-रूप प्राप्त कर रहा वही,
आकाश बदल कर बना मही।
प्रिय मौन एक संगीत भरा
नव जीवन के स्वर पर उतरा।

'सरोज' के लड़कपन का भी एक चित्र बहुत सुंदर है। माँ की मृत्यु के पश्चात् सरोज अपने भाई के साथ ननिहाल में रहती थी। वहीं का यह स्मरण है—

सब किये वहीं कौतुक विनोद
उस घर निशि-वासर भरे मोद,
खाई भाई की मार, विकल
रोई उत्पल दृग जल छल छल,
पुचकारा फिर उसने निहार
फिर गंगा-तट शंकत विहार,
करने को लेकर साथ चला
तू गहकर हाथ चली चपला
आँसुओं धुला मुख हासोच्छल
लखती प्रसार वह उर्मि-धवल।

और तारुण्य का चित्रण तो अपना सानी नहीं रखता—

धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुञ्ज-तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सत्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर;
नैश स्वप्न ज्यों तू मन्द-मन्द
फूटी ऊषा जागरण छन्द,

काँपी भर निज आलोक-भार
काँपा वन, काँपा दिक प्रसार।
परिचय-परिचय पर खिला सकल—
नभ, पृथ्वी, द्रुम, कलि, किसलय दल

और फिर अन्तिम चित्र में तो जैसे निराला की समस्त वेदना सँभल कर बोल उठी हो—

दुख ही जीवन की कथा रही,
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।
कन्ये, गत कर्मों का अर्पण
कर, करता मैं तेरा तर्पण।

एक जगह एक गीत में निराला ने अपनी पत्नी की मृत्यु की भी करुण कथा कही है। उनका जीवन, धन और सम्मान से सदैव वंचित रहा, क्योंकि वे न तो धन कमाने की चालाकी-चाटुकारी जानते और न धनियों की कुर्निया खिलाते। इसीलिए वे कभी भी धनी-मानी नहीं हो पाए। श्रीमती की बीमारी में भी ये विपन्न थे, इतने कि उनकी दवा का भी ठीक प्रबंध नहीं कर पाते थे। निराला की इस स्थिति को समझ कर श्रीमती ने कहा कि अब मरना ही ठीक है, क्योंकि एक व्यक्ति का भार हलका हो जायगा, वे मर भी गईं—

कह रही हो—'दुःख की विधि—
यह तुम्हें ला दी नई निधि'।
जो दिये थे स्नेह चुम्बन,
आज प्याले गरल के घन,
कह रही हो हँस—'पियो, प्रिय,
पियो, प्रिय, निरुपाय
मुक्ति हूँ मैं, मृत्यु में
आई हुई, न डरो।'
कहा जो न, कहो।

इन दैवी आपत्तियों के अतिरिक्त निराला को पुरानपंथी ढोंगियों से भी बहुत से आघात मिले हैं, किन्तु सन् '३२ की बात तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रक्त से ही लिखी जाने लायक है। 'भारत' में निराला जी ने 'वर्तमान धर्म'

नाम का एक लेख लिखा और उसमें वर्तमान धर्म कैसा होना चाहिए, किस तरह के विचार के प्रसार से ज्ञान-जन्य एकता हो सकती है, पौराणिक रूपकों में एक मात्र कौन-सा सत्य छिपा हुआ है, यही समझाया गया था। इस लेख का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही था, साथ ही इसमें भारतीय पौराणिक रूपकों के भीतर निहित सत्य को ग्रहण करने की भी बात सुझाई गई थी।

'विशाल भारत' के सम्पादक श्री बनारसीदास चौबे ने उसी 'वर्तमान धर्म' को 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक देकर अपने पत्र में प्रकाशित किया और लोगों की सम्मति माँगी। चौबे जी कुछ दिन गांधी जी के साथ और कुछ दिन रवीन्द्र के यहाँ रह चुके थे। 'विशाल भारत' के संपादक के लिए यही इनकी सबसे विशाल योग्यता थी। मसल मशहूर है कि 'देत हिमायत की गधी ऐरावत को लात' के अनुरूप चौबे जी ने उस लेख का शीर्षक ही बदल डाला। इससे पहले उन्होंने उस 'वर्तमान धर्म' का अर्थ कर देने वाले व्यक्ति को पचीस रुपये का पुरस्कार भी अपने पत्र में उद्घोषित किया था। इस घोषणा के साथ ही उन्होंने निराला के पास विशाल भारत भेजना भी बंद कर दिया और निराला को अपनी घोषणा के ज्ञान से वंचित रखना चाहा।

इस बीच निराला जी चार-पाँच बार उनसे मिले भी पर उन्होंने उस लेख की कोई चर्चा नहीं चलाई, छिपे-छिपे अपने पत्र में निराला को गाली देते रहे। 'साहित्यिक सन्निपात' के तीसरे खंड में चौबे जी ने लिखा कि स्वयं निराला जी इसका अर्थ नहीं बता पाते, और भी बहुत सी झूठी, मनगढ़ंत बातें उन्होंने लिखीं। निरालाजी ने आक्षेप के प्रथम खंड के बाद उनको एक पत्र लिखा था और अन्य विद्वानों की उस विषय की रायों को भी भेजा था, पत्र छापने का आग्रह भी था पर तिकड़मी चौबे जी ने उसे नहीं छापा और तीसरे खंड में अपने मन की ऊट-पटाँग बातें छापीं। चौबे जी को इतनी धूर्तता से संतोष नहीं हुआ इसलिए उन्होंने दैनिक 'लोकमान्य' में 'साहित्यिक सन्निपात' शीर्षक से निराला जी पर फिर आक्षेप किया। उस आक्षेप में निराला के प्रति कही गई सारी बातें उलट कर चौबे जी पर इतनी चौकस बैठती हैं कि उनके आक्षेप उन्हीं की प्रकृति से जान पड़ते हैं। निराला का पत्र पाने के पश्चात् ही चौबे जी ने अपनी प्रोपेगैंडा-वृत्ति को पूरे योग से आगे बढ़ाने की कोशिश की थी, क्योंकि पत्र मे निराला जी ने लिखा था—'सच बतलाइए गा, बिना कोष देखे, पूछे, सन्निपात की व्युत्पत्ति जानते हैं आप ? यह पत्र भी छापिए।'

चोर की दाढ़ी में तिनका, चौबे जी चौंक उठे और निराला को हिन्दी से

उखाड़ फेंकने की ठान ली। उपन्यासकार उग्र के खिलाफ भी वे मुखालफत कर चुके थे। उनकी नीति ही यह रही है। जीवन भर वे इसी का पानी पीते रहे हैं और बुढ़ौती में महाराजा ओरछा की सेवा की, पीड़ित और पराजित। उनका नया अड्डा विन्ध्य प्रदेश बना।

अगहन का 'विशाल भारत' रायों के साथ निकला। रायों के देने वाले भी सभी एक से एक विद्वान थे। श्री रामदास गौड़ और श्री मोहनलाल महतो, विशेष उल्लेखनीय। गौड़ जी का साहित्य में कोई स्थान नहीं, हाँ उन्होंने कुछ टीकाएँ अवश्य लिखी हैं और जैसा कि निराला जी ने लिखा है, महतो जी के लिए मैं क्या कहूँ? एक और महोदय की भी राय छपी थी। डा० नरोत्तमदास (हैदराबाद) की। इन सभी महान पंडितों (पंडों) ने निराला को बुरा-भला सुनाया था और लेख को पागल का प्रलाप बताया था। बहुत से विश्वस्त साहित्यिकों ने उस लेख का अर्थ पत्रों में लिखा और बताया पर चौबे जी कब सुनने वाले थे। 'समन्वय' के संपादक स्वामी माधवानन्द जी ने भी उस लेख की महत्ता और सार्थकता का समर्थन किया तब जाकर मुँह की खाकर चौबे जी शान्त हुए और निराला को पागल सिद्ध करने की चेष्टा में स्वयं मस्तिष्क-विकार के आधार बने। चौबे जी के कुछ चेले-चपाटी अब भी साहित्य में ऐसे दुर्पातों के उठाने की कभी-कभी हिमाकत करते है पर अब जनता उनसे साव-धान है।

इस विरोध और व्यर्थ के आघातों से निराला को कष्ट तो हुआ, किंतु वे अपनी सहज उदारता में बहुत आगे थे, इसे कुछ दिनों बाद भूल गए, पर चौबे जी उनकी टोह में रहते, ओरछा के राज-दरबार मे निराला को लेकर विदूषक का काम करते रहते।

निराला मौलिक सूझ और बहुत बड़े जीवट के व्यक्ति थे, उनकी कलात्मक रचनाओं को समझ सकना बहुत सहज नहीं और अपनी समझ के बाहर की चीज को पागलों का प्रलाप कहने वालों की इस देश में क्या सारे संसार में कमी नहीं। एक कथानक से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

एक बार अनातोले फ्रान्स किसी सभा में भाषण दे रहे थे। एक पगले ने आकर भीड़ में कहना शुरू किया कि वह अनातोले से बढ़िया बात कह सकता है पर उसकी कोई सुनता नहीं। लोगों ने ध्यान नहीं दिया। तब उसने पटाखे छोड़ने शुरू किये। लोगों का ध्यान स्वभावतः उसकी ओर आकर्षित हुआ और वह हँस कर बोला—अच्छा सब लोग मेरी तरफ आकर्षित हैं? बोलो मैं बड़ा

कि अनातोले फ्रान्स ? ठीक यही हाल निराला को लेकर हिंदी में रहा। कई पागलों ने उन्हें पागल कहा और उन पर कीचड़ उछाला पर निराला ने ठीक ही लिखा है—'जो लोग होमाग्नि से हवि का उद्गम, उससे भगवान श्री रामचन्द्र आदि की उत्पत्ति, ऋषियों के रक्त से भरे घट से भगवती सीताजी का आविर्भाव, पवन-नंदन भक्त-प्रवर हनूमान का समुद्र-लंघन, एक ही रात में उत्तराखंड से औषधि का पहाड़ उखाड़कर लंका वापस जाना और ऐसे महावीर का भरत के 'सींक-सायक' से मूर्च्छित होना, भगवान श्रीकृष्ण जी के भूमिष्ठ होते ही बज्र-द्वार का खुलना, भादों की यमुना का घुटनों तक हो जाना, कृष्ण का गोवर्धन उठा लेना आदि-आदि असम्भव बातों पर उसी-उसी रूप में विश्वास करते हैं, अथवा जो नास्तिक हो गए हैं पर जनता के सामने आस्तिक होने का ढोंग करते हैं, मेरी दृष्टि से ऐसे मनुष्यों का 'वर्तमान धर्म' का अर्थ न समझना ही स्वाभाविक है। ऐसे महापुरुषों की विरोधी उक्तियों पर लिखने की अपेक्षा मौन रहना अच्छा है'। (प्रबन्ध प्रतिमा)

इस विरोध और प्रचार का परिणाम यह हुआ कि निरालाजी ने उस लेख को आगे नहीं बढ़ाया अन्यथा उनकी इच्छा थी कि वे समस्त विशिष्ट भारतीय पौराणिक रूपकों का मूल रहस्य, उनकी व्याख्या हिन्दी भाषा में करें, पर वह पूरा न हो सका। इस कलंक के साथ चौबेजी का नाम बहुत दिनों तक लोग स्मरण रखेंगे, और शायद वे चाहते भी यही थे। अपनी नाक काट कर दूसरों का अपशकुन मनाने वाले व्यक्तियों का साहस कम सराहनीय नहीं होता ?

जो भी हो, गणेश-लक्ष्मी आदि के रूपक बहुत ही भाव-पूर्ण और सारगर्भित हैं निराला जी ने कहा था—'हिन्दुस्तानी धनियों को उल्लू पर चढ़ना चाहिए पर वे मोटर पर चढ़ते हैं और तुर्रा यह कि अपने को देशभक्त भी कहते हैं।' यह स्मरण रखना होगा कि लक्ष्मी का वाहन उलूक ही है। निराला जी ने साहित्य-सृजन के साथ-साथ अपनी संस्कृति के भी पुनरुत्थान करने की साधना ली थी, क्योंकि वे दार्शनिक प्रकृति के विचारशील व्यक्ति थे, वे केवल कवि नहीं उनका निर्माण-सृजन बहुमुखी और जीवनव्यापी है। साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों में उनकी अपनी विशेषता और सूझ-बूझ रही है। उन्होंने इन सभी विषयों में बहुत साहस और शक्ति के साथ अपने विचारों और अपने चिंतनों को हिन्दी के माध्यम से देश के सामने रखा है।

किन्तु, 'मैं तारीफवाली बाहरी बातों में पहले से पीछे रहा, किताबों का

गेटअप साधारण, तस्वीर नदारद, छपाई मामूली। मेरी तस्वीर तो मेरे साथ वालों के बहुत बाद निकली है, वह भी वैसी भड़कीली नहीं, निकली भी पत्रिकाओं में, मेरी पुस्तकों में नहीं। पर हर तरह बचता हुआ भी बदनामी में पहले रहा। जिन-जिन लोगों ने अपना काँवला भूलकर मुझे पीला बतलाया है, उनकी कार्यावली की लम्बी तालिका न पेश करूँगा। यह मानी हुई बात है कि जब भ्रम एक के पास न होगा, तब दूसरे के पास अवश्य होगा, क्योंकि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार अनादि तीन हैं, जिनमें भ्रम मजे में आता है। इस तरह जब मेरे पास जगह न पा सका तब दूसरों के सर चढ़ कर मेरी ओर मुँह करके बोला।

मैं खड़ी बोली का वाल्मीकि नहीं, न 'वाल्मीकि की प्रिये, दास यह कैसे तुझको भाया, मेरी पंक्ति है; पर 'भयो सिद्ध करि उलटा जापू' अगर किसी पर खप सकता है तो हिन्दी के इतिहास में एकमात्र मुझ पर। कबीर उल्टवाँसी के कारण विशेषता रखते है, पर वहाँ छन्दों का साम्य है, उल्टवाँसी नहीं; यहाँ छन्द और भाव, दोनों की उल्टी गंगा बहती है। यह सब उलटापलट मैंने जानबूझ कर नहीं किया, और यह उलटापलट है भी नहीं, इससे सीधा और प्राणों के पास तक पहुँचता रास्ता छन्दों के इतिहास मे दूसरा नहीं।' पर यह शक्ति हिन्दी में, पीढ़ी से पीढ़ी में मुखरित होती हुई अमरता का अधिकार पाएगी, यह मेरा विश्वास है। अध्यात्म के प्रति एक संस्कारात्मक विश्वास होने के कारण उनका बुद्धि प्रधान स्वभाव श्रद्धा और आस्था से हिल-मिल गया है, पर निराला अपनी श्रद्धा का भी विश्लेषण करना चाहता है और अन्त में भाग्य के ऊपर कर्त्तव्य का महत्व मानने को विवश होता है, लड़खड़ाता है, टकराता है और झटके के साथ आगे बढ़ जाता है—

मोढ़े पर से कुण्डली हाथ
अपने जीवन की दीर्घ गाथ,
पढ़ लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था, मन में बड़ी चाह—
खण्डित करने को भाग्य अङ्क,
देखा भविष्य के प्रति अशङ्क।

इस प्रकार ईश्वर, भाग्य सभी से विद्रोह करने की निराला में हठ था और शक्ति भी। संघर्ष से दूर व्यक्ति कभी निराला-साहित्य का मर्म नहीं समझ सकता, यह निश्चय है।

ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से देखा जाय तो निराला कर्ण के अवतार मालूम पड़ते हैं। उसी की भाँति निष्ठा में दृढ़, उदारदाता, धीर-वीर, स्वस्थ शरीर और मन। सम्भवतः कर्ण की जन्मजात हीनत्व भावना की सी कोई गाँठ निराला में भी थी। उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप निराला के निर्लिप्त व्यक्तित्व में भी दुर्द्धर्ष अहंभाव और संसार के प्रति एक उपेक्षा-भाव दिखाई पड़ता है। किसी व्यवस्था के प्रति अखंड और दुर्दमनीय विद्रोह की अभिव्यक्ति में निराला अपनी सारी शक्ति लगा देने को तैयार रहते थे। 'युद्धे अपलायनम्' निस्सन्देह एक कर्मठ की धुन और लगन होनी चाहिए, किंतु बरबस युद्ध को मोल लेना भी ठीक नहीं, पर निराला तो शान्ति को मुर्दों की चीज समझते थे। जीवन भर विषम परिस्थितियों से लड़ने के कारण ही निराला लड़ाकू बन गये थे।

संसार जिसके लिए कभी एक इंच भी नहीं झुका, भला वह उसके लिए क्यों झुके? निराला का व्यक्तित्व वास्तव में इतना शक्तिशाली और पौरुषमय था कि वह अनवरत संघर्ष के बिना जैसे जी ही नहीं सकता। यौवन और जागृति यही उसकी साँस उच्छ्वास है। ओज और तेज उसके शब्द-शब्द में चमकते-टमकते हैं। निराला को भलीभाँति ज्ञात था कि उनके साहित्य और उनके व्यक्तित्व के मर्म को समझने वाले बहुत कम लोग हैं, पर वह इससे निराश नहीं। भवभूति की भाँति अनन्त काल और विस्तृत संसार में कभी न कभी किसी समान-धर्म व्यक्ति का उसे पूरा विश्वास था। जैसे वह कहना चाहता था कि संसार में एक नहीं अनेक ऐसी परिष्कृत प्रतिभा के लोग हुए है और आगे भी होंगे जिनको वातावरण की कभी कोई अनुकूलता और समाज का कोई स्नेह नहीं मिला; फिर भी वे अपने निश्चित मार्ग में बराबर बढ़ते रहे और साहस के साथ अपने लक्ष्य तक पहुँचे। जिस व्यक्ति को जन्मजात प्रतिभा और विधायिनी कल्पना का वरदान मिला है उसकी गति को रोकने वाली संसार की कोई शक्ति स्वयं अपना उपहास कराने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती। इतने प्रचंड विरोधों के होते हुए भी निराला के विश्वास और उसकी गति में तिल भर का भी अन्तर नहीं आया।

सन् '३२ से सन् '३५ तक निराला जी चौबे जी के चक्रजाल से उलझते सुलझते रहे और अपनी पूरी शक्ति के साथ मौलिक साहित्य का सृजन करते गये। स्वावलम्बी हो जाना ही शक्ति की सूचना है और इस दृष्टि से निराला पूर्ण शक्तिशाली के रूप में अपनी प्रतिभा की किरणों का प्रकाश विकीर्ण करने में अनन्य सिद्ध हुए। समय की एक आवश्यकता भी होती है, उसी के अनुसार मानवता का भाव-लोक भी अपना स्वरूप ग्रहण करता है। भाषा जिस प्रकार

अर्थ-साम्य रखने पर भी स्वरूपतः बदलती चलती है, उसी प्रकार समयानुसार भाव भी नये-नये रूपों को ग्रहण करते चलते हैं। इस प्रकार साहित्य, जीवन की समीपता और उससे सामंजस्य स्थापित करता रहता है। प्रत्यक्ष वस्तु के साथ साहित्यकार की भावना और कल्पना के सहयोग से ही साहित्य स्थायित्व पाता है, इसलिए जीवन के साथ-साथ विकसित तथा परिवर्धित एवं परिवर्तित होते चलने का उसका शाश्वत स्वभाव है।

वेदों में व्यापक सत्ता अथवा ब्रह्म को जानने या प्राप्त करने के लिए पहले उस आदि युग के मनीषियों ने बुद्धि (ज्ञान) को माध्यम माना था, किन्तु उपनिषद काल तक आते-आते इस चरम सत्य की प्राप्ति का माध्यम बुद्धि से उठकर भाव में आधारित हुआ। वेदों में जो ऋचाएँ काव्य की उत्कृष्टता की कोटि में रखी जा सकती है वे प्रायः सभी भाव-प्राण हैं, उनमें बुद्धि-वैभव की दार्शनिकता की अपेक्षा भाव-विह्वलता का ही आधिक्य पाया जाता है। भाषा भी अधिक मधुर और सांकेतिक होती गई है। आधुनिक युग की छायावादी काव्य-धारा भी भाव-सत्ता का समर्थन लेकर सामने आई। वस्तुतः उसकी शैली भी बदली हुई थी। इस काव्य में मस्तिष्क का नीरस आल-जाल न होकर हृदय के माधुर्य की मिठास का महत्व माना गया है, और यौवन, माधुर्य, वृद्धों को चिढ़ाने का ही काम करते हैं। इसलिए इस भाव-धारा से तन-मन के बूढ़े, बुद्धि के बर्बरियों का असहयोग होना अनिवार्य था। किन्तु इस असहयोग में यह दम नहीं था कि वह इस प्रवेग को रोक सके, क्योंकि युग विशेष की उदबुद्धता को थाम लेना किसी प्रकार भी संभव नहीं होता। जिस प्रकार व्यक्ति-विशेष अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए एक विशेष प्रकार की शैली का सृजन करता है उसी प्रकार युग-विशेष भी अपनी अभिव्यक्ति का नया माध्यम खोज निकालता है। गर्मी की निंदा करके जिस प्रकार उसे जाड़ा नहीं बनाया जा सकता उसी प्रकार किसी युग-व्याप्त भाव-धारा की निंदा करके उसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता, किन्तु विरोधियों में समझदारी और ईमानदारी की कल्पना करना भी तो हास्यास्पद है। जो भोजन स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य है वही रोग का भी कारण बनता है, छायावाद का विरोध करने वाले सयानों-समझदारों को रोगी मानकर ही छोड देना ठीक है। यों भी जीवन के किसी भी क्षेत्र की क्रान्ति का समर्थन बूढ़ों से नहीं होता, उसे गति देने के लिए सदैव नवीन उष्ण रक्त की स्फूर्ति ही अपेक्षित रहेगी।

सन् '३५ में सरोज की असामयिक मृत्यु ने निराला को बहुत भारी आघात

पहुँचाया। चारों ओर के विरोध और साहित्यिक व्यवसायियों के छलों से पीड़ित कवि के लिए यह दुर्घटना महान क्षोभ का कारण बन गई। निराला का जीवन झंझा के बीच में एकाकी तरु की भाँति झकझोर गया, हिल गया, पर हिन्दी के सौभाग्य से उखड़ा नहीं। साहित्य-सृजन के साथ-साथ निराला ने अपने युग की राजनीति में भी बराबर भाग लिया है। सन् '२५ में चर्खे को लेकर गाँधी जी से जो विवाद रवीन्द्र का चला था उसके उत्तर में निराला ने एक बहुत लम्बा लेख लिख कर रवीन्द्र की बहुत सी गलतियाँ बताई थीं। यद्यपि निराला कभी भी गाँधीवाद के समर्थक नहीं रहे पर नये राष्ट्रीय-आन्दोलन की गति में वे स्फूर्ति भरने की चेष्टा में सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। राष्ट्रीय-आन्दोलनों के प्रति निराला जितनी जागरूकता और सक्रिय सहयोग उनके किसी अन्य समकालीन साहित्यकार से नहीं सम्भव हुआ। निराला ने राजनीतिक दासता और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति सदैव विद्रोह किया। पर किसी ने सच कहा है कि गुलाम देश का नेता भी गुलाम मनोवृत्तियों का शिकार होता है, विशेषकर भारत तो इसका अद्भुत उदाहरण है। इसलिए निराला की राजनीतिक सूझों का महत्व नेताओं ने नहीं माना। सन् '३१ मे निराला ने 'अधिकार-समस्या' नामक एक निबंध लिखकर देश की स्थिति और उसके सुधार का सुझाव सामने रखा। जिसमें उन्होंने लिखा कि अधिकारों को लेकर ही सभ्यता का विकास हुआ है क्योंकि मनुष्य अपने अधिकारों के लिए आकुल-व्याकुल है। अधिकार-भेद के ही कारण आपस में कलह-कोलाहल का सूत्रपात होता है, इसलिये सब व्यक्तियों को समानाधिकार दे कर ही शाश्वत शान्ति की स्थापना की जा सकती है अन्यथा नहीं। संसार की प्रत्येक जाति की विशेषता के रूप में उसके अधिकार उसके पृथक व्यक्तित्व का साक्ष्य दे रहे हैं, जिनके द्वारा एक जाति दूसरी जातियों से भिन्न और मौलिक है। किंतु संसार के भिन्न-भिन्न देशों के नवीन संस्कारों को देख कर अँग्रेजी प्रभाव में पले हमारे अधिकांश नेता भारत के लिए भी उन्हीं उपायों का प्रयोग करना चाहते हैं, किंतु सत्य अनुकरण से नहीं वरन् साधना से प्राप्त होता है। इसे कौन नहीं जानता कि अनुकरण किसी आदर्श की पुष्टि नहीं कर सका। इसके लिए मौलिक उद्भावना ही दरकार रहेगी।

मौलिकता का मूल साम्यावस्था है, और इसी का नाम यथार्थ स्वतंत्रता भी है। ऐसी ही स्थिति की प्रेरणा मनुष्य के अधिकारों की रक्षा करती हुई उन्हें वास्तविक रूप में स्वतंत्र बनाती है। पर नेता लोग इन मौलिक विचारों की कल्पना से परे जड़ अधिकारों की रक्षा में व्यस्त रहते हैं। 'हमारे देश के अधि-

कांश नेता लोग त्याग तथा मनुष्यता में बहुत आगे बढ़े हुए भी केन्द्रच्युत थे, इसलिए ऐसी आवाज नहीं उठाते जिससे अधिकारवाद का मौलिक परिवर्तन हो। कुछ नेता योरोप का स्वप्न देखते हैं।' क्योंकि उनकी शिक्षा-संस्कृति यूराप से प्रभावित थी। वास्तव में यह बड़े दुख की बात थी कि नेताओं में ज्यादातर विदेशी शिक्षाप्राप्त व्यक्ति ही थे। हिंदी प्रान्त के केन्द्र प्रयाग में रहकर भी पं० जवाहरलाल ऐसे नेता भी हिन्दी नहीं जानते थे और संस्कृत की तो उनके सामने बात करनी व्यर्थ थी। यह बात ऊपर से मामूली सी जान पड़ती है पर इसका प्रभाव बहुत व्यापक होता है। दरिद्र भारत के नेता धनी लोग भी रहे हैं। जहाँ नेता त्याग नहीं कर सके, वहाँ अनुयायी अथवा धन के बड़े-बड़े उत्तराधिकारी अपने अधिकारों का त्याग कैसे कर सकते थे? वे तो महलों में रहकर, कुटियों की सैर करके, देहात-दर्शन और देहातियों को उपदेश देते थे—पुनः मोटर पर भ्रमण करते हुए। देश की यही हालत थी। निराला जी जीवन में बहुत बडे आशावादी भी थे इसलिए नेताओं की स्थिति पर क्षोभ प्रकट करते हुए भी उन्होंने लिखा है—'अवश्य वह युग आएगा। हमें यथाशक्ति सत्य का उपहास न करते रहना चाहिए। इस भावना से भरा हुआ कोई भी कार्य साम्य-स्थिति के लिए कोई भी विचार अपूर्ण न रहेगा क्योंकि—स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

इस प्रकार राजनीति में भी वे अपने विचारों का प्रचार करते जाते थे, देश के कर्णधारों को सुझाते जाते थे, पर यह भी ठीक है कि दुर्भाग्य की चक्की में पड़ा देश निराला के अमूल्य विचारों का महत्व नहीं समझ सका। किसी बिडला अथवा डालमियाँ ने उन्हे अपने विचारों के प्रचार के लिए हवाई जहाज नहीं दिया, पत्र-पत्रिकाओं ने भी साथ नहीं दिया और बिना भोंपू के कौन किसकी बात सुनता है? इसके अतिरिक्त सन् '४२ के पहले तक गरीब का नेता होना भी नितान्त असम्भव था। बड़े बाप के बेटे और बड़े बनिए के लिए नेता होना आसान था, किन्तु योग्य होते हुए भी गरीब का नेता होना एकदम मुश्किल।

राजनीति ही नहीं, धर्म के ढोंग पर भी निराला ने कठोर से कठोर व्यंग किए हैं और वास्तविक धर्म का स्वरूप जनता के सामने रखा है। सन् '३५ की लिखी 'दान' नामक कविता में निराला ने प्रचलित धर्म की बहुत ही मार्मिक भर्त्सना की है—

मैं प्रातः पर्यटनार्थ चला
लौटा, आ पुल पर खड़ा हुआ;

सोचा, 'विश्व का नियम निश्चल,
जो जैसा, उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया,
सोचने को न कुछ रहा नया;
सौन्दर्य, गीत, बहुवर्ण, गन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सब में है श्रेष्ठ, धन्य, मानव'।
फिर देखा, उस पुल के ऊपर
बहु संख्यक बैठे हैं बानर।
एक ओर पथ के कृष्णकाय
कंकाल-शेष नर मृत्युप्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल,
भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल;
अति क्षीण कंठ, है तीव्र श्वास
जीता ज्यों जीवन से उदास
ढोता जो वह, कौन सा शाप ?
भोगता कठिन कौन सा पाप ?
यह प्रश्न सदा ही है पथ पर
पर सदा मौन इसका उत्तर !
जो बड़ी दया का उदाहरण,
वह पैसा एक उपाय करण !
मैंने झुक नीचे को देखा,
तो झलकी आशा की रेखा :—
विप्रवर स्नानकर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल, तंदुल, तिल
लेकर झोली आए ऊपर
देखकर चले तत्पर बानर !
झोली से पुए निकाल लिए,
बढ़ते कपियों के हाथ दिए;

देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर
चिल्लाया किया दूर दानव
बोला मैं—'धन्य श्रेष्ठ मानव।'

इस प्रकार की धार्मिकता इस देश के लिए कोई नई बात नहीं। सुना है कलकत्ते में कुछ ऐसे भी मारवाड़ियों के धर्मशाले हैं जहाँ की चारपाइयों से खटमलों को किसी प्रकार भी मारा अथवा भगाया नहीं जाता। उलटे, जो आदमी उन चारपाइयों पर लेट कर खटमलों को अपने रक्त से तृप्त करने को तैयार होता है उसे धर्मशाले के अधिकारियों की ओर से कुछ रुपया भी दिया जाता है, शायद एक रात का एक रुपया। अगर यह नहीं भी सत्य हो तो निराला ने ऊपर जिस घटना का उल्लेख किया है वह कम रोमांचकारी नहीं है। धर्म के नाम पर यहाँ रोज ही ऐसी अमानुषिक घटनाएं घटती रहती हैं। फिर भी वास्तविक तत्व की ओर ध्यान दिलाने पर निराला जी को उन पंडित-प्रवर का क्रोध ही मिला, सहानुभूति तो कदापि नहीं।

देश की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विकृतियों की कड़ी से कड़ी आलोचना करते हुए भी निराला ने इनके सुधार की समस्याओं के हल के समय सब दिन अपनी प्रसन्नता जाहिर की है। '३६ की काँग्रेस मिनिस्टरी के बाद निराला ने लिखा था—

बहुत दिनों बाद खुला आसमान।
निकली है धूप, हुआ खुश जहान!
दिखीं दिशाएँ, झलके पेड़,
चरने को चले ढोर—गाय-भैंस-भेड़
खेलने लगे लड़के छेड़-छेड़—
लड़कियाँ घरों को कर भासमान!

इस कविता में राजनीतिक कुहासे से मुक्ति का स्वरूप स्पष्ट रीति से सामने रखा गया है। जनता काँग्रेसी शासन से इसी प्रकार के मुक्त-वातावरण की आशा भी बाँधे बैठी थी, यद्यपि वह पूरी नहीं हो सकी, यह भी प्रत्यक्ष है। इस राजनीतिक अधिकार के प्रति निराला ने यह भी कामना की थी—

मेरी छवि उर-उर में ला दो!
मेरे नयनों से ये सपने समझा दो।

जिस स्वर से भरे नवल नीरद,
हुए प्राण पावन गा हुआ हृदय भी गद-गद,
जिस स्वर-वर्षा ने भर दिए सरित-सर-सागर,
मेरी यह धरा धन्य हुई भरा नीलाम्बर,
वह स्वर शर्मद उनके कंठों में गा दो !

किन्तु निराला की यह आशा पूरी नहीं हुई और मिनिस्टरी ने इस्तीफा तक दे दिया।

साधारणजन इस प्रकार की चारों ओर की विकृतियों से घबड़ाकर या तो वैराग्य की शरण ले लेता है या क्रांति का कारण बनता है। निराला का निर्वाह वैराग्य में नहीं था, क्योंकि वे जन-सेवा का—साहित्य-सृजन का व्रत ले चुके थे। इस कारण उन्होंने अपने मन में नया उत्साह भरने की कोशिश करते हुए लिखा—

बादल गरजो !—
घेर घेर घोर गगन, धारा धर ओ !
ललित-ललित काले घुँघराले
बाल-कल्पना के-से पाले
विद्युत-छवि उर में, कवि, नव जीवन वाले !
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो :—
बादल गरजो !

सन् '३८ तक निरंतर संघर्ष करते-करते निराला जी कुछ श्रान्त से हो गए। उनका आत्म-विश्वास तो ज्यों का त्यों अटल रहा, पर विद्रोह का स्वर कुछ मन्द पड़ गया। उन्होंने अपनी इस मनोदशा का चित्रण अपनी एक 'उक्ति' में किया है, जिससे अपनी कविता को लेकर उन्होंने अपनी अन्य सारी असफलताओं की उपेक्षा सी की है। आत्म-विश्वास के स्वर विरोध और बौखलाहट की सनसनाहट में भी स्पष्ट हैं—

कुछ न हुआ न हो
मुझे विश्व का सुख, श्री, यदि केवल
पास तुम रहो !

इसके पहले भी कभी-कभी निराला का मन क्षुब्ध होकर खिन्न हो उठता था और वे तीन-चार दिन तक किवाड़ बन्द किए अकेले पड़े रहते थे, किन्तु इस

बार की प्रतिक्रिया निश्चय ही कुछ अधिक वेगवती थी। उन्होंने अपने बड़े-बड़े बाल कटा डाले और भविष्य में कविता न लिखने का निश्चय सा कर लिया। दो-चार माह के बाद उनका यह निश्चय इधर-उधर फैलते हुए प्रयाग तक पहुँचा। निराला के समझने वाले उनके आत्मीयजनों को इससे बहुत कष्ट भी पहुँचा। किसी ने मजाक भी उड़ाया, पर अधिकतर लोगों ने सहानुभूति ही दिखलाई, इसमें सन्देह नहीं।

प्रसादजी का स्वर्गवास हो चुका था, पन्त जी अपनी काव्य-भूमि बदल चुके थे और निराला का यह निश्चय जैसे आधुनिक युग की वृहत्त्रयी में घुन का काम कर गया। सन् '३५ के पश्चात् साहित्य में एक नये आन्दोलन का भी सूत्र-पात्र हो चुका था जिसे 'प्रगतिवाद' के नाम से पुकारा जाता था और जिसके उन्नायक रूस के जूस से पनपने वाले कुछ बाबू लोगों का दल भी छायावाद पर कुठाराघात करना अपना परम कर्तव्य समझ रहा था। इस धारा में जीवन की सम्पूर्ण प्रगति का ध्यान न रख कर केवल राजनीतिक विचारधारा का प्राधान्य था, इसलिए साहित्य के सच्चे पारखी उससे कतरा रहे थे। और छायावाद का तो अभी प्राचीन-प्रेमी पंडों से विरोध चल ही रहा था कि उसके सामने एक नये मोर्चे के रूप में यह प्रगतिवाद आया। छायावादी कवियों में केवल निराला जी ही ऐसे कवि थे जिनको प्रगतिवादी भी अपना कवि मानते थे। प्रायः प्रगतिवाद पर लिखे गए लेखों में निराला की कविता के उद्धरण भी दिए जाते थे। निराला के इस निश्चय ने छायावाद को क्षति पहुँचाने के साथ-साथ प्रगतिवाद पर भी भारी आघात पहुँचाया, इसमें सन्देह नहीं।

छायावाद की चरम परिणति—श्री महादेवीजी को इस समाचार से अत्यन्त दुख हुआ और वे निराला की मानसिक स्थिति का ठीक-ठीक पता चलाने के लिए लखनऊ गयीं और उनसे पुनः कविता लिखने का वचन ले लिया। निराला जी ने एक पत्र के द्वारा अपने कविता लिखने के अभिनव संकल्प की मुझे भी सूचना दी और यह भी लिखा कि अब दुनिया इतनी गद्यमय हो गई है कि कविता लिखते हुए भी वे अब काव्योचित प्रसाधनों का संविधान-शृङ्गार फिर कभी न करेंगे। सिर तो घुटा ही रहेगा। इस पत्र से निराला की तत्कालीन मानसिक स्थिति का साफ पता चलता था। उन्होंने सन् '३० में एक कविता 'हिन्दी के सुमनों के प्रति पत्र' में भी कुछ ऐसा ही लिखा था—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत,

ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि !

निराला ने फिर कविता लिखने का निश्चय तो कर लिया पर उनकी भीतरी अन्तर्दशा ज्यों की त्यों अस्थिर बनी रही और वे एक जगह जम कर रहने की अपेक्षा यात्रायें अधिक करने लगे। इन दिनों कवि-गोष्ठियों का भी खूब प्रचार था और निराला जी ने आना-जाना भी जोरों से शुरू कर दिया। राजनीतिक क्षेत्रों में एक नई चर्चा भी उन्हीं दिनों चल पड़ी। महात्मा गांधी ने हिन्दी छोड़ कर हिन्दुस्तानी की आवाज उठाई और साहित्य की गति-विधि पर भी अपनी राय देने लगे। निराला का स्वभाव अनौचित्य सहने का नहीं रहा, फिर चाहे वह जिसके द्वारा भी प्रचारित किया जाय। वे उसका विरोध अवश्य करते।

सन् '३८ में प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन फैजाबाद में हुआ। उस समय निराला जी वहीं थे। श्रीनारायण चतुर्वेदी ने मुर्दा सम्मेलन को जिलाने के लिए निराला का सहयोग चाहा और सभापतियों का जिक्र किया। निराला ने आचार्य शुक्ल को पूर्ण सम्मेलन का सभापति चुनने की राय दी। उस वक्त बातचीत यही हुई थी कि सम्मेलन में राजनीतिकों का प्राधान्य हो रहा है इसलिए इस सम्मेलन मे साहित्यिकों की इज्जत की जायगी, किन्तु बाद में शुक्ल जी सिर्फ़-साहित्य-शाखा के सभापति बनाए गये और टण्डन जी पूर्ण सम्मेलन के। निराला जी को यह बात अच्छी नहीं लगी और न किसी साहित्यकार को अच्छी लग सकती थी, पर वे चतुर्वेदी जी से प्रतिश्रुत थे, अतएव सम्मेलन में गए। निराला जी ने लिखा है कि वह एक साहित्य-सम्मेलन न होकर प्रहसन मात्र था। उसे सभापतियों ने ही—राजनीतिक सभापतियों ने प्रहसन बनाया था। उपस्थिति स्कूल मास्टरों की अधिक थी, क्योंकि वे काँग्रेस-सरकार के मातहत थे और टंडनजी तथा सम्पूर्णानन्द जी उसके मंचनायक।

पहले रोज माननीय सम्पूर्णानन्द जी कला-प्रदर्शनी खोलने के लिए आए। बोलते समय कला-प्रदर्शनी को छोड़ कर कविता पर बोलने लगे। आवेग मे आए और बोले—'कवियों को राजनीतिज्ञों का साथ देना है।' निरालाजी से न रहा गया और उन्होंने कहा—'हिन्दी के कवि राजनीतिज्ञों से और आगे हैं।'

दूसरे दिन टंडन जी सम्मेलन के सभापति पधारे। साथ मे सम्पूर्णानन्द जी, आचार्य नरेन्द्रदेव और दो-एक असेम्बली के सज्जन। आचार्य जी ने स्वागताध्यक्ष की हैसियत से कहा—'आपके यहाँ दो-दो महापुरुष पधारे हुए हैं, एक हैं पूज्य

माननीय बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन दूसरे माननीय सम्पूर्णानन्द जी।' निराला ने लिखा है—

'मेरे मन में बड़ी ग्लानि पैदा हुई—वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल बैठे थे। अगर साहित्यिकों में अन्य कोई महापुरुष नहीं थे तो साहित्य विभाग के सभापति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो थे ही; लेकिन आचार्य नरेन्द्रदेव ने उनका उल्लेख नहीं किया। उनकी निगाह में दो ही महापुरुष थे। आप समझ सकते हैं, राजनीतिक किस दृष्टि से साहित्यिक को देखता है। आचार्य शुक्ल जी उम्र में भी टंडन जी से शायद ही छोटे होंगे। मेरा तो ख्याल है कुछ बड़े होंगे। साहित्य में शुक्ल जी की ख्याति हिन्दी भाषियों से छिपी नहीं। लेकिन उदार बनने वाले राजनीतिक ने अपने हृदय का भाव व्यक्त कर दिया।'

भाषण सभी के मौखिक थे। टंडनजी का भी जो सम्मेलन के सभापति थे। निरालाजी की राय से साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण मौखिक नहीं होना चाहिए था। ठीक उसी तरह जैसे नेशनल काँग्रेस या प्रान्तीय काँग्रेस के सभापति के भाषण प्रायः मौखिक नहीं होते। टंडन जी हिन्दी-हिन्दू के प्रसंग पर एक जगह कह रहे थे, 'सूर और तुलसी ने इन शब्दों के प्रयोग नहीं किए।' निराला ने कहा—'कबीर ने किया है।' फिर क्या था, 'जिमि छुय गयो पाक बरतोरू' की भाँति टंडन जी का स्वर बिगड़ना शुरू हुआ। 'बिगड़ते-बिगड़ते वह इतने बिगड़े कि साहित्यिक शिष्टता का ख्याल भी जाता रहा। राजनीति मे प्रोपेगैन्डा करने वाले, एक-दूसरे के खिलाफ, इतर शब्दों का प्रयोग करते है, साहित्य मे कहीं-कहीं व्यंग्यपूर्ण इतरता लक्षित होती है, लेकिन साहित्य के मंच पर टंडन जी जैसे प्रान्त के समादृत व्यक्ति का भाषण के रूप मे प्रलाप या आलाप किसी तरह भी मार्जनीय नही हो सकता।

इसके बाद टंडन जी पूर्ण रूप से राजनीति को प्राधान्य दे चले, जैसे सरस्वती राजनीति की दासी हो। साहित्य के मंच पर समवेत साहित्यिकों के सामने राजनीति के महत्व की घोषणा उस आसन का अपमान है, इसके समझाने और समझने के लिए अधिक शब्दों की आवश्यकता नहीं। टंडन जी द्वारा उस आसन के सम्मान की रक्षा नहीं हुई। इस प्रकार उन्होंने साहित्यिकों का भी अपमान किया। मैं दावे के साथ कहता हूँ इस प्रांत मे राजनीति ने जो काम किया था, उससे अधिक काम साहित्य ने किया था। इस प्रांत के राजनीतिक जितने बड़े-बड़े व्यक्ति थे, निस्संदेह, साहित्यिक उनसे बड़े थे। यह है कि यहाँ के साहित्यिक आठ मर्तबा एटलान्टिक या सोलह मर्तबा पैसफिक क्रास नहीं कर

चुके थे, न ऐरोप्लेन पर चढ़ कर अभी पृथ्वी का आकाश पार किया था, उनमें शायद ही किसी ने यूरोप में पूर्ण शिक्षा पाई हो, लेकिन यथार्थ ज्ञान, अध्ययन कार्य और तपस्या से जहाँ तक ताल्लुक है, यहाँ के साहित्यिक राजनीतिकों से आगे थे—विशेषतः इसलिए कि वे 'फालोअर' नहीं 'ऑरीजनल' थे।

राजनीतिक अपने स्वार्थ को छोड़ नहीं सकता और स्वार्थ व्यक्तिगत हो या देशगत, वह सीमित है, इसलिए छोटा होता है, परन्तु साहित्य कभी भी दायरे की किसी भावना में नहीं बँधता, क्योंकि उसके सामने मनुष्य मात्र के कल्याण का लक्ष्य रहता है। वस्तुतः निराला ने साहित्य का अपमान होता देख कर उस स्थान को छोड़ कर चले आने की ठानी और तीसरे दिन आचार्य शुक्ल के सभापतित्व में सब को मुँहतोड़ जवाब भी दिया। इस सम्मेलन में जो-जो ग्लानिकर और अपमानकर बातें साहित्यिकों को, निराला को कही गई उनका पूर्ण उल्लेख कर मैं अपनी लेखनी को दूषित नहीं बनाना चाहता, पर इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि साहित्य यदि सिर है तो राजनीति उसकी पद-रज और साहित्यकार के सामने एक राजनीतिक व्यक्ति का स्थान भी उसी हिसाब से निश्चित होगा। टंडनजी के उत्तर में निराला ने यह कविता पढ़ी थी—

टूटे सकल बंध
कलिके, दिशा-ज्ञानगत हो बहे गंध।
रुद्ध जो धार के, शिखर निर्झर झरे,
मधुर कलरव भरे शून्य शत-शत रंध।

और समाजवादी कहे जाने वाले सम्पूर्णानन्दजी के भाषण के उत्तर में अपनी एक पुरानी कविता—बहुत पुरानी, इतनी पुरानी जब शायद सम्पूर्णानन्द जी सिर्फ स्कूल मास्टर रहे होंगे, निराला ने सुनाई—

तिरती है समीर सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रणतरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन ! भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से

नवजीवन की, ऊँचा कर सिर
ताक रहे हैं ऐ विप्लव के बादल ! फिर फिर !

किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन महान नेताओं ने इन कविताओं का अर्थ भी समझा या नहीं, क्योंकि उनके रुख में कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन नहीं दिखा। जो भी हो निराला-लिखित 'प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन फैजाबाद' लेख जो उनकी 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में संग्रहीत है, देख कर कोई भी समझदार व्यक्ति इन राजनीतिकों की ज्यादती से पूर्ण परिचित हो सकता है, यह निर्विवाद है। आध्यात्मिक स्वर के समर्थक होते हुए भी निराला ने सामाजिक और राजनीतिक जीवन की प्रगतियों के प्रति सदैव अपनी सहानुभूति प्रकट की है। उनकी सभी रचनाओं में समाजवादी सिद्धान्तों का देश की संस्कृति के साथ सामञ्जस्य पाया जाता है। यही कारण है कि वे अपनी जीवन-व्यापी दृष्टि और विवेचना का प्रयोग सदैव नवीन रूपों में करते आए हैं। निराला को हिन्दी-साहित्य के सम्मान का प्रतीक कहा जा सकता है। फैजाबाद में राजनीतिकों द्वारा हिन्दी और उसके साहित्य की अवस्था देखकर जिस साहस और अस्पष्टता से निराला ने नेताओं की इस असाहित्यिक नीति का विरोध किया था उसकी प्रशंसा आचार्य शुक्ल जी गदगद कंठ से आजीवन करते रहे।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि फैजाबाद में और भी बहुत से साहित्यिक कहे जाने वाले जीव थे, पर वे सभी मानो कौरवों की सभा के सभासद थे, कुछ बोले नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। इस युग के प्रायः साहित्य-पारखी स्कूल-कालेज के अध्यापक रहे है और वे भला एजूकेशन मिनिस्टर की बात काटने का साहस कहाँ पायें ? उन्हे साहित्य के पहले रोटी चाहिए। सन् २० से लेकर आज तक ऐसा समालोचक नहीं आया जो राजनीतिकों के दबाव से बाहर खड़ा होकर साहित्य का विवेचन कर सके। प्रायः सभी या तो स्वयं किसी राजनीतिक दल के गुट में थे या किसी गुट के मताहत, अर्थ या सिद्धान्त रूप में। इसलिए उनसे दल के दलदल के बाहर के साहित्य की समालोचना किसी प्रकार से भी सम्भव न थी। 'प्रबंध-प्रतिमा' की भूमिका में निराला ने ठीक ही लिखा है—'भारत में विचार-शुद्धि के लिए धन ही नहीं समाज, शरीर और मन भी देना पड़ता है, तब विश्व-मानवता की पहचान होती है। हमारे पीड़ित, अशिक्षित, पतित, निराश्रय, निरन्न मानवों का तभी उद्धार होगा, तभी भारत की भारती जागृत कही जायेगी, तभी उसकी अपनी विशेषता सर उठायेगी।'

इसी महामानवता को ग्रहण करने के लिए निराला को समाज और संसार से इतना कठोर संघर्ष करना पड़ा, क्योंकि संघर्ष ही से विषय की स्पष्टता सामने आती है। निराला का विचार है 'साहित्य की स्वतंत्रता कभी भी बाहरी उपकरण को बहुत ज्यादा साथ नहीं ले सकती। बाहरी वस्तु सापेक्षवाद की तरह रहे, लेकिन किसी की अपेक्षा में वही रहता है जो सत्ता वाला है या सत्ता स्वयं अपेक्षा में रहती है जब बहिर्मुखी होती है। स्वतंत्रता बहुमुखी है और साहित्य का मतलब है—वह सब को साथ लिये रहे। एक देश कुल विश्व के साथ राजनीतिक, व्यावसायिक और साहित्यिक दृष्टियों से जुड़ा हुआ है। ऐसे उदार विस्तृत साहित्य-निर्माण में जो लगेंगे, वे कभी भी दलबंदी में आकर एक वस्तु-विषय को सत्य नहीं कहेंगे। विचारों की शुद्धि तब हो सकती है जब वह हवा की तरह सब के हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सब की आँखें ठण्डी कर दे। जिस प्रकार मेघ-मुक्त हो कर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही सा निर्मल और दोषरहित रहता है उसी प्रकार एकमात्र मनुष्यता के आधार पर किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है—सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करने वाला मनुष्य-मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़ कर दूसरी शुद्धि नहीं हो सकती।'

अपनी इन्हीं उदार भावनाओं को कार्य रूप में परिणत करते हुए निराला ने अपना जीवन और साहित्य सँजोया था और तरह-तरह के उत्पात भी सहे थे। राजनीतिकों ने तो उनको बहुत बड़े-बडे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आघात पहुँचाये थे, पर उन्होंने एक भी नहीं माना और बराबर उनकी निर्ममता से लोहा लेते रहे। सन् '३९ में गाँधी और नेहरू जैसे महा नेताओं के समक्ष भी उन्होंने निर्भीकता पूर्वक हिन्दी का समर्थन किया और उन्हें अवाक् कर दिया।

गाँधी जी का अथवा किसी अन्य राजनीतिक व्यक्ति का जीवन स्वतंत्रता की बाहरी लड़ाई की ओर अधिक उन्मुख रहा है, इसलिए राजनीतिक प्रयासों में किसी पार्टी का सहयोग भी आवश्यक हो उठता था। राजनीतिक जागरण में बहुत से साथियों के बिना काम नहीं चलता, किन्तु एक साहित्यिक या दार्शनिक ऐसी दलबन्दी में काम नहीं कर सकता। आशय यह कि राजनीतिक कार्य कभी निरपेक्ष नहीं हो सकते उनमें एक प्रकार की सापेक्षता रहेगी। गाँधी जी की कुल क्रियाएँ एक सापेक्षता लिए हुए थीं। तिलक के मुकाबले में सर उठाते हुए गाँधी जी ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा बता कर हिन्दी भाषा-भाषियों को अपनी ओर खींचा। यहाँ तक कि वे साहित्य सम्मेलन के सभापति भी बन गए। नेता

को जनता की सहानुभूति निश्चित रूप से चाहिए, अन्यथा लोकप्रियता नहीं मिल पाती। उन्हीं गाँधी जी ने अपने नेतृत्व की सीमा बढ़ाने के लिए हिन्दुस्तानी की भी आवाज उठाई और साहित्य सम्मेलन छोड़ बैठे। इससे साफ जाहिर है कि किसी भाषा के सँवारने की अपेक्षा उनका उद्देश्य राजनीतिक था। जान पड़ता है हिन्दी को राष्ट्रभाषा कह कर गाँधी जी ने हिन्दी वालों को अपनाया और उनके नेता (सभापति) बने, किंतु इससे मुसलमानों ने उन्हें अपना नेता स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः मुसलमानों का भी नेता बनने के लिए गाँधी जी ने हिन्दुस्तानी का पल्ला पकड़ा। इस नेतागिरी में हिन्दी के राष्ट्रीय महाकवि भूषण का जो तिरस्कार उन्होंने किया, वह चिरस्मरणीय है।

इसके अलावा इन्दौर में गाँधी जी ने एक नया स्वर छेड़ा—कौन है हिन्दी मे रवीन्द्रनाथ, जगदीशचन्द्र और प्रफुल्लचन्द्र राय? इस बात को लेकर पत्र-पत्रिकाओं में कुछ विवाद भी चला, पर शीघ्र ही गाँधी जी के प्रभाव से शांत भी हो गया। निराला ने भी इस विषय पर गाँधी जी से बातचीत करनी चाही और वे लखनऊ काँग्रेस के अवसर पर उनसे मिलने गए। उनके भक्तों ने कहा कि पता बताना मना है, लोग महात्मा जी को परेशान करते हैं। निराला ने देखा कि एक बकरी ताँगे पर गोमती पार ले जाई जा रही है। ये फौरन ताड़ गए कि यह गाँधी जी की बकरी ही हो सकती है और उससे उन्हें उनके ठहरने का पता भी चल गया। निराला जी उनसे मिलने गए, श्री वाचस्पति पाठक और कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह भी साथ हो लिए। दरवाजे पर एक स्वयं-सेवक पहरा दे रहा था। उसने बताया कि मुलाकात नहीं हो सकती। पर निराला जी के व्यंग्यों के बाद वह चेता और चिट्ठी लेकर भीतर गया। इसी समय शीतलासहाय जी बँगले के बाहर निकले। उन्होंने निराला जी से आने का कारण पूछा और जानने के बाद कहा कि महात्मा जी आज कल किसी से मिलते नहीं। पर निराला जी तो जैसे मिलने के लिए तुले बैठे थे, बोले कि उन्होंने बहुतों से बातचीत करते देखा है। शीतलासहाय जी ने बताया कि वे लोग बड़े-बड़े नेता हैं, गाँधी जी से सलाह करने आते हैं। निराला ने बहुत ही उचित उत्तर दिया कि वे जितने बड़े नेता हैं, वे उनसे बड़े साहित्यिक हैं। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का सभापति निराला से मिलने मे कोई संकोच नहीं कर सकता?

प्रार्थना के समय वे देसाई जी से मिले तो मालूम हुआ कि उन्हें निराला की कोई चिट्ठी नही मिली। पर देसाई जी ने कृपा पूर्वक पूछा कि निराला

महात्मा जी से आखिर क्यों मिलना चाहते हैं ? निराला ने बताया कि वे राजनीतिक महात्मा जी से नहीं वरन् हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति गाँधी जी से मिलना चाहते है। देसाई जी, प्रतीक्षा करने को कह कर चले गए। बाद में निराला जी को बीस मिनट का समय दिया गया और वे भीतर जाकर गाँधी जी से मिले। कमरे के भीतर जाने के साथ निराला जी की निगाह महात्मा जी की आँखों पर पड़ी, पुतलियों मे बड़ी चालाकी सी मालूम दी। निराला जी ने खड़े-खड़े हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, पर गाँधी जी ने उसका प्रति-नमस्कार निराला के उनके सामने बैठ जाने पर दिया। निराला ने गाँधी-दर्शन का चित्रण इस प्रकार किया है—'वहाँ का वायुमंडल, मनोमंडल, बदनमंडल, भावमंडल मुझे बड़ा अच्छा लगा। गाँधी की आँखों में दिव्यता, जो बड़े आदमी में ही दिखती है—बड़े धार्मिक आदमी में, लेकिन दृष्टि आधी बाहर-दुनिया को दी हुई जैसे—आधी भीतर अपनी समझ की नाप के लिए।'

निराला जी का पहनावा विशुद्ध बंगाली था, कुर्ता-धोती कोंछीदार, ऊपर से खद्दर की चद्दर। गाँधी जी ने पूछा—आप किस प्रान्त के रहने वाले हैं ? इस प्रश्न का गूढ़ सम्बन्ध बहुत दूर तक आदमी को ले जाता है। यहाँ नेता, राजनीति और प्रान्तीयता का प्रश्न यदि न भी उठाया जाय तो भी निराला की बंगाली वेश-भूषा गाँधी जी को कुछ आश्चर्यमय अवश्य ही लगी होगी। क्योंकि जब निराला जी ने अपने को उन्नाव जिले का बताया तब गाँधी जी की ललाट-रेखाएँ आश्चर्य मे तननता-सी उठी थीं। निराला ने हिन्दी साहित्य की आधुनिक दशा का विवेचन करते हुए बताया 'अब यहाँ भी नये-नये रूप, नये-नये छंद और नये-नये भाव दिये जाने लगे हैं, पर साधारण जन तो इनसे दूर हैं ही, संपादक और साहित्यिक भी, अधिक संख्या में, इनसे अज्ञ है। वे समझने की कोशिश भी नहीं करते, उल्टे मुखालिफत करते है। हम लोगों के भाव इसलिए प्रचलित नहीं हो पाये। देश की स्वतंत्रता के लिए पहले समझ की स्वतंत्रता जरूरी है। मैं आप से निवेदन करने आया हूँ कि आप हिन्दी की इन चीजों का कुछ हिस्सा सुनें।'

महात्मा जी ने सीधा-सादा उत्तर दे दिया कि वे हिन्दी, कुछ भी नहीं जानते और चुप लगा गए। निरालाजी ने पूछा—'तो आपको क्या अधिकार है कि आप कहें कि हिन्दी में रवीन्द्रनाथ ठाकुर कौन हैं ?' निराला जी का प्रश्न बहुत ही औचित्यपूर्ण था, क्योंकि जो व्यक्ति जिस विषय को नहीं जानता उसे उसमें राय देने की अथवा समालोचना करने की धृष्टता भी नहीं करनी

चाहिए। निराला जी के इस प्रश्न से सभी उपस्थित सज्जन सन्न हो गए और निराला जी ने स्वस्थ-चित्त से कहा—'बँगला मेरी वैसी ही मातृभाषा है, जैसी हिन्दी। रवीन्द्रनाथ का पूरा साहित्य मैंने पढ़ा है। मैं आपसे आधा घंटा समय चाहता हूँ। कुछ चीजें चुनी हुई रवीन्द्रनाथ की सुनाऊँगा, उनकी कला का विवेचन करूँगा, साथ कुछ हिन्दी की चीजें सुनाऊँगा।' मगर महात्मा जी ने साफ कह दिया—'मेरे पास समय नहीं है'। उस समय निरालाजी की जो स्थिति थी वह इस अवतरण से साफ है—'मैं हैरान होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति को देखता रहा, जो राजनीतिक रूप से देश के नेताओं को रास्ता बतलाता है, बेमतलब पहरों तकली चलाता है, प्रार्थना में मुर्दे गाने सुनता है, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति है, लेकिन हिन्दी के कवि को आधा घंटा वक्त नहीं देता—अपरिणामदर्शी की तरह जो जी में आता है, खुली सभा में कह जाता है, सामने बगलें झाँकता है!'

अन्त में निराला जी ने कुछ अपनी चीजें सुनाने की इच्छा प्रकट की, पर गाँधी जी ने मना करते हुए कहा—'अपनी किताबें मेरे पास भेज दीजिएगा'। निराला के जैसे किसी ने चाँटा मारा और उन्होंने सोचा—'अब किसी की आलोचना से, किसी की तारीफ से आगे आने की अपेक्षा मुझे नहीं रही। मैं खुद तमाम मुश्किलों को झेलता हुआ, अड़चनों को पार करता हुआ, सामने आ चुका हूँ।' उन्होंने मजाक में गाँधी से कहा—'आप अपने यहाँ के हिन्दी के जानकारों के नाम बतलाइए जो मेरी किताबों पर राय देंगे। आप को हिन्दी नहीं आती, आप कह ही चुके है।' यह कह कर निराला जी हँस पड़े।

वास्तव में यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि इस देश का एक भी नेता ऐसा नही जो निराला के काव्य का विवेचन कर सके, अर्थ समझ सके, क्योंकि नेताओं ने हिन्दी पढ़ी ही नहीं बल्कि उसको बराबर उपेक्षा की दृष्टि से देखते आये हैं। हिन्दी प्रांत के होकर भी नेता अँग्रेजी के शौकीन रहे हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। स्वयं गाँधी जी ने 'साकेत' की भाषा को मुश्किल बताया था। बीस मिनट भी पूरे हो रहे थे, निराला जी उठ कर चले आए। वापस आने पर गाँधी जी की राय पर निराला जी को एक लोकोक्ति याद आई जिसे वे उनके पास लिख भेजना चाहते थे पर श्री सियारामशरण जी के मना करने पर नहीं भेजा। लोकोक्ति यह है—

किसी महाजन के एक घोड़ा था। वह उसकी देख-भाल रखते थे। एक दिन उसके पड़ोसी को कहीं जाना था। वे महाजन के यहाँ गए और कहा,

सवारी के लिए मुझे आप अपना घोड़ा दे दीजिए। महाजन ने कहा, घोड़ा नहीं है। पड़ोसी को विश्वास न हुआ, वे वहीं खड़े रहे। कुछ देर बाद घोड़ा हिनहिनाया। पड़ोसी ने कहा, आप कहते थे, घोड़ा नहीं है, घोड़ा तो है। महाजन ने कहा, तुम हमारी आवाज नहीं समझे, घोड़े की आवाज समझे। निराला जी लिखने वाले थे—महात्मा जी मैं आप की ही आवाज पहचान गया। किताब भेज कर आप के घोड़े की आवाज नहीं पहचानना चाहता।

इसी वर्ष एक दूसरे महान नेता नेहरू जी से भी निराला की मुलाकात हुई। लखनऊ से देहरा-एक्सप्रेस के द्वारा निराला जी कलकत्ता जा रहे थे। उसी गाड़ी में इत्तफाक से नेहरू जी भी थे। तब वे कभी-कभी ड्योढ़े दर्जे में भी सफर कर लेते थे। निराला जी भी उसी डिब्बे में चढ़े। उनके सिर पर एक ऐसा टोप था जिसे मंकी-कैप कहा जाता है। सभी प्रकार से वेश-भूषा लस्टम-पस्टम, पर निराला का व्यक्तित्व तो लाखों में भी नहीं छिपता, इसे कौन नहीं जानता? जब नेहरू जी भीतर आकर बैठे तब निराला की तरफ उनकी निगाह उठी और वे विस्मय के भाव से देखने लगे। निराला ने नेहरू जी की तरफ मुँह करके कहा—'आप से कुछ बातें करने की गरज से अपनी जगह से यहाँ आया हूँ।' नेहरू जी ने आँखों से प्रश्न किया—आप कौन हैं? निराला जी ने अपना परिचय देते हुए कहा—'इधर हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में आप के विचार देखकर आप से बातें करने की इच्छा हुई। जुबान जब अपने भावों के व्यक्तीकरण में समर्थ-से-समर्थ होती चलती है तब वह साधारण-से-साधारण हो या न हो, उच्च-से-उच्च जरूर होती है। भाषा-जन्य बहुत सी कठिनाइयाँ सामने आती हैं जो हिन्दुस्तानी जुबान को मद्दे-नजर रखते हुए दूर नहीं की जा सकतीं। आदमी के जीवन में साधारण सी बातें भी हैं, उनके साथ सूक्ष्मतम, साधारण-जनों के मस्तिष्क से दूर असाधारण तत्व भी। भाषा जब साहित्य का रूप पाती है, तब वह दोनों को लिए हुए चलती है। आप अधिकांश जनों को खुश करने के लिए हिन्दुस्तानी जुबान का प्रचार करें, यह और बात है, लेकिन भाषागत और भावगत चारुता के उदाहरण उपस्थित करते हुए, उनका हिन्दुस्तानी रूप कैसा होगा, अगर आपसे पूछा जाय, तो क्या आप बता सकेंगे?'

नेहरू जी चुपचाप निरालाजी की तरफ देखते रहे। निरालाजी ने अपना आशय और स्पष्ट किया—'मैं हिन्दी के कुछ वाक्य आपको दूँगा जिनका अनुवाद आप हिन्दुस्तानी में कर देंगे, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।' नेहरू जी ने बहुत व्यस्त हैं, उन्हें फुरसत नहीं है, संकोच के साथ कुछ ऐसा ही भाव जाहिर

किया। निराला जी ने दूसरा प्रसंग छेड़ा—'हमारा समाज भी तैयार नहीं है।' समाज के नाम से नेहरू जी ने जरा गरदन ऊँची की और अपनी स्वाभाविक तेजी से कहा—'रूस—रूस में कैसे हुआ?' निराला जी ने प्रश्न किया—'लेकिन आप क्या हिन्दुस्तान की दशा वैसी ही समझते है? संस्कृति, हिन्दू-मुसलिम मनोवृत्तियाँ—क्या वैसे ही वर्गयुद्ध से दुरुस्त होंगी? यहाँ के ऐतिहासिक विवर्तन देखने पर मालूम देता है, यहाँ के मन की दूसरी परिस्थिति है। यहाँ सुधार ज्ञान से हुआ है। एक हिन्दू-मुसलिम समस्या को ही लीजिए। मैं समझता हूँ, इसका हल हिन्दी के नये साहित्य में जितना सही पाया जायगा, राजनीतिक साहित्य में नहीं। इसका कारण है, राजनीति प्रभावित है पश्चिम से; साहित्य मौलिकता से पनपा है।'

नेहरू जी बीच-बीच में एक-आध शब्द बोल कर देखते रहे। निराला जी को उनकी आत्मकथा की याद आई। साथ ही उसका वह अंश जिसको लेकर कुछ साल पहले हिन्दी में लिखा-पढ़ी हो चुकी थी। प्रसाद, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल ने नेहरू जी को काशी में बुला कर सम्मानित किया था। उस अवसर पर नेहरू जी ने कहा था—'हिन्दी में दरबारी ढंग की कविता प्रचलित है।' कारण यह है कि नेहरू जी न हिन्दी जानते न पढ़ते न लिखते थे, पर योंही अन्दाज से यह राय दे बैठे थे। निराला जी ने कहा—'पंडित जी यह मामूली अफ़सोस की बात नहीं कि आप-जैसे सुप्रसिद्ध व्यक्ति इस प्रान्त में होते हुए भी इस प्रान्त की मुख्य भाषा हिन्दी से प्रायः अनभिज्ञ हैं। किसी दूसरे प्रान्त का राजनीतिक व्यक्ति ऐसा नहीं। बनारस के जिन साहित्यिकों की मंडली मे आपने दरबारी कवियों का उल्लेख किया था, उनमें से तीन को मैं जानता हूँ। तीनों अपने-अपने विषय के हिन्दी प्रवर्तक हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल के बीच आपका दरबारी कवियों का उल्लेख कितना हास्यास्पद हो सकता है? उन्होंने आपके सम्मान के लिए आप को बुलाया था, इसलिए आपके विरोध में कुछ नहीं कहा। आप जिस दरबारीपने का उल्लेख करते हैं, वह हिन्दी-साहित्य से बीसियों साल से दूर है। अगर हिन्दी की सच्ची जानकारी, उसकी कमजोरी और सहजोरी—दोनों की आपको होती, अगर आप भी हिन्दी के साहित्यिकों में शुमार किये जाते तो उस भाषा को कितना बड़ा बल प्राप्त होता। एक तो हिन्दी के साहित्यिक साधारण श्रेणी के लोग हैं एक हाथ से वार झेलते दूसरे से लिखते हुए, इस पर आप जैसे बड़े-बड़े व्यक्तियों को मैदान में मुखालिफत करते देखते हैं।

अगर आप या आपकी तरह के व्यक्ति एक भिन्न दृष्टिकोण लेकर दूसरे

तौर-तरीके अख्तियार करते हुए आवाज उठाएँ तो सम्भवतः बीसियों साल की मार सहकर एक चीज तैयार करने वाले आदमी जनता को साथ लेने की जगह उसके हाथ से छूट जाते हैं। लेकिन यह तो बताइए, जहाँ सुभाष बाबू अपने सभापति के अभि-भाषण में शरत्चन्द्र के निधन का जिक्र करते हैं वहाँ क्या वजह है कि आपकी जुबान पर प्रसाद का नाम नहीं आता। क्या आप जानते हैं कि हिन्दी के महत्व की दृष्टि से प्रसाद कितने महान हैं ?' जवाहरलाल ने दृप्त होकर देखा कि अयोध्या स्टेशन आ गया और निरालाजी बाहर चले आए।

इस प्रकार इस युग के नेताओं ने हिन्दी-साहित्य और साहित्यिकों का कभी कोई ध्यान नहीं रखा और समय-समय पर अपने मन की उलटी सीधी बातें करते रहे। इस स्थिति का विश्लेषण करने से साफ पता चल जाता है कि दोष राजनीतिज्ञों का ही है। अँग्रेजों के भारत मे आने और बृटिश राज्य की स्थापना के साथ ही हमारे साहित्य में एक अभिनव संघर्ष का सूत्रपात होता है। राष्ट्रीयता की लहर चल पड़ती है, भारतेन्दु, तिलक और बंकिम से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक ऐसी ही देशज राष्ट्रीयता का प्रचार होता रहा, किन्तु बीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही साहित्य में कई नई समस्याएँ सामने आने लगीं। पुराने आदर्श ढहने लगे और नवीन विज्ञान-सिद्ध सिद्धान्तों का प्रचलन बढ़ने लगा। ब्रह्मसमाज का आन्दोलन, आर्य-समाज का सुधार, अफ्रीका से लौटे हुए गाँधी का राजनीति में प्रवेश आदि घटनाओं ने देश के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में उथल-पुथल मचा दी। सन् '१४ के महायुद्ध और सन् '१८ की रूसी क्रान्ति ने उसको और भी उत्तेजित कर दिया और एक नये-युग का प्रारम्भ हुआ।

बीसवीं सदी के आरम्भ में जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे आतंकवाद और गांधीवाद का जोड़ा आपस में टकराता हुआ आगे बढ़ रहा था उसी प्रकार साहित्य में भी दो भावधाराओं का उत्थान हुआ। सन् '२० के असहयोग आन्दोलन और सन् '३० के सत्याग्रह का विफल प्रयास भी साहित्य में अपना प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहा। बंगाल और महाराष्ट्र आदि अन्य प्रान्तों मे इन राजनीतिक आन्दोलनों का उतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना हिन्दी प्रान्त में। गांधी का राष्ट्रीय जागरण हिन्दी-साहित्य मे जितना प्रतिफलित हुआ, अन्यत्र किसी भी देशी भाषा में नहीं हुआ। गुप्त जी, माखनलाल जी, नवीन जी, सुभद्रा कुमारी जी की कविताओं मे तत्कालीन राष्ट्रीय भाव-धारा का आवेग प्रत्यक्ष है। गांधी के गढ़ गुजरात तक में उनकी इस राष्ट्रीयता को इस हद तक साहित्य ने नहीं अपनाया। हिन्दी की यह राष्ट्रीयता उसके सौभाग्य का कारण नहीं कही

जा सकती, क्योंकि साहित्य कभी पर-प्रकाशी नहीं होता, मौलिकता उसकी सबसे बड़ी शक्ति होती है। भूखी जनता को रोटी का राग न सुनाकर गांधी-गौरव की रट लगाना, साहित्य का स्वभाव नहीं। परिणाम स्वरूप साहित्यिकों का एक ऐसा दल सामने आया जो नेताओं की अपेक्षा जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने लगा, नेता-वंदन से उठकर साहित्य जनता-अभिनंदन की ओर उन्मुख हुआ, गांधीवाद को छोड़कर समाजवाद की ओर मुड़ा और यहीं से छायावाद का प्रारम्भ हुआ। कारण, गांधीवाद आचार-धर्म पर आस्था रखता है, रचना-कौशल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म की तरह वह दलगत या साम्प्रदायिक भी है, वस्तुतः साहित्य में उसका स्थान नहीं रह जाता। गांधीवाद ऊपर से थोपा हुआ एक ऐसा आदर्शवाद है जो नितान्त अव्यावहारिक और असामयिक था। उदाहरण के लिए गांधीवाद का एक प्रमुख अंश हरिजन आन्दोलन ले लीजिए। क्या हरिजनों का कुछ भी उद्धार इस गांधीवाद ने किया? स्कीमें बनीं, भाषण हुए, आश्रम खुले, पर बेचारे हरिजन जहाँ के तहाँ? किसी भी ऐसे व्यक्तिवादी आदर्श की शाब्दिक चर्चा ही सुन्दर हो सकती है, सक्रियता की शक्ति उसमें नहीं होती। काँग्रेस मंत्रिमंडल की पिछली और वर्तमान स्कीमें इसकी साक्षी हैं। इस तरह गांधीवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वह सदैव 'काम के समय असर-पसर और प्राप्ति के समय तीन पसर' की नीति मानने वाला रहा है। राजनीति के साथ देश के समस्त जीवन को उसने हथियाने की चेष्टा की है, पर उसे और जनता, दोनों को, केवल निराशा ही मिली है, इतिहास इसके लिए सामने है। गांधीवाद के घोर तथा आत्यंतिक व्यक्तिवाद से छायावाद की वैयक्तिक विचारधारा का संघर्ष अनिवार्य था। कहावत है कि 'सोनार-सोनार के सोने में जरन नहीं जाता', क्योंकि दोनों उसकी गतिविधि से परिचित होते हैं। राजनीति में गरम-नरम दल की द्वयता जिस प्रकार गांधीवाद से अलग साँस लेने की सूचना देती है उसी प्रकार छायावाद की राष्ट्रीयता भी गांधीवाद से एकदम दूर है—

भारति, जय, विजय करे!
कनक-शस्य-कमल धरे।
लंका पदतल-शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।

तरु-तृण बन लता वसन
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम-तुषार
प्राण प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार
शत मुख-शतरव-मुखरे!

में निराला ने धरती का शृङ्गार किया है। हिन्दू-मुसलमान-ईसाई किसी को भी भारत की भूमि का यह रूप अप्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें कहीं भी व्यक्ति या दल अथवा सम्प्रदाय की गंध नहीं, पर राजनीतिक दलबंदी के बाहर नहीं सोच सकता। सुभाष बाबू के चुनाव में जीतने और पट्टाभि सीतारमैया के हारने पर गाँधी ने उसे अपनी हार बताया था और उसके बाद सुभाष के प्रति जिस प्रतिहिंसा का व्यवहार गाँधी-परिचालित कांग्रेस-सभा ने किया उसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है, पर उस घटना के स्मरण से इतना तो साफ पता चलता है कि काँग्रेस संस्था कुछ चुने हुए व्यक्तियों का ऐसा दल है जो अपने दल के बाहर वालों पर किसी प्रकार का अविवेकपूर्ण प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाता। पिछले मंत्रिमंडल में जनता की जो सेवा इस दल ने की वह भी किसी से छिपी नहीं। जनता की भूख-प्यास, अकाल, भूकंप को ईश्वर की मर्जी पर आधारित करके उसे शान्ति ग्रहण करने का उपदेश देते हुए गांधीवाद ने उसकी आस्था को मर्माहत कर डाला तो आश्चर्य नहीं। सन् '४२ में तो जनता ने जैसे गाँधी-वाद के ऊपर बैठकर शव-साधना के रूप में ही क्रान्ति का कर्म किया। इसमें राजनीतिक क्षेत्र के वामपक्ष और साहित्य के नवीन चेतना-उन्मेषक विचारों की चिनगारियाँ थीं। बाद में भी गांधी की स्वीकृति उसे स्वतंत्रता-संग्राम के रूप में नहीं मिली; पर साहित्य में तथा देश के जीवन में उसका महत्व अक्षुण्य है। काँग्रेस को सदा से पूँजीपतियों का सहयोग प्राप्त रहा है और इसलिए उस संस्था के कार्यों में अनके अनुयायियों के स्वार्थों तथा दबावों का प्रछन्न रूप सन्निहित रहता चला आया है। फल यह हुआ कि देश का जीवन राजनीतिक आखाड़ों का केन्द्र बन गया था। दक्षिणपक्ष, वामपक्ष, समाजवादी, साम्यवादी, मुसलिम लीग, और रायिस्ट।

इस बहुमुखी संघर्ष में नेता लोग हिन्दी-साहित्य को अपने विचारों के अनु-

गमन का उपदेश दे देकर अपना ही मजाक उड़ाते फिरते हैं। चूंकि गांधी-काँग्रेस का प्रभाव इस साहित्य में एक समय तक काफी रहा है, इसलिए उनका सारा दबाव भी इसी क्षेत्र में टूटता है। युक्तप्रान्त में काँग्रेसी-शासन भी इसकी सफलता अपनी प्रसन्नता की नोक पर उठाए रखना चाहता है। टंडन जी की वजह से साहित्य सम्मेलन नाम-धारी संस्था भी राजनीतिक व्यक्तियों के महत्व का मनमाना प्रयोग करती हुई साहित्यकारों का अपमान तक करने की धृष्टता करती है। पर क्या कभी काँग्रेस ने, सम्मेलन ने, साहित्य का कुछ हित भी किया है? साहित्यकारों को सम्मानित किया है? क्या किसी राजनैतिक नेता ने कभी विदेशियों के सामने अपने देश के साहित्य की भी कोई चर्चा की है? युक्तप्रान्त की सरकार ने (राष्ट्रीय-सरकार) कुछ भी कार्य हिन्दी के हित में किया? कितने शर्म और ग्लानि की बात है कि हिन्दी में कोई विश्व-कोष तक नहीं। सामाजिक क्रान्ति पर विश्वास रखने वाले निराला जैसे साहित्यिकों का काँग्रेस या सम्मेलन साथ कैसे देना? आत्म-समर्थन के दुराग्रह में गांधीवाद को बराबरी करना और किसी भी सिद्धान्त के लिए असम्भव है। व्यक्तिगत पूंजी पर स्वामित्व और अनियंत्रित नफाखोरी पर आधारित व्यापार, यही तो काँग्रेसी शासन की देन है, और इस पर नेताओं का साहित्यिकों के लिए उपदेश तो ऐसा ही लगता है जैसा मरने पर माहुर देना।

सन् '४२ के स्वतंत्रता-संग्राम ने सारे देश में एक ऐसी सशक्त तथा आवेग-पूर्ण भावधारा का उत्थान किया जिसकी लहरें सम्पूर्ण भारत में लहरा उठीं और अपने उच्छलित थपेड़ों से गांधीवाद को चूर-चूर कर दिया। गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट करने वाले और बापू की स्तुति लिखने वाले कवि, साहित्य-कार भी उसी बाढ़ में बह से गए। साहित्य में इससे बड़ा गतिरोध कभी नहीं उपस्थित हुआ। पंत ने 'ग्राम्या' के बाद चुप साधी तो महादेवी ने भी 'दीप-शिखा' के साथ मौन लिया, किन्तु आधुनिक कवियों में निराला बराबर ही लिखते रहे और पुनः काँग्रेस-शासन ग्रहण में भी लिखते रहे। युद्धकालीन कष्टों का सामना साहित्यिकों मे से निराला को सबसे ज्यादा करना पड़ा फिर भी अदम्य उत्साह से आगे बढ़ने का आश्वासन देते हुए निराला ने आत्म-निर्णय-पूर्ण सर्व-सामान्य के अधिकारों की माँग को अपने साहित्य में उद्घोषित किया। राजनीतिक स्वतन्त्रता, आर्थिक शोषण से छुटकारा, साम्प्रदायिकता का तिरस्कार, साहित्य में नवीन प्रयोगों का प्रचलन और आविष्कार, विचारों और भावों की निर्मम मीमांसा तथा साहित्य की सामूहिकता पर निराला ने

अबाध रूप से लिखा और आवश्यकता पर ढोंगियों की कर्मठता का भंडाफोड़ भी किया । इसी कारण उनको समाज, नेता और साम्प्रदायिक मनोवृत्तियों के संकुचित दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों से उलझना भी पड़ा ।

प्रकाशन व्यवस्था पूंजीपतियों के हाथ में होने से निराला को प्रकाशन की भी दिक्कतें उठानी पड़ी, क्योंकि पत्र-पत्रिकाएँ निराला के विचार छापने की अपेक्षा किसी सेठ-साहूकार के विचार छापना अधिक उपयुक्त समझती थीं। 'जैनेन्द्र के विचार' के सामने किसी भी राजनीतिक के विचारों का मूल्य प्रकाशक के लिए अधिक महत्व रखता है । कांग्रेस सरकार ऐसे प्रकाशकों को प्रश्रय भी देती है, क्योंकि आजकल काँग्रेसी नेता भी लेखक बनने की ठान चुके हैं । प्रायः पत्रों में किसी मिनिस्टर का सुसज्जित चित्र, किसी की प्रशस्ति तो किसी का आशीर्वाद दीखता है । किसी पार्टीवाले राजनीति के व्यक्ति को महान् साहित्यकार कहना उसी तरह भ्रमपूर्ण लगता है जिस तरह माननीय सम्पूर्णानंद को समाजवादी कहना । आशय यह कि राजनीति की तरह साहित्य मे भी अराजकता का आविष्कार हो गया है । ऐसी स्थिति में भूखे पेट और निवासहीन सत् साहित्यिकों की दशा जो होनी चाहिए वह निराला की थी । समालोचना की भी दिशा भ्रान्त थी । सभी आलोचक प्रायः स्कूली मास्टर थे, उन्हें शासन-सत्ताधारियों की चिन्ता साहित्य से अधिक थी । वे निराला को गाली देकर मिनिस्टर की वन्दना कर सकते थे ।

सन् '३९ के गाँधी तथा नेहरू की बातचीत तथा व्यवहार से निराला को अत्यन्त क्षोभ हुआ और वे कुछ शमित-दमित से रहने लगे । उनकी लेखनी अब भी चलती जाती थी, किन्तु इसके लिए उन्हें बड़ी-बड़ी अड़चनों का भी सामना करना पड़ता था । लखनऊ में बाजार के काम की दर घटती जाती थी, मौलिक प्रकाशन की भी सुविधा नहीं थी, निराला जैसे घबड़ा गए । उधर दूसरा महायुद्ध भी शुरू हो गया और भारत भी अँग्रेजों की गुलामी में रहने के कारण उसका शिकार बना । चीजों की कमी होने लगी और दाम बढ़ने लगे । निराला का मन उचाट खाकर इधर-उधर की यात्राओं में भटकने लगा । वे सन् '४१ के अन्त में उन्नाव चले गए और सन् '४२ के आरम्भ तक वहीं रहे । 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'अणिमा', 'कुकुरमुत्ता' रचनाएँ वहीं से इसी समय निकलीं । वहाँ भी उनका मन नहीं लगा । साथ ही वे साहित्य के सम्मान में भी किसी प्रकार का कलंक नहीं लगने देना चाहते थे अस्तु, चुपचाप एकान्त जीवन बिताने के लिये करवी—अपने मित्र रामलाल के यहाँ चले गए ।

निराला के इस निर्वासन का श्रेय नेताओं और सम्मेलन के कर्णधारों को ही मिलना चाहिए इसमें सन्देह नहीं। इस समय प्रसिद्ध दार्शनिक और साहित्यिक शापनहावर की एक उक्ति का उद्धरण देने का लोभ मैं नहीं सँभाल पाता—

When patriotism tries to urge its claim in the domain of literature, it commits an offence which should not be tolerated, for in those purely human questions which interest all men alike, where truth, insight, beauty, should be of sole account, what can be more impertinent than to let preference for the party to which a man's precious self happens to belong, affect the balance of judgment and thus supply a reason for doing violence to truth and being unjust to the great minds in order to make much of the smaller minds of their own party, Still, there are persons in every nation who afford examples of this vulgar feeling.

संसार में अपने सिर के ऊपर अपना पेट चढ़ाने वालों की कमी नहीं रही और हमारा देश तो कबंध का देश है, फिर यहाँ के राजनीतिज्ञों से यदि साहित्यिकों को ऐसी उपेक्षा मिले तो अनुचित नहीं। इसके अतिरिक्त सारे विश्व में इस समय कुछ हवा ही ऐसी बह चली थी जिसमें केवल राजनीतिज्ञों की रक्षा का प्रश्न था, साहित्य और कला की तो बात तक करना गुनाह बन गया था। यह सारा युग ही एक विलक्षण युग है। गण-तंत्र की इस चेतना में भी डिक्टेटर का प्रभाव और प्रादुर्भाव हो सकना एक अभूतपूर्व घटना है। राजनीतिक व्यक्तियों के दम्भ, दर्प और स्वार्थ को बढ़ावा देने वाले लाखों सभ्य तथा शिक्षित लोग अपनी जीभ बिछाये रहते हैं, ज्ञान-विज्ञान से आपूरित विश्व में अलग-अलग मत, वाद, दल और नीति का नित्य प्रचार हो रहा है, जिनकी पारस्परिक कट्टरता मध्य युग की धार्मिक कट्टरता से भी अधिक कठोर है। स्वाधीनता, समानता और अहिंसा की आवाज उठाने वाले अपने कार्यों से भेद, वैषम्य, हिंसा और घृणा का निर्लज्ज प्रचार करते हुए देखे जाते हैं। अहंकारोन्मत्त-पदवीधर अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए समर्थ और सच्चे सज्जनों का गला घोंट रहे हैं। मानव मन की अखिल कल्याणकारी स्वतंत्रता और उसकी विचार-

बुद्धि तथा सौन्दर्य-रुचि का रूप जितना इस युग में संकुचित और पददलित हुआ और कभी नहीं हुआ था।

देश में इस समय मनुष्य के मनुष्यत्व की मर्यादा को मर्दित करके उसके वास्तविक व्यक्तित्व को नष्ट करके दल अथवा पार्टी को महत्व दिया जाता है। मनुष्य का सम्मान उसके गुणों पर नहीं उसकी दल-संगठन की शक्ति-क्षमता पर किया जाता है। जो राजनीतिज्ञ जितना ही अधिक धूर्त, कुटिल और लोलुप होता है उसकी उतनी ही अधिक मान्यता बढ़ती है। वह बहुत बड़ा बुद्धिमान समझा जाता है, जो नीति या दुर्नीति से चुनाव जीतने में सफल होता है। स्वराज का अर्थ हो गया है किसी भी धनी-मानी कूटनीति निपुण वर्ग-विशेष का शासन और स्वाधीनता का अर्थ हो गया है वोट देने की स्वाधीनता के साथ आर्थिक दासता की स्वीकृति। सबसे बढ़कर बात यह है कि इन राजनीतिक व्यक्तियों के विरुद्ध कुछ कहने वाले व्यक्ति की दुर्दशा भी अवश्यम्भावी है। यहाँ की जनता अभी अपने वास्तविक हित और हितेच्छुओं को पहचानती ही नहीं, क्योंकि प्रार्थना और प्रायश्चित के द्वारा मानव-मात्र के दिव्यीकरण का भ्रम उसके बीच में खूब प्रचारित किया गया है।

ऐसी दशा में साहित्यकार का कर्त्तव्य सुस्पष्ट और सुनिनिश्चित होते हुए भी उसे घोर नारकीय कष्ट का सामना करना पड़ता है, क्योंकि आस्था की आधार-शिला पर आरूढ़ रहने वाले मानव-जीवन के तीनों प्रधान साहित्यिक आदर्शों का वह सच्चा उपासक होता है—सत्य, शिव, सुन्दर की सामूहिक संवर्द्धना ही उसकी साहित्यिकता की शपथ है। साहित्यकार बुद्धि के साथ विश्वास का भी महत्व मानता है, क्योंकि बुद्धि की सीमा होती है, उसका पथ उलझा हुआ होता है, प्रशस्त नहीं होता, पर विश्वास की सीमा बाँधना सम्भव ही नहीं। साहित्यकार अपने प्रकृत और मुक्त व्यक्तित्व का उन्मेष इसी विश्वास के बल से कर लेता है जब कि राजनीतिज्ञ बौद्धिक-समस्याओं और स्थूल-चेतनाओं के बंधन में पड़ कर अपने स्वर को विस्तृत नहीं कर पाता। राजनीति में अर्थ, स्वार्थ का रूप ग्रहण करता है, किन्तु साहित्य में वह सार्थ बनता है। राजनीति यथार्थवाद को छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकती, और यथार्थवाद और सत्य में साम्य आवश्यक नहीं, क्योंकि दृष्टि और अन्तर्दृष्टि में बहुत अन्तर होता है। दृष्टि में सूरज घूमता दीखता है पर अन्तर्दृष्टि पृथ्वी को घूमती हुई बताकर सूरज को अचल मानती है। इसी तरह साहित्यकार अपने पड़ोसियों के, देशवासियों के कष्टों को अपनी अन्तर्दृष्टि से राजनीतिक की अपेक्षा अधिक

कुशलता और सहानुभूति के साथ जानता-पहचानता है और उससे मुक्त होने की बात सुझाता-कहता है।

पर राजनीतिक ऐसा नहीं करता, क्योंकि यदि जनता को अपने मुख्य रोग का निदान और उपचार मालूम हो जाय तो फिर नेता की जरूरत ही क्या रहेगी ? वस्तुतः राजनीतिक अपनी नेतागिरी को स्थायी रखने के लिए रुपये खाने वाले ठग डाक्टर की तरह केवल लाल-पीला पानी आश्वासन के रूप में पिलाता रहता है और साहित्यकार से उसका विरोध भी इसी कारण होता है, क्योंकि वह जनता के भीतर आत्म-विश्वास जगाकर उसे उद्‌बुद्ध करना चाहता है, स्वावलम्बी बनाना चाहता है, दूसरे शब्दों में राजनीतिक पेशे में विघ्न डालना चाहता है। वह जनता को बता देना चाहता है कि यह दासता का रोग, देह-धर्म नहीं, यह राजनीतिकों का ढोंग है। इस प्रकार साहित्यकार जनता के न केवल दैनिक वरन मन के अतीन्द्रिय क्लेशों के निवारण का भी विधान करता है, यहीं उसकी राजनीतिक से नैतिक विजय होती है। यह सच है कि निराला इन राजनीतिक नेताओं की तरह वैभव-विलास, मोटर-हवाई-जहाज, दावत-चाय-पार्टी का सुख नहीं पा सका, पर भारत के इतिहास मे, जनता के हृदय में उसका स्थान सुरक्षित है, जब कि राजनीतिक उलटफेर होते ही रहते है और आगे भी होंगे।

इस वैज्ञानिक युग के डाक्टर लोग भी, जो स्वभाव और शिक्षा से अविश्वासी होते हैं, अब धीरे-धीरे इस बात पर विश्वास करने लगे है कि मन की स्थिति का शरीर पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। मन की सम्यक साधना से शरीर में भी एक प्रकार की संगति विकसित हो उठती है। मन और शरीर की इसी साम्यावस्था में मनुष्य को आत्मा की शक्ति का आभास मिलता है जिसमें जीवन के शाश्वत सत्यों का स्वरूप निहित है और जो अखिल कल्याणमय और सार्व-भौमिक है। बुद्धि यहीं पहुँचकर स्वच्छ और पवित्र होती है। मनुष्य केवल इस-लिए मनुष्य है कि उसमें देवत्व की सम्भावनाएँ छिपी है अन्यथा पशु बनने में उसको कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। राजनीतिक अपने पद के उन्माद में इस सत्य को भूल जाता है और साहित्यकार हमेशा जागरूक रहता है, क्योंकि वह किसी दल की रीति-नीति का नहीं वरन् समस्त मानवता का सजग प्रहरी होता है। निराला को अपमानित करने वाले राजनीतिको का विश्लेषण यदि इस विधि से किया जाय तो उनके (राजनीतिकों के) दोषों का परिहार हो सकता है। सूरज पर धूल फेंकने की चेष्टा करने वाले बालक के समान वे क्षम्य हैं, क्योंकि

अपनी फेंकी धूल से स्वयं धूल-धूसरित भी हो चुके हैं। सन् '४२ की क्रान्ति के बाद साम्प्रदायिकता की बाढ़, हड़तालों की लहर देश के राजनीतिक व्यक्तियों की असफलता के अनोखे और अच्छे तगड़े उदाहरण हैं।

सन् '४२ की क्रान्ति में हर व्यक्ति, वर्ग और जाति में एक नवीन जागृति फैली थी। यदि यहाँ के राजनीतिकों ने बुद्धिमानी और उदारता से काम लिया होता तो आज देश की यह दशा न हुई होती। यह कौन नहीं जानता कि लड़ाई समाप्त होते ही और देश में कांग्रेसी तथा लीगी शासन की व्यवस्था होते ही हड़तालों और दंगों की एक उत्ताल तरंग फूट निकली। रेल-मजदूरों का संगठन, डाक-विभाग की हड़ताल, पुलिस-फौज की माँग आदि राजनीतिकों की बुद्धि का उपहास मात्र हैं। ये घटनाएँ इस देश के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है, पर अब भी नेता लोग इन्हे संगीन की नोकों से दबा देने का स्वप्न देखते है, किन्तु उनको यह समझ रखना चाहिए कि इन तमाम अव्यवस्थाओं का सुधार तलवार से न होकर समाजवादी क्रान्ति से ही संभव है। कांग्रेस को चाहिए कि वह इस क्रान्ति की सम्भावनाओं को सहायता दे और जनता के आर्थिक आधार को सुदृढ़ करे, किन्तु उसका रास्ता इसके प्रतिकूल है। जनता को विश्वास था कि कांग्रेस उसकी भीषण आर्थिक कठिनाइयों को दूर करेगी, पर अभी तक उसने कोई ऐसी आर्थिक योजना सामने नहीं रखी जिससे जनता को दृढ़ आश्वासन मिलता। धर्म के क्षेत्र में भी उसके अंध-आग्रह को गाँधी जी ने बहुत बड़ा बढ़ावा दिया, क्योंकि उनका सम्मिलित प्रार्थना वाला कार्यक्रम परोक्ष रूप से उसकी (जनता की) धार्मिक मनोवृत्ति को और भी भ्रामक बनाता रहा।

इस परिस्थिति के अध्ययन से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि विधान की अपेक्षा क्रान्ति की आवश्यकता अधिक ध्यान देने लायक है। जनता की साम्प्रदायिक भावना तब तक नहीं दूर होगी जब तक समाजवादी व्यवस्था का प्रचलन नहीं होगा। साम्प्रदायिकता आज जाति अथवा वर्ग को छोड़कर वर्ग-संस्थाओं में भी प्रवेश पा रही है, और इसको समाप्त करने का सबसे उत्तम पथ वर्ग-चेतना को और अधिक तीव्रता देना है। काँग्रेस ने यदि शीघ्र ही क्रान्ति का पथ न पकड़ा, तो उसके अस्तित्व की भी आशंका सामने बोल उठेगी। निराला ने अन्तर्कालीन सरकार की व्यवस्था को सुनकर कहा था—"आज जनता की चिंता-धारा और काँग्रेस की कार्य-प्रणाली में कोई तारतम्य ही नहीं रहा। भारतीय राजनीति में आज एक ही रास्ता साफ है, क्रान्ति पथ, संघर्ष का पथ और अन्त में समाजवाद का पथ, इसके अलावा कोई दूसरा पथ नहीं।"

करवी जाकर निराला जी बीमार पड़ गए। उनका मन और शरीर निरन्तर आघातों और संघर्षों से शिथिल हो गया था। वहाँ पहुँच कर उनको ज्वर आने लगा और वे धीरे-धीरे पहाड़ी जूड़ी से जकड़ गए। मैंने करवी के पते से दो पत्र भी लिखे, पर उत्तर नहीं आया। बाद में पता चला कि वे बहुत बीमार हैं। उनको प्रयाग बुलवाया गया और वे दारागंज में टिकाए गए। जिस समय प्रयाग आए उनकी हालत बहुत खराब थी, वे आदमी को जल्दी से पहचान भी नहीं पाते थे। दवा का बहुत ही उचित प्रबंध था, इसीलिए निराला दो-तीन माह में स्वस्थ हो गए। बीमारी के दिनों में वे श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी के यहाँ थे, पर अच्छे होते ही एक मकान लेकर अलग रहने लगे। बीमारी की कमजोरी, समुचित सेवा सौर पोषण तथा वातावरण की अनुकूलता के अभाव में निराला जी के मस्तिष्क में कुछ विक्षेप के बहुत ही सूक्ष्म लक्षण भी कभी-कभी प्रकट होने लगे। उनके बलिष्ट शरीर की क्षीणता के साथ-साथ उनका वीर्यवान मस्तिष्क भी कुछ शिथिलता का स्वरूप पकड़ने लगा।

सन् '१४ के युद्ध के पश्चात् जो स्थिति योरोपीय लेखकों की थी, उससे भी अधिक उदासीनता, विष्णता और व्यंगपूर्णता इस युद्ध के समय से भारतीय लेखकों के ऊपर छा गई। उनके सारे स्वप्न जैसे भंग हो गए और वे एक साथ ही सिहर उठे। निराला पर भी इसका प्रभाव पड़ा। युद्ध के दिनों में निराला जी की स्थिति बहुत ही भयावह थी। न भोजन, न वस्त्र, न कागज, न कलम, न छपाई, न लिखाई। पूँजीपति प्रकाशक और पत्र सभी अँग्रेजों की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहायता मे व्यस्त थे, उन्हें देश के साहित्य की चिंता नही थी। कागज पर कंट्रोल हुआ नहीं कि प्रायः शुद्ध पत्र-पत्रिकाएँ समाप्त-प्राय हो गईं। साहित्यिक निराला के पास जीवन-यापन का कोई अन्य साधन भी नहीं था। पिछली सभी कृतियों का कापी-राइट बिक चुका था। वे इतनी विकट परिस्थिति में फँस गए कि जिसके स्मरण मात्र से रोमांच होता है।

नंगे पैर और नंगे सिर, कंधे में फटा कुर्ता टाँगे और गन्दी लुगी जो कभी-कभी केवल घुटनों तक ही पहुँचती थी पहने हुए निराला को प्रयाग की सड़कों में घूमते देख कर मन बैठ जाता था। कविताएँ लिए हुए वे प्रायः लीडर प्रेस और इन्डियन प्रेस तक दारागंज से पैदल ही आया-जाया करते थे। उनकी उस समय की आर्थिक विपन्नता इतनी भयानक थी कि अपरिचित व्यक्ति को सहज ही में विश्वास भी नहीं हो सकता। उसके लिए तो यही बस है जो हनुमान ने राक्षसों के बीच फँसी सीता के कष्ट के लिए भगवान राम से कहा था—'सीता

की अति विपति विशाला, बिनहि कहे भल दीन दयाला।' वास्तव में निराला ने सन् '४३ से लेकर सन् '४६ तक प्रयाग में ऐसी यातनाएँ झेलीं जो किसी भी दूसरे व्यक्ति के लिए आत्महत्या का कारण बन सकती थीं।

इसी यातना-काल में एक संपादक महोदय ने कहा था—"निराला जी अगर आप अमुक विषय पर एक कविता लिख दें तो हम उसका पेमेन्ट काफी तगड़ा कर देंगे।" निराला जी ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—"साहित्य मेरे जीवन का उद्देश्य है जीने का नहीं, यह सच है कि मैं जीता भी अपने साहित्य से हूँ, किन्तु वह मेरे जीने का साधन मात्र नहीं! जो मैं नहीं लिखना चाहता वह चाहे भूखों मर जाऊँ, न लिखूंगा और जो लिखना चाहता हूँ, लाखों रुपये के बदले में भी उसे न लिखने की बात न सोचूंगा।" निराला के इस उत्तर पर मैं ही नहीं स्वयं संपादक जी भी स्तब्ध से रह गये थे। जीवन के इन बाह्य कष्टों की निवृत्ति के लिए आवश्यक अप्रमाद और पौरुषपूर्ण कर्म का सन्देश जिस ओजस्विनी भाषा में निराला से मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यावज्जीवन लोक-संग्रह के लिए निष्काम भाव से कर्म करना जैसे उनके जीवन का प्रकाश-पथ था। महाकवि गेटे ने कहीं लिखा है कि महान प्रतिभाशाली व्यक्ति को जीवन के महान संघर्ष और अधिक ऊपर उठा देते हैं—

A great crisis uplifts a man, little ones depress him निराला पर यह उक्ति सर्वथा लागू होती है क्योंकि he alone is great and glad who can be of use without either commanding or obeying.

निराला का सारा जीवन संघर्षमय और स्वनिर्मित रहा है। किन्तु सन् '४३ से प्रारम्भ होने वाले संघर्ष ने उनमें एक प्रकार की ऐसी अटूट दृढ़ता भर दी जो उन्हें सहज ही में इस युग की महान प्रतिभा का प्रतिनिधित्व देने में समर्थ है। वास्तव में बिना तपन के तेज नहीं आता, निराला को जीवन के तापों ने तपस्वी बना दिया। उनके स्वर की शक्ति सम्पूर्ण मानवता की प्राण पुकार है। उन्होंने जीवन की पवित्रता और न्याय-प्रियता की ऊँचाई में उठकर सब के जीवन की मूल-चेतना को अपना लिया।

जीवन-व्यापी आधुनिक विपन्न वातावरण के बीच में विश्व मानवता के आदर्श की स्थापना के लिए निराला ने अपनी विवेक-शक्ति का जो उपयोग किया है उसका जोड़ मिलना दुर्लभ है, दुर्लभ की प्राप्ति का प्रयत्न करना ही मानो निराला की बान थी। समाज, राष्ट्र और संसार में जब आधुनिक युग

की भाँति मिथ्या और धूर्तता-पूर्ण-आदर्शों की पूजा होने लगती है, सत्य का गला घोंटा जाने लगता है, व्यक्तिगत महत्ता के नाम पर पाखण्ड को बढ़ावा मिलने लगता है, उस समय साहित्य में निराला जैसे किसी महान कलाकार का व्यंग्यात्मक तथा विद्रूपात्मक हो जाना अनिवार्य हो उठता है। निराला ने भी सन् '४२ के बाद से अपने साहित्य में व्यंग्य को प्रधानता दी। राष्ट्र तथा समाज में प्रचलित कुरीतियों और भ्रमपूर्ण धारणाओं के ऊपर उन्होंने बहुत ही मर्म-भेदी और निष्ठुर-कशाघात किए। भ्रान्त विश्वासों और प्रचार जन्य-मान्यताओं के विरुद्ध अपने व्यंग्य-बाणों को छोड़कर उन्होंने जनता के जीवन को स्पष्ट और नूतन चेतना के कल्याणकाणी मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार के कठोर व्यंग्य-विद्रूप का सृजन केवल वही महान कलाकार कर सकता है, जो समस्त मानवता की व्यथा-वेदना को अपनी अनुभूति में बाँध सकता है, दूसरा नहीं। व्यंग्य की तीव्रता बुद्धि से न बढ़कर विषय की अनुभूति से बढ़ती है। निराला ने इस युग की समस्त दुर्नीतियों और मानवता को कलंकित करने वाली कुरीतियों का स्वयं अनुभव किया था, इसलिए उनके व्यंग्यों में उनके अन्तर की गहनतम अनुभूतियों का आभास है, और सम्भवतः इसी कारण वह समस्त राष्ट्र के प्राणों को स्पर्श करने की क्षमता भी रखता है।

अनुभव के आधार पर विकसित व्यंग्य में समाज को जागरूक करने की बहुत बड़ी शक्ति होती है, जो किसी दूसरे प्रकार से सम्भव नहीं होती। मनुष्य स्वभाव से अपनी निजी दुर्बलताओं को दुलराने वाला प्राणी है। मन प्रायः अपनी भूलों के प्रति अचेतन सा बना रहता है। अपनी प्रवृत्तियों के आवेग में कभी-कभी मनुष्य ऐसे असंगत कार्य भी कर बैठता है जिनका स्मरण स्वयं उसे हास्यास्पद लगता है। ग्लानि और पश्चाताप का जीवन मानव की ऐसी ही भ्रान्तियों का परिणाम है। अपने 'अहम्' की उत्तेजना में बड़े-बड़े महापुरुषों तक से ऐसे कार्य हो जाते हैं, जो उनके समाज के अहित का कारण बनते हैं। व्यक्तिगत राग-द्वेष की मोह-माया में पड़कर अनजान में ही मनुष्य ऐसी भूलों का शिकार बनता रहता है जो अत्यन्त हास्यास्पद और असंगतिपूर्ण होती हैं। व्यक्ति तथा समाज की ऐसी ही भूलों पर चोट करने के लिए साहित्य में व्यंग का विधान किया गया है। आधुनिक युग ऐसी विकृतियों का अखाड़ा है, और निराला उन्हें पछाड़ने के लिए व्यंग्यमय पहलवान।

समय-समय पर विश्व-साहित्य में ऐसे प्रतिभाशाली लेखकों का उदय हुआ

है, जिन्होंने अपने व्यंग्य एवं विद्रूप की अवतारणा से प्रचलित अंध-विश्वासों की धज्जियाँ उड़ायी थी और पंडागिरी के पाखंडी रूप को समाज के सामने रक्खा था। स्विफ्ट और वालटेयर के व्यंग्य संसार-प्रसिद्ध हैं। निराला की अग्निमयी लेखनी भी इनसे कम नहीं। सन् '४२ से लेकर आज तक भारत जिस विकट स्थिति से गुजर रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। निराला ने बराबर अनेकानेक विघ्न-बाधाओं के बीच में भी अपनी लेखनी को एक दिन के लिए भी विश्राम नहीं दिया। उनके साथी प्रायः मौन थे, पर वे बराबर इस विपन्न स्थिति पर कठोराघात करते हुए कुछ न कुछ लिखते ही गए। प्राणों की बाजी लगाकर भी उन्होंने साहित्य-सृजन किया।

हास्य एवं व्यंग्य-विद्रूप के विचारोन्मेषक स्निग्ध प्रकाश के साथ बुद्धि-वैशिष्ट्य के साथ गतिशील होने वाली निराला की रचनाएँ साहित्य की अमूल्य निधि हैं। क्या समाज, क्या राष्ट्र, सभी के प्रति उन्होंने सुझावमय व्यंग्य किया है। पाखण्ड के प्रति क्षमा तो निराला जानते ही नहीं थे, चाहे वह गाँधी का हो चाहे जिन्ना का। सत्य की अग्निशिखा का प्रकाश जितनी निर्भीकता के साथ निराला ने साहित्य में विकीर्ण किया है किसी दूसरे ने नहीं किया। समाज और राजनीति के ठेकेदारों के प्रतिक्रियात्मक परिणामों को निराला ने साहस के साथ सहन करते हुए उनकी दुर्बलताओं पर आघात करना नहीं छोड़ा और संसार के सारे प्रलोभनों को ठुकरा कर सत्य का पक्ष ग्रहण किया! 'बेला' और 'नये पत्ते' में संग्रहीत एक-एक कविता मानो अग्नि की दहकती हुई चिनगारी है। व्यंग्य की इन बौछारों से निराला ने राष्ट्र में जो प्राण फूंके हैं उनकी समता में किसी भी आधुनिक नेता के सुधार तुच्छ से जान पड़ते हैं। जो काम सरकार की तलवार और नेताओं की मनुहार नहीं कर सकी उसे निराला ने अपने इन व्यंग्यों से सम्पन्न किया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में व्यंग्य एवं विद्रूप का जितना तीक्ष्ण और सधा हुआ प्रयोग निराला ने किया है उतना किसी अन्य कलाकार ने नहीं। इस दृष्टि से जो स्थान बर्नार्ड शॉ का अँग्रेजी में है वही स्थान निराला का हिन्दी में है।

सामीप्य की कठिनाई और दुर्बल मनोवृत्ति के कारण हम निराला का वह सम्मान जो शॉ का अँग्रेज करते हैं नहीं कर सके या नहीं करते, किन्तु ज्यों-ज्यों मानसिक गुलामी का आवरण हटता जायगा त्यों-त्यों इस महान कलाकार की क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ हमारे सामने स्पष्ट होती जायँगी। हिन्दी आलोचना में तत्व-विश्लेषण की क्षमता के साथ ही निराला का सम्पूर्ण साहित्य बोधगम्य

हो कर सब को समान रूप से विमुग्ध करने मे निश्चय ही समर्थ होगा। निराला की भाँति जीवन की सभी प्रकार की अनुभूतियों का स्वस्थ सृजन कर सकना साधारण सी बात नहीं, इसके लिए बहुत बड़ी प्रतिभा की अपेक्षा होती है। उनकी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती काव्य-प्रेरणाओं में अनुभूतियों का जो काव्य-स्वरूप सामने उपस्थित हुआ है वह उनकी महान काव्य-शक्ति का परिचायक ही नहीं वरन् इस युग की महान साहित्य-शक्ति का प्रतीक है। छायावादी युग और प्रगतिवादी युग, दोनों युगों के वे महाकवि थे, क्योंकि दोनों युगों की युग-शक्तियाँ उनके काव्य में निहित हैं। यहाँ तक कि व्यक्ति के नाम पर युग का नामकरण यदि किया जाय तो सन् '१६ से लेकर सन् '४६ तक साहित्य के जिस अटूट साहस और जीवन के साथ चलने की शक्ति का परिचय निराला ने दिया है उसके बल पर हम सहज ही में इस युग को 'निराला-युग' कह सकते हैं। यों भी निराला जैसी विविधता, बहुलता इस युग के किसी भी अन्य कलाकार में नहीं है। तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखने पर निराला Rich in quality and quantity दोनों पड़ते हैं। घोर कष्टमय पचासा पार करके भी वे बराबर लिखने के साथ दण्ड-बैठक भी लगाते। भीमकाय निराला अपनी सभी शक्तियों में भीम थे।

भारतीय साहित्य मे छायावाद युग अपनी एक विशेष प्रकार की ऐतिहासिक महत्ता रखता है। भारतीय चेतना मे राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था। समाज नये जीवन-कल्पना का आकलन कर रहा था। अभिशप्त भारत मे स्वाधीनता की कौतूहलमयी साँस सजग हो रही थी कि निराला ने साहित्य मे सर्वाङ्गीण-सौन्दर्य की स्वतंत्र अभिलाषा की उत्कृष्ट रचना स्वतंत्र छन्द में 'जुही की कली' के रूप में सन् '१६ में हिन्दी-साहित्य को दी। समवेदनशील हृदयों ने इसके द्वारा नई भाव दशा और दिशा का संकेत पाया। कहना न होगा कि गाँधी का सन् '२० वाला आन्दोलन इस कविता के चार वर्ष बाद होता है। किसी ने कहा है कि—Men of delicately cultured temperaments should not trouble themselves greatly about politics. क्योंकि कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनके मस्तिष्क में स्वदेशानुराग की भावनाएँ ही सर्वप्रधान नहीं होतीं, बल्कि जो कल्पना की उन स्थितियों और भावों की उन सम्भावनाओं पर अधिक विश्वास करते हैं जो अखिल विश्व की अनुराग-जनित पुलक से पुलकित और परिवर्धित होती हैं। ऐसी स्थिति में स्वदेशानुराग के नाम पर वे अपने को किसी राजनीतिक सिद्धान्त मे नहीं बाँध पाते और साहित्यकार तो और भी ऐसा नहीं

कर पाता। आशय यह कि निराला ने भले ही अपने को किसी राजनीतिक सिद्धान्त अथवा दल का हिमायती न उद्घोषित किया हो, पर सदियों से पीड़ित मानवता और उसके साहित्य की मुक्ति की इस युग में सबसे पहली आवाज उन्हीं की है। युग की यथार्थ परिस्थितियों की गहरी से गहरी अनुभूतियों की सजग-आकुल चेतना निराला के काव्य में बराबर मिलती रही है। राष्ट्रीय आन्दोलनों के साथ-साथ कभी-कभी तो आगे-आगे निराला ने भाव-जगत में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए और सामाजिक पुनर्निमाण के दार्शनिक सुझाव सामने रखे।

जिन सामाजिक परिस्थितियों के कारण छायावाद का उदय हुआ था उससे निराला का निकट सम्पर्क रहा, इसलिए उसके विकास के साथ वे बराबर चलते रहे। वस्तुतः छायावादी कोरी कल्पना का उनमें अभाव था। उन्होंने छायावाद के स्वर्ण-काल में भी केवल भावों को आधार मानकर अपने साहित्य को नहीं रचा। उनकी कल्पना का विस्तार और भाव का आधार सदैव उनकी गहन जीवन-अनुभूति ही रही है, इसके लिए उन्हें सरकार अथवा समाज से किसी से कम यातनाएँ नहीं मिलीं। पर सुन्दर जीवन की सामूहिक प्रतिष्ठा के लिए निराला ने सदैव कोशिश की, इसमें सन्देह नहीं। द्विवेदी युग के द्वितीय उत्थान-काल से लेकर सदा-ही वे साहित्य के महारथी रहे। कविता, रेखाचित्र, तथा निबंधों में निराला ने युग का नेतृत्व किया और इसके अतिरिक्त साहित्य के सभी क्षेत्रों में उनकी देन महत्वपूर्ण रही। छायावादी मुक्त-रचनाओं और गीतों में सौन्दर्य-शक्ति का समावेश सर्वप्रथम निराला ने ही किया, प्राचीन छन्द कवित्त को समयानुकूल बनाकर जीवन के साथ साहित्य के विकास का शिलान्यास करने में वे सब से आगे रहे। गीतों में संगीत का समन्वय जिस जागरूकता और अभिनव चेतनता के साथ निराला ने किया, उस तक किसी दूसरे की पहुँच ही नहीं। उन्मुक्त छन्द और मुक्त संगीतात्मकता के लिए छायावाद उनका चिर ऋणी रहेगा। उन्मुक्त छन्दों का स्वच्छन्द प्रवाह और स्वर के सधे संगीतमय लहरित भाव का समन्वय निराला की ही लेखनी का निरालापन है। मन-बुद्धि की प्रेरणाओं को कठोर धरातल पर रखकर उनमें रस को सिद्धि प्राप्त करना केवल निराला का ही काम है।

शक्ति का ऊर्जस्वित अदम्य प्रवाह, सौन्दर्य का सात्विक प्रस्फुटन, ओज और शौर्य का यथार्थ अनुलेखन और जन-सहानुभूति का आकलन एक साथ ही संगठित करना निराला की सबसे बड़ी महानता रही। जीवन का सजीव-

सुन्दर-कोमल साहचर्य, निराला की करुणा को यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़ा करने में समर्थ रहा जिसके माध्यम से कवि ने छायावादी विमोहक मुग्धता को छोड़कर सुख-दुख की वस्तुगत स्थूल गहराई को स्पष्ट करने में बड़ी भारी सफलता पाई। निराला ने अपनी काव्य-प्रगति से यह सिद्ध कर दिया कि प्रवृत्ति और प्रगति का समन्वय साहित्य में बड़ी सफलता से हो सकता है। निराला ने अन्य छायावादी कवियों की भाँति स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी की चोटें नहीं सहलाईं, वे जीवन की विषमता से पूर्ण परिचित होने के कारण उसके हथौड़ों को स्वाभाविक रीति से अपनाते चलते रहे। पूरे छायावादी युग की स्निग्ध चाँदनी में निराला की प्रकाश-किरण की उष्णता और मौलिकता-पूर्ण रूप से परिव्याप्त है।

छाया युग के आवरण को छेद कर आगे बढने में कवि ने जिस प्रगति का परिचय दिया वही आगे चलकर प्रगतिवाद के नाम से प्रतिष्ठित हुआ। साधारण के प्रति सहानुभूति का जो स्रोत 'वह तोड़ती पत्थर इलाहाबाद के पथ पर' से छायायुग मे फूटा था वही आगे चलकर प्रगति की सरिता में परिवर्तित हो गया। इसके विरोधियों के लिए निराला ने व्यंग्य का प्राणवान उपयोग किया। 'कुकुरमुत्ता' साधारण और सहानुभूति के पात्रों के प्रति अपनी जड़ता दिखाने वालों के प्रति बहुत ही कठोर व्यंग्य है। इस कविता में व्यंग्य-विनोद और हास्य की सरस त्रिवेणी का स्निग्ध प्रवाह मन को मुग्ध कर लेने वाला है। भाषा के प्रयोग में भी कवि ने व्यंग्य का आधार लिया है। भाषा के दृष्टिकोण से जब कभी निराला के साहित्य का मूल्यांकन किया जायगा तब पता चलेगा कि वे एक महान शब्द-स्वर-रसायनिक थे। यह तो बिना किसी संशय के कहा जा सकता है कि 'कुकुरमुत्ता' आधुनिक युग का सबसे बड़ा व्यंग्य है और निराला सबसे बड़े व्यंग्यकार।

द्वितीय युद्धकाल से निराला ने व्यंग्य को अधिक अपनाया, क्योंकि अपने को सभ्य और शिक्षित कहने वाले मानव की घोर हिंसात्मक वृत्तियों और युद्ध-प्रवृत्तियों पर कुठाराघात करने के लिए एक साहित्यकार के पास व्यंग्य की सेना के अतिरिक्त और साधन भी क्या शेष रह जाता है। मानवोचित नैतिकता की रक्षा के लिए निराला ने मीठे-तीखे व्यंग्य-वाणों का प्रहार करके समाज में एक नई चेतना भरने की चेष्टा की। स्वार्थी, सड़े समाज के पंडों और शासन की लोलुपता में पड़े नेताओं ने निराला के लिए वैसा ही भला-बुरा कहा जैसा लुई सोलहवें ने रूसो और वालटेयर के लिए कहा था तो इसमें कुछ विचित्रता नहीं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि निराला ने अपने व्यंग्यों से जीर्ण-शीर्ण

पुरातन संस्कारों और अन्धविश्वासों को भस्मीभूत करके देश के जीवन में नवीन उन्मेष का जो मंत्र फूंका वह किसी और तरह संभव भी नहीं था। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि निराला ने कुरीतियों और भ्रम फैलाने वाले ढोंगों पर केवल व्यंग्य ही नहीं लिखा वरन् उनका सक्रिय उच्छेदन भी किया, सामाजिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में। निराला का 'चाबुक' समाज की पोल-पीठ पर चाबुक की तरह चोट करता है। उनके व्यंग्य बिच्छू के डंक की तरह घातक हैं। अन्य स्वतन्त्र देशों में लोग ऐसे व्यंग्यों को बड़ी कृतज्ञता-पूर्वक सहन कर लेते हैं, और अपने सुधार की चेष्टा करते हैं, पर भारतवासी वैसा नहीं कर पाते। फलस्वरूप निराला को सब के क्रोध का, बैर का तथा मनोमालिन्य का भी भार उठाना पड़ा, संगठित बर्बरता और अत्याचार का शिकार होना पड़ा। 'शॉ' ने ठीक ही लिखा है—

'सभ्य मनुष्य का आज जो रूप हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं, वह उसका आदिम बर्बर रूप है। जहाँ तक जीवन-यापन का सम्बन्ध है, मनुष्य उसमें जरा भी गतिशील नहीं हुआ है। दो सौ-साल पहले जिस रूप में वह घर में वास करता था, भोजन करता था, वैसा आज भी कर रहा है। किन्तु मृत्यु के कार-बार में वह बहुत आगे बढ़ गया है। नये-नये मारण-अस्त्रों का आविष्कार करके वह वन्य-पशुओं की हिंस्रकता को भी मात कर रहा है। अपने मशीनगन, सबमेरिन और तारपिडो को लेकर उसने सारे संसार में हत्या का उत्सव आरम्भ कर दिया है। धर्म को उसने ग्रहण किया है दूसरों से घृणा करने के लिए; बिना विचारे निर्दोष को निर्वासित करने के लिए उसने कानून को हथियार बनाया है। स्वयं परिश्रम न करके दूसरे के श्रम से उत्पन्न सामग्री का जो भोग करता है, उस निर्लज्ज परस्वादहारी व्यक्ति को सभ्य एवं भद्र माना जाता है'।

युद्ध मे शरीक इंगलैंड ने 'शॉ' को इसके लिए कोई दण्ड नहीं दिया, पर युद्ध के समय यदि भारत में किसी ने यही बात कही होती तो उसकी दशा कल्पनातीत होती।

विदेशी शासन ही ऐसा करता है सो बात नहीं। भारत सदियों से गुलाम रहते-रहते अपनी नैतिकता खो चुका है, उसकी जड़ों में स्वार्थ और हीन-भावना के कीटाणु अपना घर बना चुके हैं, इसलिए अभी यहाँ के लोग सच होते हुए भी खरी-खोटी सुनने के आदी नहीं बन पाए। दबाव मे रहते-रहते दबाव देने की प्रतिक्रिया यहाँ का मूल-धर्म सी बन गई है। हिन्दी बोलने के अपराध के लिए असेम्बली में नेहरू जी का उत्पात, त्यागी जी को यू० पी० काँग्रेस मिनिस्टरी

की धमकी आदि अनेक बातें इसके प्रमाण में सामने रखी जा सकती हैं। राजनीति के अनुशासन और साहित्य के अनुसंधान में यही सबसे बड़ा अन्तर होता है। आज हमारे साहित्य में ऐसे व्यंग्य-विद्रूप की परम आवश्यकता है जो हमारी अहंपूर्ण कपट नीतियों की दुर्बलताओं को हमारे सामने उभार-उभार कर रखे और उनके सुधार का मार्ग सुझाए। धर्म के नाम पर अन्ध-परम्पराओं का पोषण, आध्यात्मिकता के नाम पर कापुरुषता का तोषण और भलाई के नाम पर भोली-भाली जनता का शोषण इस समय देश के कोने-कोने में इस तरह परिव्याप्त है कि उसके विरुद्ध तीक्ष्ण से तीक्ष्ण व्यंग्यों का प्रहार भी थोड़ा है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दुर्जय संकल्प के साथ सत्य की अभिव्यक्ति देने वाला व्यंग्य राष्ट्रीय जीवन के खोखलेपन को चकनाचूर करने में अवश्य समर्थ होता है, क्योंकि प्रबलों का अबलों पर बलप्रयोग और अधिकारों का औद्धत्य सहन करने वाला राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता।

निराला ने अपने व्यंग्यों में देश की प्रुषुप्त मानवता को उद्‌बुद्ध करने की चेष्टा की क्योंकि अपनी हल्की-फुलकी थपकियों में समय की प्रयोजनीयता का उन्होंने सदैव स्मरण रखा। देश के, समाज के कुहाछन्न वातावरण को विद्ध करने के ही लिए निराला ने व्यंग्यों के अग्निवाण छोडे। व्यक्तिगत उनका किसी से राग-द्वेष नहीं, पर साथ ही उनके जीवन का कोई द्वार सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कपट के किवाड़ों से बन्द नहीं। निराला राजनीतिज्ञ क्या नीतिज्ञ भी नहीं थे। जीवन की सहज निश्छलता में नोति या नीति-विशेष के मटमैलेपन की आवश्यकता नहीं रहती, कवि छली नहीं होता, इसलिए निराला के व्यंग्यों में व्यक्तिगत सीमाओं का आरोप करना अनुचित ही नहीं उनके प्रति अन्याय है, किन्तु जीवन की किसी भी विकृति-बिगाड़ में पड़े व्यक्ति को चाहे जो भी हो, निराला अपने प्रहारों से मुक्त नहीं कर पाये। इस स्थिति में व्यक्ति की उपेक्षा और सत्य का आग्रह साहित्यकार के लिए आवश्यक भी हो उठता है।

निराला की प्रबंध-पुस्तक 'प्रबंध-प्रतिमा' में प्रकाशकीय वक्तव्य मे लिखा गया है—'इसके कुछ निबंधों में हमारे दो-एक प्रमुख साहित्यक और राजनीतिक व्यक्ति आलोचित हुए हैं, किन्तु साहित्य की प्रगति का इतिहास भी ऐसे लेखों से बनता रहा है, इसलिए साहित्य के विद्यार्थियों के निकट इसकी बहुत उपयोगिता है। साहित्य के नाते यह दुर्भाव का कारण न होगा।'

वास्तव में साहित्य में दुर्भाव का स्थान नहीं। निराला जी ने जिन व्यक्तियों के प्रति, जिन व्यवस्थाओं के प्रति, जिन रूढ़ियों के प्रति कभी आरोप भी किया,

उनसे कभी उनका कोई व्यक्तिगत दुर्भाव रहा भी नहीं। गांधी जी को साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व की मर्यादा की रक्षा के लिए निराला जी ने जो भी सुझाव दिए वे बहुत ही समुचित और साधु हैं। उनकी भाषा सम्बन्धी परिवर्तित होती हुई नीतियाँ भी हिन्दी साहित्य के निर्माण में सहायक नहीं सिद्ध हो सकीं, यह भी सच है। तब इन बातों को लेकर गांधी से वाद-विवाद करना कोई पाप नहीं था। यों गांधी के प्रति निराला जी के हृदय में काफी सम्मान था। चर्खे को लेकर गांधी-रवीन्द्र में जो विवाद चला था, उस विवाद में निराला जी ने गांधी के पक्ष का समर्थन करते हुए रवीन्द्र की बहुत बड़ी आलोचना की थी, क्योंकि राष्ट्र के नवीन संगठित आन्दोलनों के वे बराबर समर्थक रहे, और इन आन्दोलनों के अधिनायक गांधी से उनका किसी तरह दुर्भाव सम्भव नहीं था।

नेहरू जी पर तो निराला जी ने कई कविताएँ तक लिखीं। श्री रणजीत पंडित की अकाल मृत्यु पर लिखी गई उनकी कविता हिन्दी की दुखान्त कविताओं में एक है और रहेगी। श्रीमती पंडित पर तो निराला ने बहुत ही सुन्दर कविता लिखी। लेकिन यह भी ठीक है कि उन्हें इस परिवार की विदेशी रीति-नीति खटकती रही। नेहरू जी का देशी-भाषा न जानना भी निराला को अप्रिय लगता था। वे अक्सर कहा करते थे—"देखो चर्चिल वगैरह अपनी स्पीचों में टेनीसन और शेक्सपियर वगैरह को ठाट से 'कोट' करते हैं और यहाँ के राजनीतिक व्यक्ति साहित्य क्या देशी भाषा बोलना-लिखना तक नहीं जानते। आत्मकथा तक विदेशी भाषा में लिखते हैं।" नेहरू जी ने स्वयं इसके लिए, कि वे देशी भाषा नहीं जानते, ग्लानि प्रकट की है। निराला ने इस विषय में यदि कुछ कहा-सुनी की तो ठीक ही था।

सम्मेलन के संस्थापक टंडन जी को उन्होंने अपनी पुस्तक तक भेंट की है। जिसमें लिखा है—'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के प्राण आदरणीय बाबू पुरुषोत्तम दास जी टंडन को सविनय समर्पित।' इन शब्दों में टंडन जी के प्रति उनकी उदारता प्रत्यक्ष है, किन्तु जहाँ पर टंडन जी राजनीतिक स्तर से साहित्य पर किसी प्रकार का दबाव डालना चाहते थे वहाँ निराला जी उनका विरोध करने में कभी रुक भी नहीं सकते थे।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में टंडन जी की प्रधानता जहाँ एक ओर उसके परम सौभाग्य का कारण रही है, वहाँ उसे एक चरम दुर्भाग्य का भी भोग भोगना पड़ा है। वह दुर्भाग्य है साहित्य-सम्मेलन में राजनीतिक व्यक्तियों और

राजनीति का एकान्त प्रभाव। परिणाम स्वरूप सम्मेलन में किसी भी बुद्धू राजनीतिक का सम्मान साहित्यकार से अधिक होता देखकर साहित्यिक के हृदय में क्षोभ होना स्वाभाविक है। इस प्रकार राजनीतिकों से साहित्य की मर्यादा के लिए वाद-विवाद करना कुछ बुरा नहीं। दोनों का मेल बैठना भी तो बहुत सहज नहीं। विशेषकर इस देश के राजनीतिकों ने तो देश की संस्कृति और साहित्य के उत्थान में कोई सहयोग नहीं दिया।

रवीन्द्र जैसे कवि को भी विश्व-भारती जैसी संस्था के लिए देश भर में नाच-कूद कर पैसा इकट्ठा करना पड़ा था, पर किसी नेता ने इसके लिए कभी जनता से कोई अपील नहीं की। इतनी उत्तम अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था को नेताओं ने नहीं अपनाया। और रुपयावालों के लिए नेता से अधिक महत्व कवि का और राजनीति से अधिक साहित्य का, न कभी रहा और न आगे रह सकता है, क्योंकि वे जानते हैं कि समय पर उनका काम कवि से नहीं नेता से ही निकलेगा। बड़े नेता के कुत्ते के मृत्यु-संस्कार के लिए जितना रुपया इकट्ठा हो सकता है और होता है उतना भी रुपया स्वयं साहित्यिक की जीवन-रक्षा के लिए किसी धनी वर्ग से नहीं मिल सकता। मेरी दृढ़ धारणा है कि नेताओं ने यदि विश्व-भारती को अपनाया होता तो आज उसकी यह दशा न होती।

हाँ, तो नेताओं को, राजनीतिक कार्य-कर्ताओं को पूँजीपतियों से रुपया मिलता है, इस बात से टंडन जी खूब परिचित थे। अतएव सम्मेलन के लाभ के लिए, प्रचार के लिए उन्होंने राजनीतिकों को अपनाया और साहित्यकारों को छोड़ा। गरीबी और गुलामी से पिसे भारत की भाषा हिन्दी और उसके सम्मेलन के सभापति को रुपयों से तौलने की बात सुनकर आश्चर्य होता है। यह सम्मेलन की राजनीतिक महत्ता है, साहित्यिक नहीं। वहीं तक होता तो भी ठीक था, पर सम्मेलन के मंच से राजनीतिकों का साहित्यिकों के प्रति उपदेश और आरोप तो निश्चय ही अनाधिकार पूर्ण और अशोभन लगता है। साहित्य के ऐसे अपमान से निराला को ही नहीं, किसी भी साहित्यिक को मर्म-पीड़ा पहुँचती थी। साहित्य-सम्मेलन के प्राण टंडन जी से साहित्य-प्राण निराला की रीझ-खीझ का कारण इसके अतिरिक्त और कुछ था भी नहीं।

राजनीति और साहित्य में एक प्रकार का ऐसा अन्तर है जो कभी भी शायद दूर न होगा, क्योंकि राजनीति का उद्देश्य वर्तमान प्रत्यक्ष स्थूल सत्य से आगे अपनी गति नहीं रखता, किन्तु साहित्य वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में अपनी गतिशीलता स्थिर रखता है, प्रत्यक्ष के साथ अप्रत्यक्ष का भी

आकलन करता है। सारी प्रकृति में जो कुछ दिखाई पड़ता है वह प्रत्यक्ष है, इन्द्रियाँ उसकी साक्षी हैं, किन्तु साहित्य में जो कुछ देखा जाता है, प्राकृतिक होने पर भी वह सब प्रत्यक्ष ही नहीं होता, साहित्यकार इसी प्रत्यक्षता के अभाव की पूर्ति करता है। प्राकृत-सत्य और साहित्य-सत्य में यही भेद होता है, राजनीतिक और साहित्यिक में भी। साहित्य प्रकृति का दर्पण नहीं है। कोई भी कलात्मक रचना दर्पण नहीं हो सकती, क्योंकि रचना का विषय बाहर से कृत्रिम होकर भी भीतर से प्राकृतिक की अपेक्षा अधिकतर सत्य हो जाता है।

बोध और परिचय की सार्थकता यही है, कि जो छोड़ने योग्य है उसे छोड़कर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण कर लिया जाय। अपने आत्मीय से आत्मीय व्यक्ति का कुछ न कुछ अंश हमारे लिए अप्रत्यक्ष और अगोचर रहता है, क्योंकि न तो हम उसकी छाया हैं न अन्तर्यामी। उसके अधिकांश को हम देख नहीं सकते, यहीं हमारी विधायक कल्पना सारवती सिद्ध होती है। अप्रत्यक्ष अंश को हम अपनी कल्पना से प्रत्यक्ष कर लेते हैं, शून्य को भर लेते है। जिन विषयों और लोगों के विषय में हमारी कल्पना क्रीड़ा नहीं करती और जिनका केवल प्रत्यक्ष तथा गोचर अंश ही हमारे सामने होता है, उनको हमारा जानना न जानना बराबर है। राजनीतिक, व्यक्ति को उसके वर्ग वकील, डाक्टर, व्यवसायी तथा मजदूर के नाम से जानता है, किन्तु साहित्यकार उन्हें मनुष्य के रूप में जानना चाहता है। राजनीति में व्यक्ति का बाहरी रूप और विषय प्रायः उसकी आन्तरिकता से बड़ा माना जाता है, किन्तु साहित्य में उसकी सम्पूर्णता का अधिक महत्व होता है, क्योंकि साहित्य में विषय और वस्तु की पूर्णता की संस्थापना होती है। मन प्राकृतिक सत्य को मानसिक बनाता चलता है, और साहित्य उसी मानसिक को साहित्यिक बना देता है।

साहित्य का बिषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है। वाह्य प्रकृति और मानव-हृदय प्रतिक्षण जो स्वरूप धारण करते हैं, जो संगीत ध्वनित करते हैं, साहित्य में उसी का प्रतिफलन होता है, किन्तु राजनीति में इसकी गुंजायश नहीं रहती। मानवता का श्वास-निःश्वास साहित्य की बंशी में संगीत बनकर समस्त रागों का केन्द्र-बिन्दु बनता है। साहित्य किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, स्वयं रचयिता का भी नहीं, वह सब का समान है। पर राजनीति में ऐसी समानता सम्भव नहीं। वहाँ वोट समान हो सकते हैं, पर सब वोटर समान नहीं होते। इसी से साहित्य में चिर-स्थायित्व और राजनीति में अस्थायित्व होता है। राज-

नीति तात्कालिक प्रयोजन से परे नहीं जाती, जबकि साहित्य सर्वकालीन समस्याओं को समेटता रहता है। सत्य को व्यक्ति के निजत्व से हटाकर सर्व-साधारण का बना देना साहित्य का मुख्य उद्देश्य है, किन्तु राजनीति व्यक्ति को छोड़कर नहीं चल पाती। आशय यह कि साहित्यकार और राजनीतिक में वही अन्तर है जो कलाकार और कारीगर में। जगत् के साथ मन का जो सम्बन्ध होता है, मन के साथ साहित्यकार की प्रतिभा का वही सम्बन्ध होता है। प्रथम अंश मनुष्य का अपनापन है, और दूसरा उसका मनुष्यत्व जो उसे विश्व-मानव की उच्चता में प्रतिष्ठित करता है। साहित्यकार का यही मनुष्यत्व साहित्य-सृजन करता है, उसकी श्रेष्ठ चेष्टाएँ केवल वर्तमान के समीप सत्य तक कभी सीमित नहीं रह सकतीं, क्योंकि उसका लक्ष्य चिरकाल का समाज है, किन्तु राजनीतिक वर्तमान समय की परिस्थिति तथा समाज को सर्वप्रधान मानता है। समाज को भी कई टुकड़ों में विभाजित करके राजनीतिक दल निर्माण की संकुचित सीमा में भी प्रवेश करता है। राजनीतिक यदि तत्कालीन विचारक होता है तो साहित्यकार सर्वकालीन विचारक।

वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, तुलसीदास के समय की राजनीति का आज कोई भी महत्व नहीं, किन्तु उनका साहित्य आज भी महान् और महत्वपूर्ण है। सम्भवतः इसीलिए क्षणिक और संकीर्ण समस्याएँ साहित्य को प्रताड़ित नहीं कर पातीं। जो वस्तु ध्रुव और शाश्वत होती है उसी की ओर उसकी रुझान रहती है। रामचरित मानस पढ़ने से यह तक पता नहीं चलता कि उस समय देश में किसका शासन था, पर देश के शाश्वत लक्ष्य का उसमें उन्मेष है। राजनीतिक की बुद्धि व्यवसायी की बुद्धि होती है। उसका ज्ञान या तो पुस्तकीय होता है या नेता के प्रवचनों का परिणाम, स्वयं से सुचिंतित नहीं। वे लोग सरस्वती के मन्दिर की ड्योढ़ी में बैठ कर हल्ला-गुल्ला तथा तर्जन-गर्जन एवं घूंसा-मुक्की का कारबार करते हैं, मन्दिर के भीतर उनकी पहुँच नहीं होती। इसी खीझ की प्रतिक्रिया में वे सरस्वती के प्रसाद, साहित्य में धूल झोंकने की भी चेष्टा करते हैं। उसे अपने राजनीतिक डंडे से हाँकना चाहते हैं, किन्तु साहित्यकार सरस्वती का, सारतत्व की रानी का पूजन-आराधन करता है और उस विश्व मानवता की केन्द्र-गोद में बैठ कर उसका स्नेह-सत्कार पाता है।

निराला ने जिन राजनीतिक व्यक्तियों के प्रति औद्धत्त दिखलाया, वे ऊपर विश्लेषित राजनीति के हिमायती और दलनायक हैं और निराला स्वयं साहित्य का पुजारी साहित्यकार। सरस्वती, सारतत्व की रानी का वरद पुत्र साहित्य-

कार राजपुत्र-राजकुमार ही हुआ, पर आज-कल राज तो राजनीतिज्ञों की ही बपौती बन गया है। गेटे ने कितने क्षोभ के साथ लिखा है—

In literature we find hatred taking the place of genius and a small talent appearing great because it is being used as the mouthpiece of a political party. In life too, we find people without sufficient character to stand alone, they throw themselves into the arms of a party and gain the self-confidence which enables them to cut a figure.

इधर हिन्दी में भी कुछ ऐसी ही नीति का प्रचलन बढ़ चला है। युग के राजनीतिकों ने अपने को श्रेष्ठ साहित्यिक उद्घोषित करना भी शुरू कर दिया है। दलबंद राजनीतिक का लेखक होना तो सम्भव है; सुना है चर्चिल ने राजसत्ता की महत्ता पर बहुत कुछ लिखा है, पर प्रत्येक लेखक का साहित्यकार होना आवश्यक नहीं। साहित्यकार निर्माण करता है और लेखक का काम संग्रह और संचय से भी चलता है, किन्तु जो समस्त वस्तुएँ और भावनाएँ संसार के प्रत्येक हृदय में सञ्चरित होने के लिए प्रतिभाशाली सहृदयों से स्वरों, रंगों और रागों की प्रार्थना करती हैं, आत्मनिवेदन करती हैं, जो सहृदयों की समवेदना के बिना सजीव और साकार नहीं हो सकतीं वे सब साहित्य की सामग्री हैं—वे मनुष्य की, साहित्यकार की एकमात्र अपनी हैं, वे आविष्कार नहीं, अनुकरण नहीं, खण्डन-मण्डन नहीं हैं—वे सृष्टि हैं। उनके एक बार सृष्ट होने पर उनके रूपान्तर और अवस्थान्तर कर देने से नई सृष्टि का भ्रम पैदा नहीं होता, किन्तु कुछ चतुर राजनीतिकों ने कथा को दोहराने में भी सृष्टि का स्वप्न देखना प्रारम्भ कर दिया है। चूँकि हिन्दी पत्रों-प्रकाशकों, पूँजीपतियों से और राजनीतिक व्यक्तियों से भारत में आज तक भी भाई-चारे का सम्बन्ध है इसलिए पत्रों में सचित्र राजनीतिक लेखकों की रचनाएँ बड़े धड़ल्ले से प्रकाशित होने लगी हैं। पुस्तकों के प्रकाशन की भी सम्पूर्ण सुविधाएँ उनकी अपनी है। राजनीतिक का लेखक होना बुरा नहीं, बल्कि बहुत अच्छा है, किन्तु इससे देश की सारी साहित्यिकता खसोट लेने की प्रत्याशा भी अब होने लगी है।

उन दिनों पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र मंत्री, मध्यप्रदेश सरकार की एक काव्य-पोथी 'कृष्णायन' नाम की निकली थी। अवधी भाषा में कवि ने दोहे-चौपाई की शैली में भगवान कृष्ण की कथा कही थी। उस पुस्तक को लेकर हिन्दी में इतना हो-हल्ला मचाया गया कि चारों ओर मंत्री महोदय के युग-

प्रवर्तक कवि होने की सहसा सूचना से दिशाएँ गूंज रही थीं। राजेन्द्र बाबू ने उनको महाकवि कह कर युग-प्रवर्तक होने का वरदान दिया, डा० वर्मा और डा० सक्सेना ने भी तुरंत सार्टीफ़िकेट दे डाला, यह बात दूसरी है कि यह युग-प्रर्वतक कवि उन लोगों का विद्यार्थी न होकर मित्र था। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी अथवा किसी भी अन्य आधुनिक कवि को लेकर ऐसा प्रचार नहीं किया गया। सत्य को अधिकारी व्यक्तियों द्वारा समर्थन पाना ही चाहिए, किन्तु समर्थन में असत्य को सत्य बना सकने की क्षमता नहीं होती, इसे भी नहीं भूलना चाहिए। छायावादी कवियों को, खासकर निराला को न तो किसी नेता ने, न तो किसी डी० लिट० ने, उनके सृजन के अनुकूल युग-प्रर्वतक का विशेषण दिया फिर भी उनका साहित्य अपनी महिमा से मंडित है, किन्तु श्रीमन्नारायण की कविताएँ गाँधी से प्रशंसा प्राप्त करने के बाद भी साहित्य में प्रतिष्ठित नहीं हो सकीं।

इस प्रकार की दलबंदी और प्रचार के फल-स्वरूप ही निराला ने कभी-कभी राजनीतिकों के प्रति अपना क्षोभ प्रकट किया, अन्यथा कवि के लिए किसी के प्रति विद्वेष रखना सम्भव ही नहीं। यह ठीक है कि प्रचार और राजनीतिक दबाव के कारण निराला को जीवन में नारकीय कष्ट उठाने पड़े, एक अपढ़ गँवार की भाँति मजदूरी करनी पड़ी। चौका-बासन, ईंधन-लकड़ी, झाड़ना-बुहारना, घर-वस्त्र साफ करना आदि से लेकर कविताओं के साथ संपादकों-प्रकाशकों के दरवाजे खटखटाने पड़े, पर क्या कभी मोटी-मोटी तनख्वाहें झाड़ने वाले, मोटर वाले, राजनीतिक पदाधिकारी उनकी साहित्यिक-साधना को भी छीन सके ? कदापि नहीं। वे अपने रचना-कौशल से देश के हृदय में अपनी परिव्याप्ति लाभ करते रहे। भाव, विषय और तत्व साधारण मनुष्यों के होते हैं, लेकिन रचना लेखक की सम्पूर्ण रूप से अपनी होती है। इसलिए रचना के अन्दर ही कलाकार जीवित रहता है, भावों और विषय के अन्दर नहीं। रचना में भाव और उसको प्रगट करने का ढंग दोनों निहित रहते हैं, पर भाव तो मनुष्य-मात्र का है, उसको एक विशेष रूप में प्रकट करने और सब के लिए आनन्द की सामग्री बनाने की विधि ही कलाकार की प्रतिभा का प्रमाण है। विशेष भाव को अपना बनाकर रचना-उपाय से सब का बना देना ही तो साहित्य है। प्रकृति-व्याप्त भावों में सबका समान अधिकार है, पर साहित्यिक उन्हे अपनी शक्ति से विशेष आकार-प्रकार देकर अपना बना लेता है; और फिर उसे सब के उपयोग का बना कर कला-रूप में प्रतिष्ठित कर देता है, जो सौन्दर्य और स्वास्थ्य के साथ सबको आकर्षित करने में सक्षम होती है, इसी

कारण उसका नाम ललित कला रखा गया है।

समय के अनुसार मनुष्य की शिक्षा, भाव एवं अवस्था में परिवर्तन हो जाने पर भी जो साहित्यिक रचनाएँ अपने गौरव की रक्षा करने में समर्थ होती हैं, काल की अग्नि-परीक्षा में सफल होती हैं उन्हीं का मूल्य और महत्व होता है, निराला की रचना ऐसी ही है। मनुष्य का मन सहज गोचर नहीं है, यदि उसे अल्पकाल की सीमा में बाँधकर देखा जाय तो काल की अविरत गति के बीच से नित्य एवं अनित्य का संग्रह कर लेना बहुत ही कठिन होगा। इसी कारण मनुष्य की मानसिक वस्तुओं की परीक्षा काल की अनन्त परिदर्शनशाला में करनी पड़ती है। साहित्य के महत्व का निश्चित निर्णय प्राप्त करने का इससे श्रेष्ठ कोई दूसरा उपाय भी नहीं है। साहित्य की स्वाधीन रचना में साहित्यकार की प्रतिभा सर्वकाल के प्रतिनिधित्व को ग्रहण करती है, राजनीति की सामयिकता में उसका बँधा रह जाना उसके अस्तित्व में व्याघात पहुँचाता है। परन्तु राजनीतिक के सामने सत्य की अपेक्षा उसके अपने सिद्धान्त का, अपने दल का, अधिक महत्व रहता है, किन्तु—

If a poet would influence politics, he must join a party and then he is lost as a poet; goodbye to his free spirit and his open mind ! He must pull over his eyes the cap of bigotry and hatred. The poet as a man and a citizen will love his native land, but the native land of his genius lies in the world of goodness, greatness and beauty, a country without frontiers or boundaries, ready for him to seize and shape wherever he finds it. His gaze is like the eagle's poised far above the lands. To set him those unfitting and thankless tasks would be as bad as expecting the colonel of a regiment to enable himself in politics and neglect his own profession.—Goethe.

जब जर्मनी पर नेपोलियन का धावा हुआ था तब वहाँ के कुछ राजनीतिक व्यक्तियों ने गेटे से नेपोलियन के विरुद्ध लिखने का आग्रह किया था, किन्तु उसने साफ कह दिया कि उसने प्रेम-गीत तब लिखे हैं जब उसने प्रेम किया है, और किसी के प्रति घृणात्मक प्रचार भी वह तभी कर सकता है जब वह स्वयं घृणा से अभिभूत हो। इसी तरह की बात फैजाबाद प्रान्तीय सम्मेलन में माननीय सम्पूर्णानन्द ने निराला की उपस्थिति में कहा था—'लेकिन कवियों को

राजनीतिज्ञों का साथ देना है।' निराला से न रहा गया, उन्होंने तपाक से उत्तर दिया—'हिन्दी के कवि राजनीतिज्ञों से और आगे हैं।'

इस प्रकार जहाँ-जहाँ निराला के सामने राजनीतिकों ने साहित्य की सात्विकता और उसकी मर्यादा पर अपना अधिकार जमाना चाहा, वहाँ-वहाँ निराला ने उनका प्रतिवाद किया, इससे अधिक कुछ नहीं। यों निराला ने देश की राजनीतिक प्रगति में सदैव अपना साहित्यिक सहयोग देने की चेष्टा की। सन् '३८ मे कांग्रेस शासन स्थापित होने के उपलक्ष में निराला ने लिखा था—

बहुत दिनों बाद खुला आसमान,
निकली है धूप हुआ खुश जहान।

उन्होंने अपनी राष्ट्रीय सरकार को जीवन के साधारणीकरण को ओर उन्मुख होने का भी संकेत किया था—

सहज-सहज पग धर आओ उतर,
देखें वे सभी तुम्हे पथ पर?
वह जो सिर बोझ लिए आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस-उस से बतला रहा
देखूं, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर?
उनके दिल की धड़कन से मिली
होगी तस्वीर जो कहीं खिली,
देखूं मैं भी वह कुछ भी हिली
तुम्हें देखने पर भीतर-भीतर!

इस उक्ति के द्वारा निराला ने शासन सत्ताधारी व्यक्तियों को सामान्य साधारण जीवन के स्नेह-सहानुभूति का पात्र बनने की सलाह दी। वास्तव में चुनाव के समय नेता लोग जनता से जिन सेवा-वचनों के द्वारा उसका वोट उगाहते हैं उनका स्मरण पद-प्राप्ति के बाद प्रायः भूल जाते हैं जो उचित नहीं। कवि ने जीवन की सहज स्वाभाविक गति का अनुरोध करके जनसाधारण के प्रति ममतालु बने रहने का बहुत ही सुन्दर आग्रह किया है। कांग्रेसी सरकार ने जीवन के समाजीकरण में कोई गति नहीं दिखलाई और जनता ज्यों की त्यों भूखी-प्यासी बनी रही। तब निराला ने फिर नेताओं की चेतना को उद्‌बुद्ध करने वाली बातें कहनी और लिखनी शुरू कीं। सन् '३८ की लिखी उनकी यह कविता अवलोकनीय है—

जला है जीवन यह
आतप में दीर्घकाल;
सूखी भूमि सूखे तरु
सूखे सिक्त आलबाल;
बन्द हुआ गुंज, धूलि—
धूसर हो गए कुंज,
किन्तु पड़ी व्योम उर
बंधु नील-मेघ-माल !

ग्रीष्म की दीर्घ और तीव्र तपन के परिणाम-स्वरूप ही आकाश में वर्षाकालीन बादलों का घटाटोप छाता है किन्तु उन बादलों को अपनी ऊँचाई में पृथ्वी की वेदना का अनुभव नहीं हो पाता। वे पृथ्वी की उपेक्षा करते हुए आकाश के गले का हार बनते हैं और केवल टक्कर लगने के बाद ही, ठोकर खाने के पश्चात् ही धरती को अपने पानी से सिक्त करते हैं, अन्यथा नहीं। नेताओं का भी प्रायः यही हाल होता है। जनता के विश्वास और चुनाव के बल पर वे उस पद पर पहुँचते हैं, पर वहाँ पहुँच कर वे जनता को भूल जाते हैं, और केवल ऊँचे पद का शृंगार करते हैं, बड़े-बड़े आदमियों को अपनाते हैं। बादलों की तरह हवा में किले बनाते हैं, पृथ्वी के यथार्थ जीवन की तरफ ध्यान नहीं देते।

आज तक कांग्रेस के नेताओं में किसी साधारण-वर्ग के व्यक्ति को स्थान नहीं मिला। नेताओं ने पूँजीपतियों का साथ नहीं छोड़ा और फलतः देश की जनता धीरे-धीरे उन पर से अपना विश्वास उठाती जाती है, क्योंकि उसे तो उस नेता की आवश्यकता है जो गरीबों और पीड़ितों का अपना हो, और जो राष्ट्र में समानता और सद्व्यवहार का प्रचार एवं प्रसार करे। भारत का कल्याण समाजवादी भ्रावधारा ही से हो सकता है, पर अभी तक कांग्रेस ने इसे अपना लक्ष्य नहीं बनाया। मेरा तो निश्चित मत है कि देश की आर्थिक उपज और भूमि तथा व्यवसाय का समाजीकरण हो जाने के बाद देश के कोने-कोने में फैली, साम्प्रदायिक विषमता का भी अपने आप अन्त हो जायगा और देश में सामूहिक सुख-शान्ति की स्थापना सहज सम्भव हो जायगी। निराला यदि कभी राजनीतिकों से वाद-विवाद में पड़े तो उन्होंने इसी नयी चेतना की बात सुझाने की चेष्टा की, उनके साहित्य में समाजवाद का स्वर बहुत ऊँचा और व्यापक है।

केवल राजनीतिकों से ही नहीं अपने साथी साहित्यिकों से भी उन्होंने समय-समय पर वाद-विवाद किया। वे कवि होने के साथ ही चिंतनशील सचेत दार्शनिक भी थे। उनके विचारों का गठन कई रूपों से हुआ। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक सभी विषयों के प्रति वे सबसे अधिक जागरूक कलाकार थे। उनके हृदय की विदग्ध अनुभूतियाँ जीवन की शतशः धाराओं में फूट उठी थी, सभी जगह उनकी विषय प्रतिपादन की शैली अटूट और अनोखी थी। निराला जी से श्री इलाचन्द्र जोशी की पहली भेंट 'समन्वय' आफिस कलकत्ता में हुई थी। साधारण परिचय के पश्चात् निराला जी ने पूछा था कि जोशी जी ने संस्कृत और हिन्दी के साथ बँगला भी पढ़ी है या नहीं। जोशी जी ने बताया कि उन्होंने बँगला का पूर्ण अध्ययन किया है। तब निराला जी ने हँसते हुए कहा कि तब तो रवि ठाकुर को—प्रिन्स द्वारकानाथ ठाकुर के नाती को भी अवश्य ही पढ़ा होगा। जोशी जी ने कहा—अवश्य, अवश्य। निराला जी ने तुरंत प्रश्न किया कि सौन्दर्य-प्रेमी संस्कृत-कवियों की तुलना में रवीन्द्र कहाँ तक ठहर पाते हैं। जोशी जी ने बताया कि वे इस दृष्टि से महाकवि कालिदास से भी आगे हैं, क्योंकि उनके सामने कालिदास-साहित्य तो है ही उन्होंने और भी विश्व-साहित्य का अध्ययन और मनन किया है। इस कारण वे काव्य-कला में कालिदास से किसी तरह कम नहीं बल्कि कुछ ज्यादा ही हैं। निराला ने पूछा कि वे सूर, मीरा और कबीर से भी क्या बड़े हैं। जोशी जी ने सकारात्मक उत्तर दिया कि निराला जी कुछ बिगड़ उठे और जमीन पर जोर से पैर पटकते हुए पूछा कि तो फिर वे तुलसीदास जी से भी बड़े हैं? जोशी जी ने उसी तरह पैर पटक कर उत्तर दिया कि जी हाँ, बड़े है। मामला बढ़ता हुआ देखकर स्वामी माधवानन्द जी ने दोनों को शान्त किया। रवीन्द्र कालिदास से बड़े हैं या नहीं, तुलसी से आगे हैं या नहीं के विवाद से एक बात का पता चलता है कि निराला जी काव्य के साथ कवि की जीवन-साधना का बड़ा भारी महत्व मानते थे। जीवन की सुविधाओं से रहित व्यक्ति की जीवन-साधना का उन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। रवीन्द्रनाथ की सामाजिक सुविधाओं का बाहुल्य निराला को, तुलसी की जीवन-साधना के सामने छोटा लगता था। यों जोशी जी भी तुलसी के प्रति अपार श्रद्धा रखते हैं और उन्हें रवीन्द्र से जरा भी छोटा नहीं मानते; पर बात-चीत की आवेश-आकुलता में टैगोर को बड़ा बताना भी कुछ अस्वाभाविक नहीं कहा जायगा। 'कला के विरह में जोशी बन्धु' मे भी साहित्य के सत्यों और रसों को लेकर निराला जी ने

जोशी-बन्धुओं को बहुत तीखा उत्तर दिया था। 'पंतजी और पल्लव' में भी निराला ने काव्य-कला की कसौटी पर पंत के काव्य को बड़ी निर्ममता से कसा था। मतलब यह कि सम-सामयिक-साहित्यिक विवादों में भी वे कभी पीछे नहीं रहे।

'प्रबन्ध-प्रतिमा' की भूमिका में निराला ने अपने विवादी निबंधों के लिए लिखा है—'लेखों में, अज्ञान, हेकड़ी, असाहित्यिकता के भी निदर्शन हैं। मैं चाहता तो छपते समय कुछ अंशों में उनकी नोकें मार देता, पर मनुष्य ज्ञान नहीं, इसलिए दुर्बलता की पहचान मैंने रहने दी। कई साहित्यिक और राजनीतिक आए हैं, जिन्हें मैं पूर्ण रूप से मर्यादित नहीं रख सका। इसके साथ जो कारण है, मैं उसे ही पकड़ने के लिए पाठकों से निवेदन करता हूँ; तब उसका अन्त हिन्दी के मौलिक साहित्य में होगा, जो अनायास लज्जा को परिधि को पार कर सकेगा। कबीर-तुलसी जैसे हिन्दी के योग्यतम रत्नों को बिगड़े काव्य के उदाहरण में मैंने पहले रखा है। जो लोग कबीर-तुलसी में बुरा देखने की कल्पना भी नहीं कर सकते, वे वहीं से मुझे भला-बुरा कहने लगेंगे। जो बात सुनना चाहते हैं, वे उनका समर्थन करने से पहले देखेंगे और समझेंगे, आलोचक का वहाँ कहना क्या है। पन्त जी ने अपनी आलोचना का जवाब लिखा था, बड़ी खूबी से अपना समर्थन किया था, इसी तरह जोशी-बन्धु भी समर्थित हैं; मेरा केवल यही कहना है कि मैं क्या कह रहा हूँ, वही पाठक समझ लें।' सन् '४० की लिखी यह भूमिका है, और इसके बाद फिर कभी निराला ने किसी इस तरह के वाद-विवाद में कोई भाग भी नहीं लिया, केवल अपने व्यंगों से व्यक्तियों और विषयों की विकृतियों पर घात-प्रतिघात करते रहे।

निराला ने प्रायः सभी सामयिक विषयों पर अपनी सम्मति प्रकट की है। छायावाद के प्रारम्भ के समय भाषा का प्रश्न एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में उपस्थित था। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के द्वन्द्व से निकल कर यद्यपि खड़ी-बोली की परीक्षा हो चुकी थी, किन्तु अभी इसके रूप का निर्णय बाकी था। लोगों की यह शिकायत थी कि छायावादी कविताएँ आसानी से समझ में नहीं आतीं, क्योंकि उनकी भाषा क्लिष्ट होती है। इस आक्षेप का उत्तर निराला ने इस प्रकार दिया था—'भाषा-क्लिष्टता से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न हिन्दी की तरह अपर-भाषाओं में नहीं उठते। हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने या बनाने वाले लोग साल में तेरह बार आर्त-चीत्कार करते हैं—भाषा सरल होनी चाहिए, जिससे आबाल-वृद्ध समझ सकें। मैंने आज तक किसी को यह कहते हुए नहीं

सुना कि शिक्षा की भूमि विस्तृत होनी चाहिए, जिससे अनेक शब्दों का लोगों को ज्ञान हो, जनता क्रमशः ऊँचे सोपान पर चढे।

एक सवाल राष्ट्र-भाषा द्वारा हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का उठता है। इसके लिए हिन्दी को भरसक असंस्कृत करने की जरूरत बतलाई जाती है। हिन्दुस्तानी-एकेडमी के पदवीधर पदाधिकारियों की ऐसी ही राय है। वे लोग स्वयं कुछ हिन्दी जानते हैं या नहीं, यह मत पूछिए, इसकी जाँच व्यर्थ है। उनकी राय सुन लीजिए। ऐसी भावना से प्रेरित हो कुछ कवियों ने कलम के कुल्हाड़े से राष्ट्रभाषा की लकड़ी से काव्य के कुछ चैले चीरे भी हैं जिनके मुकाबले 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठति अग्रे' बहुत सरस है। बड़े-बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिए। भाषा भावों की अनुगामिनी है। जो लोग साधारण भाषा के प्रेमी हैं, उनके लिए साधारण पुस्तकें रहेंगी ही। पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी पुस्तकों की तरह भाषा-साहित्य का भी स्तर तैयार रहेगा। गैर लोगों को अपने में मिलाने का तरीका भाषा आसान करना नहीं, न मधुर करना, उसमें व्यापक भाव भरना और उसी के अनुसार चलना है। यही स्वाभाविक खिंचाव खड़ी बोली की कोमलता तथा व्यापकता में आना चाहिए। (साहित्य और भाषा) 'प्रबन्ध पद्म'।

वास्तव में भावों के उपकरणों से निर्मित मानस-जगत् अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम स्वतः चुन लेता है। उसके प्रकाशित करने का तरीका बताना व्यर्थ है। रचना-शक्ति की निपुणता माध्यम के चुनाव में ही परिलक्षित होती और उसकी स्थिति कला में अपना खास महत्व रखती है। साहित्य के लिए भाषा भी ऐसा ही माध्यम है। कलात्मक चेष्टा की पूर्ति के लिए साहित्य को रूपकों, अलंकारों और स्वरों-शब्दों के उतार-चढ़ाव आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है। दर्शन, विज्ञान और राजनीति के समान निरलंकृत होकर साहित्य अपना सौन्दर्य खो बैठता है। भाषातीत भाव को भाषा में प्रतिष्ठित करने के लिए साहित्य में भाषा का प्रयोग भावानुकूल करना ही श्रेयस्कर होता है। सन्तान के लिए माँ के दूध के समान भाव के लिए भाषा भी स्वतः स्फूर्त होती है।

भावों की ही भाँति भाषा की भी एक संस्कृति होती है। शैली निर्माण से भाव-भाषा का सामंजस्य आवश्यक होता है। वस्तुतः भाषा के गठन का उपदेश उपहासास्पद है। फिर भी भारत के नेताओं ने भाषा को भी अपनी नीति की लाठी से हाँकना चाहा है। हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाने के प्रयत्न मे गाँधीजी

ने न जाने कितने प्रयोग और प्रचार किए । उनकी बात की, इस विषय में हम सहज ही उपेक्षा कर जाते हैं, क्योंकि वे न तो भाषा-प्रयोग के अधिकारी साहित्यक थे और न भाषा-विज्ञान के पंडित । वे एक राजनीतिक नेता थे, और उनके लिए अपनी नीति का महत्व साहित्य से अधिक था । इसीलिए वे कभी हिन्दी तो कभी हिन्दुस्तानी का तराना छेड़ते रहते थे । एक बार तो उन्होंने यह तक कह दिया कि जो उर्दू नहीं पढ़ता-लिखता उसके स्वदेश-प्रेम को भी सन्देह से देखा जाना चाहिए; यही नेतागिरी का आवेश है । निराला जी ने ठीक ही लिखा है—हिन्दी की सरलता के सम्बन्ध में बकबास करने वाले लोगों में अधिकांश को मैंने देखा—लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं । कम-से-कम हिन्दी से तो उनका तअल्लुक स्कूल से जब छूटा, छूटा ही रहा । फिर हिन्दी की विशेष शिक्षा प्राप्त करने की उन्हें जरूरत नहीं मालूम दी । जरूरत रही दूसरों को सिखलाने की । साधारण जनों का पक्ष लेकर वे बराबर अपने अज्ञान पर मिट्टी डालते रहे ।

यहाँ पर एक यह भी बात स्मरण करने लायक है कि भाषा का प्रश्न हिन्दी से हिन्दुस्तानी बनाने का प्रयत्न, किसी साहित्य-सेवी अथवा भाषा के विद्वान ने नहीं उठाया । बल्कि यह तमाशा केवल राजनीतिकों का रचा हुआ था । संसार के बड़े-बड़े साहित्यकों की भाषा कभी साधारण जनता की भाषा नहीं रही, क्योंकि साहित्य में सभी तरह की अभिव्यक्तियाँ होती हैं । तुलसी-कृत रामायण का इस देश में घर-घर प्रचार है, उसे सभी पढ़ते और आनन्द पाते हैं पर इसका आशय यह नहीं कि तुलसीदास ने रामायण बड़ी ही सीधी-सादी भाषा में लिखी है । भावों की गहराई के अनुसार रामायण की भाषा भी कहीं-कहीं इतनी उच्च और सारवती है कि बड़े-बड़े विद्वानों की भी समझ में आसानी से नहीं आती । उस ग्रन्थ के प्रचार का कारण रामचरित और रामभाव है । सूर भी कम कठिन नहीं । कबीर की तो भाषा उलटी है ही । इस प्रकार भावों के अनुकूल भाषा का बराबर प्रयोग होता आया है और होता रहेगा ।

'भाषा बहुभावात्मिका रचना की इच्छा मात्र से बदलने वाली देह है । इसीलिए रचना और भाषा के अगणित स्वरूप भिन्न-भिन्न साहित्यिकों की विशेषताएँ जाहिर करते हुई देख पड़ते हैं । रचना युद्ध कौशल है और भाषा तदनुरूप अस्त्र । इस अस्त्र का पारंगत वीर साहित्यिक ही यथासमय समुचित प्रयोग कर सकता । इस प्रयोग का सिद्ध साहित्यिक ही ऐसे स्थल पर कला का प्रदर्शन करेगा ।'

—भाषाविज्ञान (प्रबंध-प्रतिमा)

भाषा की विशेषता और उसकी भावानुकूलता का ध्यान न रख कर उसके स्वरूप को मनमाना मोड़ने-तोड़ने की सलाह देना उसी प्रकार अशोभन और अव्यावहारिक है जिस प्रकार हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए हिन्दुओं को मुर्ग-मुसल्लम खाने की सलाह देना। सुनने में आया था कि हिन्दोस्तानी तालीमी संघ में हिन्दू-मुसलमान शिक्षकों के सहभोज का भी प्रस्ताव था। जो भी हो इस देश के राजनीतिकों ने अपना गुरुडम चारों ओर इस प्रकार फैला रखा था कि उससे देश का दम घुट रहा था। ऐसे गुरु घोर कलिकाल में रहकर भी बात-चीत के समय सतयुग से नीचे एक पग भी नहीं रखते। दिल्ली की वह जगह जहाँ गाँधीजी ठहरते थे लोग भंगी कालोनी के नाम से ही जानते हैं, यह बिड़ला का विशाल मन्दिर-भवन है, यह बात प्रचार में नहीं आती। यही अन्तर राजनीतिकों की नीति और साहित्य में भी पाया जाता है। राजनीतिक प्रचार के माध्यम से असत्य को भी सत्य बनाने की चेष्टा करता है, किन्तु साहित्य का कार्य सत्य को सौन्दर्य के माध्यम से संचरित करना है। साहित्य का मूल उत्स एक व्यापक आनन्द है और आनन्द प्रयोजनातीत होता है। पर नीति का सम्बन्ध व्यक्ति के मन से होता है और मन अपनापन विस्तृत करना चाहता है। नीतिवादियों की दलबन्दी और नीति-विभिन्नता का यही कारण है। साहित्य में ऐसे दलों का अभाव रहता है। किसी विशेष नीति का प्रचारक साहित्य पढ़कर उसमें अपनी नीति का तत्व खोजता है; न पाने पर खीझता है और उसकी कदर्थना करते हुए उपदेश भी दे डालता है।

विश्व की अनन्त सृष्टि की तरह साहित्य भी आनन्द का प्रकाश है, उसके भीतर नीति, तत्व और शिक्षा का स्थान नहीं। उसमें किसी नीति की खोज करना बालू में तेल पेरने की भाँति ही निष्फल है। साहित्य की वास्तविक श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए हमें उसकी समग्रता पर ध्यान देना होगा, उसके मूल आदर्श पर विचार करना होगा। रामायण में किसी नीति या वाद विशेष की परितृप्ति खोजने का प्रयास उसकी आनन्दोत्पादिनी महत्ता को तिरस्कृत करके उसे एक नगण्य नीति-ग्रंथ बनाने से कुछ अधिक नहीं कहा जायगा। यदि नीति ही साहित्य का प्रमुख अंश होता तो उपदेश-प्रद प्रवचन और नीति-पूर्ण पद्य साहित्य की सीमा में न जाने कब प्रवेश पा गए होते, पर ऐसा हुआ नहो। कोरी नीति के आधार पर तो राम का वन-गमन ही अनीति-मूलक है, क्योंकि नीति-वादी का कहना है कि 'यो ध्रुवाणि परित्यज्य' उसकी विजय कभी सम्भव नहीं। परन्तु रामायण में राम विजयी होते हैं। जावालि ने सम्भवतः

इसी नीति-निपुणता के कारण राम-वन-गमन को व्यर्थ बताया था। कारण यह है कि नीति सबसे पहले अपना स्वार्थ देखती है। आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि वाली उक्ति भी किसी नीतिवादी की ही प्रवंचना का परिणाम है। व्यापक आत्मप्रकाश नीति की चहारदिवारी में कभी कैद नहीं होता। अस्तु, साहित्य के भाव और भाषा में नीति का उद्देश्य कभी सार्थक नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

हमारे देश में राजनीति और देश-प्रेम को एक ही मान लिया गया है, पर यह भ्रम मात्र है। सहज प्रेम और राजनीति में कोई सम्बन्ध नहीं। कवीन्द्र रवीन्द्र से और गांधी की नीति से कभी मेल नहीं बैठा, पर इसका आशय यह नहीं कि रवीन्द्र के हृदय में देश-प्रेम गाँधी से क्रम था। यदि किसी नीति विशेष का प्रचार रवीन्द्र ने अपनी कला-कृतियों में किया होता तो वह कृतियाँ अमरता की अधिकारी न होतीं और न उनसे विश्व-मानव को ही कोई सुख मिलता। स्वयं गाँधी का महत्व उनकी भाषानीति व राजनीति के कारण विश्व-व्याप्त नहीं हो सकता था। उनकी महत्ता का कारण समस्त मानवता के प्रति उनका व्यापक दृष्टिकोण ही है। साहित्य के व्यापक भावों का सम्बन्ध समस्त विश्व से होता है; उसके सामने राष्ट्रीयता की संकुचित सीमा अपने-आप तिरोहित हो जाती है। सच्चा कलाकार अपनी रचना हृदय की प्रेरणा से करता है न कि राजनीतिक की तरह आवश्यकता के अनुसार नीति-निर्धारण? जहाँ साहित्यकार ने नीति की प्रतिष्ठा को अपना मूल उद्देश्य बना लिया वहाँ उसकी साहित्यिकता का खर्व होना अनिवार्य हो जाता है। निराला जानते थे कि साहित्य का उद्देश्य हृदय के रस का विकास और उसके अनुभव की अभिव्यक्ति है, जो अपने में स्वतः पूर्ण होती है।

यहाँ स्वतः पूर्ण का तात्पर्य यह है कि उसके भीतर परिवर्तन या संशोधन की आवश्यकता नहीं। साहित्य जिस रूप के भीतर से प्रकाशित होता है वही उसका अपना रूप होता है। वहाँ शब्द और अर्थ का ऐसा सम्पूर्ण सम्बन्ध और सामञ्जस्य होता है कि एक को अलग करने से उसका पूरा रूप बिगड़ जाता है। महाकवि कालिदास ने इसी सत्य को इस प्रकार प्रकट किया है—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये

शब्द और अर्थ के नित्य एक रस रहने वाले सम्बन्ध का ही इसमें स्पष्टीकरण है।

अपने आक्सफोर्ड कविता विषयक व्याख्यान में ए० सी० ब्रेडले ने भी कुछ ऐसी ही बात कही है—This is also the reason why if we insist on

asking for the meaning of such a poem we can only be answered 'It means itself.'

इसी बात को कवीन्द्र-रवीन्द्र ने इस प्रकार लिखा है—ज्ञान की वस्तु को एक भाषा से दूसरी भाषा में परिवर्तन कर देने से कार्य चल जाता है। उसके विषय को लेकर नाना प्रकार के लोगों मे नाना भाषाओं द्वारा अनेक प्रकार से प्रचारित किया जाता है, किन्तु भावों के विषय में यह बात नहीं हो सकती। वे जिस मूर्ति का सहारा लेते हैं, उससे फिर अलग नहीं हो सकते।

जिस प्रकार एक अच्छा व्याख्याता अपना व्याख्यान देते हुए अपने हृदय के बहुत से आन्तरिक निगूढ़ भावों को जिन्हें वह अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता, कई प्रकार के इशारों से अभिव्यक्त करता है; उसी प्रकार साहित्यकार भी अपनी अन्तरतम, रहस्यमयी तथा अत्यन्त गम्भीर भावनाओं को एक मात्र इंगितों से ही प्रकट करता है। उसकी भाषा ऐसा रूप धारण कर लेती है जिसमें बहुत सी जगह इतनी व्यंजनाएँ आतप्रोत हो जाती है कि अर्थ का निर्णय करना तक कठिन हो जाता है। उसकी एक बात एक तरुणी की दोनों ओर से नोकदार, बड़ी-बड़ी आँखों से कुछ कम सुन्दर और चतुराई भरी नहीं होती, किन्तु आँखों की भाषा न समझने वाले सूखे नीतिवादियों के लिए उसकी कुछ भी महत्ता नहीं रह जाती। फिर भी भावुक व्यक्ति अपरूप भाव को रूप (भाषा) के द्वारा अभिव्यक्त करते समय वाणी की अनिर्वचनीयता का सदैव ही स्मरण रखता है। जिस प्रकार नारी की सुन्दरता लज्जा होती है, साहित्य की अनिर्वचनीयता वैसी ही होती है। वह अनुकरणातीत है। वह अलंकारों का अतिक्रमण कर जाती है, कभी अलंकारों द्वारा आछन्न नहीं होती।

अवांग मनसागोचर को भाषा में बाँधने के लिए साहित्यकार को चित्र और संगीत का सहारा लेना पड़ता है। वाणी के द्वारा जो नहीं अभिव्यक्त होता उसे चित्र के द्वारा उपस्थित करना पड़ता है। उपमा, तुलना तथा रूपक के द्वारा चित्रों के माध्यम से भाव प्रत्यक्ष होते चलते हैं—

वे किसान की नई बहू की आँखें,
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें।

इन पंक्तियों में निराला ने जो चित्र दिया है वह अभिव्यक्ति की चित्रोपमता का बहुत ही सुन्दर उदाहरण है। इसके अतिरिक्त शब्दों, मुहावरों और वाक्य-विन्यासों में साहित्यकार संगीत का भी सहारा लेता है, क्योंकि संगीत के द्वारा शब्दो में वह जीवन जग जाता है जो किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकता।

निराला के कई गीत, संगीत-प्राण होकर अधिक प्रवेगपूर्ण हो उठे हैं, संगीत और कविता के सुन्दर समन्वय के अनन्य गीत निराला की 'गीतिका' में संग्रहीत हैं। ताल, लय और गति के साथ बढ़ती हुई भाव-माधुरी मन को मुग्ध करने वाली है। उन गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका एक भी शब्द उधर-उधर कर देने से सारा सौन्दर्य ही नष्ट हो जाने की आशंका है। गीतों में भाषा की गठन और संगीत-मय स्वरों का चयन इतना सामञ्जस्यपूर्ण है कि उनमें किसी प्रकार के व्याघात सहने की क्षमता नहीं। संगीत और काव्य का एक उदाहरण—

स्पर्श से लाज लगी,
अलक-पलक में छिपी छलक
उर से नव-राग-जगी !
चुम्बन-चकित चतुर्दिक चञ्चल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख-छल
कभी हास, फिर त्रास, साँस-बल
उर-सरिता उमगी।
प्रेम-चयन के उठा नयन नव
विधु-चितवन, मन में मधु कलरव,
मौन पान करती अधरासव
कण्ठ लगी उरगी।
मधुर स्नेह के मेह प्रखरतर
बरस गए रस-निर्झर झर-झर,
उगा अमर-अंकुर उर-भीतर
संसृति-भीति भगी। (गीतिका)

सङ्गीत ने शब्दों में एक प्रकार की अर्थवाही झंकार उत्पन्न कर दी है जिसके द्वारा सहृदयों के हृदय-तार झंकृत होने लगते हैं। सङ्गीत स्वरों में एक ऐसा मृदुल कंपन भरने में समर्थ है, जो भावों को गति और चित्र को आकार देने में सहायक होता है।

क्या हिन्दुस्तानी भाषा में इसी भाव का यह सङ्गीतमय रूप प्रत्यक्ष हो सकता था ? हिन्दुस्तानी के विशारदों को चाहिए था कि वे कर्म के क्षेत्र में, रचना के माध्यम से भाषा-परिवर्तन का सवाल उठाते। घर के भीतर घुसे-घुसे केवल

आडम्बर पूर्ण उपदेशों से भाषा में परिवर्तन नहीं हो सकता, यह घोर सत्य है। निराला ने बहुत ही सरल भाषा का भी प्रयोग किया है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता !
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।
भूल से सूख ओंठ जब जाते
दाता-भाग्य-विधाता से क्या पाते ?
घूंट आंसुओं के पीकर रह जाते !
चाट रहे वे जूठी पत्तल कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।
ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच बूंगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम,
तुम्हारे दु:ख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा ! (परिमल)

मैं समझता हूँ कि हिन्दी भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाला पाठक भी इस कविता के भाव और अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ होगा। यह बात दूसरी है कि नेताओं के लड़के-बच्चे जो अमेरिका तथा इंगलैण्ड में अंग्रेजी शिक्षा पाकर भारत में अंग्रेजी पत्र निकालने लगे हैं, उनकी समझ में यह न आये, क्योंकि उन्होंने दुर्भाग्य से कभी हिन्दी का श्रीगणेश ही नहीं किया। मनुष्य का विकास उसके आचार के अनुकूल होता है; क्योंकि आचार यदि बीज है तो विकास अथवा विचार वृक्ष; आचार के अनुसार ही विचार का परिष्कार होता है। अतएव बीज (भाव) का विकास व्यक्ति की साधना-संस्कृति के आधार पर उसकी रचना-शक्ति (भाषा) का विकास भी आधारित रहेगा, यह स्मरण रखना होगा।

'व्यवहार में भाषा को भावों का माध्यम माना जाता है। किन्तु मुझे यहाँ एक सूक्ष्म संकेत करना है। भार ग्रहण करना और भारवाही होना, यह दोनों दो बातें हैं। भरत ने रामराज्य का भार ग्रहण किया था और गधा चन्दन का भारवाही होता है। ठीक उसी प्रकार भाषा जब भावाभिव्यक्ति के समय अपनी अनुरक्ति प्रकट करती दिखलाई दे तो उसे भारवाहिनी कदापि नहीं कहा जा सकता। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास अथवा तुलसी-सूर-मीरा की भाषा ऐसी ही है। वह जैसे उनके भावों को ग्रहण कर कृतकृत्यता का ही अनुभव नहीं करती, पुलकित रोमांचित हो-होकर इठलाती, बलखाती, बलैयाँ लेती चलती है। किन्तु उसे ही जब केशव, पजनेश आदि के सामने खींच-घसीटकर लाया जाता है तो वह बेचारी हाँफती, पसीना पोंछती, किसी-किसी तरह उनके विचारों का बोझ बर्दाश्त कर पाती है। निश्चित रूप से तब उसे भारवाहिनी की उपाधि ग्रहण करने को विवश होना पड़ता है। इस प्रकार भावों के माध्यम स्वरूप भाषा को दो कक्षों में रखा जा सकता है और उसे क्रमशः भावग्राहिणी तथा भाव-वाहिनी उपाधियों से अभिहित भी किया जा सकता है।

एक प्रकार और है। नर-सिंह रूप में जैसे मनुष्य और सिंह की आकृतियों का एकीकरण है अथवा गणेश की मूर्ति में गज-मानव-सम्मेलन दृष्टिगत होता है, किन्तु दर्शक की आँखों के आगे फिर भी यह सुस्पष्ट होते विलम्ब नहीं लगता कि कहाँ से कहाँ तक मानवीय श्री है और कहाँ से कहाँ तक सिंह अथवा हाथी की आकृति, उसी प्रकार कुछ कवियों में उपरिवर्णित भाषा के दोनों ही रूप मिलते हैं। आधुनिक कवियों में निराला जी की कविताओं में भाषा के उक्त दोनों ही रूप पृथक-पृथक प्रतीत होते हैं; उनके व्यक्तित्व का वासन्तिक विकास दोनों ही स्थानों में सुस्पष्ट अनुभूत होता है। निश्चय ही सूर और विद्यापति की कूटोक्तियों के सदृश भी उनके पद है, किन्तु उन्हें छोड़ देने पर भी सहृदयता की दृष्टि से वह न सूर के समीप आते है न वाग्वैदग्ध्य के अनुसार विद्यापति के निकट। सब मिलाकर उनकी भाषा-संस्कृति तुलसीदास से अधिक मेल खाती है।'—

(जानकी वल्लभ शास्त्री-आचार्य)

तुलसीदास ने रामचरित मानस, विनय पत्रिका, कवितावली आदि में विभिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। (एक ही कृति में भी प्रसंग के अनुसार उनकी भाषा बदलती चलती है) और निराला जी ने भी

परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, वेला जैसे काव्य-ग्रन्थों में भाषा-सम्बन्धी अनेकानेक कौशल प्रदर्शित किए हैं।

तुलसीदास की भाषा भावग्राहिणी है। उनकी रचनाओं को पढ़कर पता चलता है कि भावों का अनुसरण करती हुई भाषा अपने आप बिना किसी प्रयास के प्रयुक्त होती गई है। इस प्रकार निराला ने भाषा की भी एक स्वतंत्र सत्ता प्रतिष्ठापित की है जो न केवल भावों का वरन् अनुभूति का भी अनुगमन करती है। जिस प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिये शरीर का भी आचार-शुद्ध होना आवश्यक है उसी प्रकार विचार की शुद्धि के लिए भाषा का संस्कार भी अनिवार्य है। नये-नये भावों और विचारों को स्पष्ट करने के लिए निराला ने भाषा के नये-नये प्रयोग सामने रखे हैं। उनकी भाषा की प्रयोगात्मकता और सांकेतिकता बहुत ही सार्थक और सफल है। उन्होंने संस्कृत-शब्दों और समास-पूर्ण वाक्यांशों का प्रयोग बड़ी सरलता से किया है—

किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय उर तरु-पतिका

में क्लिष्टता का आरोप कदापि नहीं किया जा सकता।

गद्य में भी निराला की भाषा बहुत ही अर्थवाही और प्रसंगानुकूल चलती है। सामाजिक वास्तविकता को अभिव्यक्त करने वाली परिस्थितियों के चित्रण मे उनकी भाषा सब से अधिक बोधशील हो सकती है। सारा चित्रण अपने चारों ओर के वातावरण के साथ सजीव हो उठता है—'उतरता वैसाख। खलिहान में, गेहूँ, जव, चना, सरसों, मटर और अरहर की रासें लगी हुई हैं। गाँव के लोग मड़नी कर रहे हैं। कोई-कोई किसान, चमार-चमारिन की मदद से, माड़ी हुई रास ओसा रहे हैं। धीमे-धीमे पछियाँव चल रहा है। शाम पाँच का वक्त। सूरज इस दुनिया से मुँह फेरने को है। एक जगह घने आम के पेड़ के नीचे, सब जगहों से ज्यादा लाक रखी है—एक रास भी माड़ी लगी हुई—एक अच्छा पलँग और एक चारपाई पर लट्ठ रखे सिपाही बरूतावर सिंह थैली से तैयार किया रखा दोहरा निकाल रहा है, पलँग पर पटवारी लाला शहनाई लाल श्रीवास्तव खेतों की पैदावार लिख रहे है, बहुत कुछ अंदाजन। देखने पर मालूम देता है, यह जमींदार का खलिहान है। जमींदार के खलिहान की बगल में पटवारी के खेत की लाक लगी है। जमींदार ने तीन बीघे का खेत पटवारी को दिया है। गाँववाले जानते है—क्यों दिया है। फिर भी लाला शहनाई लाल सौ से ज्यादा दफे, जब गाँव आते हैं, रास्ता चलते गाँव

वालों को बुलाकर कहते हैं—किसानों के अच्छे खेत से बीघा पीछे दो रुपए ज्यादा लगान उनके खेत पर लगाया गया है—पुलिस और जमींदार अपने बाप को भी नहीं छोड़ते। —(चमेली नामक उपन्यास का अंश)

ऐसी ठेठ हिन्दुस्तानी भाषा लिखने में निराला की समानता आज का कोई दूसरा लेखक नहीं कर पाता। हर एक प्रयोग में वे एक नई शैली का निर्माण करते चलते हैं। समय-समय पर हिन्दी-उर्दू तथा हिन्दुस्तानी का मन-माना प्रयोग उनकी सब से बड़ी विशेषता है। संस्कृत-गर्भित शब्दों का प्रयोग भी वे वहीं करते हैं जहाँ भाषा-भाव की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा का उन्हें उन्मेष करना पड़ता है, अन्यथा उनकी भाषा सहज-सरल ही होती है। अपने काव्य 'तुलसीदास' में निराला ने संस्कृतगर्भित शब्दों का काफी प्रयोग किया है, फिर भी उनकी शैली को संस्कृत-शैली कहना अनुचित है, क्योंकि शैली का निर्माण केवल शब्द-चयन से नहीं वरन् अभिव्यक्ति के सम्पूर्ण गठन से होता है। वस्तुतः 'तुलसीदास' के छन्द की भाँति उनकी शैली भी एकदम नवीन और निराला की निजी देन एवं नूतन प्रयोग है।

विभिन्न शैलियों के निर्माता निराला को किसी का भाषा सम्बन्धी उपदेश भला कैसे प्रिय हो सकता था? 'जुही की कली' तथा 'राम की शक्ति-पूजा' एवं 'कुकुरमुत्ता' और 'बेला—नये पत्ते' का शैलीकार एक ही व्यक्ति है,—जानकर महान आश्चर्य होता है। संभव है कि आगे चलकर इन विभिन्न रचनाओं के एक ही रचयिता की इस विराट प्रतिभा से चकित होकर भाषा-विज्ञानी उन्हें कई रचनाकारों की रचनाएँ भी कहने लगें, जैसा कि कालिदास के ग्रंथों को लेकर लोग कुछ ऐसा ही कहने-सुनने लगे हैं। तब निराला अपनी अनेक शैलियों के रूप में अनेक व्यक्तियों के विधायक बनकर अपनी प्रतिभा को और अधिक व्यापक बनाते हुए भाषा-शैली की अनेकता का प्रतिनिधित्व कर सकेंगे। एक होकर सब में विहरण करने वाला कलाकार किसी की सिखाई रीति-नीति पर चलकर अपना विकास नही कर सकता। अस्तु, निराला ने भी राजनीतिकों की भाषा-सम्बन्धी संकुचित नीति की यदि उपेक्षा की तो ठीक ही है।

इस प्रकार हम देखते है कि भाव-भाषा सभी को लेकर निराला को बहुत बड़ा संघर्ष करना पड़ा। निराला के साहित्य-प्रवेश के समय साहित्य में ललना की लुनाई की जो लहर परिव्याप्त थी उसकी जगह पर पुसत्व का ओजस्वी अविरत प्रवाह संचालित करने में ऐसा संघर्ष उठ खड़ा होना भी स्वाभाविक था। काव्य की कोमल लघु लहरियों के ऊपर समुद्र का ओजमय

गर्जन-तर्जन स्थापित करने वाला काव्य-कामिनी-प्रेमियों का विरोधी बना तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? भक्तिमय अवधी अथवा आसक्तिमय ब्रजभाषा की परम्परा में अपने को न खपा सकने वाला महाकवि निराला, खड़ी बोली के निर्माण का अग्रदूत बना और उसने अपने नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा भी गढ़ी। पथ का निर्माण और उस पर प्रयाण दोनों कार्य उसे एक साथ ही करने पड़े। वस्तुत; कभी-कभी निराला ने अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य से इतनी सँकरी गली से भी अपने को आगे बढ़ाया कि लक्ष्य-भ्रष्ट व्यक्तियों को उसके द्वारा आगे बढ़ने में बहुत कठिनाई भी हुई और वे प्राय: निराला के विरोधी भी बन बैठे।

बद्रीनाथ और केदारनाथ के यात्री आज भी पथ की कठिनता की चर्चा चलाते हैं; पर भगवान शंकर की उस साहसिक सफलता का जो इन्होंने प्रथम बार इन स्थानों में जा कर पूरी की थी, इससे कुछ भी महत्व कम नहीं होता। यही हाल निराला की साहित्यिक यात्रा का भी है। खड़ी बोली के साहित्य का व्यक्तित्व जिस भाव-भाषा की संस्कृति और मुक्त-चेतना पर निर्मित हुआ है, उसका निर्माण करते हुए निराला को अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना पड़ा। कवि के ऐसे द्विविध निर्माण के परिणाम में जो साहित्य सामने आया है, उसमें हृदय एवं मस्तिष्क को अपार तृप्ति मिलती है, इसमें सन्देह नहीं। निराला का साहित्य एक ओर बुद्धि को चुनौती देता है तो दूसरी ओर रसोत्सुक हृदय को अपूर्व आनन्द भी देना उसी का काम है। उनका साहित्य 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' का अद्‌भुत उदाहरण है। जीवन का तीव्र आवेग, कला के पारदर्शी दहकते हुए द्रव्य और संघर्ष के सात्विक चिह्न उनके साहित्य के प्राण-प्रहरी हैं।

पूर्वार्द्ध बीसवीं शताब्दी के इतिहास, विशेषकर दूसरे महायुद्ध ने निराला के साहित्यिक प्रयोगों का निष्कर्ष मानवता के सामने प्रत्यक्ष कर दिया। फासिज्म ने राष्ट्रीयता के नाम पर मानव-मन की दुर्बलताओं को तथा उसके अपने-पन को विराट रूप देकर संसार के सामने जो ध्वंसकारी रूप खड़ा किया उसमें सामूहिक संस्कार के परिष्कार की कोई योजना नहीं थी, अत: अपनी अन्तर्निहित कमजोरियों के कारण वह स्वयं नाश को प्राप्त हुआ। अपने साथ उसने संसार को भी जर्जर और हताश कर दिया किन्तु उसके विपरीत सामूहिक कल्याण की भावना से ओतप्रोत समाजवाद सभी संघर्षों के बीच से निकलता हुआ संसार के सामने एक आदर्श के रूप में उपस्थित हो गया है। ऐसा लगता है मानो निराला की कल्पना का मानव समता के आधार पर सम्पूर्ण भौतिक और

नैतिक आधारों तथा मनुष्य की स्वार्थ-पूर्ण कमजोरियों को मिटाकर एक नये विश्व-राष्ट्र का स्वरूप निर्माण करने मे व्यस्त है, उसकी योजना और अन्तश्चेतना में मनुष्य के प्रकृत-रूप को प्रस्फुटित करने की शक्ति है । निराला का प्रारम्भ से ही यही उद्देश्य रहा है । आज के विश्व-जीवन का रुख देखकर यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि निराला समाजवादी यथार्थता के, कलात्मकता के जन्मदाता हैं, क्योंकि समाजवादी यथार्थता निराला की ही भाँति देश की सीमाओं का बन्धन स्वीकार नहीं करती ।

भारत की समाज-व्यवस्था ग्राम-केन्द्रित और कुटुम्ब-केन्द्रित है । इसलिए यहाँ का साहित्यकार जब तक इस ओर से उदासीन रहेगा तब तक वह जन-साहित्य का निर्माण भी नहीं कर सकता । निराला ने सबसे पहले इस तत्व को पहचाना और जनता से अपना संपर्क स्थापित किया । 'बेला' और 'नये पत्ते' की कविताओं की परिस्थितियाँ और पात्र प्रायः ग्रामीण हैं । इस प्रकार की कला का निर्माण तभी संभव होता है जब लेखक साधारण जनता के बीच में रहे, और उनसे तादात्म्य का बोध करे । निराला ने जनता के जीवन-संघर्ष में भाग लिया । युद्ध के समय वे पूंजीवादी समाज के खिलाफ बराबर लिखते रहे, और ऐसे समाज को प्रोत्साहित करते रहे जिसमें जनता स्वयं अपने भाग्य का विधायक बनती है । उनका साहित्य युद्धकाल में जनता के दुश्मनों के विरुद्ध अस्त्र का काम करता था और अब समाजवादी समाज की स्थापना में सहायता पहुँचा रहा है ।

मानवीय श्रम की महत्ता निराला के जीवन और कला का प्रधान आधार है, क्योंकि उनको जीवन पर्यन्त दैनिक जीवन-यापन की समस्या को लेकर श्रम-साधना करनी पड़ी । वे मनुष्य के स्वच्छन्द-श्रम की बड़ी महत्ता मानते थे, किन्तु हमारे देश में अभी श्रमशील व्यक्ति को समाज-निर्माण पर सोचने का भी अधिकार नहीं मिला, और ऐसी स्थिति में यहाँ का श्रम जीवन का अभिशाप बन गया है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस साहित्य का निर्माण साहित्य-कार के श्रम के क्रम से हुआ है वही सच्चा साहित्य है । निराला ने अपने जीवन की चेष्टाओं और व्यवहारों से श्रम को सहज स्वाभाविक बनाकर उसे कला का रूप दिया है, इसी कारण आगे आने वाले भविष्य में उनके साहित्य का मूल्य और महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा । पिछड़े और रूढ़िग्रस्त समाज में कलाकार अपने को सबसे अधिक तब व्यक्त करता है जब वह समाज से लोहा लेता है, उसके अनुचित नियमों और झूठी नैतिकता को मानने से इन्कार कर

देता है, और पूंजीपतियों के सहारे चलने वाली राष्ट्रीयता का विरोध कर के जनसाधारण का स्वर ऊँचा करता है। निराला ने यही किया। यथार्थ का आधार और क्रान्तिकारी रोमांचकता का समन्वय निराला के श्रम-सिद्ध जीवन की साहित्यिक सफलता है, क्योंकि समुदाय के श्रम में समान भाग लेना उन्हीं के जीवन का सौभाग्य रहा है। निराला का काव्य-व्यक्तित्व वह सक्रिय माध्यम है, वह उत्स है, जिसके द्वारा इस युग की कविता नाना रूपों मे निस्रित होती रही है।

सन् '४६ को परिवर्तित परिस्थितियों में जीवन के कठिन संघर्षमय धरातल पर खड़े होकर निराला ने किसानों और मजदूरों के उत्साह को बढ़ाने की पूरी चेष्टा की। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ जीवन के नव-निर्माण की आवाज उठाई और उसे एक ऐसा सांस्कृतिक बल प्रदान किया जो और किसी से संभव नहीं हुआ। छायावादी कवियों मे केवल निराला ही ऐसे है जिनकी व्यक्तिवादी भावुकता पचास वर्षों के जीवन-दर्शन के पश्चात युग-भावना से अभिभूति होकर धीरे-धीरे सामाजिक तादात्म्य में परिणत हो गई। वे किसी को अपने से अलग रखकर नहीं देख सकते थे। उन्हे लगता था कि वे सबके और सभी उनके हैं। इस सामूहिक चेतना के विकास के लिए निराला ने कारण भी उपस्थित किए हैं। मानवता के विकास-पथ की चरम परिणति दिखलाई है, जहाँ पहुँच कर उनका कवि इस सामाजिक बोध का अनुभव कर पाया—

वेदों का चर्खा चला.
सदियाँ गुजरीं।
लोग बाग बसने लगे.
फिर भी चलते रहे।
गुफाओं से घर उठाये।
ऊंचे से नीचे उतरे।
भेड़ों से गायें रखीं।
जंगल से बाग और उपवन तैयार किये।
खुली जबाँ बँधने लगी।
वैदिक से सँवर-दी भाषा संस्कृत हुई।
नियम बने, शुद्ध रूप लाये गये,
अथवा जंगली सभ्य हुए वेशवस से।
कड़े कोस ऐसे कटे।

खोज हुई, सुख के साधन बढ़े—
जैसे उबटन से साबुन।
वेदों के बाद जाति चार भागों में बँटी,
यही रामराज है।
वाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोड़ी,
छन्दों में गीत रचे, मन्त्रों को छोड़कर,
मानव को मान दिया,
धरती की प्यारी लड़की सीता के गीत गाये।
कली ज्योति में खिली
मिट्टी से चढ़ती हुई।
'वर्जिनस्वैल', 'गुड अर्थ', अब के परिणाम हैं।
कृष्ण ने भी जमी पकड़ी,
इन्द्र की पूजा की जगह
गोवर्धन को पुजाया;
मानवों को, गायों और बैलों को मान दिया।
हल को बलदेव ने हथियार बनाया,
कंधे पर डाले फिरे।
खेती हरी भरी हुई।
यहाँ तक पहुँचते अभी दुनिया को देर है।

दुनिया अभी इस समाजीकरण पर नहीं पहुँची पर कवि तो समाज का अगुआ होता है, इसलिये उसने इसका ग्रहण स्वीकार कर लिया। यह कौन नहीं जानता कि जो कविता वेदों में है वह उपनिषद् में नहीं, और जो सोलहवीं सदी में थी वह अब नहीं, आज नहीं। इसी प्रकार जो साम्राज्यवादी युग में थी, वह इस समाजवादी युग में नहीं हो सकती। ऊपर की कविता में काव्य के समयानुसार परिवर्तित होते चलने की बात पर निराला ने जोर दिया है और स्वयं अपने काव्य को युग की आवश्यकताओं के अनुसार मोड़ा है। निराला ने अपनी नवीन कविताओं में जनता के जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक अवस्थाओं का परिपूर्ण चित्रण किया।

जो लोग निराला की पूर्ववर्ती कविताओं के प्रेमी हैं उनको उनकी परवर्ती कविताएँ बहुत महत्वपूर्ण नहीं लगतीं, पर सम्भवतः ऐसे महानुभावों के पास जीवन की गत्यात्मकता और परिवर्तनशीलता का भी महत्व नहीं हो सकता।

यह प्रत्यक्ष है कि जीवन का मूल्य परिवर्तित होता चलता है। जो भारत सन् '२० में था वह सन् '४३ में नहीं रहा। साहित्य में भी परिवर्तन प्रत्यक्ष है। महाकवि की क्षमता इसी में है कि वह किसी एक युग का प्रतिनिधि न होकर युग-युगों का प्रतिनिधि होता है। जीवन को सामाजिक दशा की स्थिति में विकसित करने की क्षमता बहुत ही महत्वपूर्ण और प्रगतिशील मानी जाती है। ऐतिहासिक विकास को आत्मसात करना ही जीवन की सबसे श्रेष्ठ चेतना है। परिवर्तित जीवन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए नये-नये जीवन के मूल्यों और मानों को अपनाते चलना ही तो मानवता के उत्तरोत्तर विकास का रहस्य है। निराला ऐसे ही विकासशील कवि हैं क्योंकि उनकी अनुभव-शक्ति बहुत तीव्र और उनकी सहानुभूति बहुत व्यापक है। जितनी शक्ति और सजगता के साथ उन्होंने छायावादी भावधारा का उपयोग किया, उतनी ही सामर्थ्य के साथ उन्हीने प्रगतिशील स्फूर्तियों का भी उपयोग किया। जीवन के साथ-साथ चलने का उनका साहित्य-स्वभाव था।

आधुनिक काव्य का शैशव, यौवन और प्रौढ़ रूप निराला की लेखनी के समर्थ सहयोग से परिपूर्ण हुआ है, उसकी प्रचंड प्रतिभा ने इसके स्वरूप को संजोया और उसका शृंगार किया है। छायावादी और प्रगतिवादी दोनों युगों के वे बहुत ही बलिष्ठ कलाकार हैं, क्योंकि दोनों युगों की मूल विशेषताएँ उनके काव्य में निहित हैं। छायायुग की प्रगतिशील शक्तियों का उभार उनकी कविता में सबसे अधिक पाया जाता है। अनुभव के साथ चिंतन का महत्व काव्य में सबसे पहले निराला ने स्वीकार किया। विशेष प्रकार की काव्य-प्रक्रिया और नई शैली की नई टेकनीक निराला की मौलिक देन है, क्योंकि उनका मनन-चिंतन अथवा दर्शन किसी अध्ययन का परिणाम नहीं बल्कि एक अनुभूतिजन्य विवेक है। वे कभी दर्शन को काव्यबद्ध नहीं करते थे वरन् अनुभूतियों को दार्शनिक रंग देने की चेष्टा करते थे। पंत जी, 'युगवाणी' में दर्शन को काव्य-रूप देने की कोशिश में कवि का आधार अनुभूति ही खो बैठे, पर निराला जी ने कभी ऐसा नहीं किया क्योंकि कवि के लिए यह आवश्यक है कि उसकी अनुभूति-शक्ति व्यापक और विस्तृत हो। निराला ने कभी एक भी शब्द का प्रयोग अपनी मानसिक बोधवृत्ति के आधार पर नहीं किया, उनके शब्द-शब्द में अनुभव का सार भरा-पूरा है। शब्दों का सार जीवन के अनुभव के बाद ही संगठित होता है, निराला ने इसे कभी नहीं भुलाया। उनकी शब्द-शक्ति अत्यन्त प्रबल और आवेगमयी है। अनुभूति के तीव्र प्रभाव का निदर्शन निराला के मुक्त छन्दों में प्रत्यक्ष है,

और आज का तो छन्द ही मुक्त छन्द बन गया है। पर निराला ने इसका प्रयोग आज से करीब चालीस वर्ष पहले ही बड़ी सफलता के साथ किया। आज भी भावानुकूल प्रभावोत्पादकता और उसके अनुसार गति-लय और प्रवाह को मुक्त-छन्द में संयोजित करने की क्षमता उन जैसी किसी दूसरे मे नहीं।

आशय यह कि दार्शनिक चेतना के साथ यथार्थ अनुभूति का बोध निराला के काव्य की सब से बड़ी विशेषता है। भावात्मक स्थितियों के साथ स्वर-सामंजस्य के द्वारा चित्रात्मकता का उद्घाटन उनकी अपनी निजी कला है। 'विधवा', 'भिक्षुक' शीर्षक 'परिमल' की कविताओं में कवि ने एक चित्र खड़ा किया है जिससे उसकी अनुभूति स्वतः सप्राण हो उठती है। 'बादल राग', 'वह तोड़ती पत्थर' में पूंजीवादी सभ्यता के जिन रूपों का चित्रण निराला ने किया है, सम्पूर्ण छायायुग में वैसा चित्रण खोजने पर भी नहीं मिलेगा। निराला ने अनुभूतियों की व्यापकता के साथ उनकी अभिव्यक्ति के विधान भी आविष्कार किये है, इसलिए उनकी भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त हुई हैं। अनेक प्रकार के कलात्मक विधान उनकी प्रतिभा की उच्चता के उदाहरण ही तो हैं। बीच-बीच में वाक्-विदग्धता, वाक्-समावेश और हास-व्यंग मानो उनकी अपनी चीज है। 'कुकुरमुत्ता' मे हास्य-व्यंग, नये विधान और उपमान, मानसिक परिवर्तन के अनुरूप भाव-भाषा में परिवर्तन, युग की समस्त दशाओं की पकड़ बड़े ही रोचक ढंग से कवि ने अभिव्यक्त की है। अर्थगत अधिकार की बन्दी मानवता का यह चित्रण अपने ढंग का अनोखा और आकर्षक है।

दूसरे महायुद्ध के बाद से उनकी सामाजिक चेतना मे और भी तेजी आ गई, यों वे प्रारम्भ से ही बहुत सजग कलाकार थे। इस युग की विषम और स्वार्थ-पूर्ण अनुभूतियों ने उनकी कला को भी परिवर्तित किया और शायद इसीलिए युगप्रवर्तक विशेषण भी उन्हीं के लिए ठीक बैठता है। आज की विषमता और नारकीयता से उत्तेजित भावों को निराला ने अपनी नई कविताओं में सँजोकर युग के सामने उसके वास्तविक स्वरूप को खड़ा करने मे पूरी सफलता पाई। 'बेला' और 'नये पत्ते' की कविताओं में नैतिकता, नीति और सामाजिकता के ढोंग का जो भंडाफोड़ निराला ने किया है, वह उनकी निर्भीकता और काव्य-शक्ति दोनों का परिपुष्ट प्रमाण है।

युग की यथार्थ समस्याओं के स्पष्टीकरण और उनके समाधान के अनुसंधान में यथार्थ शैली भी अनिवार्य हो उठती है, चाहे वह किसी को भली लगे या

बुरी। निराला ने इन कविताओं में एक प्रौढ़ यथार्थ शैली को अपनाया है। 'प्रेम-संगीत' और 'गर्म पकौड़ी' जैसी कविताएँ इस युग की अमर रचनाएँ हैं। 'गर्म-पकौड़ी' में वर्ग-प्रियता और वर्ग-संघर्ष की भावनाओं को लेकर जिस वर्ग-चेतना की ओर कवि ने संकेत किया है, वह आज के जीवन की सब से बड़ी समस्या है। फिर भी इन कविताओं को महत्वहीन मानने वाले आभिजात्य के उपासक पूँजीपतियों की कमी नहीं। जो भी हो, जिस कलात्मक उत्कर्ष के साथ निराला ने इन कविताओं में युग की प्रखर और प्रत्यक्ष प्रवृत्तियों का चित्रण किया है, उस जोड़ की कला के वे एकमात्र नायक हैं। अनुभूति के सामाजिक होने पर उसका वस्तून्मुखी हो जाना स्वाभाविक होता है क्योंकि कल्पना के बल पर समाज का चित्रण संभव नहीं हो सकता, इसलिए कवि को समाज के बीच से प्रतीक के रूप में कुछ वस्तुएँ चुनना आवश्यक हो जाता है और सम्भवतः स्वस्थ काव्य के लिए इतनी वस्तुमत्ता अनिवार्य भी है। कुकुर-मुत्ता, गर्म पकौड़ी, बाह्मन का लड़का, रानी और कानी, खजोहरा आदि ऐसे ही प्रतीक हैं जिनको लेकर निराला ने अपनी मुख्य-प्रतिभा को शब्द-स्वरूप दिया। ये प्रतीक स्वयं काव्य के विषय न होकर केवल युग की समस्याओं के काव्य-पर्याय हैं। यदि समस्याओं को लेकर उन्हे ज्यों का त्यों विश्लेषित किया जाता तो वह काव्य न होकर कुछ और होता, पर निराला सबसे पहले कवि तब बाद में कुछ और हैं।

बाद की कविताओं मे निराला ने एक प्रकार का विशेष रचना-कौशल और भी दिखाया है। जगह-जगह पर विरोधाभास, विस्मयजनक प्रयोग, सहसा भावोत्तेजन मे उन्होंने कमाल हासिल किया है। और विट के बिना तो वे चल ही नहीं सकते थे। काव्य की ऐसी विशिष्टता उनमे एकदम से नहीं जगी, वे शुरू से ही इस ओर उन्मुख रहे हैं। सन् '३७ की लिखी कविता 'ठूँठ' में उनकी इस कला का बीज रूप पाया जाता है, जिसका विकास '४७ में पूर्ण हुआ है—

ठूँठ यह है आज।
गई इसकी कला,
गया है सकल साज!
अब यह बसंत से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,

झरते नहीं यहाँ दो प्राणियों के नयन नीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद !

इसके अतिरिक्त 'परिमल' से लेकर 'अणिमा' तक अन्य अनेक ऐसे उदाहरण हैं। काव्य में ऐसे प्रभावों का उत्पन्न करना बहुत कठिन होता है, क्योंकि इसके लिये काव्य-प्रतिभा के साथ-साथ आलोचक की तथ्यपूर्ण मनीषा भी आवश्यक होती है। निराला में दोनों का समन्वय पाया जाता है। 'नये पत्ते' में उनकी यह कला अपने चरम विकास को छूती है, क्योंकि इसमें निराला के व्यंग का विशेष विकास और प्रकाश सामने आता है।

व्यंग की सृष्टि साहित्य में सदैव प्रायः दो कारणों से होती है—एक का कारण व्यक्तिगत होता है तो दूसरी का आधार सामाजिक स्थिति रहती है। पहली में व्यक्ति पर आक्षेप रहता है तो दूसरी में समाज पर। कहना न होगा कि निराला का व्यंग व्यक्ति पर न होकर समाज पर ही रहता है; व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष को लेकर साहित्य में व्यंग-वमन करने वालों में भगवतीचरण वर्मा अग्रणी हैं तो समाज पर कठिन व्यंग-बौछार करने वालों में निराला सबसे आगे हैं। भगवतीचरण वर्मा की कविता 'राजा साहब का वायुयान' और निराला की कविता 'राजा ने अपनी रखवाली की' के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट है। पूँजीवादी सभ्यता के दुष्परिणाम और राजनीतिकों की ढोंगी मनोवृत्ति तथा समाज की अपरिणामदर्शी कृत्रिम नैतिकता निराला के व्यंग की मूलाधार है। जीवन की विपन्न स्थिति और मानवोचित साधारण अधिकारों के अपहरण की अनुभूति से निराला के लिए व्यंग एक स्वाभाविक प्रक्रिया सा हो उठा है, किन्तु भावुक उत्तेजना को दबाकर उन्होंने एक तटस्थ परीक्षण करने के बाद ही व्यंग का उपयोग किया है। उनके व्यंगों में स्वच्छ निर्वैयक्तिक भावधारा का प्रखर प्रवाह बड़ी शान से इठलाता चलता है जिसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष की कोई गंध खोज सकना नितान्त असम्भव है। उनके व्यंगों के उपादान कभी कम नहीं पड़ते थे, क्योंकि समाज के साथ वे स्वयं निरन्तर गतिशील थे।

यह ठीक है कि नेता, ब्राह्मण, पुरोहित, पूँजीपति, शासक और पदवीधर तथा शोषक सभी उनके व्यंगों के शिकार बने, किन्तु उनका लक्ष्य व्यक्ति न होकर सब जगह समाज ही रहा, यह निर्विवाद है। 'नये पत्ते' पढ़कर मैंने कहा—"निराला जी इसमें तो आपने किसी को नहीं छोड़ा, प्रायः सभी प्रकार के व्यक्तियों पर आक्षेप किया है। 'बापू यदि तुम मुर्गी खाते' वाली कविता का

रहस्य अब मेरी समझ में आ गया।" निराला जी ने तुरन्त उत्तर दिया—"क्या कहूँ तुम भी ऐसी बात कहते हो, वहाँ व्यक्ति का प्रश्न नहीं, क्योंकि मेरे सामने कविता लिखते समय व्यक्ति कभी नहीं आता, मैं तो पूरे समाज को देखता हूँ। व्यक्ति से मुझे लेना एक न देना दो। इसलिए मुर्गीवाली कविता मैंने अपने किसी संग्रह में नहीं दी। याद रखो व्यक्तिगत व्यंग और आक्षेप करना भाँड़ों का काम है, मैं भाँड़ नहीं कवि हूँ। यह ठीक है कि लालच में आकर भाँड़ स्तुति भी करता है, गाँधी पर बहुत सी कविताएँ इसी तरह की लिखी भी गई हैं, पर मैंने न स्तुति की, न व्यंग लिखा। हाँ, देश की राजनीतिक प्रगति से मुझे संतोष नहीं रहा और उसकी पोल का ढोल मैंने अवश्य बजाया है।"

वास्तव में निराला जी के ये शब्द उनके स्वभाव और हृदय को व्यक्त करने वाले हैं। इतनी बड़ी प्रतिभा का व्यक्ति कभी व्यक्तिगत बातों की प्रतिक्रिया से काव्य-प्रेरणा ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि केवल संपर्क में आने वाले व्यक्तियों की कथा कहना ही उसका उद्देश्य कभी नहीं हो सकता, वह तो सम्पूर्ण समाज का संरक्षक और सन्देशवाहक होता है। सामाजिक कुरीतियों और जीवन-व्यापी शठताओं के प्रतीक, व्यक्ति-रूप महापशुओं ने यदि निराला के व्यंगों में व्यक्तिगत आक्षेपों की आरोपना की तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

निराला के निकट संपर्क में आने वाले भली-भाँति जानते हैं कि वे अपने व्यक्तिगत जीवन में बहुत ही सहज-सरल और अत्यन्त उदार थे। पर समाज और संसार के ढोंग भरे नीति-अंश पर वे प्रारम्भ से ही व्यंग करते रहे, यह भी उतना ही सत्य है। उनके दूसरे उपन्यास 'अलका' में जो प्रथम महायुद्ध के बाद प्रकाशित हुआ था, समाज के प्रति बहुत ही कटु व्यंग पाए जाते हैं। 'सुराज' का अर्थ न जानने वाले किसानों के साथ भारत में जो अत्याचार जमीदारों ने, शासकों ने तथा सरकार से मिलकर जनता का रक्त चूसने वाले समाज के पंडों ने किया था और करते जा रहे थे, उसका चित्रण निराला ने स्पष्ट रूप से इस उपन्यास में किया है। उस युद्ध में पूँजीपतियों की लोलुपता और साम्राज्यवादियों की अधिकार-पिपासा के लिए निरीह तथा श्रमजीवी जनसाधारण को जो पीड़ा पहुँचाई गई थी उसका विरोध करने में निराला कभी पीछे नहीं रहे। किन्तु इस द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका उससे शतशः भयानक होकर आई और तब निराला को अपने व्यंग और भी तीखे करने पड़े तो कुछ अस्वाभाविक नहीं।

आज का संसार श्रेणियों में विभाजित है। वर्ग-संघर्ष का रूप आज जीवन में, राजनीति में, समाज में—परिणामतः साहित्य में भी तीव्रतर हो उठा है। प्रायः सभी साहित्यकार भी किसी न किसी दल का आश्रय ग्रहण करने के लिए बाध्य हैं, यदि स्वतः वे ऐसा नहीं भी करना चाहते तो उन पर तरह-तरह के राजनीतिक दबाव दिए जाते हैं। भारत का राजनीतिक वातावरण और भी दूषित और स्वार्थगत है। निराला ने इसलिए यहाँ के नेताओं की भी खासी खबर ली है, उनका विरोध किया है। काँग्रेस की नीति में पूँजीपतियों का प्राधान्य निश्चय सब को बुरा लगता था, पर निराला को छोड़कर किसी अन्य कवि में उसके विरोध में खड़े होने का साहस नहीं हुआ। सब लोगों को आशा थी कि द्वितीय महायुद्ध के बाद सामान्य जनता के हितों के लिए भारतीय नेता लोग भी प्रयत्नशील होंगे, पर यह आशा पूरी नहीं हुई और काँग्रेस ने समूह को छोड़ कर दलगत अधिकारों की रक्षा में, पूँजीपतियों की सहायता में अपने को समाहित कर दिया और स्वभावतः जनता को क्रान्ति की अपेक्षा समझौतों के अनुकूल उपदेश देना शुरू कर दिया। ऐसी स्थिति में निराला जैसे जन-प्रेमी कलाकार का देश के वातावरण के प्रति व्यंग अवश्य ही उचित कहा जायगा।

यह बड़ी ग्लानि और लज्जा की बात है कि देश के राजनीतिक जीवन में अभी तक कोई गुणगत परिवर्तन नहीं आया, केवल परिणामगत परिवर्तन का नाटक चल रहा है। देश के जीवन में क्रान्ति और रक्षणशीलता का द्वन्द्व साहित्य में भी प्रत्यक्ष है। असम्पूर्ण और जड़ता-ग्रस्त जीवन को मर्माहत करने के लिए साहित्यकार बाध्य है। भारतीय जीवन मे आज जैसी विषमता कभी नहीं थी और फिर इस विषमता में साहित्यकार की स्थिति और भी भयानक हो गई है। राजनीतिक उसे अपने प्रचार का साधन बनाना चाहते हैं, पूँजीपति उसे अपना पिट्ठू बनाना चाहते हैं, समाज में उसकी अपनी कोई स्थिति नहीं। न तो वह प्रथम वर्ग की तरह सुख से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है और न बेबसों की तरह भीख माँग सकता। उसे इन दोनों के बीच मे पिस-पिस कर जीना पड़ता है।

एक युग था, जब वाल्मीकि और व्यास ने ससार से विलग रह कर अपने काव्य की सृष्टि की थी, किन्तु आज वैसा सम्भव नहीं है, क्योंकि कलाकार को विश्व के तुमुल संग्राम और संघर्ष का सामना करना पड़ता है। कालिदास के काव्यों में साधारण जीवन-यापन की असुविधाओं का दुख बहुत कम चित्रित हुआ है, क्योंकि उस समय आज की तरह अन्न और वस्त्र का अभाव नहीं था

और न एक दूसरे के शोषण का ही इतना आधिक्य था। तुलसीदास के काव्य में भी अन्न-वस्त्र की इतनी पीड़ा नहीं मिलती, वह अवस्था भिन्न थी, समाज का अन्तर उतना प्रगाढ़ नहीं था। दो संस्कृतियों के घात-प्रतिघात के परिणाम-स्वरूप जनता का हृदय क्षुब्ध था, जिसका संकेत तुलसी के काव्य मे पाया जाता है। आशय यह कि अपने युग की चेतना का निदर्शन उस समय के काव्य में आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी होता है। जो कलाकार अपने युग को छोड़कर कल्पना-परिचालित एवं परिश्रमसाध्य कला निर्माण करता है, उसकी कृति शुष्क और निस्प्राण रहती है। निराला के साहित्य मे युग इस रूप से व्याप्त है कि उसे युग-दर्शन की भी उपाधि दी जा सकती है। उसमें जाति, श्रेणी तथा दल का विभाजन नही, वह सब के लिए समान रूप से सुखकर और सुलभ है। साहित्य का यही स्वभाव और साहित्यकार की यही साधना है।

जिस समय समाज में पूँजीपति और श्रमिक के जीवन में इतना अन्तर नहीं था उस समय राष्ट्रीयता का समावेश काव्य में शोभा भी देता था, पर आज का कवि यदि गुप्त जी की 'भारत भारती' या माखनलाल जी की 'फूल की चाह' लिखे तो उसे बेसुरा राग ही कहना उपयुक्त होगा। आज का साहित्य राजनीतिक स्थिति के सुधार के लिए शासक से प्रार्थना नहीं करता, ईश्वर का आधार नहीं खोजता बल्कि समाज की भीतरी तह में पैठ कर विद्रोह की आग भड़काता है और अधिकारों की माँग सामने रखता है—उन्हे अपने बल से ग्रहण करता है। भारत में किसान और मजदूर समाज के विशेष अंग हैं और उन्हीं को इस कुहाछन्न अवस्था का शिकार भी बनना पड़ता है, अस्तु उनके जीवन मे प्रवेश करके कलाकार उनके भीतर वर्तमान अव्यवस्था को तोड़ फेंकने की शक्ति जगाता है। निराला ने भी यही किया। उनका साहित्य इनकी समस्याओं को अपना कर एक नवीन उत्साह भरने की चेष्टा करता है और इनके विरुद्ध वालों पर व्यंग करता है, जो श्लाघ्य है। आज के साहित्यकार का यही युग-धर्म है।

कलाकार के सम्मुख सारा युग उपस्थित है, वस्तुतः उसकी अभिव्यक्ति में युग-सत्य का निहित न रहना असम्भव है। इसी युग-भावना को निर्माण की शपथ मंगल से मंडित करता हुआ साहित्यकार अपना सृजन करता है। ऐसा न करने से उसके साहित्य का कुछ महत्व नहीं रह जाता है। आज की स्थिति में—संक्रान्ति-काल में यदि साहित्यकार की मनःस्थिति न बदली तो वह जनता का प्रतिनिधि नहीं बन सकता, साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है। आज के साहित्य में स्वर्णिम अतीत का रुदन और प्रणय-कल्पना तथा भगवत-भजन का

ढोंग हास्यास्पद लगता है। आज तो इस बात की आवश्यकता है कि साहित्य भी युग के स्वर के साथ स्वर मिला कर सारे युग को—युग की सामाजिक अवस्था को आगे बढ़ाए। निराला ने अपने साहित्य में इस ज्वलन्त सत्य की कभी उपेक्षा नहीं की, इस कारण वे युग के प्रतिनिधि रहे। आज का समाज निराला के साहित्य से अपनी गति की प्रेरणा प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ता रहा है, इससे बड़ी सफलता किसी और तरह सम्भव नहीं।

जिस प्रकार एक दिन नीत्शे ने क्रिश्चियन मत के बचे हुए 'नीति' भाग पर खुलकर धावा बोला था उसी प्रकार निराला ने देश की 'नीति' पर धावा बोला। यहाँ की राजनीति में गाँधी जी के प्रभाव से जो थोथी नैतिकता का आवरण पड़ गया है उसे निराला ने अपनी कलम की नोक से फाड़ने की पूरी कोशिश की, क्योंकि गाँधी ने प्रायः अकाल-भूकम्प को ईश्वर का क्रोध कह कर उसे जनता के गले मढ़ने की नीति से मनुष्यों में एक प्रकार की असमर्थता भरने की जो चेष्टा की वह इस दीन देश के काम की नहीं रही। वह ईश्वर जो जनता को पुरस्कार देता है, दण्ड देता है और जिसके उद्देश्य बिलकुल मनुष्यों के समान राग-द्वेष परिचालित हैं उसकी उपेक्षा आवश्यक है, क्योंकि ऐसा ईश्वर मानवीय दुर्बलताओं का प्रतीक-मात्र है। ऐसे व्यक्तिगत ईश्वर की विदा के साथ आदमी की पातकी होने की सम्भावनाएँ भी उठ जायँगी और परलोक की चिंता छोड़कर वह इस लोक की सफलता के लिए अपना सारा पुरुषार्थ लगाने का आदी बन जायगा। ईश्वर के नाम पर मनुष्य की स्वतंत्रता का अपहरण भी न हो सकेगा और विधि-निषेध के कृत्रिम ढंग अपने आप ठहर जायेंगे। राजनीति में ईश्वर का पचड़ा लगाना उचित नहीं, नीति का उगाना उचित नहीं। अपने जीवन का ध्येय मनुष्य को स्वयं निश्चित करना चाहिए नाकि किसी स्वर्ग में बैठे ईश्वर की मरजी से। एक व्यक्ति के नाते सब का समान आदर ही ठीक है। किसी की पूजा और किसी की कदर्थना ही सारी विषमताओं की जड़ है।

भारत की आधुनिक विपन्नता और राजनीतिकों की सम्पन्न स्थिति में निराला ने यह पहली आवाज लगाई कि नेता का काम अनुयायियों को बैल की तरह हाँकते चले जाना उचित नहीं बल्कि जन-साधारण को यह अधिकार होना चाहिए कि वे स्वयं अपना मार्ग प्रशस्त करें। यदि विकासवाद का सिद्धान्त मान्य है, तो निराला का ऐसा ही विश्वास है। इसलिए अपने साहित्य के द्वारा जन-सामान्य को सुविधा, सम्मान और सुधार का जो प्रयत्न उन्होंने किया है,

वह आधुनिक युग की जड़ता को सुई की चुभन के समान गतिप्रद सिद्ध हुआ है, यह सच है।

इस सामूहिकता की उद्‌भावना में निराला को अनेक व्यक्तियों और दुःखों का सामना करना पड़ा, किन्तु उन्होंने इसकी चिंता नहीं की। कर्तव्यानन्द को वे सब सुखों की समष्टि मानते थे। हिन्दी का यह अकेला ही कवि है जिसके विषय में लोगों की दो बिलकुल विपरीत धारणाएँ प्रचलित हैं। जो निराला को समझता है, उसके मत में वे इस युग के सबसे बड़े कवि और कलाकार थे और जो उन्हें नहीं समझता उसके मत से वे एकदम उजड्ड और विक्षिप्त से थे। यही दोनों विचार निराला के विषय मे प्रचलित हैं। जिसकी कलम में तूफान की इतनी बड़ी ताकत थी उसे पगला भी समझा जाय, यह आश्चर्य है। एक स्वार्थ-अन्ध ऐसा भी दल है जो समझ कर भी निराला को स्वीकार नहीं करना चाहता। निराला और चाहे जो हों, पर उनके एक उच्चकोटि के कलाकार होने में सन्देह नहीं। जीवन भर उन्होंने प्रजातंत्र का गुण-गान किया, स्वतंत्रता के गीत गाए, दलितों, पीड़ितों और शोषितों के चित्र अपनी लेखनी से अंकित किये और उसके जागरण की प्रभाती प्रारम्भ की।

वे चरित्र और स्वभाव में पूर्ण मानव थे और उन्होंने जो कुछ लिखा वह भी सम्पूर्ण मानवों के लिए। अपने व्यक्तिगत दुख का रोना उनके साहित्य में नहीं सुनाई पड़ता, क्योंकि उनका स्वर मानव-मात्र का स्वर है और उनके दुःख-सुख समस्त जनता के अपने हैं। जनता की हमदर्दी के साथ जन-शोषकों की अप्रसन्नता भी स्वाभाविक थी। फलस्वरूप निराला के विरुद्ध एक ऐसा दल भी बन गया जो उनकी सचाई के लिए ही उनसे नाराज था—भला नीचे की ये पंक्तियाँ पढ़ कर कौन अमीर प्रसन्न होगा ?

आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली;
खोलेंगे अँधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ।
जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ आओ।

पर निराला को किसी की प्रसन्नता और नाराजी की परवाह कभी नहीं रही। उन्होंने लिखा है—'सामाजिक हिताहित की चिंता न करके मनमाना साहित्य लिखना वैसा ही है, जैसा महमूद मियाँ का अपने बकरे को पूँछ की तरफ

से जिबह करना।' निराला ने बहुत पहले से ही यह ललकार दिया था कि नैतिकता और संस्कृति के नाम पर रूढ़ि और ढोंग को छिपाया नहीं जा सकता और बाद की कविताओं में तो वे एकदम प्रखर रूप से क्रान्ति दूत बन गए थे।

विजयी तुम्हारे दिशा-मुक्ति से प्राण।
मौन में सुघरतर फूटे अमर गान।
ताप से तरुण आकाश घहरा गया,
घनों में घुमड़कर भरा फिर स्वर नया।

दूसरे का रक्तपान करके बड़े बनने वालों की इस देश में कमी नहीं,

खुला भेद विजयी कहाये हुए जो
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

और पूंजीपति के लिए तो बस निराला ने एक ही रास्ता छोड़ा है—

भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारी मिल में है

इस प्रकार निराला ने देश की, समाज की स्थिति पर सुधारात्मक व्यंग्य किए हैं और राष्ट्र की उन्नति का पथ-प्रदर्शन किया है। उनके व्यंग्यों की कटुता डाक्टर की कड़ुवी दवा के समान है, उसकी क्षणिक तिक्तता को आत्मसात कर लेने के पश्चात शाश्वत कल्याण का मार्ग स्वयं स्पष्ट हो उठता है।

● ● ●

स्मृति-चित्र

कलाकार का व्यक्तित्व उसकी काव्य-कृतियों से महान होता है, इसका अनुभव मैंने उस दिन किया जिस दिन मुझे निराला जी का प्रथम दर्शन हुआ। बात तब की है जब मैं इन्टर का विद्यार्थी था और क्रिश्चियन कालेज, प्रयाग में पढ़ता था। स्वाभाविक रुचि होने के कारण हिन्दी के गण्य-मान्य साहित्यिकों से मिलने की जिज्ञासा मेरे मन में जग चुकी थी, क्योंकि छायावादी कवियों—प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी की रचनाएँ मै पढ़ चुका था और उनसे प्राप्त आनन्द का अनुभव भी कर चुका था। एक दिन किसी ने, सम्भवतः श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने बताया कि निराला जी लखनऊ से प्रयाग पधारे हैं और लीडर प्रेस में ठहरे हैं। उनसे मिलने के लिए मैं आतुर हो उठा था। उन दिनों निराला नाम के प्रति मन में एक अजब कुतूहल छाया हुआ था। यों तो हिन्दी कवियों की अद्भुत नामावली से मैं परिचित था और तब तक इनके नाम सुन चुका था—विदग्ध, व्यथित, वियोगी, करुण, सरस तथा बच्चन एवं मृच्छन, पर इनकी विचित्रता में मुझे निराला जैसा आकर्षण न मिल कर एक विक्षुब्ध खिन्नता ही मिलती थी। निराला की कल्पना करते समय मन में किसी एक भाव का उदय न होकर आगे न जाने कितने भाव आते-जाते और बनते-बिगड़ते रहते थे। अन्त मे मैने अपने अबोध मन को निराला के दर्शन के पश्चात् ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य किया।

कालेज बन्द होते ही मैं लीडर प्रेस की ओर चल पड़ा और पता लगाते-लगाते पाठक जी के यहाँ पहुँचा। पाठक जी के द्वार पर एक लम्बकेश को देखकर मैं उसको निराला के चित्र से मिलाने लगा। मुझे सन्देह तो हुआ पर मैं कई कवियों को उनके चित्र से नितान्त भिन्न पाने के ज्ञान से बोझिल होने के कारण कुछ देर तक असमंजस में रहा। मुझे लगा स्वरूप और स्वास्थ्य में खूसट होकर भी कवि लोग अपनी कृतियों में अपने चित्र को बहुत सजा कर छपवाते हैं, कहीं निराला ने भी ऐसा ही किया हो तब ? पर मेरे भाग्य से वह व्यक्ति चिल्ला उठा—खुदा उसका भला करे जो साँई का खप्पर भरे। मैंने

चुप्पी साधी और दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खुला और मैंने देखा कि एक लम्बा-चौड़ा व्यक्ति नंगे-बदन तख्त पर बैठा सुरती मल रहा है। सुन्दर स्वस्थ शरीर और भव्य दर्शन। प्रसाद की ये पंक्तियाँ जैसे सजीव हो उठीं—

अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार ?

यही नहीं, कालिदास की ये पंक्तियाँ—व्यूढ़ोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुरिव महाभुजः—भी उस व्यक्ति के आकार-प्रकार में स्पन्दनशील हो रही थीं। निराला जी का वैसा ही नंगा-बदन मैं एक मासिक पत्रिका (माधुरी) में छपा देख चुका था, तुरंत समझ गया कि यही निराला जी हैं। मैं थोड़ी देर तक स्तब्ध-सा देखता रहा—लम्बा-चौड़ा विशाल मांसल शरीर, बड़े-बड़े रतनारे नेत्र, लम्बी शाल की शाखा सी भुजाएँ, शाश्वत मन्द मुस्कान में सिक्त पतले आकर्षक ओठ, कवियोचित कम्बु कंठ और वृषभ कंध। डाढ़ी-मूँछ से छूँछे मुख पर उनके लम्बे चिकने तथा सटकारे बाल वायुगति होकर अठखेलियाँ कर रहे थे। जान पडता था, मैं किसी रोमन मूर्ति के सामने खड़ा हूँ। इसके पहले मैंने किसी व्यक्ति को इतना व्यक्त, सुस्पष्ट और सजीव नहीं देखा था। सब मिला कर मुझे निराला का दर्शन अत्यन्त तृप्तिकर और सुहावना लगा। आँखों से प्रकाश और ज्वाला की कशमकश बाहर निकल कर जैसे बिछ जाना चाहती थी। भौंहों में किसी की भी उपेक्षा का टेढ़ापन उछल रहा था। उस दर्शन की समष्टि को वास्तव में निराला ही कहना चाहिए। निराला नाम के चुनाव की सार्थकता पर मैं मुग्ध हो गया।

एक अपरिचित की श्रद्धा और संकोच से मैंने प्रणाम किया। उत्तर में 'नमोनमः' और बैठने की आज्ञा पाकर बैठ गया। निराला जी ने सहज उदास भाव से पूछा—"कहिए आप कहाँ से आये हैं, किसे चाहते हैं ?" मैंने एक साँस में अपना परिचय बताते हुए उत्तर दिया—"आप के दर्शनों की बहुत दिनों से बड़ी प्रबल इच्छा थी, आज बड़े सौभाग्य से सफल हुई।" निराला जी बीच ही में बोल उठे—"किसके दर्शनों की इच्छा थी, आप को क्या पता कि मैं कौन हूँ ?" मैंने कहा—"आप के ही दर्शनों की बात कह रहा हूँ, छायावाद के युगप्रवर्तक कवि निराला आप ही तो हैं।" निराला जी जैसे मुझे तंग करने पर तुले थे। कहने लगे—"मुझमें दर्शन की क्या बात है ? आप मुझे कैसे जानते

हैं ?" मैंने बहुत नम्रता से निवेदन किया—"मुझे हिन्दी साहित्य से बहुत प्रेम है, मैंने आप की कविताएँ पढ़ी हैं, मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। मैंने आप का चित्र पत्रों-पुस्तकों में देख रखा है और इसीलिए आप को पहचान भी गया।" निराला जी ने फिर तपाक से प्रश्न किया—"कौन-सी कविता पढ़ी है, कुछ याद भी है ? सुनाओ तो सही ?" मैंने फौरन अपनी रुचि की उनकी कविताओं का नाम लिया और निराला जी को इच्छा के अनुसार उनमें से किसी भी कविता के सुनाने की अपनी क्षमता पर विश्वास दिलाया। निराला जी की सारी उत्सुकता एक मीठी हँसी में बदल गई और उन्होंने धीरे से कहा—"बादल', 'जमुना', 'जुही की कली', चाहे जो सुनाइए।" मैंने सँभल कर, खाँस-खाँस कर बहुत ही सावधानी के साथ 'जुही की कली' सुनाई। कविता कुछ ऐसी जमी कि पाठक जी भी भीतर से बैठके में आ गए। निराला जी को शायद अभी संतोष नहीं हुआ था और पाठक जी का बिना कुछ परिचय दिए हुए उन्होंने एक और सवाल किया—"इसका अर्थ तो आप जानते ही होंगे ! यह कविता मैंने १९ वर्ष की अवस्था में लिखी थी। आप की उम्र इस समय कितनी होगी ! खैर, सेकन्ड क्लास की चीज अच्छी है।" उम्र पूछने पर मन ही मन मुझे याद आया। अपनी उम्र को छिपाने की चेष्टा करने वाले एक साहित्यिक ने कहा था—किसी की आय और आयु पूछना अशिष्टता है। पर उनकी वह अशिष्टता निराला जी के पास स्वाभाविकता बन गई थी।

मैंने डरते-डरते 'जुही की कली' का भावार्थ बताया। निराला जी खिल पड़े और मन्द-मधुर मुस्कान के साथ पाठक जी की ओर देख कर बोले—"देखो पाठक, हिन्दी आज कैसे पैतड़े बदल रही है !" इतना कह कर उन्होंने अपनी भुजाओं की ओर देखा और आत्म-विश्वास के साथ फूट पड़े—"वास्तव में आप दर्शनों के अधिकारी हैं। आप से मिल कर तबियत बहुत खुश हुई। अब हिन्दी का प्रचार बढ़ रहा है। अभी कुछ दिन पहले लोग निराला के नाम से घबड़ाते थे, करते भी क्या ? उनकी समझ में तो कुछ आता ही नहीं था पर अब वैसा नहीं है। देश भर में नहीं तो यू० पी० में हिन्दी काफी तौर पर लिखी और पढ़ी जाने लगी है। आज उसके लेखक अपने मनोविनोद के लिए लिखने वाले केवल अँग्रेजी के ग्रेजुएट ही नहीं वरन् हिन्दी के नाम पर जीने और मरने वाले भी हैं। खड़ी बोली के चाबुक ने ब्रजभाषा की तुतलाहट को भी झाड़ दिया है, यह बहुत अच्छा है। आप भी कुछ लिखते-लिखाते हैं कि नहीं ?" मैंने संकोच से कहा—"यों ही कुछ तुकबन्दी करता हूँ, पर मेरी इच्छा आलोचना में

काम करने की है। यदि आप लोगों का आशीर्वाद हुआ तो कुछ न कुछ अवश्य ही लिखूंगा।"

इस बार निराला जी जोर से हँस पड़े और मैंने अपने शब्दों की जाँच-पड़ताल शुरू ही की थी कि उन्होंने एक विचित्र मुद्रा में कहा—"तब तो बड़ी आफत है मिस्टर पाँड़े। तुकबन्दी से, दलबन्दी से मैं बहुत घबड़ाता हूँ क्योंकि मैं तो 'अमित्र' का उपासक हूँ। मुझे मुक्त-छन्द अच्छा लगता है। हाँ समालोचना, आलोचना न कहा कीजिए, की हिन्दी में बड़ी कमी है। आप ठाट से लिखिए, कविता लिखने वाले तो बहुत हैं। हिन्दी काव्य-सरोवर के ऊपर उतराने वाले मण्डूक महाकवियों की टर्र-टर्र से कान पक गए पर अभी तक समालोचना का मैदान साफ पड़ा है। आचार्य शुक्ल जी का नाम तो आपने सुना होगा। उन्होंने इधर कुछ थोड़ा-बहुत काम किया है पर वे अभी तक प्राचीनों पर ही खीजते-रीझते रहे, नवीन आधुनिक साहित्य की ओर वे उन्मुख नहीं हो सके। बूढ़ों के लिए इसमें रसिकता भी नहीं है। आप अपनी वह कविता जिसे आप स्वयं सबसे अच्छी समझते हों सुनाइए। डट के बैठ जाइए और सुनाइए।"

मैंने अपनी एक कविता सुनाई और सुनाते समय निराला जी का सिर हिलाना देख-देख कर प्रसन्न होता रहा। साथ ही पाठक जी की उदासीनता के प्रति क्षुब्ध भी हुआ। प्रसन्नता के आवेश में अथवा आश्वासन के उद्देश्य से निराला जी ने कहा—"वाह, बहुत अच्छी कविता है। महादेवी स्कूल जोर पकड़ रहा है। पन्त और महादेवी को लोग पढ़ते भी खूब हैं। खूब लिखते जाइए। आप ही लोगों को तो काम करना है। हमलोगों को जो देना था दे चुके, अब लकीर पीटना है और मेरे लिए तो काम करना भी सम्भव नहीं रह गया। बात यह है कि मानव के दो प्रत्यक्ष विभाग हैं—जड़ और चेतन। जड़ विभाग की क्षुधा शान्ति के लिए रोटी की आवश्यकता होती है और चेतन की तृप्ति के लिए साहित्य की। (रोटी के नाम के साथ पाठक जी रोटी तो नहीं पर चाय लाने के लिए भीतर चले गए) यदि साहित्य-सृजन करने वाला व्यक्ति अपनी जड़ क्षुधा की तृप्ति नहीं जुटा पाता तो वह साहित्य क्या लिखेगा ? यों तो प्रत्येक भारतीय भूखा पैदा होता और भूखा मरता है, पर यहाँ के साहित्यकार को, खास कर अगर वह इस छायावाद युग का हुआ तो उसे निश्चित रूप से भूखों मरना पड़ता है।"

मैं मंत्र-मुग्ध की भाँति निराला जी की बातें सुन रहा था और वे अटूट रूप

से कहते जाते थे—"मैंने तो हिन्दी के लिए अपने को खपा दिया, फिर भी लोग चैन नहीं लेने देते। हिन्दी वालों को विदेशी रीति-रिवाज, बैठक-उठक और विदेशी-साहित्य की झक सवार है। ये लोग यह नहीं समझ पाते कि हिन्दी की शोभा शेक्सपियर और गेटे से नहीं बढ़ सकती, रवीन्द्र से भी वह नहीं सज सकती, इसका शृङ्गार टालस्टाय नहीं कर सकते, इसकी गौरव-वृद्धि कार्लाइल या मैथूआर्नल्ड के वश की नहीं। इसकी शोभा तो वे ही लोग हैं जो इसके अपने हैं।"

निराला के इन शब्दों में उनके जीवन के कटु अनुभवों का आभास स्पष्ट रूप से मिल रहा था। उनके मुख-मंडल की संघर्ष प्रस्फुटित रेखाएँ तनती जा रही थीं और वाणी में अन्तर्क्षोभ की व्यथा बहने लगी थी। उनके जीवन का ओज जैसे ऊँची छलाँग मारने के लिए दुबक-सा रहा हो। उत्तेजना बढ़ती देख-कर मैंने नम्र-भाव से टोका—"निराला जी यह तो आप ठीक कह रहे हैं। हम लोगों ने अभी अपने कलाकारों का सम्मान करना नहीं सीखा। रवीन्द्र को ही हमलोगों ने तब माना जब विदेशियों ने नोबल पुरस्कार देकर उनका सम्मान किया। 'रूस की चिट्ठी' में उन्होंने स्वयं ऐसा लिखा है। मगर नई पीढ़ी के लोग ऐसी गलती नहीं कर सकते। आज के नवयुवकों में प्रसाद, निराला, पन्त एवं महादेवी के लिए काफी श्रद्धा और सम्मान का भाव है।"

निराला जी जैसे मुझ पर टूट पड़े—"नवयुवक बेचारे क्या जानें साहित्य किस चिड़िया का नाम है? उनके प्रोफेसर लोग तो आज भी निराला को ऊट-पटाँग कवि बताते हैं। यूनिवर्सिटी में जाइए तो पता चलेगा। आधुनिक काव्य पढ़ाते समय अध्यापक महोदय क्लास मे कहते हैं—निराला का काव्य अस्पष्ट और दुरूह है, पर वे न जाने क्यों कवि माने जाते हैं?" मैंने जैसे निराला जी को रोका—"हमारे पंडितजी तो आपके बड़े भक्त हैं, आपकी बड़ी तारीफ करते हैं।" निराला जी का भाव बदल गया, जैसे गर्म लोहे पर पानी पड़ गया हो। उन्होंने सिर हिलाते हुए तथा ओठ चबाते हुए कहा—"ठीक है, बीस वर्ष काम करने के बाद भी यदि ऐसा न हो तो सब मामला ही गड़बड़ हो जाय। गोकि मैं खुद किसी की तारीफ या निन्दा से बिल्कुल प्रभावित नहीं होता, मगर फिर भी काम करने वाला कुछ न कुछ प्रतिदान तो चाहता ही है। अरे भाई, उसे दान न दो तो कुछ अधिकार तो दो, पर इस देश में अधिकार तो केवल राज-नीतिक व्यक्ति के लिए रिजर्व हैं; साहित्यकार को कौन पूछता है! रहा मैं, तो मुझे किसी की परवाह नहीं। मैं तो धक्के खाता, लड़ता-उलझता बराबर आगे

बढ़ता जाता हूँ और आप देख सकते हैं कि मेरे पास अब भी कवि का कंठ, कलाकार के हाथ, पहलवान की छाती और फिलासफर के लम्बे पैर एवं पहाड़ी चट्टान की गुरुता बाकी है। मैं बराबर काम करता हूँ और अच्छा भी करता हूँ, किन्तु मौका पड़ने पर निराला को कोई छोड़ना नहीं चाहता।" इतना कहते-कहते निराला जी जैसे किसी स्मृति में डूब गए। उनके सारे शरीर से आत्म-विश्वास की साधना प्रस्फुटित हो रही थी।

सारा वातावरण क्षुब्ध हो उठा था। निराला की आँखों की सजल-सरल ज्योति, माथे की सिकुड़न और ओठों की कम्पन एक कटु स्मृति की छाया से धूमिल हो रही थी। प्रातःकालीन गुलाबी किरणों की भाँति सहज अनुराग रंजित आशापूर्ण भाव-भंगिमा संध्या की उदासी का रंग पकड़ रही थी। मेरी समझ ही में नहीं आता था कि मैं क्या करूँ। चाय का एक घूंट लेते हुए मैंने भाव-परिवर्तन की चेष्टा में कहा—"निराला जी, कहा जाता है कि यश का शीघ्र मिलना बड़ा घातक होता है, दुर्भाग्य का चिह्न माना जाता है, किन्तु आप तो भाग्यवान हैं, महान् हैं, इसी कारण आपको लोगों ने काफी देर में समझा।" अब की मेरे ही बोलने की बारी थी क्योंकि निराला जी चाय के प्याले में अपनी थकान डुबो रहे थे। मैं जानता हूँ उनकी थकान इतनी ही क्षणिक होती थी। मैं कहता गया—"हिन्दी-साहित्य में आप का नाम स्थायी रहेगा, क्योंकि साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता। प्रत्येक हृदय में उसका एक सूत्र रहता है जो महान् साहित्यिक कृतियों से जुड़ता चलता है और इस प्रकार आप जैसे कलाकार मानवता के चिरकालिक साथी बनते जाते हैं। आपने बहुत काम किया है, कर रहे हैं और आगे भी करेंगे।"

निराला जी मिठाई देख कर एक बालक की भाँति खुश हो गए, खड़े हुए और कमरे में ही इधर-उधर टहलने लगे। धक्के से प्याला तोड़ते हुए बोले—"हाँ-हाँ काम तो अभी करना ही है। चिड़ियों के चें-चें से कभी अजगर घबड़ाता नहीं। साहित्य की सृष्टि का भी एक समय होता है जैसे सब चीजों की फसल का। एक विशेष समय का एक विचार-आदर्श होता है। इस बीसवीं सदी का प्रधान भाव संघर्ष ही तो है। हमारे देश में यह समय कला-साधना का नहीं, राष्ट्र-साधना का है, किन्तु समय-विशेष की कला उस समय की सामूहिक भावना की ही अभिव्यक्ति होती है क्योंकि वह कला जो अपने समय के साथ सामञ्जस्य नहीं रखती, पुराने निर्गंध फूल की तरह किसी मतलब की नहीं होती। कला का मेरा यही दृष्टिकोण रहा है। सम्भव है अपने सृजन में सावधानी न भी रख

पाया हूँ, पर इतना तो निश्चय है कि साहित्य लिखते समय सदैव स्वाभाविकता मेरा हार, शृङ्गारिकता हृदय को उष्ण रखने का उपहार और पवित्र प्रतीकों का व्यवहार मुझे प्रिय रहा है और भाव की सच्चाई और प्रयोगों की गहराई मेरी शक्ति-कवच रही हैं। हास्य और व्यंग्य से मैंने मानसिक विश्राम का साधन जुटाया है। मगर पाँड़े याद रखिए, आँख वाले मना करने पर भी देखेंगे और अंधे किसी के बहुत आग्रह पर भी न देख सकेंगे।"

इस अर्थ-पूर्ण वक्तव्य के बाद मुझे लगा कि निराला जी वास्तव में 'आकार-सदृशप्रज्ञा' हैं, जैसा उनका शरीर विशाल है वैसी ही उनकी बुद्धि और हृदय भी है। उनकी वाणी छेड़े गए सिंह की वह गर्जन है जिसे सँजोने में उनका इतना बड़ा शरीर भी कभी-कभी लड़खड़ा जाता है, अन्यथा प्याला न टूटता। इसके बाद जैसे मेरे पास कुछ कहने को बाकी नहीं था। मैंने थोड़ी देर इधर-उधर देख कर चलने की इच्छा प्रकट की। निराला जी ने बहुत ही आत्मीय-भाव से कहा—"अच्छा, जाइएगा ? जब जी चाहे फिर आइए। अभी मैं दस-पन्द्रह दिन यहाँ हूँ। इण्डियन प्रेस की मजदूरी करनी है, कुछ पैसे लेने है, तब जाऊँगा।" मैंने पूछा—"मजदूरी ?" निराला जी ने बताया कि वे अनुवाद का काम करना मजदूरी करना ही समझते हैं। मैंने प्रणाम किया और वापस चला आया।

●

इस प्रथम दर्शन से ही निराला जी के सौम्य और साथ ही दुःशासन व्यक्तित्व ने मुझे बहुत अधिक प्रभावित कर लिया। मैंने हिन्दी के प्रायः सभी कवियों को देख रखा था, पर किसी की इतनी अमिट छाप मुझ पर नहीं पड़ी थी। निराला जी से मिल कर मैंने उनके निराला नाम का रहस्य अवगत कर लिया। रास्ते भर मुझे उनकी व्यंग-व्यथा भरी वाणी की कातरता (कायरता नहीं) याद आ रही थी, जैसे कानों में उनका प्रत्येक शब्द रम-जम गया था। मेरे सामने छायावाद के वे प्रारम्भिक दिन भी स्पष्ट होने लगे जब निराला ने साहित्य में प्रवेश किया होगा। यों तो उन दिनों सभी आधुनिक कवियों और साहित्यकारों का विरोध हुआ था, पर निराला को सबसे अधिक संघर्ष का सामना करना पड़ा था, इसे कौन नहीं जानता ? उस समय आलोचकों में श्री पद्मसिंह शर्मा का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था, किन्तु वे बिहारी के काव्य में ही विहार कर रहे थे, वर्षों पीछे चल रहे थे। कृष्ण बिहारी मिश्र भी देव-बिहारी की तुलना में ही अपनी सारी शक्ति तौल रहे थे।

इस नई कविता की खबर लेने वाले कठोर तथा प्राचीनताप्रिय आलोचक ाचार्य शुक्ल जी ही थे। उन्होंने इन छायावादी कवियों की, इस नवीन भाव-ारा की जो खिल्ली 'पाषाण-परिच्छेद' नामक अपनी कविता में उड़ाई थी वह स देखने लायक है। उन्होंने पाठकों से आग्रह किया था कि इन कवियों को जो शु तुल्य हैं—'हाँक दो, न घूम-घूम खेती काव्य की चरें'। 'पाषाण-प्रतिशेष्य' द्वारा उन्हें उत्तर भी दिया गया था, पर वे सहज ही मानने वाले व्यक्ति नहीं । उन्होंने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पोथी लिख कर छायावाद का जो विरोध कया था वह आज भी साहित्य के इतिहास मे निर्जीव होकर भी जीवित है। ुक्ल जी का मत था कि काव्य का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता संसार से ही है, कसी अन्य अव्यक्त सत्ता से नहीं। इसलिए 'जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं (हमें ा अर्थ केवल शुक्ल जी या और कोई ?) उसकी व्यञ्जना का आडम्बर रच-र दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे के अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्य-क्षेत्र ा निकल कर मतवालों (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य देखाना चाहिए।' इतना ही नहीं, शुक्ल जी ने और भी बातें कहीं और लिखी ं और नई कविता को 'गंदी नदी', 'चटोरों की लार', 'विलायती तमाशा', 'नकल ी नकल' और न जाने क्या-क्या कहा है।

'सुकवि किंकर' के नाम से स्वनामधन्य आचार्य द्विवेदी जी ने भी छायावाद ार एक आक्रोश-पूर्ण आक्रमण किया था। उन दिनों के साहित्य का यही फैशन ा, कोई भी बूढ़ा इसे अपनाने में नहीं चूका। छायावादी कवियों—प्रसाद, नेराला और पंत ने स्वयं इन सबका प्रतिवाद किया और आत्मविश्वास के साथ इस धारा को हिन्दी के लिए शुभ और श्री सम्पन्न उद्घोषित किया। प्रसाद जी का 'यथार्थवाद और छायावाद' तथा पंत जी की 'वीणा' की भूमिका इसके प्रमाण है। शुक्ल जी ने अपनी पुस्तक 'काव्य में रहस्यवाद' और पंत जी ने 'वीणा' की वह भूमिका दोबारा नहीं छपवाई, पर प्रसाद जी का लेख उनके निबंध-संग्रह में ज्यों का त्यों अब भी संग्रहीत है। और निराला जी ने तो कविता तथा गद्य मे सभी जगह इस विषाक्त विरोध का उपहास किया है।

वास्तव में छायावाद ने नई कविता को ही जन्म नहीं दिया, वरन् उसने साहित्यिकों को एक नया व्यक्तित्व भी दिया है। इसके पहले की कविता और कवि दोनों समाज और समालोचकों के सामने विनीत और सुशील रहने वाले थे, पर छायावाद का विद्रोह और उसकी स्वच्छन्दता साहित्य में ही नहीं अपितु

साहित्यिकों में भी उभर आई थी। स्वयं निराला जी किसी के सामने पूंछ हिलाना केवल कुत्तों का काम समझते थे, साहित्यिकों का नहीं। ठीक भी है, क्योंकि न कुत्ते की सही, बन्दर की पूंछ को तो मनुष्य घिस ही चुका है। वस्तुतः नये कवि की भाषा, भाव, शैली, वेश-भूषा, भाषण आदि सभी नया था तो आश्चर्य की बात नहीं। यदि साहित्य की वैयक्तिक भाव स्फुरण मालाएँ प्राचीनों को नागपाश सी लगें तो भी उसे स्वाभाविक ही कहना चाहिए। इसमे सन्देह नहीं कि इन छायावादी कवियों ने एक नया समाज ही बना डाला। प्रायः सभी के लम्बे केश, डाढ़ी-मूंछ सफाचट्ट, शृङ्गार की आसक्ति, सम्मान की इच्छा, प्राचीन की उपेक्षा आदि में इन कवियों का विकास समाज तथा साहित्य के ठेकेदारों के लिए यदि एक नया मोर्चा बना तो इसमे दोष केवल समय का था और किसी का नहीं। पर यह सच है कि इनका मजाक भी खूब उड़ाया गया। भाषा के लिए 'सिद्धान्त कौमुदी' और छन्द के लिए 'पिंगल शास्त्र' का नुसखा भी इन्हे आचार्य द्विवेदी ने बताया था। इनका नाम उस समय समाज में 'अनन्त की ओर जी' तथा 'लम्बे बाल जी' एवं 'छायावादी जी' प्रचलित था जो सिंहासनस्थ वृद्ध साहित्यिकों का उपहार मात्र था। कवि-सम्मेलनों में निराला जी के छन्दों की पैरोडी परम आवश्यक समझी जाती थी।

साधारण जीवन मे भी यह चर्चा चलती रहती थी। इक्के वाले तक से लोग कहते थे—'ओरे प्यारे इक्के वाले चल अनन्त की ओर' छायावादी जी कहते हैं, 'अनुभूति चिरन्तन मोर।' ऐसी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में भी छपती थीं। 'सुधा' में प्रकाशित कुछ पक्तियाँ ये हैं—

किसने छायावाद चलाया, किसकी है यह माया ?
हिन्दी भाषा में यह न्यारा शब्द कहाँ से आया ?

इसके बाद उसी मे यह भी छपा था—

मत पीछे पड़ो बंगाली कवियों के तुम,
कवि सम्राट हो या बाप हो सम्राटों के।

इस प्रकार छायावाद के विरोध में उस समय के सयानों ने कुछ कसर नहीं उठा रखी। व्यंग्य, उपदेश और कार्टून आदि सभी अस्त्रों का प्रयोग किया गया था पर छायावाद रुका नहीं। अस्तु, इस बात का भी प्रयास किया गया कि इन नवीन कवियों की रचनाएँ कहीं छपने ही न पावें पर इसका भी संगठन न हो सका और जनता ने छायावाद को अपना लिया।

धीरे-धीरे इसके समर्थकों की संख्या बढ़ने लगी और उस धारा को 'रवीन्द्र

का अनुकरण' अथवा 'अँग्रेजी रोमान्टिक कवियों की छाया' मात्र न मानकर लोग इसके भीतर निहित क्रान्ति-भावना का भी दर्शन करने लगे। निराला जी ने अपनी प्रथम भेंट मे विरोध और संघर्ष के इसी उत्पात का आभास मात्र दिया था। उनकी चोट भी सबसे ज्यादा गहरी थी क्योंकि कुछ दिनों तक उनकी कृतियों का छपना भी दूभर हो गया था। खासकर उनकी मुक्त छन्द की रचनाओं का तो बहुत भारी विरोध हुआ था। यहाँ तक कि पंत जी ने भी 'पल्लव' की भूमिका में उनके इस छन्द का उपहास किया था, व्यंग किया था। निराला जी ने अपने निबंध 'पंतजी और पल्लव' में उसका खासा उत्तर भी दिया। जो भी हो, निराला जी का विरोध न केवल सयानों ने वरन् नवीनों ने भी जो खोलकर किया, पर वे किसी भी प्रकार रुके नहीं; यह कहते बढ़ते गए कि—

देखो, पर क्या पाते तुम 'फल'
देगा जो भिन्न स्वाद रस भर,
कर पार तुम्हारा भी अन्तर
निकलेगा जो तरु का सम्बल !

छायावाद के समर्थन मे जो तर्क दिए जाते थे वह भी प्रायः निर्बल ही रहे। इन तर्कों और विवेचनाओं से छायावाद और भी दुर्बोध हो उठता था। खेद है कि महादेवी जी के पहले तक इस विशाल साहित्यिक जागरण की तथ्यपूर्ण विवेचना नहीं हो सकी, और आलोचक-गण मूल को छोड़ कर केवल पत्ते पोंछते रहे। सम्भवतः इसी कारण इस भाव-धारा की प्रतिष्ठा इसके अधिकार के अनुकूल नहीं हो सकी अन्यथा यह काव्य क्रान्ति की उसी भावना का समर्थक रहा है, जिसका आभास सन् '२० से अब तक सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों मे बराबर मिलता रहा है। छायावाद की ये प्रारम्भिक विरोधमयी दुर्घटनाएँ और उनकी चौवन्दी से परिचित होने के नाते निराला जी के क्षोभ को सहज ही समझ लेना मेरे लिए बहुत कठिन नहीं था। विशेषकर इसलिए भी कि मैं स्वयं छायावाद को देशव्यापी जीवन की दुर्वस्थाओं की साहित्यिक प्रतिक्रिया ही मानता हूँ; और आज तो सभी लोग एक निर्भीक, ओजपूर्ण, प्रगतिमय और रूढ़ियों को उखाड़ फेंकने वाला तेजस्वी तथा सक्रिय साहित्यिक आन्दोलन मानते है।

तीन-चार दिन के बाद निराला जी चौक में दिखे—नंगे बदन, कंधे पर एक रेशमी चादर, धोती की जगह एक गंदी लुगी, अस्तव्यस्त लुटरी केश-राशि

और विचार-सागर में डूबती-उतराती मुख-मुद्रा। मैंने पास जाकर प्रणाम किया कि निराला जी जैसे डुबकी के बाद साँस लेते हुए बोले—"अच्छा, आप तो उस दिन मिले थे, मिजाज तो अच्छा है न ? टण्डन जी के यहाँ तो न चलिएगा ?" "कौन टण्डन जी ?" मैंने पूछा। निराला जी ने कुछ सोच कर कहा—"साहित्य-सम्मेलनाधीश बाबू पुरुषोत्तमदास जी।" मैंने एक विस्मय भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा और वे मेरे मन की बात समझ कर कहने लगे—"हम लोग सभी से इसी तरह मिलते हैं, क्योंकि हमारी रहन-सहन और हमारे कपड़े-लत्तों का कोई ठिकाना नहीं। महात्मा गाँधी से मिलने में इसी कारण मुझे बड़ी आफत उठानी पड़ी थी। जरूरत पर रुपया भी तो नहीं मिलता। मेरे पास एक बढ़िया कुर्ता था, पर उसे पहन कर होली खेल डाली, अब दूसरा कहाँ मिले ? चलिए, यही चदरा ओढ़ लूंगा। मगर एक बात है आज उग्र जी ने बूटी छनवा दी है, तुम मुझे लीडर प्रेस छोड़ आना।" निराला जी 'तुम' के प्रयोग की आत्मीयता तब से मुझे बराबर देते गये, यद्यपि उस समय मैं उसे भंग-भवानी की सहृदयता मात्र समझ रहा था। निराला जी के पैर जमीन पर जम कर नहीं पड़ते थे। मैं कह नहीं सकता कि इसका कारण भंग थी या उनकी मांसल स्थूल देह। सौभाग्य या दुर्भाग्य से टंडन जी मिले नहीं, कहीं बाहर चले गए थे।

वहाँ से लौट कर इक्के के अड्डे में पहुँच कर निराला जी ने एक इक्के वाले से पूछा—"लीडर प्रेस चलोगे !" उससे किराया तय किया और कूद कर इक्के में बैठ गए। मैं भी बगल में जम गया। इक्के के चलने पर निराला जी ने मुझसे प्रश्न किया—"तुम इक्के पर चलते हो कि ताँगे पर ! मैं तो इक्का पसंद करता हूँ, क्योंकि ताँगे पर मेरा बैलेन्स नहीं ठीक हो पाता। पीछे बैठूँ तो घोड़ा आसमान में और आगे बैठूँ तो पाताल में, कभी ठीक ही नहीं होता।" इतने ही में इक्के वाले ने कहा—"बाबू जी जरा पीछे की ओर हो जाइए।" निराला जी 'देखो', कह कर कहकहे में हँस पड़े और इक्का तेजी के साथ चलने लगा।

निराला जी ने मुझे एकदम भुला कर इक्के वाले से बातचीत करनी शुरू की—दिन भर में कितना कमा लेते हो, घर में कितने आदमी हैं, कहाँ रहते हो, कौन जाति के हो आदि-आदि। मैं, मन ही मन कुछ बुरा भी मान रहा था कि निराला जी मुझसे नहीं, इक्के वाले से बातें करने में व्यस्त हैं, पर निराला को इसकी परवाह नहीं थी। अब तक हम लोगों का इक्का बीच चौक

को पार करके हीवेट रोड के छोर पर पहुँच चुका था। निराला जी हड़बड़ी में कह पडे—रोकना-रोकना भाई जरा मिठाई खायेंगे। उतर कर दूकान की ओर बढ़े और पूछा—"क्या खाओगे, अपने मन की चीज चुन लो, इक्के वाले को भी दे दो।" मैं निर्जीव यंत्र की भाँति उनका कहना करता गया और खाने के बाद मनीबेग जेब से निकाला। निराला जी जैसे सतर्क बैठे थे, डाँट कर बोले—"वाह जनाब, यह भी नहीं मालूम कि मिठाई छोटे नहीं बड़े खिलाते हैं। पैसा मैं दूँगा।" इसके बाद शीघ्र ही हम लोग लीडर प्रेस पहुँच गए। निराला जी ने उस इक्के वाले को पैसे दिए और मुझे कालेज में छोड़ने की आज्ञा भी दी। निराला की इस उदारता का ठीक-ठीक आशय ग्रहण करना उस समय मेरे लिए सम्भव नहीं था पर मैं भीतर ही भीतर सोचता था कि यह फटी हालत और यह शाह-खर्ची! अभिमान तो यह है नहीं, क्योंकि अभी-अभी निराला अपनी विपन्नता को गिड़गिड़ा रहे थे और यह खाली रोब जमाने के लिए प्रदर्शन मात्र भी नहीं, क्योंकि प्रदर्शन के प्रथम साधन वस्त्र तक भी उनके पास नही। यह कुछ निराला का निरालापन ही है।

विदा माँगने के पहले मैंने कुछ डरते-डरते कहा—"शनिवार को कालेज मे कवि-सम्मेलन है। आप इस समय यहाँ हैं; यदि पधारने की कृपा करें तो मै अपने को अत्यन्त गौरवान्वित अनुभव करूँगा। हमारे कालेज के लड़के आपके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते है।" निराला जी ने सहज भाव से कह दिया—"चलूँगा, इसमे गौरवान्वित होने की कौन-सी बात है। मुझे विद्यार्थियों के बीच मे कुछ कहना-सुनना स्वभाव से अच्छा लगता है। इधर-उधर तमाम आता ही जाता रहता हूँ। उस दिन आ जाना, चलूंगा।" मैंने सुन रखा था कि निराला जी कहीं जल्दी आते-जाते नहीं इसलिए उनके इस आश्वासन से मै प्रसन्न से अधिक आसन्न हुआ और उसकी पुलक-कुलक तथा आश्चर्यमयी स्मृति का अनुभव आज भी मेरी रग-रग मे व्याप्त है। मैंने बहुत ही गद्‌गद् कंठ से निराला जी को बताया भी था कि मुझे कितनी खुशी हुई। इस पर निराला जी ने ऋग्वेद की एक ऋचा सुनाते हुए कहा—"यह शरीर जीवन से युक्त होकर 'अनस्' है। उसको धारण करने वाले गति, चेतना युक्त 'प्रज' प्राण हैं और ये सब एकत्र सुबद्ध होने से सुबन्धु है। मेरे पास किसी भी मनुष्य का स्थान यही है। इसे सदा स्मरण रखना पाँडे कि चेतना देह पर शासन करने से, विकासवती होने से 'कशीका' है। शरीर मे सर्वत्र वश करने से 'आगधिता' है और सर्वत्र मिश्रित होने से 'परिगधिता' है। वही अन्नभोक्ता अथवा यत्नशील प्राणों में सबसे

अधिक यत्नशील तथा बलवती होकर 'यादुरी' बनकर सैकड़ों शक्तियों और भोग्य सुखों को देती है। मैंने जाकर अपने पण्डितजी से सारा हाल कह सुनाया और वे सच है, सच है कहते हुए इस निराला जी वाली ऋचा का पाठ करने लगे—

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्घहे
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्याशता।

ऋग्वेद, द्वितीययोऽष्टक सूक्त १२ ६०

इस प्रकार निराला जी का चेतन सुबन्धु बन कर मैं उस दिन वापस आया। निराला जी से दिन, समय सब तय कर लिया था। कालेज में दूसरे दिन सब को इसकी सूचना भी दे दी। निराला के कवि-सम्मेलन में शरीक होने की सूचना कालेज में बिजली की तरह दौड़ गई। ज्ञात हुआ कि निराला के प्रति मेरा ही नहीं प्रायः सभी का आकर्षण मुझ जैसा ही तीव्र था। कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुतों के लिए उनका नाम ही इस कौतूहल का कारण रहा है। कालेज के अधिकारियों और सहपाठियों मे उस दिन से मुझे वह स्नेह और सम्मान मिलने लगा जो बिलकुल अप्रत्याशित था। यहाँ तक कि मैं अपनी कालेज पत्रिका का सम्पादक भी बना दिया गया। मैं उसे निराला की कृपा का ही सुफल समझता हूँ।

गिनते-गिनते शनिवार आया और सुबह से ही मैं निराला जी को लेने जाने की बे सिर-पैर की तैयारी करने लगा। दिन में कई बार ऐसा लगा कि साँझ भी होगी या नहीं। अपने समय से शाम हुई और मैं मोटर लेकर लीडर-प्रेस की ओर चल पड़ा। न जाने क्यों उस दिन ऐसा लगता था जैसे लीडर प्रेस की दूरी मुझे चिढ़ाने के लिए कुछ बढ़ गई हो। वहाँ पहुँचा तो निराला जी गायब। पता चला कि अभी दस मिनट पहले सिविल लाइन्स की ओर घूमने गए है। मैंने निर्दिष्ट स्थान की ओर कार बढ़ाई और सौभाग्य से निराला जी कैनिङ्ग रोड पर मिल गए। नया कुर्ता, नई धोती, माथे में शिव नेत्र की तरह रक्तचन्दन और हाथ में पतली छड़ी, पर जूता वही पुराना। अपने पास मोटर को सहसा रुकते देख कर वे कुछ जैसे सँभले और उत्सुकता से मेरी ओर देखा। कुछ क्षोभ के स्वर में बोले—"ओह, पाँडे मैं भूल गया था, गोकि कई दिनों से यह सब तैयारी तुम्हारे ही लिए की थी। क्या हाल है? चलना है?" उनकी भूलने वाली बात मेरी समझ में नहीं आई थी पर मैंने आश्वस्त होकर कहा—"कोई बात नहीं, आइए चलें।" निराला जी मेरी बगल में ही आगे वाली सीट

पर बैठ गए और दरवाजा बन्द करते-करते चिल्ला उठे—"अरा, रा, रा।" मैंने मोटर धीमी करते हुए पूछा—"क्या हुआ निराला जी ?" वे काफी दुखी और दबी जबान में मुखरित हुए—"धोती फट गई, नया पहनना तो निराला के लिए अभिशाप है।" मैं चुप रहा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि वह चीख निराला की धोती की ममता नहीं उनकी आर्थिक विपन्नता की करुण पुकार मात्र थी। निराला जी कहने लगे—"रुको जरा धोती बदल कर पहन लूँ तुम्हारे कालेज मे अमेरिकन प्रोफेसर भी हैं। उनके सामने तो हिन्दी की फटी हालत नहीं रहनी चाहिए।" पता नहीं क्यों, निराला जी अपने को कभी एक व्यक्ति विशेष न मान कर पूरा हिन्दी साहित्य मानते थे। ठीक उसी तरह जैसे हिटलर अपने को जर्मनी कहता था।

कालेज का हाल खचाखच भरा था। कुछ कवि लोग भी पहुँच गए थे। निराला जी के पहुँचते ही सब लोगों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया और सारा वातावरण हर्षध्वनि से गूँज उठा। फूल-माला के साथ निराला जी ने सभापति का आसन ग्रहण किया और कविताएँ होने लगीं। सब से पहले बच्चन जी ने 'मधुशाला' का उद्घाटन किया और फिर श्री रामकुमार वर्मा ने दो गीत सुनाए। श्री पद्मकान्त मालवीय ने भी कुछ रुबाइयाँ पढ़ीं। इसके बाद अनेक कवि-खद्योत अपनी क्षीण आभा को बिखेरते-समेटते रहे, तब निराला जी की बारी आई। कविता सुनाने के पहले उन्होंने एक छोटा सा सुगठित भाषण दिया—"आप लोगों के बीच में हिन्दी का प्रचार और प्रभाव देख कर बड़ी प्रसन्नता होती है। मेरा तो जी भर जाता है। नई पीढ़ी पिछली से हमेशा अधिक शक्तिशाली और समझदार होती है। अपनी राष्ट्रभाषा, मातृभाषा और मातृभूमि की रक्षा और सम्मान का भार आप ही लोगों के कंधों पर है। आप लोगों के शान्त-शिष्ट व्यवहार से तबियत बहुत खुश हुई। अभी-अभी आपके आचार्य पंडित जी ने मेरे विषय में जो कुछ कहा है उसे सत्य से अधिक निराला के प्रति उनका स्नेह ही समझना चाहिए। यों तो मैं साहित्यिक समारोहों का जन्मजात सभापति क्या अभी तक आपके साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व के लायक भी नहीं बन सका। सभापति के लिए अन्य क्षेत्रों की भाँति साहित्य में भी मोटे असामियों की जरूरत पड़ती है। घनश्यामदास बिड़ला, डालमियाँ या महात्मा गाँधी की तरह शक्ति-सम्पन्न। बात यह है कि इधर कुछ दिनों से साहित्य-सभापतियों को, राष्ट्रपतियों की तरह विदेशी व्यवस्था की नक्काली में रुपये-पैसे और अन्य धातुओं से तौलने की प्रथा चल

गई है। मैं वदकिस्मती से तौल में तीन मन चौदह सेर हूँ। आप सोचिए कि यदि मुझे सभापति बनाकर रुपयों से तौला जाय तो बहुत काफी रुपयों की जरूरत पड़ेगी। साहित्य-सम्मेलन वाले, हिन्दी वाले काफी होशियार हैं, वे मुझे सभापति बनाकर हिन्दी की मर्यादा नहीं खोना चाहते, क्योंकि जानते हैं कि हिन्दी के नाम पर अभी इतना रुपया नहीं मिल सकता। खैर जाने दीजिए इन बातों को। रही कविता सुनाने की बात सो मेरा ख्याल है कि बच्चन की मधुशाला के बाद मेरी गंगाजली कविता आप को पसन्द नहीं आवेगी।" इतना कहना था कि 'अवश्य सुनाइए—सुनाइए' की आवाज से हाल में एक कोलाहल मच गया। निराला जी कुछ सँभल कर बैठ गए और कहा—"अच्छा आप लोग शान्त हो जाइए। मैं एक गीत और एक मुक्त-छन्द सुनाता हूँ।"

दोनों हाथ फैला कर, सिर हिला कर निराला जी ने 'नयनों का नयनों से बंधन, काँपे थर-थर-थर युग तन-मन' सुनाना प्रारम्भ किया और लोग मंत्र-मुग्ध की भाँति सुनने लगे। ऐसा जान पड़ता था मानो हाल में सब मूर्तियाँ रखी हैं। सारा वातावरण निराला जी की स्वरलहरी के साथ-साथ स्पन्दित हो रहा था। डा० राइस और मिसेज राइस तो ऐसे मुग्ध हो रहे थे कि निराला की तरफ एकटक देखते हुए उनकी सफेद आँखें काँच की गोली की तरह निर्निमेष हो रही थीं। मैं अपने उस अनुभव के स्पष्टीकरण के लिए अब तक भी समर्थ नहीं हो पाया। इस गीत के पश्चात् लोगों को तृप्ति-शिथिलता समाप्त भी न हो पाई थी कि निराला जी ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' सुनानी शुरू की। बीच-बीच में समझाते जाते थे—"ख्याल कीजिएगा, यह कविता निराला ने उन्नीस वर्ष की आयु में लिखी थी और उसकी कली में वही रस, वही भाव और वही मजा है जो रीतिकाल की किसी काव्य-नायिका में। एक-एक शब्द चुन कर रखा गया है। रीतिकालीन नायिका यदि 'पर्यक' में सोती है तो मेरी कली 'पत्रांक' में। शब्द साम्य पर गौर कीजिए। वायु की गति भी शब्दों से झंकृत हो उठती है—'फिर क्या? पवन उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन, कुञ्ज-लता पुजों को पार कर पहुँचा जहाँ उसने की केलि, कली-खिली-साथ।' हवा चलती सी जान पड़ती है या नहीं?"

वास्तव में 'जुही की कली' का रहस्य मेरे लिए उसी दिन स्पष्ट हुआ। प्राकृतिक उपादानों से मानवीय रागात्मक अभिव्यक्तियों का 'जुही की कली' एक अत्यन्त सुन्दर और साथ ही सर्वाङ्गपूर्ण अन्यतम उदाहरण है। कवि-सम्मेलन बड़ी सफलता के साथ समाप्त हुआ। मिसेज राइस निराला जी से

मिलने को बड़ी उत्सुक थीं। निराला जी ने तुरन्त उन्हें बुलाने की आज्ञा दी, और वे अपने स्वभाव के अनुसार हँसती हुई शीघ्र ही आ पहुँचीं। निराला जी और मिसेज राइस को बातचीत करते देख कर विद्यार्थियों की भीड़ ने चारों ओर से घेर लिया। निराला जी ने कहा—"कवि-सम्मेलन तो समाप्त हो गया, आप लोग अब जाइए।" पर मिसेज राइस निश्छल हृदय से बोलीं—"रहने दीजिए, वे सब अपनी माँ के साथ हैं। आप तो जानते ही होंगे ? ये सब मेरे बच्चे हैं।" निराला जी भाव-विभोरता में मुस्करा पड़े—"वास्तव में आप बहुत बड़ी माँ हैं, भारत में, महाभारत में ऐसी माताओं का बहुत महत्व है।" अमेरिकन रीति-रिवाज और साहित्य पर बहुत सी बातें होती रहीं। निराला जी ने बताया कि 'इमरशन' उन्हें बहुत प्रिय और दिव्य लगता है। 'जेम्स' का दर्शन भी उन्हें पसंद है। मिसेज राइस यह सुन कर बहुत खुश हुई, और बताया कि वे आजकल कालिदास की 'शकुंतला' पढ़ रही हैं। निराला जी ने वाह करते हुए 'शकुंतला' के दो-एक पद सुनाये। मिसेज राइस ने कहा—"हिन्दी तो बोल और समझ लेती हूँ पर अभी संस्कृत नहीं समझती, और पढ़ने के लिए पंडित जी का ट्यूशन कर रखा है। मुझे इण्डिया अपने अमेरिका की तरह बहुत ही अच्छा लगता है।" निराला ने उनसे मिलने की प्रसन्नता प्रकट की और बताया कि वे हिन्दी का आधुनिक काव्य पढ़ें। मिसेज राइस ने विश्वास के साथ उत्तर दिया—"अच्छा-अच्छा, जब आप फिर कभी कालेज आवेंगे तब मैं आप को आप की कविता सुनाऊँगी।" अपने वादे को पूरा करने की याद दिलाते हुए निराला ने उनसे विदा ली और हाल से बाहर निकले। निराला जी को लेकर जब मैं लीडर प्रेस पहुँचा, तब ठीक दो बजा था।

रास्ते में निराला जी ने मिसेज राइस के विषय में बहुत से प्रश्न किए और उनके हिन्दी-ज्ञान पर आश्चर्य प्रकट किया। मिसेज राइस के सहज स्नेहमय व्यवहार और हिन्दी-प्रेम ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था। उन्होंने चलते समय कहा—"मैंने बहुत से कवि-सम्मेलन अटेन्ड किए हैं, पर आज जैसा लुत्फ कहीं नहीं आया।" उन्होंने यह भी बताया कि तीन-चार दिन के भीतर वे लखनऊ चले जायेंगे और मुझसे लखनऊ आने का आग्रह भी किया—"लखनऊ आओ, दो-चार दिन के लिए। वहाँ का एक अलग वातावरण है। प्रयाग अच्छा है, पर लखनऊ की नफासत ही और है। मैं तो यही कह सकता हूँ और यही है भी कि—लखनऊ हम पर फिदा है, हम फिदाए लखनऊ।"

प्रथम मुलाकात से ही निराला जी की जिस स्वाभाविक स्नेहशीतलता तथा

आत्मीयता का अधिकार मुझे मिला, वह मेरे लिए ही नहीं मेरे अन्य मित्रों के लिए भी परम आश्चर्य की बात थी। मैंने सुन रखा था कि निराला जी बहुत ही अक्खड़ हैं, बात-बात पर नाराज हो जाते हैं, पर पाया इसके विपरीत, अत्यन्त नम्र और प्रियभाषी। निराला का स्वभाव निश्छल और उदार था। उनकी स्पष्टवादिता बहुतों को बुरी भी लगती थी, पर वे तो सहज रूप से भीतर-बाहर एक थे। आधुनिकों का वाग्विलास उनमें नहीं था, किन्तु हृदय की सीधी-सादी अभिव्यक्ति उनमें थी। वे कथन-शैली को उतना महत्व नहीं देते थे जितना बात की सचाई को। हृदय की सहानुभूतिशील दिव्यता और सबके प्रति व्यापक स्नेहशीलता ही कलाकार का सबसे बड़ा गुण भी तो है। निराला जी इसी तरह के कवि-कलाकार थे, इसमें सन्देह नहीं। अपनी इस सचाई की दृढ़ता भी उनमें साफ दिखती थी, सृजन और व्यवहार दोनों में—

जैसे हम हैं, वैसे ही रहें,
लिये हाथ एक दूसरे का अतिशय सुख के सागर में बहें।
जो चाहें, कहें वे, कहें।

सामान्य और व्यावहारिक श्रमिक का जीवन बिताते हुए उन्होंने अपनी कोमल तथा कमनीय कल्पना एवं भव्य और भास्वर भावना को निर्भीक और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति दी। उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता थी। उनके काव्य ने उनकी कर्मठता और जीवन-यापन की सुविधा जुटाने की शारीरिक क्षमता को कभी कुण्ठित नहीं किया। रूखे-सूखे दैनिक संघर्षों से उनकी कला कठोर भी नहीं हो पाई, क्योंकि वास्तविक अमिताभ प्रतिभा, जीवन की उन समस्त कठिनाइयों पर जो साधारण मनुष्य की पराजय का कारण बन जाती हैं, अवश्य ही विजय पाती है। निराला जी इस तथ्य के प्रतीक थे, उनकी प्रतिभा ऐसी ही विजयिनी थी। एक परिपुष्ट बट-वृक्ष की तरह वे जीवन की विषमताओं के भारी झंझा-वात को केवल अपने कर (पल्लव, हाथ) हिलाकर टाल देते थे—

जननि मोहमयी निशा अब दूर मेरी हो चुकी है,
पल्लवों की धूल वर्षा धो चुकी है।

जीवनव्यापी संघर्ष की कटुता की झंझा, वर्षा, आतप जैसे उनके विकास के साधन मात्र थे।

●

लखनऊ पहुँचने के बाद निराला जी ने एक पत्र मुझे भेजा और कभी मौका पाकर लखनऊ पहुँचने का निमंत्रण बड़े आग्रह से दिया। पत्र में पते के स्थान

पर 'हाथी खाना, भूसा मंडी' देखकर पहले तो मैं समझ ही न पाया कि वह निराला जी के रहने की जगह हो सकती है, किन्तु बाद में पता चला कि यह नाम उसी जगह का है जहाँ निराला जी रहते थे। मन ही मन में लखनऊ की निराला जी वाली नफासत को धिक्कारने के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता था। निराला जी की सहृदयता पर तो मैं मुग्ध था ही, मुझे उनकी हस्तलिपि भी बहुत सुन्दर लगी। मैंने आधुनिक छायावादी कवियों मे प्रायः सभी के दर्शन किये है, उनकी हस्तलिपि देखी है, उनके साथ बैठा-उठा और व्यवहार में आया हूँ, किन्तु निराला जो सभी तरह से अकेले और अन्यतम थे। पत्र की पंक्तियाँ भी क्या ? मानो मोतियों की स्वच्छ लड़ियाँ कागज में गूँथ दी गई थीं। यों पंत जी की, महादेवी जी की भी लिखावट काफी अच्छी है, पर निराला जी की बात ही और थी। कवियों में आजकल अपनी हस्तलिपि देने का फैशन भी चल गया है वस्तुतः प्रायः मेरे देखने में टैगोर से लेकर नरेन्द्र शर्मा तक की हस्तलिपियाँ आई है और उनमें मैंने निराला जी की ही लिखावट सबसे सुन्दर और साफ पायी। हस्तलिपि को माध्यम बनाकर यदि निराला के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जाय तो वे बहुत ही ऊँचे पाये के व्यक्ति ठहरते हैं, यह निर्विवाद है। तब से बराबर निराला जी अपनी खोज-खबर भेजते रहे और मैं समय-समय पर जाकर उनके दर्शन भी करता रहा। निराला जी स्वयं भी लीडर-प्रेस तथा इण्डियन प्रेस से अपनी कृतियों के प्रकाशन के सम्बन्ध में प्रयाग प्रायः साल में एक बार आते-जाते रहे और मुझे उनसे मिलने-जुलने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

नवम्बर में निराला जी फिर प्रयाग आए। तब तक मैं विश्वविद्यालय में आ चुका था। 'एडल्फी', बन्द रोड में कोठी स्टेट के कुंवर श्री राघवेन्द्रसिंह के साथ रहता था। प्रयाग आने के दूसरे दिन निराला जी मेरे यहाँ पधारे। उस समय मेरी मनोदशा 'सेवक भवन स्वामि आगमनू' से कुछ कम नहीं थी। निराला जी ने अपने कई नए गीत सुनाये। उन दिनों 'अनामिका' नये रूप से छप रही थी और उसकी कविता 'राम की शक्तिपूजा' 'भारत' में प्रकाशित भी हो चुकी थी। 'गीतिका' भी छप चुकी थी और नये गीत पत्रों में प्रकाशित हो रहे थे। मैंने कहा—"निराला जी, आजकल खूब लिख रहे हैं, किताब पर किताब निकल रही है।" निरालाजी ने उदासी की साँस लेते हुए बताया कि ये सब उनकी पुरानी चीजें हैं। कोई प्रकाशक न मिलने से अब तक यों ही पड़ी रह गई थीं। मुझे केवल आश्चर्य ही नहीं एक क्षोभ भी हुआ, पर उसके

निवारण का कोई साधन मेरे पास न था। प्रयागी नुमायश में अन्य वर्षों की भाँति इस वर्ष भी एक विराट कवि-सम्मेलन का आयोजन था, उन दिनों ऐसे सम्मेलनों का विशेषण केवल विराट ही माना जाता था। आने न आने वाले सभी कवियों का नाम विज्ञापन-पत्रों मे छप रहा था। निराला जी का भी नाम और उनके निश्चित रूप से आने की सूचना छपी थी। उत्सुकता से मैंने पूछा --"निराला जी क्या इस समय आप प्रयाग, नुमायश वाले कवि-सम्मेलन में शरीक होने के लिए आए हैं ?" निराला जी एकदम से उबल उठे—"हटाओ, कवि-सम्मेलन और कपि-सम्मेलन। कवियों को नचाना-गवाना और जनता से रुपया ठगना आजकल खूब चल रहा है। एक समय था जब ऐसे सम्मेलनों की हिन्दी-प्रचार के लिए आवश्यकता थी, पर अब वह समय नहीं रहा। जनता स्वयं बिना किसी प्रदर्शन के अब हिन्दी पढ़ती-पढ़ाती है। और मैं तो कहीं आने-जाने के लिए काफी रुपया लेने लगा हूँ। रेडियो हो या कवि-सम्मेलन। मेरे पास संयोजक के चेले आए थे, मैंने साफ-साफ कह दिया है कि दो सौ नकद और चेयर लूंगा तब आऊँगा।" मैंने कहा—"चेयर तो बैठने के लिए आप को मिलेगी ही, उसकी क्या माँग ?" निराला जी कुछ आवेश मे आकर कहने लगे —"क्या आफत है ! ग्रेजुएट होने जा रहे हैं और चेयर का मतलब नहीं समझते।" मेरे अँग्रेजी-ज्ञान को जैसे किसी ने झकझोर दिया और मैंने तपाक से निराला जी को टोका—"चेयर का अर्थ कुरसी मैं पाँचवें दर्जे से जानता हूँ।" इस बार निराला जी जोर से हँस पड़े—"चेयर का अर्थ कुरसी के साथ-साथ ऐसे प्रयोग से सभापतित्व हो जाता है।" मैं कुछ सहम-सा गया।

निराला जी की ऐसी उत्तेजना यद्यपि शाब्दिक ही रहती थी, पर कभी-कभी बहुत तीव्र हो उठती थी। वस्तुतः मैंने उसे शान्त करने के भाव से कहा —"यह भी ठीक है, जिस कवि-सम्मेलन मे आप उपस्थित हों वहाँ दूसरा कौन सभापति हो सकता है, आप तो 'बार्न सभापति' हैं। आज इसमें दो मत नहीं रह गए।" निराला जी की अज्ञात चेतना में न जाने कौन सा घाव हरा हो उठा था, वे शान्त होने की अपेक्षा और ज्यादा बौखलाते गए—"तुम भी व्यंग करने लगे ! तार्न सभापति, वाह भाई, खूब कहा। मेरा भाग्य ही ऐसा है, कभी बनारसीदास चौबे पागल कहता है, साबित करता है, कभी शान्तिप्रिय दुबे मुक्त-छंद की तरह जीवन-मुक्त, मृतक या पागल बनाता है और अब तुम भी, पाँड़े हो न, 'बार्न सभापति' बनाकर उल्लू बनाओ। दुबे, चौबे और पाँड़े एक ओर, और मैं तिबे (त्रिपाठी) एक ओर, है न अच्छा कोरम।" मैं स्तब्ध था,

पर एक बात सूझी और उसका उपयोग भी सफल रहा। मैंने कहा—"आप तो न जाने क्या सोच रहे हैं? यह तो बताइए आप का 'कुल्लीभाट' पूरा हो गया कि नहीं? 'चमेली' तो 'रूपाभ' में निकल रही है, बहुत अच्छी है। जोशी जी भी बड़ी तारीफ कर रहे थे।" निराला का भाव एकदम बदल गया, क्योंकि निराला जी अपने साहित्य की चर्चा बड़े चाव से सुनते थे। सम्भवतः उचित से कम स्नेह-सम्मान मिलने की प्रतिक्रिया ने उन्हें ऐसा बना दिया था। उन्होंने 'मेरे गीत और मेरी कला' भी तो लिखा था। बड़ी उतावली से उन्होंने जानना चाहा कि किस-किस को उनका उपन्यास 'चमेली' पसन्द आया था। मैंने दो-चार सही और दो-एक कल्पित नाम बता दिए, क्योंकि मुझे जान बचाने की लगी थी। निराला जी ने स्वयं डा० रामविलास शर्मा का नाम उस नामावली में जोड़ दिया और कहने लगे—"पंत ने तो कुछ लिखा नहीं, सिर्फ छाप दिया। झेंपते भी रहे होंगे, क्योंकि 'रूपाभ' निकालते समय जो पैम्फलेट निकाला था उसमें मेरा नाम नहीं था और इस उपेक्षा का बदला जब मैंने 'रूपाभ' में लिख-कर चुकाया तब उन पर घड़ों पानी पड़ा होगा।"

मुझे याद आया कि श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी भी 'रूपाभ' से नाराज़ थे, क्योंकि पन्त जी ने अपने साथ पत्र का संपादन करने के लिए उन्हें न चुन कर श्री नरेन्द्र शर्मा को चुना था। निराला जी भाव-मुद्रा से आदमी की स्थिति पहचानने में बहुत दक्ष थे; फौरन कहा—"क्या सोच रहे हो?" मैंने मन की बात बता दी और निराला को आगे बढ़ने का मौका मिला। "खैर, शान्तिप्रिय की बात जाने दो, वह तो भाग्य का मारा सबसे नाराज रहता है और फिर पंत का तो वह भक्त है, शिष्य है। ठीक उसी तरह जैसे 'जुगलप्रिया' जी का चेला वियोगी हरि है। इसमें कोई बुराई नहीं, पर मैं स्वयं साहित्य में संती-महंती पर विश्वास नहीं करता, क्योंकि भावलोक में सब समान हैं। सीताहरण के पश्चात् राम का विलाप पढ़कर, इन्दुमती के लिए अज का करुण-क्रन्दन सुनकर वे हमारे सामने सामान्य मानव से कुछ विशेष रूप में नहीं उपस्थित होते, इसी तरह भावलोक में सभी जगह सब समान। इतना जानते हुए भी पंत के प्रति मैं विशेष स्नेह रखता हूँ। कैसा दिव्य कवि है, कोमल मधुर और गतिशील। हिन्दी में बहुत दिनों से ऐसा कवि नहीं आया था। उसकी 'अप्सरि' में छायावाद की पूरी डेफिनीशन है। और भाव-भाषा तथा इमेजरी (कल्पना) तो कुछ पूछो मत, तुमने तो 'गुंजन' पढ़ा होगा।" मेरे उत्तर की बिना प्रतीक्षा किए, वे कहते गए—"तुमने तो पंत को सन् '२७,'२८,'३० में देखा ही नहीं।

ऐसा सुन्दर स्वर-स्वरूप और स्वभाव मैंने अन्यत्र नहीं देखा। एक बड़ा मजाक रहा। मैं और पंत कालाकाँकर से लखनऊ जा रहे थे। पंत नीचे की बर्थ में सो रहे थे। रात ज्यादा नहीं गई थी। बीच के किसी स्टेशन पर एक बाबू साहब पूरे सूट-बूटधारी डिब्बे में आए और अपनी 'रिजर्व' सीट खोजने लगे, पंत की बर्थ की ओर बढ़े, मैंने कह दिया कि देखिए 'जनाना' है उधर मत जाइए। पंत के गोरे-गोरे लुचलुचे पंखुरियों जैसे हाथ और लहराते बाल देखकर वह पंत को वही समझे जो मैंने कहा था। थोड़ी देर में पंत जी खाँस-खूंस कर खड़े हो गए और बाबू साहब मुझ पर त्यौरियाँ चढ़ाने लगे, पर कुछ बोले नहीं। उन दिनों मेरी भी जवानी थी, आँखें अधिक लाल थीं, पहलवानी का शौक भी चल रहा था, बाबू साहब समझ गए। पंत से मैंने सारा किस्सा कह सुनाया। देखता हूँ कि डिब्बे के दोनों साथी नाराज। पर यह एक स्नेह-क्रीड़ा मात्र थी। पंत मुझको हृदय से बहुत मानता है पर व्यवहार में मेरा प्यार संकोच बन के चढ़ बैठता है। मैं पंत से यों भी भारी पड़ता हूँ। इसीलिए मैं उतना पापुलर भी नहीं हो पाया। हमारा पंत से काव्य-युद्ध भी छिड़ चुका है।" मैंने आग्रह पूर्वक कहा—"सुनाइए, निराला जी, सुनाइए।" "याद नहीं"—कह कर टालते हुए उन्होंने एक पंक्ति अपनी और एक पंक्ति पंत जी की सुनाई—

बन्धु ! क्षमहु अपराध !

तुमहिं बान कछु रूसन की है हमहिं मनावन साध !—पंत जी की, और

पलकन पग चूंमूं आज पिया के मैं !—अपनी

वास्तव में ये पंक्तियाँ दोनों महाकवियों के स्नेहमय निश्छल सम्बन्धों की साक्षी हैं।

इस युग के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उनमें से प्रायः सभी एक-दूसरे के प्रति उदार और वर्गवादी रहे। प्रसाद-निराला-पंत-महादेवी का परस्पर व्यवहार-विनिमय अत्यन्त मधुर और कोमल रहा है। निराला-पंत-महादेवी को बैठते-उठते, मिलते-जुलते, चाय-जलपान करते देखने का सौभाग्य मुझे मिला है। यह सच है कि आज के युग में, संघर्ष के महायज्ञ में स्पर्धा की दौड़ में ऐसी मैत्री इन छायावादियों की ही विशेषता है। पंत जी से, निराला जी से महादेवी जी से, प्रसाद जी के संस्मरण सुन लीजिए और बस चारों खाने चित्त।

पंत जी के प्रिय-स्मरण से निराला जी भावुक हो उठे थे और भावुक को मुखर होने में देर नहीं लगती, ऊपर से मैंने जानबूझ कर छेड़ दिया—"'युगान्त' के बाद के पंत जी आपको कैसे लगते हैं? उनका तो दृष्टिकोण ही बदल गया।"

निरालाजी ने झट से उत्तर दिया—"अच्छे लगते हैं, अच्छा लिखते हैं। भला पंत के लिए क्या पूछना है ? पर भाई 'जिसकी फटे सो सिलाए' पंत कलाकार है जो लिखेगा, ठीक ही होगा, किन्तु मुझे किसी ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। साहित्य तो सदैव प्रगतिशील होता है, शर्त एक ही है कि उसकी रचना जीवित व्यक्ति करें, मुर्दे नहीं। देखते नहीं, सभी प्रगतिशील पत्र मेरी पुरानी-छपी कविताओं को ले-लेकर छाप रहे हैं। आज भी 'भिखारी', 'विधवा', 'बादल', 'वह तोड़ती पत्थर' उतनी ही प्रगतिशील हैं जितनी सन् '२९-'३० में थीं।" मैंने फौरन हाँ में हाँ मिलाई—"अरे और तो और, छायावाद को बुरा-भला कहने वाला कोई भी प्रगतिशील समालोचक बिना इन कविताओं को कोट किए हुए प्रगतिवाद का विकास ही नहीं ढूंढ़ सकता"। निराला खुल पड़े—"यह तो है ही, क्योंकि कलाकार की कल्पना जिस भाव को सौन्दर्य के माध्यम से ग्रहण करती है वह सत्य है और अनुभूति की सचाई तो सब दिन सुन्दर होती है, अन्यथा होती ही नहीं। इस प्रकार कला, जीवन के सत्य से कभी बाहर नहीं जा सकती। यही तो तमाशा है, 'वह तोड़ती पत्थर इलाहाबाद के पथ पर' को मैंने कल्पना और अनुभूति दोनों से सजाया है। पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन को देखने की अनुभूति, बिना मेरे भीतर बैठी उसकी सहानुभूतिमय कल्पना के, ऐसी कविता हिन्दी को नहीं दे सकती। खैर धीरे-धीरे लोग समझ जायेंगे।" कहते हुए निराला जी उठने के लिए सँभल गए। 'अब चलूंगा', कहते-कहते खड़े हो गए। शिष्टाचारपूर्ण विदा ली और चले गए। ताँगा बढ़ते-बढ़ते निराला जी यह कहने में नहीं चूके कि मुझ पर उनका एक 'रिटर्न विजिट' बाकी रहा।

तीसरे दिन नुमायश का कवि-सम्मेलन था। दूर-दूर से कवि, महाकवि आए हुए थे। सबकी कविता सुनने और दर्शन करने की इच्छा से मैं भी नुमायश पहुँचा। कवि-सम्मेलन के पंडाल में घुसते-घुसते मुझे निराला जी का कवि-सम्मेलनों की व्यर्थता पर दिया गया वक्तव्य याद आ रहा था, पर मन नहीं माना। मैंने अपना पास एक मित्र को दे दिया और स्वयं टिकट लेकर भीतर गया। कवि-सम्मेलन शुरू होने के थोड़ी देर पहले निराला जी श्रीनारायण चतुर्वेदी के साथ वहाँ पहुँच गए। उन्हें देखकर मुझे पहले तो कुछ क्षोभ हुआ, किन्तु फिर निराला जी के सहृदय स्वभाव का स्मरण करके मैं शान्त हो गया। कवियों को भीतर हाँक लाने के लिए दो-चार दूत बाहर भेजे गए। ठाकुर श्रीनाथ सिंह उनके मुखिया थे। कुछ लोगों ने पंडाल के भीतर अपनी गिद्ध-दृष्टि दौड़ाई और मैं भी पकड़ लिया गया। निराला जी स्वयं आए और मुझे कवि-मंच पर ले गए और कहा—

"क्या हर्ज है, एक कविता पढ़ देना। विद्यार्थियों को तो ऐसे जलसों में अवश्य भाग लेना चाहिए। मेरी सब शर्तें इन लोगों ने मान लीं, इसीलिए मैं भी आ गया।" सब लोगों के एकत्रित हो जाने के पश्चात् कवि-सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। डा० रामकुमार वर्मा, पद्मकान्त मालवीय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, कोकिल जी और सुभद्रा जी ने अपनी कविताएँ सुनाई और भी बहुत से कवि थे जिनका नाम मुझे याद नहीं। अन्त में निराला जी की बारी आई और वे बोले—"पी-पाँ, पिन्न-पिन्न आप लोग काफी सुन चुके हैं, अब जरा तड़ाक-फड़ाक भी सुनिए।" इतना कहने के बाद निराला जी ने 'राम की शक्तिपूजा' सुनानी शुरू की। बीच-बीच में कहते जाते थे—"इसका विषय तो पुराना है पर इसकी अदायगी और अनुबंध एकदम नया है। राम की सेना और सेनापतियों की बैठक माडर्न ढंग की है और भगवान राम की मनोदशा की एक नई कल्पना मैंने की है।" वे करीब पौन घंटे तक इसे सुनाते और भाव समझाते रहे। निराला की यह कविता राम-काव्य का एक नया दृष्टिकोण है, इसमें सन्देह नहीं। राम का यह रूप—विजय कामना की यह बलि—

'यह है उपाय,' कह उठे राम ज्यों मंद्रित घन—
'कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन!
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन'

और—**जिस क्षण बँध गया बेंधने को दृग दृढ़ निश्चय,**
काँपा ब्राह्माण्ड, हुआ देवी का तुरत उदय!

यह निराला जी की अपनी मौलिक कल्पना है और राम-काव्य को निराला जी का महादान है। इस उच्चकोटि की कविता को निराला जी पढ़ते भी बहुत जोश के साथ थे। लोगों का कहना है कि रात की नीरव स्तब्धता मे निराला जी का उद्दात स्वर नुमायशी बाड़े के बहुत दूर बाहर तक गूंज रहा था। निराला जी स्वयं नवम्बर की सर्दी मे भी पसीने से लथ-पथ हो गये थे और अपेक्षाकृत धीरे-धीरे कहने लगे—"यह हिन्दी कवियों का दुर्भाग्य है कि उन्हे कविता सुनाने के लिए कुछ रुपया लेना पड़ता है। करें भी क्या? उनके पास पेट भरने को पैसा नहीं, फिर यात्रा का प्रबंध कैसे करें। सब तरह से सन्यासी होकर भी भूख-प्यास से पीछा नहीं छुड़ाया जा सकता। वाल्मीकि और व्यास को भी रोटियाँ तोड़नी पड़ती थीं।" पं० अमरनाथ झा बड़े ध्यान से निराला जी की बातें सुन रहे थे,

सिर हिला रहे थे कि निराला जी ने अपनी बात को चरम विन्दु पर पहुँचाया—"सौ रुपया मैं कवि-सम्मेलन की प्रबंध-समिति को अपनी ओर से सहायता के रूप में दे रहा हूँ और कवि-सम्मेलन समाप्त करता हूँ।" दूसरे दिन निराला जी लखनऊ चले गए।

मेरा पत्र-व्यवहार निराला जी से बराबर जारी था जिसमें वे बार-बार लखनऊ आने का आग्रह करते-रहते थे। बहुत बड़ी उत्सुकता, प्रतीक्षा और भा साहब की सिफारिश के बाद सन् '३९ के सितम्बर में मुझे लखनऊ रेडियो से निमंत्रण मिला। मेरे लिए यह बहुत बड़ी बात थी। पं० इलाचन्द्र जोशी को भी बुलाया गया था। एक पंथ तीन काज सिद्ध करने की बात का अवसर पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। जोशी जी का साथ, रेडियो की टाक और निराला जी के दर्शन। तीनों काम उत्तम और मन के पाकर मैं गद्‌गद् हो उठा। इस सुखद संयोग की सूचना मैंने निराला जी को भेज दी और उनका उत्तर भी आ गया। निराला जी ने अपने यहाँ ठहरने की विशेष आज्ञा दी थी, जोशी जी ने भी यही ठीक समझा। समय के दो दिन पहले ही हम लोग लखनऊ को रवाना हो गए। स्टेशन पर 'हाथी खाना, भूसा मंडी' का पता लगाया और पहुँचे। चारों तरफ मजदूरों और गरीब मुसलमानों की गंदी बस्ती, सँकरी दुर्गधपूर्ण गलियाँ और टूटी-फूटी सड़क। इधर-उधर पूछ-ताछ की, पर निराला जी का पता न चला। जिससे पूछते कह देता, हम नहीं जानते। निराश और हताश होकर जोशी जी के मना करने पर भी मैंने एक बुढ़िया से, जो दीवाल पर कंडे पाथ रही थी पूछा—"क्यों बुढ़िया, यहाँ कहीं निराला जी, बड़े-बड़े बाल वाले रहते है?" बुढ़िया ने परम आत्मीयता से कहा—"कवी जी को पूछ रहे हो?" मैंने कहा—"हाँ-हाँ कवी जी को।" बुढ़िया खिल गई—"हाँ-हाँ यहीं रहते हैं, चलो बता दूँ। वे मुझे बहुत मानते हैं, मैं उन्हीं के घर में रहती हूँ।" आगे बुढ़िया, पीछे हम लोग, तब ताँगा, चल पड़े। जोशी जी के बड़े-बड़े बालों की ओर देख-देख कर बुढ़िया निराला जी से उनका कुछ घनिष्ठ संबन्ध सोचने को बाध्य सी हो रही थी, मुझे ऐसा लगा। कुछ ही देर बाद निराला जी का निवास सामने आ गया। बुढ़िया ने मकान की ओर इशारा किया और अपने काम पर चली गई। मकान के पास पहुँच कर देखा कि एक प्रायः लुन्ज-पुन्ज व्यक्ति दरवाजे पर बैठा चने चबा रहा है और चीलर बीन रहा है। उसी ने बताया कि निराला जी भीतर हैं और बुढ़िया उसकी माँ है। इधर-उधर कुछ टहल-पानी करके उसको खिलाती-पिलाती है। निराला जी ने मकान के नीचे का हिस्सा उसको दे रखा है और समय-समय पर और भी

सहायता करते रहते हैं। हम लोग निस्संकोच भाव से मकान के ऊपरी हिस्से में चढ़ गए।

निराला जी एक ढीली-ढाली खटिया में चुप-चाप पड़े थे। हम लोगों को देख कर इतनी जल्दी और हड़बड़ी में उठे कि चारपाई चर्र-मर्र कर उठी। 'आइए-आइए' के साथ वे खड़े हो गए। मैंने बगल में पड़ी लटी-फटी दरी फर्श पर बिछाई और तीनों जने बैठ गए। कुशल-प्रसन्न के बाद इधर-उधर की बातें होती रहीं। अचानक निराला जी उठ खड़े हुए और बोले—"आराम से बैठिए, मैं अभी आता हूँ।" और बाहर चले गए। मैंने निराला जी के घर का निरीक्षण शुरू किया। ऊपर तीन कमरे थे। एक में वही खटिया, बाँस का बूँचा टेबिल और एक टूटी सी कुरसी। आलमारी में कुछ कागज-पत्र और रवीन्द्र की 'संचयिता' पड़ी थी; एक पुराना होल्डर और एक दावात भी। दूसरे कमरे में मिट्टी के दो-चार घड़े और लकड़ियाँ तथा एक गोंठिल कुल्हाड़ा। घड़ों में थोड़ा-थोड़ा दाल-चावल और आटा रखा था। तीसरे कमरे में नल था और पानी भरी, काई लगी एक सुराही। नल वाले कमरे के सामने एक बरामदे में रसोईघर, जिसमें पीतल की थाली और बेलना-चौकी के साथ कुछ बर्तन इधर-उधर लुढ़क-पुढ़क रहे थे। बर्तन साफ करने का काम उसी बुढ़िया ने आकर सम्पन्न किया। मेरा निरीक्षण अभी चल ही रहा था कि निराला जी जलेबी का दोना और गोभी का फूल हाथ में लिए आ गए। मैंने कहा—"आप का घर देख रहा था।" निराला जी ने कुछ करुण होकर उत्तर दिया—"घर में क्या है? न गृहिणी है न गिरस्ती, सब लस्टम-पस्टम पड़ा है।" हम लोगों ने जलेबी खाई और निराला जी ने गोभी काटना आरम्भ किया। हँसते-हँसते कहने लगे—"पाँड़े, तुम गोश्त नहीं खाते वरना आज पकाता। खैर, आलू-गोभी की तरकारी और रोटियाँ पकाता हूँ। शाम को हजरतगंज में बढ़िया-बढ़िया चीजें खिलाऊँगा।" निराला जी ने सबसे पहले स्नान किया और चौके में जा जमे। मैं भी उनकी सहायता के लिए चौके में गया पर निराला जी नहीं चाहते थे कि मैं कोई भी काम करूँ वस्तुतः उन्होंने कहा—"मैं बहुत अच्छा खाना बनाता हूँ, तुम देखते जाओ कुछ करो मत।" मुझे बहुत अच्छी तरह स्मरण है और जोशी जी भी इसके कायल हैं कि निराला जी ने बहुत सुस्वाद भोजन बनाया था। वे रोटियाँ मेरे लिए तो देव-दुर्लभ थीं।

भोजन के बाद तुरंत सोने की निराला जी को आदत है। हम लोग भी लेट गए। जोशी जी और निराला जी अभ्यासवश शीघ्र ही खर्राटे भरने लगे,

पर मुझे नींद नहीं आई। कुछ-कुछ आँखें लग ही रहीं थी कि बाहर से आवाज आई—"निराला जी, निराला जी, ओ निराला जी।" खाने के बाद सोने के सिवाय निराला जी और कुछ नहीं करते। आवाज सुनकर क्रोध के साथ पूछा —"कौन है भाई, ऊपर चले आइए।" दो व्यक्ति ऊपर आए। निराला जी उठकर बैठ गए और उनसे बातें करने लगे। उनमें से एक सज्जन हाथ जोड़कर निराला जी से बड़े आग्रह के साथ कह रहे थे—"आज हमारी इज्जत रख लीजिए। महाराज ओरछा ने आना स्वीकार कर लिया है। आप आ जाइए, बस हमारी सफलता हो गई।" निराला जी महाराज के नाम से बिचक उठे— —"हम तो गरीब आदमी हैं। हमारे आने से क्या होगा? महाराजा-महारानियों को बुलाइए। हम तो गरीबों के ही साथ बैठते-उठते हैं।" इतने में दूसरे सज्जन चीखने लगे—"क्या आप लखनऊ की नाक नहीं बचावेंगे? आज आ जाइए फिर कभी भी हम आपसे कुछ नहीं कहेंगे।" निराला जी ने इंकार करते हुए कहा—"देखते नहीं, मेरे घर मेहमान आए हैं, इनको छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगा?" अब क्या था उन्होंने निराला जी को छोड़कर मेरी खुशामद शुरू की —"साहब आप भी आइए। बड़ा ग्रैन्ड कवि-सम्मेलन होगा, देखने लायक, अवश्य आइए, मैं आपको निमंत्रित करता हूँ।"

चहल-पहल देखने का स्वभाव और कवि-सम्मेलन के प्रति एक सहज आकर्षण ने मुझे विवश किया कि मैं भी निराला जी से स्वीकृति दे देने की प्रार्थना करूँ। जोशी जी वास्तव में सो रहे थे या जगते हुए सो रहे थे, मुझको पता नहीं, पर वे एकदम चुप रहे। निराला जी ने जाना मंजूर कर लिया और वे लोग वापस चले गए। निराला जी ने बताया कि शेरवानीधारी व्यक्ति श्री दुलारेलाल भार्गव थे। कवि-सम्मेलन चार बजे शाम से गंगा मेमोरियल हाल में होने वाला था। मैं तीन बजे से ही बार-बार घड़ी देखने लगा। जोशीजी नहीं गए, पर मैंने निराला जी का साथ दिया और जोशी जी से अमीनाबाद में मिलने की बात तय करके हम लोग बाहर निकले। वहाँ पहुँचकर देखा कि बहुत भीड़-भाड़ और धूम-धाम है। ओरछा नरेश ठीक समय से आए और सब लोगों ने हाल में प्रवेश किया। एक उच्च और विशाल कवि-मन्च पर सब कवि बैठ गए। मैं भी निराला जी के साथ फूल में पत्तियों की तरह लगा रहा। आए हुए कवियों में कानपुर मंडल का आधिक्य था। खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों की कविताएँ हो रही थीं। निराला जी ने सुरती और चूना जेब से निकाल कर मलना शुरू किया। तम्बाकू की झार से दो-एक पास बैठे कवियों को खाँसी और छींक आने

लगी और एक कवयित्री जी ने भी मुँह बनाया। निराला जी ने बहुत ही उटक्कर जवाब दिया—"खूब फैल कर बैठिए, काफी जगह है। निराला के पास इतनी भार तो रहेगी ही।" इसी तरह के अनेक विनोद-परिहास के साथ कवि-सम्मेलन घंटों चलता रहा। अन्त में महाराज ने निराला जी से कविता सुनाने की प्रार्थना की। निराला जी ने 'जागो फिर एक बार' और एक छोटा सा गीत सुनाया।

सब का मन प्रसन्न हो उठा। वाह-वाह की झड़ी लग गई। ऐसा लगा जैसे कवि-सम्मेलन की सारी सार्थकता निराला की साधना से ही सम्भव हुई। निराला का परिपुष्ट व्यक्तित्व वाणी के ओज के साथ और भी दमक उठता था। मेरा कई बार का अनुभव है कि कवि-मंच पर निराला की सभी शक्तियाँ—तेजस्विता, वाणी, भाव-भंगिमा और उनका हास-व्यंग्य सभी अधिक प्रखर और विकसित हो उठते थे। महाराज ओरछा भी अत्यधिक प्रभावित जान पड़ते थे। चलते समय उन्होंने निराला जी से कहा—"निराला जी आप चलकर ओरछा में क्यों नहीं रहते? आप को चाहिए ही क्या? एक छोटा सा बँगला, बगीचा और नदी का किनारा, बड़ा अच्छा रहेगा।" निराला जी जैसे पहले से उत्तर सोचे बैठे थे—"महाराज छत्रसाल ने भूषण त्रिपाठी को अपने यहाँ ले जाने के लिए भूषण की पालकी में अपना कंधा दिया था। तो क्या सूर्यकान्त त्रिपाठी मोटर से ओरछा जावेगा?" स्वयं ओरछा नरेश ने निराला जी के इस तथ्यपूर्ण मजाक का आनन्द तो उठाया और निराला की तारीफ भी की, पर पालकी में कंधा देना उनके बूते का नहीं था। कुछ लोगों की राय थी कि ऐसा उत्तर देना ठीक नहीं था, पर निराला के लिए तो वही ठीक था जो वे करें।

कवि-सम्मेलन के पश्चात् अमीनाबाद में जोशी जी को खोजा और जाकर एक होटल में भोजन किया। रात को करीब ग्यारह बजे भूसा मंडी वापस आए। दूसरे दिन सुबह निराला जी के यहाँ डा० रामविलास शर्मा आए और उनसे भी मुलाकात हुई। शाम को निराला जी श्री अमृतलाल नागर के यहाँ ले गए और वहाँ बड़ी देर तक साहित्यिक चर्चा चलती रही। उनकी चाय की ठंडक अब भी रोंगठे खड़े कर देती है, पर वे आदमी बहुत अच्छे हैं। निराला जी हम लोगों के साथ रेडियो आफिस भी गए और 'रिहरसल' में मुझे बोलने का ढंग सिखाते रहे। आठ बजे टाक देकर साथ ही वापस आए। आफिस से बाहर आते ही निराला जी कहने लगे—"तुम्हारी आवाज माइक के लिए बहुत फिट है। बहुत अच्छा बोले, नाहक घबड़ा रहे थे। चिव साहब (रेडियो डाइरेक्टर) भी प्रभावित हैं।" अब काम समाप्त हो गया था, पर लखनऊ छोड़ने का जी नहीं होता

था। निराला जी भी नित नई मेहमानी कर रहे थे, किन्तु दो-तीन दिन और रुक कर वापस आना ही पड़ा। करीब छः दिन निराला का साथ रहा और उन्होंने रोज नई-नई चीजें बना कर खिलाईं, नई-नई जगहें दिखाई और अपने मित्रों से मिलाया। आते समय स्वयं स्टेशन तक आए। गाड़ी चलने के समय वे हम लोगों की ओर जिस स्नेह-कातर-दृष्टि से देख रहे थे उसका वर्णन शब्द-सीमा में नहीं समा सकता, किन्तु उसकी स्मृति आज भी सजीव है। मुझसे ही नहीं, निराला जी सभी से मुक्त हृदय से मिलते थे। उनके पास राजा-रंक, बड़े-छोटे का भेद-भाव नहीं रहता था। उन्होंने लिखा है :—

और लगाना गले उन्हें—
जो धूलि-धूसरित खड़े हुए हैं—
कब से प्रियतम, है भ्रम ?

लखनऊ से वापस आने के बाद समाचार मिला कि निराला जी अपने बाल घुटाकर पूरे सन्यासी बन गए हैं, पूरे सफाचट्ट और कविता न लिखने का भी निश्चय कर लिया है। मैं व्यग्र हो उठा, किन्तु साथ ही यह भी सोचा कि यह किसी साहित्यिक धूर्त की मनगढ़ंत भी हो सकती है, क्योंकि निराला जी के विषय में बहुत सी ऐसी बातें उड़ाई जाती रही हैं जिनके अस्तित्व का निराला को कुछ पता भी नहीं रहा। मैंने एक पत्र निराला जी को लिखा और उसमें अपने शंका-समाधान की भी चेष्टा की। निराला जी का पत्र आया जिसमें उन्होंने बात की सचाई का समर्थन किया और लिखा कि वे वास्तव में कविता लिखना छोड़ चुके हैं और बड़े बाल तो कवि ही को शोभा देते हैं इसलिए उन्होंने मुंडन भी करा लिया है।

निराला जी का पत्र पाकर मुझे बहुत बड़ा आघात लगा, क्योंकि मेरा विचार है कि यदि निराला जी किसी कारण कविता लिखना छोड़ बैठते तो 'अणिमा', 'नये पत्ते,' और 'बेला,' 'कुकुरमुत्ता' जो बाद की रचनाएँ हैं, हिन्दी को कोई दूसरा कवि नहीं दे सकता था ! मैंने पत्र श्री महादेवी जी को दिखाया और उनसे एक बार लखनऊ जाकर निराला जी की स्थिति देखने-भालने की प्रार्थना की। वे तुरन्त मान गईं क्योंकि निराला जी को वे अपने भाई के समान मानती थीं, राखी बाँधती थीं और भइया दूज को मिठाई भी खिलाती थीं। निराला जी को स्वयं भी उनके अभिसिक्त बन्धु होने का गर्व था। उनका ख्याल था कि वे ही भाई-बहन सबसे अच्छा साहित्य-सृजन करते थे। जो भी हो, ये दोनों भाई-बहन हिन्दी के लिए गौरव की वस्तु हैं इसमें सन्देह नहीं। मेरी बहुत इच्छा थी

कि मैं भी महादेवीजी के साथ लखनऊ जाऊँ, पर दुर्भाग्यवश जा नहीं सका, क्योंकि उन दिनों मैं कुछ बीमार था और महादेवी जी विलम्ब करने को तैयार नहीं थीं।

हाथी खाना, भूसा मंडी में पहुँचने और निराला जी से मिलने की कथा महादेवी जी ने अपने निराला-विषयक संस्मरण में जिस मार्मिकता के साथ कही है उसको बताकर मैं अपनी असमर्थता प्रकट करना नहीं चाहता, पर वह घटना हिन्दी के इतिहास में अमर रहेगी, यह मेरी निश्चित धारणा है। महादेवी जी के लौटने के बाद एक दूसरा पत्र निराला जी का मुझे मिला जो इस प्रकार है—

"कविता लिखने की इच्छा एक साल पहले से न थी। पाठक जी जानते हैं, मैं उनके यहाँ भी कविता छोड़ने का निश्चय कर चुका था। संसार में बहुत सी बातें हैं जो नहीं कही जातीं, खास तौर से जब उनका कुछ भीतरी-आध्यात्मिक मतलब होता है। आधुनिक सभ्यता जड़वादिनी है। यह हर सत्य का जड़ प्रमाण चाहती है। पर यह स्वयं अभी तक वहाँ नहीं पहुँची जहाँ प्रमाण भी झूठ साबित होता है। उसका प्रभाव हमारे अधिकांश मित्रों पर है। वे स्थूल सत्य तक ही हैं। इसलिए सभी बातें बतलाई नहीं जातीं। संसार में भी ऐसे अनेक सत्य हैं, जो छिपाये जाते हैं। मुमकिन है मैं आगे कविता लिखूँ भी। क्योंकि आदमी व्यतिक्रम भी करता है। लत भी एक होती है।

"महादेवी जी आई थीं। आपके पत्र का उल्लेख मैंने उनसे किया था, मुझसे उन्होंने वचन ले लिया है कि मैं कविता लिखूँगा। मुझसे कोई पूछता है तो मैं कहता हूँ, आजकल श्री सुमित्रानन्दन जी की समाजवादिनी रचनाएँ पढ़कर हैरत में आकर मैंने कविता लिखना छोड़ दिया है। किसी से कहता हूँ, पंत जी मेरे साथ साहित्य में सोने में सुगंध थे, जब उनका रूप बदला तब मैंने सोचा, मुझे भी चोला बदल डालना चाहिए। वे अति नवीन समाजवादी हुए तो मुझे भी अति प्राचीनवादी, जंगलवादी बनना पड़ा, यों पहले भी मैं हिन्दी समाज से दूर था।"

महादेवी जी से समाचार पाकर और यह पत्र पाकर मुझे कुछ संतोष हुआ और यह भी सच है कि निराला जी ने फिर से बाल तो नहीं बढ़ाया, पर कविताएँ लिखने लगे। इसके लिए सब हिन्दी वालों को महादेवी जी का आभारी होना चाहिए। वैराग्य की यह झक निराला जी में बहुत पुरानी थी। इसमें कुछ तो उनकी पारिवारिक अवस्था और कुछ उनकी आवश्यकता से अधिक उपेक्षा

तथा कुछ उनके वेदान्त-अध्ययन का भी परिणाम था। जीवन की मौन आध्यात्मिक स्थिति का महत्व वे कविता लिखने से अधिक मानते थे, क्योंकि उनके मत से मानव-जीवन की चरम सार्थकता उसी में थी। उनके काव्य में भी अनेक जगह निर्विकार ब्रह्म का प्रतिपादन पाया जाता है, जो उनकी दर्शनिक मनोवृत्ति का पारिचायक है। निराला जी ने लिखा है—

नूपुर के सुर मंद रहे,
जब न चरण स्वच्छन्द रहे।
उतरी नभ से निर्मल राका,
पहले जब तुमने हँस ताका।
बहुविध प्राणों को झंकृत कर
बजे छन्द जो बन्द रहे।
नयनों के ही साथ फिरे वे
मेरे घेरे नहीं घिरे वे,
तुमसे चल तुम में ही पहुँचे
जितने रस आनन्द रहे।

यही नहीं, निराला जी की बहुत पुरानी कविता जो 'परिमल' में संग्रहीत है, 'तुम और मैं' के रूपक में निराला जी के दार्शनिक रुख का पूर्ण प्रतिपादन है। वे जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में सदा से सचेष्ट रहे और इस दृष्टि से निराला जी घोर निरगुनिया थे, निराला ने इसी वैराग्य को अपने काव्य में राग का रूप दिया। भावात्मक राग, निराला की दार्शनिक-बुद्धि परिचालित प्रतिभा में और अधिक प्राणमय हो उठा है, वस्तुतः निराला का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक और प्रसरणशील था। अनेक बार वे भाव और रस की सीमा पार कर बुद्धि-विस्तार में भी व्यस्त रहते थे। बुद्धि के उत्कर्ष की सीमा को उनके काव्य में कही-कहीं हम बँधी हुई पाते हैं। भाव, कल्पना और बुद्धि की त्रिवेणी का तुमुल तरंगाघात निराला की काव्य-साधना का सम स्वर है। आशय यह कि निराला जैसे सशक्त बुद्धिवादी का संसार को मिथ्या मानना स्वाभाविक ही कहा जायगा। सच तो यह है कि निराला किसी भी एक निश्चित परिपाटी का कवि नहीं, व्यक्ति नहीं। उनके सभी काम मन की मौज के अनुसार होते थे। प्रारम्भ से ही उनका साहित्य विभिन्न-धाराओं का संगम रहा, जिसमें भावों और विचारों का द्वन्द्व स्पष्ट है।

जो भी हो मैंने कविता लिखने के पुनर्संकल्प के लिए निराला जी को बहुत-बहुत बधाइयाँ भेज दीं और आग्रह किया कि वे मुझे अपना एक नया गीत और नया चित्र भेज दें। निराला जी ने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु उसी माह की 'माधुरी' में उनका नया गीत छपा देखकर मुझे कुछ संतोष हो गया। 'माधुरी' में छपी कविता देखने का समाचार भी मैंने लिखा और निराला जी को चित्र भेजने की याद भी दिलाई। निराला जी ने इस बार उत्तर में लिखा कि वे स्वयं बसंत और होली के बीच में प्रयाग आवेंगे और अपने साथ ही चित्र और बहुत सी कविताएँ भी ले आवेंगे। निराला जी के पत्र पाने के बाद से मैंने उनके आगमन की प्रतीक्षा शुरू कर दी। जीवन में सम्भवतः किसी दूसरे बसंत की प्रतीक्षा मैंने उतनी उत्सुकता से नहीं की। निराला के नये रंग-ढंग और उनके सन्यासी-विन्यास की रूपरेखा के न जाने कितने चित्र मैंने अपनी कल्पना से बनाया और नसाया, पर मेरी व्यग्रता कम नहीं हुई। आखिर बसंत का दिन भी आया, किन्तु निराला जी नहीं आए, कोई खोज-खबर भी नहीं दी। मैंने कुछ चिंतित होकर पता लगाना प्रारम्भ किया और श्री रूपनारायण जी, संपादक-माधुरी को पत्र लिखा। उनका उत्तर आया कि निराला जी लखनऊ छोड़कर युग-मंदिर उन्नाव चले गए। मैंने निराला जी के नाम इस नए पते से एक पत्र छोड़ा। इस बार निराला जी का उत्तर आया—"मैं होली तक मुमकिन है, प्रयाग पहुँचूं। चिंता न करें, मैं सकुशल हूँ।" निराला जी का यह पत्र इतना कटा-कुटा था कि मैंने उनकी मानसिक स्थिति का सहज ही अनुमान कर लिया और होली में निश्चय पूर्वक आने का आग्रह भी कर दिया तथा नये रूप से उनके आने की प्रतीक्षा करने लगा।

होली के तीन-चार दिन पहले निराला जी सुबह मेरे यहाँ पधारे और आते ही कहने लगे—"इस बार गाँधी से बड़ी चकचक रही, ये राजनीतिक नेता अपने को जाने क्या समझते हैं? उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि साहित्यकार दलबंदी में आकर एक खास वस्तु-विषय को सत्य नहीं कह सकता। उसका क्षेत्र व्यापक और विस्तृत होता है। नेता बनना बात दूसरी है और साहित्य लिखना बिलकुल उससे भिन्न। साहित्य-सम्मेलन के सभापति बन जाने से कोई साहित्यिकों का नेता नहीं बन सकता, किन्तु इन्दौर साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के पश्चात् उनको साहित्यकों का भी नेता बनने की धुन है। हिन्दी को हिन्दुस्तानी बनाने के प्रयत्न में वे मुसलमानों के प्रिय हो सकते हैं, पर हिन्दी वाले तो उनकी खिलाफत ही करेंगे।" मैंने निराला जी के आवेग को शान्त

करने की चेष्टा में कहा—"जाने दीजिए निराला जी, महात्माजी के कहने से हिन्दी हिन्दुस्तानी न बनेगी, किन्तु राजनीतिक नेता के लिए ऐसा कहना और करना आवश्यक भी तो हो उठता है। उन्हें तो सब को खुश करना पड़ता है, किसी को दबा कर और किसी को उकसा कर। आप नाहक परेशान होते हैं।" "परेशानी की क्या बात है? वे तो सिर्फ नेता हैं और मैं एक साहित्यिक हूँ। मेरा पलड़ा उनसे बहुत वजनी है। देश की स्वतंत्रता के लिए पहले समझ की स्वतंत्रता जरूरी है। सभापति के रूप में जो भाषण गाँधी का है पढ़ो, बार-बार उन्होंने चौबे बनारसीदास का नाम लिया है। हिन्दी की लोटिया डुबो दी। लेखकों में बनारसीदास और कवियों में श्रीमन्नारायण अग्रवाल, क्या यही हिन्दी का साहित्य है। मैं तो इसके खिलाफ जरूर आवाज उठाऊँगा?" मैं चुप लगा कर केवल सुन रहा था, क्योंकि कुछ प्रतिवाद करने से उनकी उत्तेजना बढ़ जाने की सम्भावना थी। मुझे चुप देख कर निराला जी शान्त हो गए।

चाय पीने के पश्चात् हम लोग लीडर-प्रेस की ओर चले। हालैण्ड हाल हॉस्टल के सामने पहुँच कर निराला जी विश्वविद्यालय के अध्यापक श्री आर० यन० देव से मिलते चलने की इच्छा प्रकट की। देव साहब बाहर ही बरामदे में बैठे थे, उन्होंने निराला जी का बड़े हृदय से स्वागत किया और बैठाया। प्रायः अपने सभी बंगाली मित्रों से निराला, बँगला में ही बात करते हैं, पर थोड़ी देर बाद मेरी ओर देख कर हिन्दी में बातचीत करनी शुरू कर दी। वहाँ भी उनकी बात का आधार वही साहित्य और राजनीति था। इस बार उन्होंने जवाहरलाल जी के साथ अपने इन्टरव्यू की चर्चा छेड़ी—"देव साहब, इस बार मोहम्मद साहब ने बड़ा काम किया, क्योंकि उनकी इस बात ने कि 'पहाड़ मेरे पास नहीं आता तो मैं पहाड़ के पास जाऊँगा' मेरे मन में एक ऐसा उत्साह भर दिया कि जवाहरलाल से मिल आया।" देव साहब ने कहा—"अच्छा," और निराला जी बताने लगे—"मैंने उनसे साफ कह दिया कि यह तुम्हारी हिन्दुस्तानी जीवन के बहुत साधारण महकमे तक पहुँच सकती है, आगे जाने की दम इसमें नहीं। इतना ही नहीं मैंने उन्हें रूस की खफ्त छोड़ने की भी सलाह दी, पर वे चुप रहे। मैं भी ब्रह्म का रहस्य बताकर चलता बना।" देव साहब ने इस बार कहा—"बहुत अच्छा किया" और टालते हुए चाय की बात पूछी। निराला जी ने कहा—"ना, अभी चाय पीकर आया हूँ। अभी दो-तीन दिन रहना है, एक दिन मछली वगैरह खिलाओ, गरम पानी से जान क्यों बचाना चाहते हो?" देव साहब ने बहुत ही उत्साह और प्रसन्नता

के साथ दूसरे दिन के लिए दावत दी और भूल न जाने की प्रार्थना की। निराला जी प्रसन्न हो गए, मैं तटस्थ रहा। देव साहब ने स्नेह से कहा—"आप भी आइए, पाँडेय जी।" मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की और निराला जी ने उसका भाष्य कर दिया—"ये सरजूपारीण हैं, माँस-मछली नहीं खाते।" देव साहब अच्छा कह कर एक मिनट तक अपना माथा सिकोड़ते हुए मेरी तरफ देखते रहे।

करीब-करीब दस बज चुका था, मैंने दोनों महानुभावों से विदा ली और वापस चला आया। आते समय निराला जी ने कहा—"जाओ, कल शाम को आऊँगा, नाव पर चलेंगे।" मैंने बहुत अच्छा कहते हुए अपना रास्ता नापा। लौटते समय मैं बार-बार सोच रहा था कि आजकल निराला जी पर हिन्दुस्तानी का आतंक छाया है, वे हिन्दी के लिए इसे अत्यन्त अशुभ समझते हैं और इसी कारण सब से कहा-सुनी भी करते हैं। अपने विचारों को सामने रखने में वे कभी किसी के सामने हिचकिचाते नहीं, डरते नहीं। यह साहसपूर्ण निर्भीकता उनके जीवन की गति को आगे बढ़ाने में सहायक होती है, किन्तु इसको लेकर उनसे प्रायः लोग नाराज भी हो जाते हैं। हिन्दी के लिए गाँधी-जवाहर से लड़ना-भिड़ना केवल निराला का काम है, उनके समसामयिक कवि तो उलटे इन राजनीतिक व्यक्तियों की स्तुति लिखते हैं, पंत, गुप्त जी भी इसके अपवाद नहीं। पर निराला तो व्यक्ति-पूजा को साम्प्रदायिकता की प्रथम सीढ़ी समझते हैं। कलाकार का साम्प्रदायिक होना शायद अच्छा भी नहीं होता, क्योंकि वह तो सम्पूर्ण मानवता का प्रतिनिधि है न कि व्यक्ति विशेष या दल विशेष का ठेकेदार। निराला की ममता समस्त मानवों के लिए ही नहीं, चराचर प्रकृति के लिए मुक्त है। उनके काव्य में आन्तरिक संघर्ष की प्रधानता का यही प्रमुख कारण है। वास्तव में सृजन किसी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए होता है न कि पिष्टपेषण के लिए। जीवन की शिथिलता से लड़ना ही तो सभ्य होना है और ऐसी सभ्यता हमेशा युग-सम्बद्ध होती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अनेक पुरानी बातें, पुरानी आदतें और पुराने आचार-विचार युग-धर्म के आग्रह से बदलते हैं और इस परिवर्तन के लिए साहित्यकार को सभी पुरान-पंथियों से लोहा लेना पड़ता है, निराला ने भी यही किया था। निराला जी ने 'साहित्य और भाषा' नामक निबंध में लिखा है—

"यथार्थ साहित्य नेताओं के दिमाग के नपे-तुले विचारों की तरह, आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बंद होकर नहीं निकलता। वह किसी उद्देश्य

की पुष्टि के लिए नहीं आता, वह स्वयं सृष्टि है। इसीलिए उसका फैलाव इतना है, जो किसी सीमा में नहीं बँधता। ऐसे ही साहित्य से राष्ट्र का यथार्थ कल्याण हुआ है। जब कुछ खास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही, क्योंकि साहित्य में सब तरह की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। रामायण के प्रचार का कारण रामचरित है न कि 'रामायण की भाषा'। ठीक भी है, क्योंकि तुलसी, सूर, केशव, बिहारी की भाषा भावों के अनुकूल ही चलती है, जनता की रुचि से नहीं। कवि की भाषा को तोड़ने-मोड़ने की अपेक्षा जनता को शिक्षित बनाना ही उचित है। किन्तु, नेतृत्व का एक संस्कार भी होता है, जो चेतन को जड़ और समझदार को मूर्ख मानता है। संसार के सभी बड़े साहित्यिकों ने प्रकृति के अनुकूल ही भाषा लिखी है। कठिन और गहन भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा का कुछ गहन और सांस्कृतिक हो जाना स्वाभाविक है। जो मनुष्य अपने विचारों और चिंतनों में जितना ही गहरा और गम्भीर होगा उसकी भाषा भी उतनी ही मार्जित और गम्भीर होगी। साहित्य में भावों का महत्व होता है, भाषा तो भाव का अनुगमन करती है।"

निराला जी ने अनेक जगह अपनी विचारधारा और भाषा-नीति को लिखकर बहुत ही मार्मिक प्रतिपादन किया पर मौखिक वाद-विवाद में भी वह कभी पीछे नहीं रहे। प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन फैजाबाद में भी कुछ ऐसी ही घटना घटी थी और हिन्दी के हित एवं सम्मान के लिए निराला जी को श्री सम्पूर्णानन्द जी और श्री पुरुषोत्तमदास जी टन्डन को भी कुछ खरी-खोटी सुनानी पड़ी थी। अब हिन्दी वाले यह जान गए थे कि उनके साहित्य का भला किन्हीं पुरुषोत्तमदासों से नहीं वरन् निराला जैसे पुरुषोत्तम से ही होगा। साहित्य-सम्मेलन में निराला जी केवल तीन बार सन् '२४,'३० और '३९ में शरीक हुए और हर बार उन्होंने हिन्दी को नेताओं द्वारा मर्माहत पाया। फैजाबाद प्रान्तीय साहित्य सम्मेलन का उनका इन्टरटव्यू देखने लायक है। उन्होंने साफ-साफ लिखा है—"सम्मेलन की इस दुर्दशा, हिन्दी की इस हेठी, साहित्यिकों के ऐसे अपमान और प्रभावित अपरिणामदर्शी राजनीतिकों के प्राधान्य के कारण मैं सम्मेलन में शरीक नहीं हुआ। मेरा व्यक्तिगत विरोध किसी से नहीं। आप मानेंगे, कवि विरोध नहीं करता।" जब मैं लौटा तब कालेज का समय गोल हो चुका था।

दूसरे दिन निराला जी ने देव साहब के यहाँ दावत खाई और सोने की

परम्परा मेरे यहाँ पूरी की। इसे संयोग ही कहना चाहिए कि मैं कमरे में मिल गया अन्यथा कम्पनी बाग की किसी शीतल छाँहमयी जगह मे विश्राम हुआ होता। निराला ने अनेक बार प्रयाग के किसी होटल में भोजन करके (ठहर कर नहीं) कम्पनी बाग की बेंचों में पेड़ के नीचे आराम किया है। खाने के बाद वे ऊँघने लगते थे। सुरती दबाया और लेटे, चाहे चलते रहें, पर बैठ तो सकते ही नहीं थे। एक बार सिन्ध होटल, चौक, प्रयाग से चलकर वे ८ एडमान्स्टन रोड, मेरे डेरे तक न आकर कम्पनी बाग छोड़ पुरुषोत्तमदास पार्क में ही चित हो गए थे और मुझे भगा दिया था; तब वैसा सोना मैं शान के खिलाफ भी समझता था। वे चार बजे तक सोते रहे तब तक धीरे-धीरे जोशी जी, वीरेन्द्र, श्याम भी आ गए।

वीरेन्द्र की बात क्या कहूँ, उससे तो निराला बहुत खुश हुए। चीकन-चाँदन, गोरा-चिट्टा जाट छोकरा, बी० ए० का पूरा विद्यार्थी। मेरा सहपाठी और सुहृद् मित्र। कहते हैं, बेपढ़ा जाट पढ़ा जैसा और पढ़ा जाट खुदा जैसा, अब समझ लीजिए। ब्रज की लौछार लिए अलीगढ़ी उसकी बोली मीठी-मीठी, कविता का शौक और साहित्यिकों के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम का भाव। मैंने कह दिया, वह कभी नहीं कह पाया। मेने कह दिया ही उसके मुँह से निकलता था। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भाषाविज्ञान पढ़ाते समय International Phonetics बताते समय वीरेन्द्र के लिए क्लास में 'मे' का रूप भी बताया था। उससे सभी खुश थे, रसाल जी भी याद करते थे। और श्याममोहन त्रिवेदी फर्स्ट क्लास एम० ए० कविता-कहानी-आलोचना सभी लिखते थे, किन्तु छपवाते बहुत कम थे, जिद करने पर भी न मानते। सारल्य उनका शृंगार था। मेरे साथ यह दोनों व्यक्ति निराला जी, महादेवी जी, पंत जी और जोशी जी के दर्शन कर चुके थे, किन्तु निराला जी से अधिक परिचित थे और इसका श्रेय शायद निराला जी को ही मिलेगा। जब निराला जी विक्रम के यहाँ प्रथम बार पहुँचे तब वह उल्लास से नाच उठा और गाया भी—'आनन्दा भए यहि बखरी आज आनन्दा भए।' निराला जी सभी के साथ इतनी आत्मीयता और हृदय की हिमानी स्वच्छता से मिलते थे कि उनकी अमिट छाप पड़े बिना न रहती थी। आत्माराम भी निराला की निष्कपट आत्मीयता पर निछावर थे। ये सब निराला के खूब जाने-पहिचाने थे।

जब निराला जी जागे तो वीरेन्द्र, श्याम को देखकर मुस्करा पड़े और हँसकर पूछा—"जोशी जी इन कुमारों से तो आपका परिचय होगा ही, क्योंकि ये तो

पाँड़े के अभिन्न हैं।" जोशी जी ने उनके सन्देह की सचाई का, 'खूब भली भाँति' कहकर समर्थन किया। निराला जी ने मुँह-हाथ धोया, तम्बाकू खाई और कहने लगे—"कुछ जल्दी चलेंगे। गंगा की साँझ बड़ी सुन्दर होती है।" पाँच बजे के बाद हम लोग गंगा की ओर चल पड़े, और पौने छै के पहले नाव पर पहुँच गए। सरस्वती घाट से नाव ली और उसे संगम की ओर छोड़ दिया। जमुना को देखकर निरालाजी का मूड सदा ही मुखरित हो उठता था, यह जानते हुए वीरेन्द्र ने छेड़ा—

यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

निराला जी कुछ सँभल कर बैठ गए कि वीरेन्द्र आगे बढ़ा—

उर-उर में नूपुर की ध्वनि-सी
मादकता की तरल तरंग
विचर रही है मौन पवन में
यमुने, किस अतीत के संग ?

जोशी जी ने कहा, "वाह 'यमुना के प्रति' निराला जी की कविता तो कृष्ण-काव्य की एक अभिनव उद्भावना है, पर इस समय देखिए, सूरज की रक्ताभ किरणें लहरों पर लोट रही हैं, सारा संगम का जल एक शतदल रक्तोपल बन रहा है। लहरें जैसे उलटती-पलटती उसकी मुलायम पँखुरियाँ हों और इनके ऊपर उड़ती हुई विहग-पंक्ति को, इतने बड़े कमल के भँवरे भी कह सकते हैं। सूर्यास्त के साथ अंधकार की छाया में धीरे-धीरे कमल बन्द हो रहा है। ऐसे समय में मैं तो निराला जी से 'संध्या-सुन्दरी' सुनाने का आग्रह करूँगा।" निराला जी जो करना चाहते थे उसमें ठन-गन नहीं करते थे। उन्होंने पश्चिम को मुँह फेरा और शुरू किया—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,

मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर
किन्तु जरा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक (निराला जी ने इशारा किया)
गुंथा हुआ उन घुंघराले काले बालों से,
हृदयराज की रानी का वह करता है अभिषेक। आदि

निराला जी पूरी कविता सुना गए। प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से मानवीय गति तथा भावों की सृष्टि करने में निराला जी सिद्ध-हस्त थे। प्रतिपाद्य वस्तु-विषय का चित्र सामने खड़ा हो जाता, चलता फिरता, सजीव हो जाता। देखिए न—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

भिखारी की स्थिति और स्वरूप दोनों कितने स्पष्ट और सप्राण हैं, प्रत्यक्ष है।

जोशी जी से प्रार्थना की गई, पर केवल सुनना ही उन्होंने पसंद किया, खुद नहीं सुनाया। निराला जी के विशेष आग्रह ने सिर्फ ये पंक्तियाँ कह दीं—

कहाँ गई वह कलकलोलिनी
मुझको बतलाएगा कौन,
मेरा मधुकर पुञ्ज-गुञ्जरित
मञ्जुल कुञ्ज आज है मौन।

और कहा—"वास्तव में मेरी कविता का यही हाल है।" अब, श्याम की बारी आई। कविता सुनाने की नहीं, कुछ प्रश्न करने की। उसने पूछा—"निराला जी, कवि का वास्तविक कर्म क्या है? आप क्या समझते हैं?" निराला जी ने तड़ाक से उत्तर दिया—"यही कविता सुनाना और लिखना।" फिर कुछ थम कर बोले—"कवि संस्कृति का दूत और भावनाओं का गायक है। उसकी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। यों परिभाषाओं के पीछे पड़ना पागलपन है, क्यों जोशी जी?" जोशी जी ने कुछ संकोच के साथ उत्तर दिया—"आप ठीक कह रहे हैं। कवि-कर्म की विराट व्यापकता की क्या परिभाषा हो सकती है, पर इसमें भी

सन्देह नहीं कि प्रतिभा और पागलपन एक ही प्रवाह के दो किनारे हैं।" "हाँ-हाँ, शेक्सपियर ने भी कवि, प्रेमी और पागल को एक ही थैली के चट्टे-बट्टे माना है!" मैंने धीरे से कहा। व्यतिरेक करते हुए निराला ने सम्बोधन किया—"कहो निषादराज! सुरती-उरती खाते हो?" मल्लाह ने कहा—"हाँ सरकार खाइत है, मुला आप खाँय।" निराला जी ने तम्बाकू और चूना की डिबिया निकाल कर दी और उसे सुरती मलने और खाने तथा खिलाने की स्नेहाज्ञा दी। दस्सू ने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"मालिक हम न खाब, गंगामाई पर थूकब ना। ई हमार माई हैं सरकार, रोजी इनहीं से तो पाइत है।" निराला जी ने माँ और सन्तान का उदाहरण देकर, गोद में पेशाब-पाखाना तक करने की बात बताकर उसे बहुत तरह से समझाना चाहा, किन्तु उसने नहीं माना।

निराला जी हम लोगों से कहने लगे—"देखा, देश में भाव-पूजा नहीं, वस्तु-पूजा इतना बड़ा प्रभाव रखती है। हिन्दुस्तानियों के देवी-देवता भी तो पत्थर के होते हैं। उन्हें जब चाहो तब नहलाओ और जब चाहे खिलाओ, शंख बजाओ चाहे घड़ियाल, उन्हें सब बराबर। हमारा देवता जड़ता से जकड़ा हुआ है, उनका (देवताओं का) दल भी बहुत बड़ा है, पूरे तैंतिस करोड़। मूर्ति-पूजन और पुराण-प्रेम यदि यहाँ के धर्मात्माओं से ले लिया जाय तो धर्म की कुल पूँजी गायब हो जाती है। मूर्तियों की पूजा कर प्रसाद स्वरूप एक भाई के सिर पर दो-हत्था लट्ठ धमकाने वाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तत्व जानते हैं, यह तो यहाँ रोज साबित हुआ करता है। दस पैसे के स्वार्थ में आसक्त एक सजीव मूर्ति की जान लेने के लिए तैयार धनी मूर्ति-पूजक जी अपनी उस प्रकार की स्थिति में डटे हुए विश्व को हिला देंगे, यह आप सब जानते हैं। इतनी ही बची हुई हिन्दू सभ्यता, धर्म-भाव और समाज-संस्कृति संसार के बड़े-बड़े भावों का मुकाबला करती हुई अपना स्थान और अस्तित्व केवल साहित्य के द्वारा अमर रख सकती है और किसी दूसरी तरह नहीं। देश के बड़े-बड़े विद्वान प्रोफेसरों को शृङ्गवेरपुर और अहल्या के स्थान-निर्णय से कभी फुरसत नहीं मिलेगी। साहित्य को अभी बहुत सजाना है, पर इन पंडों के मारे दम नहीं मिलती। हम समाज तथा साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सब में व्यक्त, अपनी ही आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए हैं, पानी की तरह सहस्रों ज्ञान धाराओं में बहती हुई, स्वतंत्र किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर,

उज्ज्वल, अम्लान, मृत्यु की तरह नवीन जन्म-दात्री, सर्व शाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति मे चिर कमनीय।" इतना कहकर निराला जी चिंतन में डूब से गए।

जोशी जी ने सिगरेट निकालते हुए एक सामूहिक प्रश्न किया—"सिगरेट पीने में तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि इसका धुवाँ तो हवा में उड़ जायगा।" और सिगरेट जलाई। थोड़ी देर तक सब लोग शान्त रहे। अँधेरा गंगा के कछार में उतर चुका था और वातावरण नीरवता की चादर ओढ़ रहा था कि सहसा किले के चारों लाल स्काई लाइट जल उठीं। लौटते समय किले के पास उनकी छाया पानी में झिलमिल कर रही थी, लगता था पानी के भीतर जलपरियों ने अँगीठियाँ जला रखी हैं। मृदु मन्द-मन्द, मन्थर-मन्थर नाव किनारे पर पहुँच गई और हम लोग नाव पर से नीचे आए। किनारे से मिलती हुई लहरों की किलकारियाँ, मानो रात वहीं बस जाने का संकेत कर रही थीं। सब मिलाकर उस दिन का नौका-विहार और आपस का बतरस अत्यन्त रमणीय और मुग्ध-कर रहा। उस पार कोई गा रहा था—'होली में न लाज करो गोरी'। वह अरूप समय स्वरूप बनकर हृदय में जैसे धँस गया। निराला जी ने तो लिखा ही है—

मेरे स्वर की अनल-शिखा से
जला सकल जग जीर्ण दिशा से
हे अरूप, नव-रूप विभा के
चिर स्वरूप पाके जाओ !
मेरे प्राणों में आओ !

उस दिन के पश्चात् निराला जी से फिर भेंट नहीं हो सकी, क्योंकि स्टूडेंट्स की होली आपस में ही होती है। करीब पाँच-छः दिन के बाद जब मैं लीडर-प्रेस गया, तब निराला जी उन्नाव के लिए रवाना हो चुके थे। उन दिनों 'अणिमा', 'कुकुरमुत्ता' और हिन्दी का अपने ढंग का अकेला स्केच 'बिल्लेसुर बकरिहा' उन्नाव में छप रहा था और 'कुल्ली भाट' लखनऊ से प्रकाशित हो चुका था। निराला जी बड़ी धूम-धाम के साथ गद्य-पद्य दोनों लिख रहे थे। 'कुल्ली भाट' जैसा हास-परिहास से स्निग्ध जीवन-चरित्र हमारे साहित्य में दूसरा नहीं। यों तो निराला का सम्पूर्ण साहित्य अपनी मौलिकता में अन्यतम है, किन्तु सन् '३९ से उन्होंने हिन्दी में एक नई दिशा का मार्ग प्रशस्त किया और 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'कुल्ली भाट' इस पथ के माइल-स्टोन हैं। 'बिल्लेसुर बकरिहा' का एक अवतरण—

'आम और महुए की कतारें कच्ची सड़क के किनारे पड़ीं। जाड़े की सुहावनी सुनहली धूप छनकर आ रही थी। सारी दुनिया सोने की मालूम दी। गरीबी वाला रंग उड़ गया। छोटे-बड़े हर पेड़ पर पड़ा मौसिम का असर उनमें भी आ गया। अनुकूल हवा से तने पाल की तरह अपने लक्ष्य पर चलते गए। चारों ओर हरियाली। जितनी दूर निगाह जाती थी, हवा से लहराती हरी तरंगें ही दिखती थीं; उनके साथ दिल मिल जाता और उन्हीं की तरह लहराने लगता था। बिल्लेसुर तद्गतेन मनसा सास जी के मकान की ओर बढ़े चले गए। सास जी ने कुशल पूछी जैसे एक मुद्दत के बाद मुलाकात हुई हो; फिर बिछी चारपाई पर ले चलकर बैठाला और गौर से बिल्लेसर की ब्याह वाली उतावली की आँख देखती रही।'

इस तरह का साँचे में ढला हुआ साफ-स्वच्छ गद्य अन्यत्र कहाँ मिलता है। छोटे-छोटे अर्थपूर्ण शब्द और सुगठित वाक्य इस प्रकार क्रम से आगे बढ़ते जाते हैं, जैसे किसी लड़ी से एक-एक मोती टूट रहे हों। प्रकृति, वातावरण, बात-चीत, रीति-रिवाज, आचार-विचार सभी स्वस्थ, सहज और सम्पूर्ण। निराला की कृतियाँ देखकर लगता है कि उनके जीवन की सारी अस्तव्यस्तता की प्रतिक्रिया उनकी लेखनी की नोक पर चढ़कर एक बेजोड़ व्यवस्था बन गई हो। उनके वर्णन साँस के साथ जीवन में घुलते-मिलते चलते हैं।

और 'कुकुरमुत्ता' तो बीसवीं सदी का सबसे बड़ा व्यंग्य है। विपन्न और तिरस्कृत मानवता की आवाज है, और है छोटों का आत्मबोध। 'कुकुरमुत्ता' संसार के उपेक्षितों का प्रतीक और दीनों के प्रति निराला का काव्य-दान है। यह कौन नहीं जानता कि सारे विश्व जीवन की स्थिति सामान्य मानवता के बल पर ही टिकी है, पर उसका जो अपमान आज के व्यावसायिक विश्व ने किया है, वह पहले कभी नहीं हुआ था—

अया मौसिम, खिला फारिस का गुलाब,
बाग पर उसका जमा था रोबदाब,
वहीं गन्दे में देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठा सर ऐंठ कर बोला कुकुरमुत्ता—
अबे, सुन बे, गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू, रंगोआब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट,

कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रखा, सहाया जाड़ा घाम,
हाथ जिसके तू लगा,
पैर सर पर रख व' पीछे को भगा
जानिब औरत की, मैंदानेजंग छोड़,
तवेले को टट्टू जैसे तंग तोड़,
शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा,
इसलिए साधारणों से रहा न्यारा;
वरना क्या हस्ती है तेरी, पोच तू,
काँटो से ही है भरा, यह सोच तू;
कली जो चटकी अभी,
सूखकर काँटा हुई होती कभी;
रोज पड़ता रहा पानी,
तू हरामी खानदानी;
चाहिए तुझको सदा मेहरुन्निसा,
जो निकाले इत्रेरू, ऐसी दिशा।
देख मुझको, मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा;
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं;
कलम मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता;
तू है नकली, मैं हूँ मौलिक,
तू है बकरा, मै हूँ कौलिक;
तू रंगा और मैं धुला,
पानी मैं, तू बुलबुला;
तूने दुनिया को बिगाड़ा,
मैंने गिरते से उभाड़ा
तूने रोटी छीन ली, जनखा बना,
एक की है तीन दी मैंने, सुना ?

इस उद्धरण से निराला की, सामान्यों, साधारणों के प्रति जिस अगाध और

अबाध ममता तथा विश्वास का प्रवाह सामने आता है वही तो 'कुकुरमुत्ता' की आत्मा है। इसकी डाँट-फटकार और चोट-चपेट सामान्य जनों के जागरण का कोलाहल-मात्र है। सूत्र रूप से निराला ने इस कविता में सारे विश्व को बाँधने और उसके विकास का पथ खोजने की चेष्टा की है, जो निराला की ही प्रतिभा से सम्भव है दूसरों से यह काम नहीं हो पाया। 'कुकुरमुत्ता' के रूप में कवि ने समाज को स्वर और नया उत्साह दिया है, इस कविता में निराला का समाज-वादी दृष्टिकोण बहुत ही मार्मिकता और निर्भीकता से उभर कर सामने आया है। इस विचारधारा की प्रगति 'गर्म पकौड़ी', 'खजोहरा' और 'मास्को-डाय-लाग्स' मे उत्तरोत्तर स्पष्ट और परिपुष्ट होती गई है।

इन्हीं दिनों एक घटना घटी जिसने निराला को काफी मर्माहत किया। निराला की जोरदार खिलाफत करने मे चौबे बनारसीदास का श्रेय बहुत बड़ा है। 'विशाल भारत' के संपादकत्व में वे अपने पत्र के द्वारा निराला को पागल सिद्ध करने की चेष्टा में प्रसिद्ध हो चुके थे; यों साहित्य में उनका कोई सहयोग नहीं, पर निराला-विरोधी व्यक्तिगत विद्वेष-बहुलता ने उन्हें बदनामी के रास्ते में काफी आगे ढकेल दिया था। वे अब 'विशाल भारत' छोड़कर महाराज ओरछा की सेवा करते थे। चौबे जी निस्सन्देह बहुत बड़े प्रोपेगेन्डिस्ट हैं। मोटे-मोटे प्रकाशकों तक को अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट कराने की कला में निपुण हैं। जब वे ओरछा पधारे तब उन्होंने वहाँ भी कुछ नया करने की ठानी। उनकी राय और जजमेन्ट मे सम्वत् १९९४ में 'देव पुरस्कार' ओरछा की प्रतियोगिता में आए हुए हिन्दी के ग्रंथों मे से कोई भी उस महान पुरस्कार के योग्य नहीं ठहरा और उसमें से १००० रुपया हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को एक पुस्तक-माला—'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के प्रकाशन के लिए दिया गया। साहित्य-सम्मेलन ने उस धन से आधु-निक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह निकालने का निश्चय किया। प्रकाशन की उत्तमता के लिए सम्मेलन ने यह शर्त भी रखी कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चुनाव करेगा और अपनी कविता एवं कला का दृष्टि-कोण भी भूमिका रूप में जनता के सामने रखेगा।

महादेवी जी का काव्य-संग्रह इस ग्रन्थ माला में प्रथम था। उसके प्रकाशित होने के उपरान्त निराला के काव्य-संग्रह का प्रश्न उठा।

निराला की प्रायः कविता-पुस्तकें 'कापीराइट' में कैद थीं, इसलिए संग्रह करने में अड़चन थी। दूसरे निराला जो किसी की फरमायश का काम भी नहीं कर पाते थे। सम्मेलन के सुझाव की भूमिका लिखना उनके लिए कठिन था। इस

प्रकार निराला का काव्य-संग्रह सम्मेलन से नहीं निकल सका। प्रसाद के बाद छायावादी कवियों में निराला प्रतिभा और वय दोनों रूपों में सबसे आगे थे। उनका विश्वास था कि इस संग्रह के लिए सम्मेलन कापीराइट हड़पने वाले प्रकाशकों से लड़-भिड़ कर उनकी कविताओं को मुक्त कराएगा और साथ ही २०० रु० एडवान्स देने की भी उदारता दिखलाएगा, किन्तु सम्मेलन इस झगड़े में नहीं पड़ा। निराला जी संग्रह के लिए नवीन रचनाएँ देने को तैयार हो गए, पर एडवान्स लेने पर अड़े रहे। सम्मेलन ने उनकी एक बात भी नहीं मानी। यह सच है कि निराला को छोड़कर आधुनिक कवि-माला किसी तरह से भी पूरी नहीं होती। निराला को इससे बड़ा आघात लगा। महादेवी जी का काव्य-संग्रह पहले निकल चुका था, बाद में पंत, तथा रामकुमार वर्मा का काव्य संग्रह 'आधुनिक कवि' (२), (३) के नाम से निकाला गया और निराला की अप्रत्याशित उपेक्षा की गई।

वास्तव में यह ऐसा अवसर था कि सम्मेलन, निराला की नगण्य मूल्य में बिकी पुस्तकों की कविताओं को संग्रहीत करने का साहस दिखाकर अन्याय के प्रति एक विद्रोह खड़ा करता, पर सम्मेलन को साहित्य अथवा साहित्यकार की स्थिति से उतना सरोकार नहीं जितना अपनी परीक्षाओं के लिए पुस्तक-प्रकाशन की धुन से। एक बनिये के बिना कहीं बाजार बन्द भी तो नहीं होता। पुस्तक-माला निकली और परीक्षाओं का क्रम चलता रहा। निश्चय ही कवियों को भी निराला के लिए अपने संग्रहों का लोभ छोड़ देना चाहिये था, पर गरीब हिन्दी का कवि सिद्धान्त के लिए रुपया नहीं छोड़ पाता। इसका कारण, उसकी गरीबी में ही पनपता है, इसमें शक नहीं। इस विषय में निराला का एक वाक्य मुझे याद है। श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उनसे पूछा—"तो सम्मेलन से आप का काव्य-संग्रह नहीं निकलेगा ?" निराला ने क्षोभ और करुणा के स्वरों में उत्तर दिया—"जब पंत और महादेवी खुद कन्नी काट गए तब मैं और किससे, क्या कहूँ ? हाँ यह निश्चय है कि 'आधुनिक कवि' का कोई महल बिना मेरी ईंट के अधूरा ही रहेगा, उतनी जगह खाली रहेगी; आप मुझे देखते नहीं, मेरी जगह हिन्दी में कौन भरेगा ?" मैंने परिहास के रूप में कहा—"आजकल, निराला जी सभ्यता का युग है। लोग-बाग महलों में, मकान में खिड़कियाँ और आलमारियाँ बहुत रखते हैं। आपकी खाली जगह एक बड़ी आलमारी का काम देगी।" निराला जी तुरन्त कह उठे—"हाँ, यदि आलमारी नहीं तो 'लूपहोल' तो रहेगी।" और यह घटना सम्मेलन तथा कवियों के कार्यों में एक 'लूपहोल' बन भी गई।

संसार का द्वितीय महायुद्ध जोरों के साथ चल रहा था और भारत में भी जीवन का संकट दिन-प्रति दिन बढ़ रहा था। भूख-प्यास की ज्वाला देश में लपटें ले रही थी। निराला का कवि-हृदय क्षुब्ध हो उठा और वे देश की परिस्थिति से सहसा बहुत चिंतित हो उठे। उनके मन में एक प्रकार की अस्थिरता आ गई और शान्ति की खोज में वे उन्नाव से चित्रकूट की ओर चल पड़े। कौन जाने ? तुलसी का यह पद—'सब सोच विमोचन चित्रकूट'—भी उन्हें स्मरण आया हो। चित्रकूट जाने के सिलसिले में वे प्रयाग भी आए और दो-तीन दिन ठहरे। इस बार उनका स्वास्थ्य और स्वभाव कुछ बदला हुआ सा लगा। अब वे दुर्बल-क्षीण और आतुर स्वभाव के हो गए थे। उनकी बातें साहित्यिक न होकर प्रायः राजनीतिक होने लगी थीं। उनका विचार था कि ऐसे समय में बुड्ढे नेताओं से काम नहीं चलेगा, नये रक्त की उष्णता इस स्थिति में अधिक उपयोगी साबित होगी, किन्तु उनकी सुनता कौन था। बात-बात में वे खीझ भी उठते थे, क्योंकि उनकी राय में उस समय सारा देश अपनी समझदारी से हाथ धो बैठा था।

मैंने उनसे पूछा कि आखिर वे चाहते क्या हैं ? और उन्होंने डाँट के साथ उत्तर दिया—"चाहते क्या हैं, चाहते क्या हैं ? आज भी यह पूछने की बात है ? अरे भाई युद्ध के समय में जो युद्ध की तैयारी नहीं करता वह पीटा जाता है, इसलिये इस समय भारत को अपनी स्वतंत्रता घोषित करके किसी भी विरोधी से लड़ने को तैयार हो जाना चाहिए। यह तो तुम जानते ही हो कि इस मशीनरी के युग में भी जनबल ही सब से बड़ा बल है, जो हमारे पास है, मगर यहाँ के नेता लोग गाँधीवाद की सड़ायन से बाहर साँस ही नहीं लेना चाहते; हो तो हो क्या ? सुभाष ने सच्ची बात कही कि जहन्नुम भेज दिया गया। कहीं से भी कोई 'क्लू' नहीं मिलता, सभी अपना अपना 'राज' छिपाए बैठे हैं और देश भूखों मर रहा है। साहित्यिकों का भी यही हाल है, उनमें से कोई 'सतरंगिनी' लिख रहा है तो कोई 'ग्राम्या', कोई 'प्रेम-प्रलाप' तो कोई 'रसवंती'। भला ये चीजें आज के लिखने की हैं ? सारा देश बिना दूल्हे की बारात बन रहा है। इन कम्युनिस्टों से कुछ आशा थी पर वे तो इसे 'जनयुद्ध' बता कर अप्रत्यक्ष रूप से रूस की और प्रत्यक्ष रूप से अँग्रेजों की उलटी सहायता कर रहे हैं। योरुप के युद्ध को अपना युद्ध मान लेने से देश में युद्ध छेड़ने का, स्वतंत्र होने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। 'फादर लैण्ड' की रक्षा के सामने, बेचारी 'मदर लैण्ड' की चिंता कौन करे ? 'स्टैलिनग्रेड' और 'मास्को'

के तरानों से फुरसत ही नहीं मलती।"

मैंने निराला को और अधिक टटोलने की इच्छा से कहा—"तो आप ही क्यों नहीं देश को ललकारते, अपने साहित्य में युद्ध का आवाहन करते ? आपके बहुत से नौजवान पाठक हैं, उनमें क्रान्ति की आग सुलगाइए।" निराला जी हँस पड़े और बोले—"भाई, हिन्दी के पाठक कितने हैं ? मेरे तो और भी कम। क्या मैंने लिखा नहीं, मैं तो 'परिमल' से ही क्रान्ति का स्वर बाँधता आया हूँ। तुमने तो पढ़ा है—

सिंही की गोद से
छीनता रे शिशु कौन !
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण रे अजान !
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है—
किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार !

यही नहीं मैंने तो यह भी लिखा है—

दी है विधाता ने
बुद्धि यदि तुम्हें कुछ
वंश का बचा हुआ
यदि कुछ पुरुषत्व है—
तत्व है
तपा तलवार....
सन्ताप से निज जन्म-भू के

दुखियों के आंसुओं से
उस पर तुम पानी दो।

कवि इतना ही कह सकता है। कविता किसी नेता की स्पीच नहीं।"

निराला की तत्कालीन मनोस्थिति को समझ कर मैंने प्रसंग बदल कर विषय-परिवर्तन की आशा से कहा—"जाने भी दीजिए, कह देना, लिख देना आप का काम है और मानना न मानना तो औरों पर निर्भर करेगा। चलिए बलुआघाट का सावनी मेला देख आवें।" निराला जी तैयार हो गए। उसी तरफ से वे अपने निवास में चले गए। दूसरे दिन उनको अपने मित्र रामलाल के यहाँ चित्रकूट जाना था, इसलिए गाड़ी के समय के कुछ पहले मैं निराला जी के पास पहुँच गया। पूछा कि सामान वगैरा ठीक हो गया या नहीं? निराला जी कहने लगे—"सामान कहो तो, मेहमान कहो तो हूँ मैं ही।" साथ में दो-चार पुस्तकें एक अँगोछे में बँधी थीं और निराला जी एक कुर्ता पहने तथा लुंगी लगाए थे। जूता नदारत। निराला ने बताया कि करवी का चमरौधा जूता अच्छा होता है, वहीं एक ले लेंगे। थर्ड क्लास का टिकट कटाकर हम लोग स्टेशन के भीतर घुसे। केशवदेव शर्मा, भूतपूर्व संपादक 'भारत' भी स्टेशन तक आए थे। निराला जी ने बड़ी उदारता से हम लोगों को चाय पिलाई और केक खिलाया।

तुलसीदास के नाते (प्रायः निराला जी तुलसीदास को तुलसी काका कहते थे) चित्रकूट का भूमि-भाग निराला जी को बहुत प्रिय था। वे उधर की अनेक यात्रायें कर चुके थे। उनका मन वहाँ की स्मृतियों से प्रसन्न हो रहा था, किन्तु बीच-बीच में उनके मन की उदासी भी मुँह पर उमड़ आती थी। डिब्बे के दरवाजे में खड़े होकर वे कहने लगे—"जाता तो हूँ, पर इस बार बहुत उत्साह नहीं हो रहा है; मन बैठा-बैठा सा है। देखिये कब लौटना होता है। पत्र दूँगा। ये पाँच सन्तरे ले जाकर महादेवी जी को दे देना और मेरा प्रणाम कह देना, और कहना कि अपने स्वास्थ्य की चिंता करें, अभी उनको काफी काम करना है।" निराला जी गाड़ी की सीटी के साथ-साथ करुण होते जाते थे। गाड़ी चल पड़ी। निराला जी हम लोगों की तरफ जब तक कोई दृष्टि-व्यवधान नहीं पड़ा बराबर देखते रहे। बड़ी-बड़ी आर्द्र उतरी आँखें अपनी लाल डोरों की जाली में निराला के प्राणों के न जाने कितने स्नेह-सन्देश उछाल रही थीं। दूरी की विवशता से परिचित होंठ बोलने के लिए आतुर होकर भी केवल कँप कर रह गये थे। उनकी उस विकल-विदा का रहस्य कुछ दिन पश्चात् खुला।

संसार का महायुद्ध चल रहा था। गुलाम भारत प्रत्यक्ष रूप से युद्ध के बाहर

रहकर भी युद्ध के विनाशकारी और मर्यादाहीन भीषण परिणामों का अन्यतम शिकार रहा, यह किसी से छिपा नहीं। भोजन, वस्त्र, निवास, सब का अभूतपूर्व दुर्भिक्ष, कमी, केवल कमी। निराला सहज मानवीय आवश्यकताओं का उपभोग जीवन भर नहीं पा सका, पर सन् '३९ से इधर की जो स्थिति थी वह निराला के लिए सर्वाधिक घातक सिद्ध हुई। भूख-प्यास-वस्त्र, सभी का अभाव निराला के लिए एक मार्मिक मानसिक चिंता का भाव बन गया। उनकी प्रायः सभी कृतियों का कापीराइट बिका था, कहीं नौकर न चाकर, न नेता न जमीदार, न पुरस्कार, न पुचकार, सब तरह से निराधार निराला की हालत उस समय बहुत ही व्यग्र थी। निराला को सक्रिय करुणा की बान है। खुद भूखों मरने की अपेक्षा दूसरों को भूखों मरते देखना उन्हें जाने क्यों अधिक अखरता है। चित्रकूट जाने का कोई विशेष कारण पूछने पर निराला ने कहा था—"लखनऊ, उन्नाव, प्रयाग चारों ओर इस समय देश भूखों मर रहा है और हम कायर हैं, गाँधी का रंग भी खूब चढ़ा है, अभी क्या ? आगे लोग-बाग कीड़ों-मकोड़ों की तरह मरेंगे। मेरे पास भी अब लड़ने की कूवत नहीं, हिन्दी के समालोचक, सम्मेलन, समितियाँ सभी छायावादी कवियों को पलातक (इस्केपिस्ट) कहते हैं, किन्तु जीवन में प्रथम बार मुझे वास्तव में पलायन की इच्छा जकड़ रही है। बड़ी अड़चनें हैं—कुछ कहो तो गुनाह, लिखो तो गुनाह और करने में तो कुत्ते की मौत। जी घबड़ा उठता है, निर्जन चाहता है। बैसवाड़े का सारा खून पानी हो गया। सोचा, चित्रकूट अच्छा पड़ेगा।" मैं अपने प्रश्नों की बौछार बढ़ाने में चूकता नहीं, खाने-पीने की समस्या सामने रखी और निराला ने उसका समाधान इस प्रकार किया—"रामलाल छोटे-मोटे किसान हैं, वहाँ दो रोटी का ठिकाना लग ही जायगा। नेताओं की अपील अखबारों में निकली है। कोलिया में आलू बोने और खाने की कोशिश करूँगा। किसानी का काम भी जानता हूँ और नहीं तो, रामलाल ने मानो एक नया नाटा पाया। जुट कर काम करेंगे, पेट भरेंगे। लोग तब भी पलातक से बुरा और क्या कहेंगे।" निराला जैसे कराह उठे थे। उनका लम्बा-चौड़ा, भरा-पूरा शरीर जैसे सिकुड़ कर पापड़ बन गया था। और-और धनी-मानी, सेठ-महाजन, मोटे आसामी निराला को आतिथ्य दे सकते थे, किन्तु निराला दान लेने से डरने वाला नितान्त निर्धन था। भिक्षा-वृत्ति का निराला घोर विरोधी था। भिखारी के बच्चों की स्थिति देखकर निराला चौंक पड़ा था, यह स्वर-संधान—

ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत; मैं सींच दूँगा

अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा।

तब भला निराला किसी की दान-दक्षिणा कैसे ले सकता था। उन्होंने बताया था कि उन्नाव में भी एक परिवार के प्राणी की तरह वे रहे थे। लेखक भी तो परिवार का एक व्यक्ति हो सकता है। निराला ने उस घर में लिखने का काम किया और अपनी उन दिनों की सारी कृतियों को उस घर की सम्पत्ति समझ कर चौधरी साहब की प्रकाशन-संस्था को सौंप दी। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', और 'बिल्लेसुर बकरिहा', चौधरी साहब ने प्रकाशित किए हैं। चित्रकूट के रामलाल के यहाँ निराला, स्नेह-सौहार्दमय व्यवहार का अधिक अवकाश समझते थे। उनकी इच्छा थी कि कागज की कमी और प्रेस की अव्यवस्था के कारण लिखने की अपेक्षा वे शारीरिक श्रम से कमाएँ-खाएँ। काम नौकरी न होकर मजदूरी हो, मन आया किया न मन आया न किया। रामलाल को मजदूर लगाना ही पड़ता होगा, जुताई, बुवाई, निराई, कटाई, गहाई, ढोवाई, सब अपने आप तो कर न लेता होगा। इस प्रकार निराला ने अपनी जगह वहाँ रिजर्व देखी और चल पड़े। मौलिकता की झक में उनका निश्चय दुर्जेय रहता था। एक बार निश्चय करने के बाद फिर वह किसी की न सुनते, शायर, सिंह, सपूत की श्रेणी से टस से मस न होते।

चित्रकूट जाते समय निराला के सामने दैहिक, दैविक, भौतिक तापों का त्रिशूल लटक रहा था, किन्तु वे रोके नहीं रुके, अन्यथा आगे चलकर साहित्यकार संसद की संस्थापिका श्रीमती महादेवी वर्मा ने प्रयाग में उनके समुचित जीवन-यापन की व्यवस्था का सुनिश्चित एवं सुनियमित आश्वासन दिया था। निराला ने उसे यों कहकर टाल दिया—"कहाँ पाएँगी आप रुपया, शहरों में बड़ा खर्च पड़ता है। फिर अभी हम लोग बहनों को कुछ देते ही हैं; कम से कम लेते तो नहीं। और मैं स्थायी रूप से नहीं जा रहा, मन न लगा तो आकर यहीं प्रयाग में रहूँगा। यहाँ के कंट्रोल का कार्ड-लिफाफा आप जानिएगा। पंत का भी कुछ ठिकाना नहीं, खैर नमोनमः, आप चिंता न करें, आप की तबियत भी नासाज है।" इस प्रकार वे सब के सब प्रश्नों का समाधान करते हुए चित्रकूट के पास एक गाँव में रामलाल के यहाँ जा जमे।

पत्र की प्रतीक्षा अधैर्य की सीमा छूने लगी, पर निराला जी का समाचार नहीं मिल सका। यहाँ से मैंने दो पत्र डाले, पर उत्तर नहीं। इधर-उधर पूछ-ताछ शुरू की। लीडर प्रेस, दारागंज के लोगों के दरवाजे खटखटाये। कोई पता

नहीं चला। माह-दो-माह बीत गए। जाते समय वाली निराला की लड़खड़ाती हालत का स्मरण मन में आशंका की सृष्टि करने लगा और उनकी कष्ट-कथा आकाश के छाया-पथ की भाँति मनोकाश में स्पष्ट सी होने लगी कि उनकी बीमारी का समाचार महादेवी जी के पत्र से मिला; पाठक जी ने भी बताया। पाठक जी लीडर प्रेस के कर्मचारी की हैसियत में ईमानदार और घोर व्यवसायी होकर भी साहित्यिकों के प्रति सदैव व्यक्तिगत रूप से सहृदय और सेवाशील रहे हैं; वे इस समाचार से स्वयं बहुत क्षुब्ध हुए। महादेवी जी भी समाचार पाकर हाथी-खाना, भूसा मंडी की तरह स्वयं जाने को तैयार हो गईं, किन्तु उनके ज्वर ने नहीं जाने दिया तो नहीं जाने दिया। निराला जी के एक कम्पोजीटर मित्र तैयार किए गए और वे जाकर निराला जी को बाकायदे टाँग ले आ'। श्रीनारायण चतुर्वेदी के यहाँ उनको ठहराया गया।

उस समय निराला जी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। पहाड़ी ज्वर ने उन्हें तोड़ डाला था। दक्ष की शिकायत थी वे शिकायत तो करते थे। अतीत की

[redacted]

जी मेरी तरफ केवल टुकुर-टुकुर देखते रहे। उस दिन से दिन में एक बार निराला के पास जाना अनिवार्य हो गया। कुछ तो अपनी इच्छा से और कुछ महादेवी जी की आज्ञा से। उन्होंने कहा—"यदि बीमार एक बीमार को देखने नहीं जा सकता तो हाल-चाल तो ले ही सकता है, तुम रोज जाकर निराला जी को देखो और हमको समाचार दो।" वस्तुतः निराला जी के पास नित्य जाना एक नियम-सा बन गया।

निराला जी आश्चर्यजनक रीति से अच्छे होने लगे। चतुर्वेदी जी इसे गंगा-जल की महिमा के नाम से बखानते और निराला जी स्वयं जगह के परिवर्तन

को महत्व देते। कारण जो भी रहा हो, क्योंकि डाक्टर भी अपने हाथ की सफाई की दाद चाहते हैं। निराला जी दिन प्रति दिन अच्छे होते गए। एक ही सप्ताह के भीतर उनमें बैठने-उठने की क्षमता आ गई। धीरे-धीरे बातें भी करने लगे और थोड़ा-बहुत खान-पान भी होने लगा। ज्यों-ज्यों उनकी तबियत ठीक होने लगी त्यों-त्यों निराला की यह उत्सुकता बढती गई कि उनको देखने कौन-कौन आया और कौन-कौन नहीं आया। उस समय अपनी 'लोकायतन' वाली योजना के सिलसिले में पंत जी भी प्रयाग पधारे हुए थे और बच्चन जी के साथ बैंक रोड में ठहरे थे। एक दिन श्री चतुर्वेदी जी के यहाँ भी वे गए और उनके साथ झूंसी में 'लोकायन' के लिए जगह भी देखी पर किसी कारण से वे निराला जी से नहीं मिल सके। इस बात से निराला जी को बहुत दुख हुआ।

प्रयाग निवासी साहित्यिक साथियों का निराला के पास उस मरणासन्न स्थिति में भी न जाना, मेरे लिये आज भी रहस्यवाद का विषय है। यह सच है कि कोई गया नहीं। दारागंज के पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी निश्चय ही अनेक बार वहाँ मिले, यथासमय निराला जी की सेवा-सुश्रूषा भी की। निराला-प्रेमी विद्यार्थियों का दल भी वहाँ जमा रहता था, पर इस से निराला जी को संतोष नहीं हुआ। वे साहित्यिकों की इस जड़ता अथवा उदासी से अत्यन्त दुखी और संत्रस्त थे। एक दिन उन्होंने कहा—"बीस वर्ष एक साथ काम करके भी मैं अभी अपने मित्रों की ममता का पात्र नहीं बन सका। मैं तो बराबर सब के यहाँ जाता-आता हूँ, किन्तु मेरे पास किसी ने झाँका तक नहीं। लोग दारागंज तक आकर भी मेरे पास तक नहीं आते। बात क्या है? कुछ समझ में नहीं आता।" मैंने उन्हें बहुत प्रकार से समझाने की चेष्टा भी की, पर उनको बोध नहीं हुआ। वे बोल उठे—"मैं सभी के यहाँ प्रयाग आने पर हाजिरी दे आता हूँ। कुशल-प्रश्न पूछ आता हूँ, पर वाह री दुनिया। अब मैं भी न जाऊँगा। ये लोग अमरौती खाकर तो आए नहीं, बीमार भी पड़ेंगे, मरेंगे भी। कोई किसी का कष्ट थोड़े न बाँट लेता है, पर सहानुभूति तो एक साधारण सी बात है, उसकी अनुदारता किसी की शोभा नहीं बढ़ा सकती।" बेढब जी ने इस बात को मजाक के रूप में टालकर निराला को प्रबोध किया। एक महीने में निराला जी प्रायः स्वस्थ हो गए। बाहर-भीतर, इधर-उधर टहलने भी आने जाने लगे।

एक दिन शाम को बोले—"महादेवी जी के यहाँ तो न चलोगे?" मैं हँस पड़ा—"अभी उसी दिन तो आप किसी के यहाँ न जाने की बात कह रहे थे और आज चलने को तैयार हैं।" निराला जी ने उदास मुद्रा में उत्तर दिया—

"साँप के लिये चन्दन अपनी शीतलता नहीं छोड़ देता। मैं इस प्रकार के बदले में विश्वास भी नहीं करता और फिर देवी जी तो स्वयं बीमार हैं, छोटी बहन हैं, उनके यहाँ तो अच्छे होने का पहला प्रणाम देना ही चाहिए। एक ताँगा कर लें और चलें। रास्ते में वाजपेयी को भी ले लेंगे, लौटते समय उनका साथ रहेगा। तुम अपने हॉस्टल चले जाना।" तीनों महादेवी जी के यहाँ गए। देवी जी को देखते ही निराला जी सन्न हो गए और बोले—"आह आप तो बिलकुल सफेद हो गईं, बड़ा कष्ट पाया, क्या शिकायत है? अच्छी तरह से दवा करा डालिये। मैं आज यहाँ लड़ने के इरादे से आया था, पर आप का हाल देखकर अब कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती।" देवी जी ने पूछा—"आप की अब कैसी तबियत है? आप भी बहुत दुबले हो गए हैं। सफेद तो नहीं, पर काले पड़ गए हैं।" निराला ने अपने अगल-बगल देखकर कहा—"हाँ तबियत खराब हो गई थी, वहाँ (चित्रकूट) दवा का भी ठीक प्रबंध नहीं था। धीरे-धीरे कमजोर पड़ गया। अब ठीक हूँ। यों मेरा वजन अब भी एक मन छः सेर कम है। अभी एक माह और लगेगा। आप की चाय बहुत दिनों से नहीं पी, बनवाइए तो।"

चिर परिचित भगतिन शीघ्र चाय बना लाई और सब ने चाय पी। चलते-चलते निराला जी ने अपने मन की बात कह डाली—"आप के साहित्यिकों में से एक भी मुलकात करने नहीं गए। इसमें कोई हर्ज नहीं, पर मुझे अच्छा नहीं लगा। बीमारी में मिलने-जुलने की इच्छा भी बहुत प्रबल हो उठती है, यों शिकायत की जरूरत नहीं, सब चलता है। मैं साहित्यिकों के वर्ग में भी तो नहीं आता, क्योंकि मेरे जीवन का स्पंदन श्रम-साध्य है और साहित्यिकों के पास दूसरे ठिकाने भी हैं। कोई प्रिन्सपल है तो कोई प्रोफेसर, कोई संपादक। मै तो केवल साहित्य ही लिखता, खाता और पहिनता हूँ। साहित्य मेरा प्रमुख कार्य है, औरों का गौण, मन की मौज।" निराला जी कुछ यों ही बड़बड़ाते हुए उठ पड़े और दारागंज वापस चले गए।

तबियत ठीक होते ही निराला जी को मुर्ग-मुस्सलम की याद आई और उन्होंने मित्रों से इसकी चर्चा की, किन्तु चतुर्वेदी जी के परम वैष्णव घर में यह आयोजन सम्भव नहीं था। 'चाबुक' के प्रकाशक के यहाँ गोश्त जब-तब चलने लगा, किन्तु खर्च के अभाव ने वहाँ की व्यवस्था को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। निराला जी की आकाश-वृत्ति में दो-चार रुपया भी बहुत कठिन रहा है, यह किसी से छिपा नहीं। उन्नाव को उन्होंने चिट्ठी भी लिखी, पर रुपया नहीं आ सका। थोड़े बहुत रुपयों का प्रबंध किया भी गया, पर उनसे निराला की तृप्ति सम्भव न थी।

अच्छे होने के बाद अपने मन की सुविधा के अभाव ने निराला जी को फिर दबाया और वे चतुर्वेदी जी के यहाँ से वाजपेयी जी के यहाँ चले गए। वाजपेयी जी ने बड़े स्नेह-सम्मान से निराला जी को अपने घर में रखा। कुछ दिनों के बाद निराला जी को वहाँ रहना भी संकोचपूर्ण लगा और वे एक अलग मकान लेकर दारागंज में रहने लगे। मकान एक पंडे का था। पंडा जी घर में अकेले थे। घर का एक भाग अपने लिए रख कर शेष मकान उन्होंने निराला जी को किराये पर दे दिया। बूढ़े पंडे को जैसे निराला जी एक सहारा मिल गए, क्योंकि किराये के अतिरिक्त उन्होंने पंडे की प्रायः सभी चिन्ताओं को सँभाल लिया। खाना-पीना, भंग-बूटी सभी कुछ निराला के जिम्मे रहा। निराला से सब कुछ पाकर भी पंडा बाबा ने अपने घर में गोश्त बनवा कर धर्म छोड़ने की बात मंजूर नहीं की, और निराला जी गोश्त की सुविधा इधर-उधर होटलों में जुटाते रहे। पंडा बाबा ने गोश्त पकाने की इजाजत के अलावा बाकी निराला जी की सभी सेवाएँ कीं, खाना बना देना, झाड़ू लगा देना आदि-आदि।

सन् '४२ का आन्दोलन और उसके बाद वाली स्थिति भारत के इतिहास में एक अमिट घटना है। दमन और अत्याचार का अबाध-नग्न-नृत्य और अन्न-वस्त्र की नितान्त कमी। निराला जी एक विकट स्थिति मे पड़ गये। निश्चित आय के बिना भी पेट भोजन चाहता है, तन ढँकना भी सभ्यता का तकाजा है, मकान का किराया देना भी आवश्यकता है, पर निराला के लिए सब रास्ते बन्द थे। गंगा-स्नान और गंगा-जल-पान उनके लिए अब भी सुलभ थे, पर उसमें भी अड़चनें पड़ने लगीं। एक दिन निराला जी ने बताया—"बड़ी-बड़ी दिक्कतें हैं, सब जगह पैसे का खेल है। अब तो बिना पैसे के गंगा भी दुर्लभ हो रही है। उसका पानी भी बिकता है। घर में नल का पैसा दो और घाट में पंडों को दक्षिणा। टीका-चन्दन की प्रथा भी है ही। आज से मैंने गंगा को भी छोड़ा, रोज-रोज पैसा कहाँ मिले ?" अब अपना भोजन भी वे स्वयं पकाने लगे, क्योंकि पंडे के पकाने से सेर भर आटा चाहिए और खुद पकाने से केवल आध सेर, सिर्फ अपने लिए। यह आध सेर आटा भी निराला को सहज-सुलभ नहीं था, कभी मिलता और कभी न मिलता। मुझे अच्छी तरह ज्ञात है कि निराला ने इन दिनो कई उपवास तक किए, चने चाब कर दिन काटे।

घर में बिजली न होने के कारण रात का अंधकार उनका सहचर बन गया था। मिट्टी का तेल एक तो मिलता ही न था दूसरे अगर पैसे-दो-पैसे का मिला भी तो कंट्रोल की दूकान पर दो घण्टे कवायद करने के बाद। निराला ने इस

तेल को भी हाथ जोड़े और अंधकार में ही रहना पसंद किया। दोपहर को मोटी-मोटी छार-छः रोटियाँ पकाते और दो-तीन खाकर शेष रात के लिए रख देते। दाल-तरकारी का नाम नहीं। कभी-कभी गुड़ का प्रयोग अवश्य करते थे। एक बार उनकी इस दुर्दशा की कथा सुनकर महादेवी जी ने कहा—"एक नौकर रख लीजिए जो खाना बना दिया करे और चौका-बर्तन भी कर दिया करे। उसकी तनख्वाह हमारे जिम्मे रही।" निराला जी जैसे चौंक पड़े—"नौकर रख लूँ? क्या बात आप कहती हैं? बड़ी बदनामी हो जायेगी। मैं न नौकर बनता और न नौकर बनाता। किसी की विपन्नता का फायदा उठाकर उसे नौकर अथवा दास बनाना किसी सामन्त का काम हो सकता है, मेरा नहीं। आपने भी खूब कहा, 'महतारी के धोतिया नहीं बिलारी के गतिया बाँधे।' खुद खाने का ठिकाना नहीं, ऊपर से एक नौकर रख लूँ। मेरे पास काम भी क्या है? घर में एक चटाई, एक तवा और कुछ पुस्तकें। खाना बनाया-खाया चटाई बिछाई और सो रहा।"

महादेवी जी ने आश्वासन दिया कि लिखने-पढ़ने की सुविधा के लिए वे एक कुर्सी और टेबिल भेज देंगी, पर निराला इसके लिए भी तैयार नहीं हुए। हँस कर कहा—"मुझे कुर्सी में आराम नहीं मिलता, भारी-भरकम देह लेकर जमीन में फैलकर आराम से बैठता हूँ। आप मेरे ठाठ-बाट के सँभालने की झंझट न करें। मैं जैसा हूँ ठीक हूँ। मैं समझता हूँ ये पाँड़े आपको मेरा सब समाचार देता रहता है। मैं इसे अपने यहाँ आने न दूँगा। बीमारी हालत में आपकी चिंता बढ़ाता रहता है।" मैंने कहा—"आप तो व्यर्थ में नाराज होते हैं, जो सच है वह मैंने अगर बता भी दिया तो अपराध क्या किया?" निराला जी ने बहुत ही कोमल स्वर में कहा—"नाराज होने की बात नहीं, पर किसी की विपन्नता के विज्ञापन का क्या मतलब? तमाशा रचाना भी तो ठीक नहीं।"

दूसरे दिन सुबह जब मैं कुर्सी-टेबिल लेकर पहुँचा तब वे बहुत नाराज हुए और कहा—"अभी सब समान वापस ले जाओ, मुझे नहीं चाहिए तुम्हारी यह सौगात।" पर मेरी बहुत अनुनय-विनय से उन्होंने सामान रख लिया और बोले—"इस समय देवी जी की तबियत ठीक नहीं, अगर सामान लौटा दिया तो उनको कष्ट होगा, इसलिए रखवा दो बाद में देखा जायगा। जाओ शाम को आना। इस समय मेरा भी दिमाग भन्नाया है।" मैं चुपचाप वापस चला आया।

शाम को करीब पाँच बजे फिर गया, पर निराला जी कहीं बाहर निकल गए थे। मैं निराश होकर वापस आ रहा था कि रास्ते में निराला जी गुड़ की

भेली लिए हुए मिल गए। उतावली से कहा—"चलो-चलो तुमको आज कला की रोटी खिलाऊँगा।" मैंने कहा—"मैंने आपका आशय नहीं समझा, इसे स्पष्ट कीजिए।" निराला जी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"अरे जैसे गेहूँ की, चने की, ज्वार की, बाजरे की रोटियाँ होती हैं उसी तरह कला की रोटी होती है। चलकर देखो, तबियत खुश हो जायेगी।" बात करते-करते निराला जी का निवास-गृह आ गया और हम दोनों ऊपर के बैठके में चढ़ गए। निराला जी ने खूँटी में टँगी एक चीथड़े की पोटली को उतारा और सामने की छत में जा बैठे। घी की एक छोटी मेटिया भी लेते गये थे। मुझसे बोले—" यह कला की रोटी, सुबह से सूख रही है। यों काफी मोटी हैं, इनका पानी सूखना बहुत आसान नहीं।" यह कहते हुए दो बड़ी-बड़ी मोटी रोटियाँ निकालीं और उनमें टोस्ट में मक्खन की तरह घी लगाया। आधा गुड़ और एक रोटी मुझे दी और एक स्वयं लेकर बोले—"खाओ यह है कला की रोटी। तुम जानते हो मैं हिन्दी का कवि-कलाकार हूँ और मेरी रोटी कला की रोटी है। अँधेरे की दिक्कत से बचने के लिए सुबह बनाकर टाँग देता हूँ। खाओ न, बड़ी मीठी है। जल्दी-जल्दी बँदर-कौर मारो। यही तो कला की रोटी है।" मेरा मन करुणा और प्रसन्नता की मिश्रित भावनाओं से एक साथ भर उठा। और रोटी के स्वाद की तो बात करनी व्यर्थ है, पर यह सच है कि वैसी रोटी दूसरी मैंने नहीं खाई। खाने के बाद निराला जी ने कहा—"आओ तिताला टहलते हुए संगम की ओर निकल चलें।" मैं मुस्करा पड़ा और निराला ने फौरन मेरे हँसने का कारण ताड़ लिया और प्रतिवाद के रूप में कहा—"गंगा की तरफ टहलने जाने का पैसा नहीं लगता वरना न जाता।" इसके बाद हम लोग घूमने चले गए।

ज्यों-ज्यों संगम समीप आता जाता था त्यों-त्यों निराला जी फूलते जाते थे, आकाश की ओर ताकते और मुस्कराते जाते थे। वातावरण मूक, क्योंकि निराला जी टहलते हुए बात करना पसंद नहीं करते थे। चलते, कदम उठाते स्थूल शरीर को सँभालने में जैसे खो जाते थे, पर उस दिन संगम पहुँचकर वाह के साथ गा उठे—

पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुना तरङ्गैः।

इतना ही नहीं उन्होंने तुलसीदास की चौपाई—'देखत श्यामल धवल हिलोरे' को कालिदास की उक्ति से अधिक उत्तम बताया—"पाँड़े, देखो, इसे 'आर्ट' कहते हैं। कालिदास का संगम-वर्णन बहुत सुन्दर है। तुम तो ग्रेजुएट हो, रघुवंश काहे को देखा होगा? पढ़ो तो तबियत बाग-बाग हो जाय। मगर

तुलसीदास ने चौपाई के एक चरण में उससे बाजी ले ली। बताओ कौन-सा प्वाइन्ट और कौन सी कला है ?" मैंने अपनी अक्षमता निवेदित की कि निराला जैसे कूद पड़े, "यही तो बात है, भाव के वाहक शब्द होते हैं और शब्दों में अर्थ और ध्वनि। 'श्यामल' के साथ श्याम (कृष्ण) की कल्पना को सजीवता देने और काव्य में अपने सांस्कृतिक प्रतीक सुरक्षित रखने की कला में तुलसीदास बहुत आगे हैं। वहाँ भारत का कोई कवि नहीं पहुँचता !" निराला की निश्छल श्रद्धा तुलसीदास के प्रति अत्यन्त विनीत है। उन्होंने 'तुलसीदास' नामक हिन्दी का सर्व-प्रथम मनोवैज्ञानिक खंड-काव्य भी लिखा है। 'तुलसीदास' का 'परिचय' इस प्रकार है—'पद्य में कहानी कहने की प्रथा प्राचीन काल से प्रचलित है। प्रस्तुत कविता भी एक कथा-वस्तु को लेकर निर्मित हुई है। गोस्वामी तुलसीदास किस प्रकार अपनी स्त्री पर अत्यधिक आसक्त थे, और बाद को उसी के द्वारा उन्हें किस प्रकार राम की भक्ति का निर्देश हुआ—यह कथा जन साधारण में प्रचलित है। इसी कथा की नींव पर कवि ने इस लम्बी कविता की रचना की है; कारण यह कि उसने कथा-तत्व में और बहुत सी बातें देखी हैं जो जन साधारण की दृष्टि से ओझल रहती है। तुलसीदास का प्रथम अध्ययन, पश्चात् पूर्व संस्कारों का उदय, प्रकृति-दर्शन और जिज्ञासा, नारी से मोह, मानसिक संघर्ष और अन्त में नारी द्वारा ही विजय आदि वे मनोवैज्ञानिक समस्याएँ हैं जिन्हें लेकर कवि ने कथा को विस्तार दिया है। कथा को प्राधान्य देने वाली कविताएँ शतशः है; मनोविज्ञान को आधार मान कर पद्य में लिखी जाने वाली कविताओं में यह एक ही है।' उसकी कुछ पंक्तियाँ कितनी अच्छी हैं; रंग नया, ढंग नया, भाव नया, चाव नया, छन्द नया, बन्द नया। शब्दों की अजस्र मन्द-मन्थर फुलझड़ी और विचारों का अविरल तथा अगाध स्वच्छ-स्निग्ध प्रवाह—

बह कर समीर ज्यों पुष्पाकुल
वन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का त्यों तुलकर उन्मन;
वह उस शाखा का वन-विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग—रंग पर जीवन।

और उसने सोचा—

सोचा कवि ने मानस-तरंग,
यह भारत-संस्कृति पर सभंग
फैली जो, लेती संग-संग जनगण को,
इस अनिल वाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिमय घर,
रविकुल-जीवन-चुंबनकर मानस-धन जो !

रही 'तुलसीदास' की प्रकृति-सुन्दरी तो वह तो अपना सानी नहीं रखती। सजीव रूप से प्रत्यक्ष होती चलती है—

यह श्री पावन, गृहिणी उदार,
गिरि-वर उरोज, सरि पयोधार,
कर वन-तरु; फैला फल निहारती देती;
सब जीवों पर है एक दृष्टि,
तृण-तृण पर उसकी सुधा-वृष्टि,
प्रेयसी, बदलती वसन सृष्टि नव लेती।

प्रकृति के साथ नारी का भी एक चित्र अवलोकनीय है—

सोचता कौन प्रतिहत चेतन—
वे नहीं प्रिया के नयन, नयन;
वह केवल वहाँ मीन-केतन, युवती में;
अपने वश में कर पुरुष देश
है उड़ा रहा ध्वज मुक्तकेश;
तरुणी-तनु-आलंबन-विशेष, पृथ्वी में ?

इस प्रकार 'तुलसीदास' में निराला की प्रतिभा का प्रवाह इतना प्रखर है कि उसके सामने किसी भी दूसरे आधुनिक कवि की प्रतिभा टिक ही नहीं सकती। निराला की तुलसीदास के प्रति अटल श्रद्धा का ही यह सुफल था। इस कारण कभी भी तुलसी के विषय में जब-जब निराला जी कुछ कहते, श्रद्धा गद्‌गद् हो जाते। कहने लगे—"आर्ट की इस बारीकी की खूबियाँ मैंने 'मेरे गीत और कला' में दिखलाने की कोशिश की है, पर हिन्दी वाले उसे पागल का प्रलाप बताते हैं। खैर, तुम इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन करो।" इसके बाद निराला जी एक बढ़िया नाव चुन कर बैठ गए। मैं भी पीछे लगा और नाव चल

पड़ी। चारों तरफ का वातावरण जैसे निराला की इन पंक्तियों से बँधा हुआ सामने लोट रहा हो—

अस्ताचल रवि जल छलछल-छवि,
स्तब्ध विश्व-कवि, जीवन उन्मन;
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन
दूर नदी पर नौका सुन्दर
दीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर
\+ + +
ऊपर शोभित मेघ छत्र सित
नीचे अमित नील जल दोलित
ध्यान नयन मन, चिन्त्य प्राण-धन,
किया शेष रवि ने कर अर्पण !

मैंने इस गीत को गुनगुनाना शुरू ही किया था कि निराला जी खुल पड़े—

"मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन।

में 'परिमल' शब्द, गीत को भाव-तृप्ति और मुझे स्मरण की अटूट आस्था का संबल, दोनों का भार बड़ी खूबी से वहन करता है। 'परिमल' मेरी पहली कविता-पुस्तक ही नहीं वरन् आधुनिक काव्य-उपवन का परिमल भी है। यहाँ परिमल दोनों अर्थों में बैठता है। अपनी पिछली काव्य-कृतियों में परिमल को मैं 'पे' करता चलता हूँ। 'अनामिका' में भी एक ऐसा गीत है—वही—

फिर सवाँर सितार लो !
बाँध कर फिर ठाट, अपने
अङ्क पर झङ्कार दो।
शब्द के कलि-दल खुलें,
गति-पवन-भर काँप थर-थर
मीड़ भ्रमरावलि ढुलें
गीत-परिमल बहे निर्मल,
फिर बहार बहार हो।

यहाँ भी 'परिमल' शब्द दोहरका दे रहा है। यह वास्तव में मुझे बहुत प्रिय है। 'सब सुत मोहिं—प्राण की नाईं, राम देत नहिं बनत गुसाईं' की भाँति चाहे

मेरा प्रथम काव्य-संतान के प्रति स्वाभाविक मोह ही कहा जाय, पर है यह सच कि 'परिमल' मुझे प्राणाधिक प्रिय है। उसकी यह प्रार्थना—

मेरे गगन-मगन मन में अयि
किरणमयी, विचरो—
तरु-तोरण-तृण-तृण की कविता
छवि-मधु-सुरभि भरो!

हिन्दी में सफल हो गई। तुमको क्या पता सन् '२० से '३० तक नई कविता की आफत थी। मेरे मुक्त छन्द को, 'अमित्र' जी को सुनकर लोग-बाग आपस में कानाफूसी करते थे, एक दूसरे से पूछते थे—'कहो, निराला गद्य पढ़ते हैं कि पद्य' और मैं कभी प्रसन्न कभी उदास होकर चुप रह जाता।" अब तक नाव संगम से काफी दूर जा चुकी थी। निराला जी ने लौटने का आदेश दिया और जेब से सुर्ती-चूना निकाला और खाकर बोले—"परिमल' की प्रभाती ने भी अपने को इस युग के जागरण का सेहरा कमाया। मुक्त भावों की भागदौड़ देखो—

जीवन-प्रसून वह वृन्तहीन
खुल गया उषा-नभ में नवीन,
धाराएँ ज्योति-सुरभि उर भर
बह चलीं चतुर्दिक कर्मलीन,
तुम भी निज तरुण तरंग खोल
नव-अरुण संग हो लो!
प्रिय, मुद्रित दृग खोलो!
गत-स्वप्न निशा के तिमिर जाल
नव किरणों से धोलो!
मुद्रित दृग खोलो!

पन्त ने भी तो लिखा है, करीब-करीब मेरे साथ ही, बल्कि कुछ साल पीछे—

प्रथम रश्मि का आना रङ्गिणि!
तूने कैसे पहिचाना?
कहाँ-कहाँ हे बाल विहङ्गिनि!
पाया तूने यह गाना?
कूक सहसा उठी तरु-वासिनि!
गा तू स्वागत का गाना,

किसने तुमको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?
खुले पलक फैली सुवर्ण छवि,
जगी सुरभि डोले मधु बाल,
स्पन्दन कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना !

महादेवी के आते-आते रास्ता काफी साफ हो चुका था, पर उनकी कविताओं में भी प्राचीनता के दबाव की प्रतिक्रिया है—

तन्द्रिल निशीथ में ले आए
गायक तुम अपनी अमर बीन !
प्राणों में भरने स्वर नवीन !
दिव से लावे फिर विश्व जाग चिर जीवन का वरदान छीन !

उनकी एक कविता और भी है, पूरी याद नहीं, पर कुछ ऐसी पंक्तियाँ हैं—

रूप-रेखा उलझनों में
कठिन सीमा बन्धनों में
जग बँधा निष्ठुर क्षणों में
अश्रुमय कोमल कहाँ तू
आ गई परदेशिनी री' !"

निराला जी अपनी तारीफ सुनकर छोटे बच्चों की भाँति खुश होते हैं। मैंने छेड़ा—"आप को अपनी ही कविताएँ नहीं, प्रसाद, पंत, महादेवी सभी की कविताएँ काफी याद हैं।" निराला जी प्रसन्न होकर आश्वस्त से हुए और कहा—"हाँ सम-सामयिक कवियों की काव्य-गति जानने के लिए उन्हें पढ़ना पड़ता है, उससे सारे युग का पता चलता है और फिर ये लोग तो छायावाद के आधार स्तम्भ हैं। मैंने संस्कृत-हिन्दी के पुराने कवि भी पढ़े हैं।"

मैंने प्रश्न किया—"महादेवी जी के काव्य मे आप को क्या विशेषता मिलती है।" निराला जैसे उत्तर सोचे बैठे थे, कह चले—"महादेवी का काव्य सभी विशेषताओं से विभूषित है। सभी गीत दिव्य, जैसे भारती के पूजा-गीत हों, आस्था में अडिग और कल्पना में चुस्त तथा भावना में विराट। अखिल विश्व को साथ समेटने में देवी जी की क्षमता अद्वितीय है। चार पंक्तियों में सारी दुनिया उतर आती है—

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब काँपता
तैरते सित मेघ हिम के खंड से
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में

कैसा साफ और बेजोड़ बन्द है।" नाव किनारे आ लगी। निराला जी ने कहा—"अभी घर जाने का मन नहीं होता, तुमको देर तो नहीं हो रही? चलो सरस्वती घाट में उतरेंगे।" नाव फिर बढ़ चली—छप-छप-छप। "आज बहुत अच्छा नौका-विहार रहा," मैंने धीरे से कहा। निराला ने अनुमोदन के स्वरों में कहा—"एक दिन सुबह से आवें और दिन भर यहीं नाव में रहें। खाना-पीना भी यहीं हो, और शाम को भंग भी छने। अच्छा, मैं एक दिन सब की दावत करूँगा। चन्द्रमुखी जी के यहाँ से खाना बनवाकर ले आवेंगे, वे भी रहेंगी और दो-एक मित्र होंगे तब मजा आएगा। आज मौसम भी सुहावना है, आकाश साफ और हवा भी तर।"

बहुत अच्छा है, कहते हुए मैंने एक नया प्रश्न किया—"आजकल बातचीत में आप हिन्दुस्तानी शब्दों का प्रयोग बहुत करते हैं। गाँधी का रंग आप पर भी चढ़ा क्या?" निराला ने जल्दी-जल्दी कहना शुरू किया—"नहीं, नहीं, रंग चढ़ने की क्या बात है? बोल चाल में भाषा का रुख स्वाभाविक ही अच्छा लगता है। मैंने 'परिमल' में भी साधारण प्रचलित उर्दू शब्दों का प्रयोग किया है। उससे भाषा में एक रवानगी आ जाती है। हिन्दी जैसी जीवित भाषा प्रत्येक भाषा के शब्द चुनने और खपाने में स्वतंत्र है। 'कुकुरमुत्ता' में मैंने जानबूझकर हिन्दी-संस्कृत-अङ्गरेजी-उर्दू-फारसी के शब्द रखे हैं और वे सब हिन्दी बनकर आए हैं। जन साधारण और थोड़ा भी पढ़े-लिखे उन्हें जानते-पहचानते हैं।" सरस्वती घाट भी करीब पहुँचा देखकर निराला ने मल्लाह से पूछा—"कितने पैसे चाहिए? तुमने मेहनत की है और हमने मजा उठाया है।" मल्लाह की मुँह माँगी मजदूरी देकर हमलोग नाव से उतर पड़े। निराला ने नाव से उतरते ही ऐसी चुप्पी साधी जो अलग होने के चौराहे पर ही टूटी—"अच्छा तो अब जाओ", कहकर निराला ने दारागंज का रास्ता पकड़ा और मैंने के० पी० यू० सी० का।

लौटते समय मैं निराला जी की दशा पर मन ही मन विचार कर रहा था कि इतना बड़ा व्यक्ति आज दो-दो दानों को मारा-मारा फिरता है। कोई कहीं ठौर-ठिकाना नहीं, फिर भी उसके पास विषाद का आभास नहीं मिलता। वही कवियोचित चंचलता, हँसी और उदारता। भारत यदि स्वतंत्र होता तो निराला

की यह हालत न होती, फिर लगा कौन जाने तब भी अधिकारी लोग निराला के साथ शायद यही व्यवहार करते ? साहित्य-सम्मेलन ने या हिन्दुस्तानी एकेडमी ने ही क्या किया ? और तो और, निराला के साथियों ने भी उनसे आत्मीयता का व्यवहार नहीं किया, उचित स्नेह-सम्मान नहीं दिया। तब गैरों से क्या आशा की जाय ? दूसरे दिन मैंने 'देशदूत' में एक नोट लिखा जिसमें निराला की करुण-कथा का चित्रण करके देश के पदवीधरों और नेताओं तथा साहित्यिकों से उनकी रक्षा की अपील की, पर किसी के कान में जूं तक नहीं रेंगी। महादेवी जी ने कुछ थोड़ा-बहुत उपाय किया भी, पर वह पूरा नहीं पड़ा।

दो-तीन दिन बाद निराला जी सुबह मेरे हॉस्टल आए और कहने लगे—"आज तो इतवार है, तुम्हारे यहाँ स्पेशल बना होगा; मँगवाओ, कुछ खाया जाय।" मैंने शीघ्र ही थाली मँगवाई, पर दुर्भाग्य से खाना स्पेशल न होकर बिलकुल साधारण था। निराला जी ने थाल देखकर हँसते हुए कहा, "जहाँ कबोर माँठा का जाँय, भैंस-पड़वा दोनों मर जाँय', यही होता है, लोग गलत नहीं कहते कि 'राजा नल पर विपत पड़ी, भूंजी मछली दह में पड़ी।" ये शब्द जैसे मेरे भीतर काँटों की तरह चुभ गए। निराला जी ने घर के घी के साथ डटकर भोजन किया और बार-बार खूब तारीफ भी की। मैंने आग्रह किया—"निराला जी आप भोजन यहीं किया करें, आप के साथ खाने में बहुत सुख मिलता है।" उन्होंने मेरी बात मान ली और रोज आने का निश्चय भी कर लिया और तीन-चार दिन लगातार आए भी। एक दिन आते ही हाँफ-हाँफ कर कहने लगे—"ओह, पस्त हो गया, चलते-चलते कचूमर निकल जाता है। कल से मैं नहीं आऊँगा। इतना चलने और थकने से घर में पेट दबाये पड़े रहना अधिक अच्छा है। ऐसा करने में जान के लाले पड़ जाते हैं। पैर कट गए, सिर चकरा गया।" मैंने निवेदन किया—"निराला जी एक उपाय और है, मैं हॉस्टल छोड़कर आप के साथ रहने लगूं और एक नौकर रख लें। दोनों जने डट के रहेंगे। मेरे पास साइकिल है ही, आने-जाने में किसी प्रकार की कठिनाई भी नहीं होगी। कहिए कब सामान भेजूं ?" निराला जी ने सिर हिलाते हुए कहा—"नहीं, यह ठीक नहीं है। तुम्हारा व्यवस्थित जीवन बर्बाद हो जावेगा। पढ़ाई-लिखाई चौपट हो जावेगी। अपनी डाक्टरेट की डिग्री ले लो तब साथ रहेंगे, अभी नहीं।" मैंने पूछा—"डाक्टरेट की डिग्री और साथ रहने से क्या सम्बन्ध है ?" निराला ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—"सम्बन्ध यही है कि अभी तुम, कुछ भी हो, पर विद्यार्थी हो, और डिग्री के पश्चात् तुम्हारी पोजीशन दूसरी हो जावेगी।

तब साथ ही रहेंगे, कुछ लिखें-पढ़ेंगे। इस समय जिस प्रकार मैं रहता हूँ, उस स्थिति में तुम्हारा मेरे साथ रहना ठीक नहीं है। मेरे पीछे पुलिस भी तो लगी है, तुमको परेशानी क्यों उठानी पड़े ? और भी बहुत सी बातें हैं जिनका राज बाद में खुलेगा।"

निराला जी की ये बहकी-बहकी बातें सुनकर मैं कुछ अजीब सा अनुभव करने लगा और वे कहते गए—"मेरी हालत तुम नहीं जानते, मुझसे हिन्दू-मुसलमान-ईसाई सब नाराज हैं और सरकार तो मेरी जानी दुश्मन है, चाहे अँग्रेजी सरकार हो चाहे काँग्रेसी सरकार, दोनों को मुझसे दाव पाना है। 'अनामिका' की 'वन-बेला' तुमने पढ़ी है। उसमें भारतीय नेताओं के प्रति लिखा है—

इतना भी नहीं, लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब समुद्र पार,
देश की नीति के मेरे पिता परम पंडित
एकाधिकार रखते भी धन पर, अविचल-चित
होते उग्रतर साम्यवादी, करते प्रचार,
चुनती जनता राष्ट्रपति उन्हें ही सुनिर्धार,
पैसे में दस राष्ट्रीय गीत रचकर उनपर
कुछ लोग बेचते गा गा गर्दभ-मर्दन-स्वर,
हिन्दी-सम्मेलन भी न कभी पीछे को पग
रखता कि अटल साहित्य कहीं यह हो डगमग,
मैं पाता खबर तार से त्वरित समुद्र-पार
लार्ड के लाडलों को देता दावत-विहार;
इस तरह खर्च केवल सहस्र षट मास मास
पूरा कर आता लौट योग्य निज पिता पास
वायुयान से, भारत पर रखता चरण कमल
पत्रों के प्रतिनिधि-दल में मच जाती हल-चल,
दौड़ते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर
जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर फिर,
फिर पिता सङ्ग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभङ्ग

करता प्रचार
मंच पर खड़ा हो, साम्यवाद इतना उदार !

इस कविता में कई नेता अपने-आप सामने आ जाते हैं और सचाई की तीव्रता में तिलमिला उठते हैं। मुझसे नाराज हैं। मैं गाँधी-जवाहर से यों भी हिन्दी के लिए लड़ चुका हूँ; टन्डन जी और सम्पूर्णानन्द को भी खरी-खोटी सुना चुका हूँ। इसलिए यह दल का दल मेरी ताक में रहता है। अँग्रेजों की भी आँखों में मैं बहुत पहले से ही चढा हूँ, यद्यपि हिन्दी में प्रचलित राष्ट्रीय-प्रणाली को मैंने कभी नहीं अपनाया, पर विदेशी सरकार की खबर मैंने किसी से कम नहीं ली है। पर इस देश में अजब तमाशा भी तो है—

माल मारा था जिन्होंने वे हुए तहसीलदार
गँठ-कटों की हो गई हैं थानेदारी आजकल !

सुभाष का उदाहरण भी सामने है। मैं तो किसी दल में नहीं हूँ और इस कारण सब की आँख की किरकिरी बना हूँ। तुम्हारे लिए मेरे साथ रहना ठीक नहीं है। बैठे-बैठाए आफत क्यों खरीदना चाहते हो ? निराला सब दिन अकेले रहा है और रहेगा। इतना कह कर वे चारपाई में लुढ़क पड़े। शाम को प्रेस बन्द हो जाने की वजह से करीब दो बजे बाहर चलने की इच्छा बताकर वे सो गए। मैं बैठा-बैठा कुछ पढ़ने लगा। निराला जी बार-बार करवटें बदल रहे थे, कुछ उदास भी थे। लगता था कि उन्हें नींद नहीं आ रही है। वे थोड़ी ही देर बाद उठ बैठे और बोले—"चलो दो गीत बेचने है, कल दावत कर डालनी है।" हम लोग पहले लीडर प्रेस में 'भारत' संपादक के पास गए। निराला जी ने जेब से दो गजलें निकालीं और संपादक जी को, जो टेबिल पर पैर रखे कुर्सी पर बैठे थे, थमाते हुए कहा—"चाहें तो इन्हें भारत में छापने के लिए ले लें और रुपया आज ही दिला दें।" संपादक जी ऊँघते स्वरों में उसी तरह बैठे-बैठे बोले—"निराला जी, हमें आप गजल न देकर कोई दूसरी चीज दें, यह तो हम न छाप सकेंगे।" निराला का कवि-हृदय छू गया और गजलें वापस लेते हुए उन्होंने कहा—"मैं आप से कविताएँ लिखने का विषय सीखने नहीं आया। मेरे पास जो माल है, आप चाहें तो खरीद लें चाहें तो वापस कर दें।" संपादक जी ने गजलें लेने से इनकार कर दिया और हम लोग मुँह की खाकर वापस चले आए।

रास्ते में मैं संपादकीय व्यवहार की कटु आलोचना करने लगा। तब निराला जी ने धैर्य के साथ कहा—"अभी क्या है, चलो इण्डियन प्रेस भी चलें, शायद 'देशदूत' वाले ले लें। रही सम्मान-अपमान की बात तो मुझे अब इसका दुख

नहीं होता। अपनी गरज से जाने वालों का सम्मान होता भी तो नहीं और अगर सम्मान की चिन्ता करें तो खाएं-पीएं क्या खाक ?"

मैंने विस्मय-विमुग्ध होकर निराला का यह प्रवचन सुना और चुप रहा। सौभाग्य से श्री निर्मल जी ने गजलें ले लीं और निराला जी को फिलहाल अपने पास से रुपये देकर रसीद लिखा ली। दोनों प्रसन्न मन हॉस्टल लौट आए। दूसरे दिन दावत की तय हुई और निराला जी धीर-पद तथा मंद-गति से दारागंज चले गए। दूसरे दिन आठ बजे सबेरे ही मैं दारागंज पहुँच गया। निराला जी बहुत प्रसन्न थे, कहने लगे—"आज घर में उत्सव है, सब लोग आएँगे। पाठक जी पान बहुत खाते हैं, न हो तो एक रुपये के पान लगवा लाओ ! खाना, सुधा जी बना रही हैं। दस बजे यहाँ से चल देना है। स्नान भी तो करना होगा ? धोती नहीं है, औरतें साथ में हैं, कोई हर्ज नहीं, मैं न नहाऊंगा। सामान ताकने को भी तो कोई चाहिए न ?" मैंने साइकिल से जाकर धोती ले आने का प्रस्ताव किया, पर निराला जी ने मना कर दिया। जहाँ तक सम्भव होता वे कभी किसी को अपने काम के लिए कष्ट न देना चाहते। उनके स्नेह का पूरा अधिकार पाकर भी मैंने कभी उनकी सेवा का समय नहीं पाया। 'साइटिका' के दर्द में भी पैर दबवाना वे गुनाह समझते। इस विषय को लेकर कई बार उनसे कहा-सुनी भी की, पर वे अपनी हठ पर डटे रहे।

सुधा जी ने खाना बनने और स्वयं तैयार होने की सूचना भेजी और हम लोग उनके घर की ओर चले। ताँगा मंगाया गया और सुधा जी मय सामान और अपने पति श्री ओझा जी के साथ उसमें बैठीं, उनकी बड़ी बहिन भी साथ थीं। निराला ने कहा—"आप लोग चलिए, सरस्वती घाट पर इंतजार कीजिएगा, हम औरों को लेकर आते हैं।" दस बजते-बजते पाठक जी और दारागंज के बाजपेयी और दो एक सज्जन भी आ गए। निराला जी ने पूछा—"पैदल चलने से तो देर होगी और एक ताँगा काफी नहीं होगा, दो ताँगे बेकार होंगे; क्या किया जाय ? आप लोग जल्दी तय कीजिए।" पाठक जी ने तुरंत उत्तर दिया—"पाँच को ताँगा बिठा लेगा और पांडेय अपनी साइकिल कभी छोड़ते नहीं।" निराला ने व्यंग किया—"पाँच-छः लड़कियाँ ताँगे में बैठती हैं, आदमियों को और खासकर हम जैसों को कोई ताँगे वाला नहीं बिठा लेगा, पर हाँ, पैसे का प्रलोभन देने से शायद ले चले।" सब लोग ताँगे के अड्डे की ओर चल पड़े। ताँगा भी मिल गया।

किनारे पर बैठी सुधा जी विष घोल रही थीं—"बड़ी देर कर दी, धूप भी

कड़ी है। निराला जी आप पूरे कवि हैं।" निराला जी ने कहा—"आश्चर्य है कि तुमने यह आज जाना। कवि तो मैं सन् '१५ से हूँ।" सब लोग एक छाया-दार बड़ी नाव में जा बैठे। निराला जी ने कहा—"आठ-दस जने का खासा मजमा है, पर इस पार्टी का सदर आला कौन बनेगा।" लोगों के प्रस्तावित नामों में ओझा जी के वोट ज्यादा पड़े। निराला जी ने कुरते की जेब से एक बंगाली दैनिक पत्र निकाल कर उसकी टोपी बनाई और ओझा जी के ऊपर ताज के रूप में रख दी। मनमानी बातें होती रहीं, पर साहित्य की चर्चा किसी ने न चलाई। नाव गंगा के बहाव के साथ छोड़ दी गई और खाना शुरू हुआ।

निराला जी एक हाथ से खाते और दूसरे से परोसते जाते थे—"पूड़ी लो, गुझिया तो ले ही सकते हो, समोसा की तो बात ही क्या है?" इस प्रकार सभी को बड़े प्यार से खिलाया-पिलाया और कहने लगे—"सुधा का बनाया भोजन बहुत दिव्य और मधुर होता है, क्यों सदर आला जी!" हम सबने एक स्वर से उनका अनुमोदन किया और दावत पूरी हुई। बाद में निराला जी ने मल्लाह को भी पूड़ियाँ देनी चाहीं, पर उसने नहीं लीं। "बाबू जी खाते-खाते आपने सब छू दिया है, हम...." के साथ वह संकोच और धर्म में गड़ गया। निराला जी ने तुरन्त एक रुपया उसे निकाल कर दिया और कहा—"यह नाव की कीमत नहीं है, दावत का रुपया है। बाजार से शुद्ध मिठाई-पूड़ी लेकर खा लेना।" मल्लाह पर मैं नाराज ही होने जा रहा था, पर मेरी क्रोधाग्नि मे जैसे पानी पड़ गया। पान-तम्बाकू के बाद सब आराम से बैठ गए। निराला जी ने जगह बदलने के प्रयास में नाव को इस तरह विचलित कर दिया कि सुधा जी की बड़ी बहन चिल्ला कर ओझा जी से सट गई। निराला जी ने मजाक में कहा—"सदर आला को गङ्गा की छाती पर यह अधिकार नहीं।" और हँस पड़े। इधर-उधर धूप-छाया का हिसाब-किताब देखकर वे लेटने की टोह में लीन हो गए। मैंने ताड़ लिया और विरोध के स्वरों में कहा—"आपको भी गंगा की छाती पर सोने का अधिकार नहीं।" निराला जी एक दार्शनिक की भाँति नाक-भौं सिकोड़ कर बोले—"अधिकार का प्रश्न तो दो के बीच में उठता है, मैं तो अकेला सोऊँगा; नितान्त अद्वैत—मायातीत। यह भी है कि इस सोने के लिए मैंने बहुत कुछ छोड़ा है, अब इसे कौन छोड़े? अभी आध-घन्टे में उठता हूँ।" वे नाव की एक तरफ की पट्टी पर चित लेट गए और हममें से दो-तीन-चार दूसरी पट्टी पर उनका बैलेन्स ठीक करने लगे। स्त्रियाँ पीछे की ओर बीच में बैठीं। पाठक जी ने कहा—"दूर से देखने पर नाव में काठ की धन्नी लदी दिखाई पड़ती होगी।" बाजपेयी

ने ठहाका दिया और सहसा ठिठके फिर धीरे से कहा—"निराला जी अब स्वस्थ हो गए हैं, बीमारी की क्षीणता देखकर मुझे उम्मीद नहीं थी कि फिर ऐसा शरीर हो जायेगा। भूख-प्यास को झेलकर भी इतना प्रसन्न और स्वस्थ रहना निराला की ही विशेषता है।" आँखें खोलकर निराला जी ने अपनी दाहिनी भुजा उठाई, देखा और बोले—"प्रसन्न तो हूँ, पर स्वस्थ नहीं हूँ। फिफ्टी पौण्ड वजन अब भी कम है। जाड़ा आ गया, गोश्त और कसरत चलेगी; तगड़ा पड़ जाऊँगा।" आँखें फिर बन्द कर लीं।

नीले जल के ऊपर धूप-छाँही नाव में निराला का सौम्य मुख मंडल बहुत ही भला मालूम पड़ रहा था। प्रकृति के दुलारे कवि का इस प्रकार सोना मेरे लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया था। स्मृति में निराला की ये पंक्तियाँ ऊभ-चूभ करने लगीं—'निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र', 'स्नेह-स्वप्न मग्न अमल कोमल तनु', 'दृग बन्द किए शिथिल पत्राङ्क (नावाङ्क), में सोता निराला वास्तव में उस समय अपनी उपर्युक्त कल्पना का सत्य बन रहा था। बड़ी-बड़ी आँखें, डाढ़ी-मूँछ सफा-चट्ट, स्निग्ध कवि मुखाकृति, पतले मुस्कराते से होंठ, सब मिला कर आकर्षक व्यक्तित्व, उस समय 'जुही की कली' की कोमलता और उसके तरुणी रूप की स्त्रैण मधुरता की प्रतिकृति निराला का मुख बन रहा था। इसे बाजपेयी जी ने भी माना। यों भी निराला के काव्य का दुर्धर्ष ओज उनकी मुखाकृति में नहीं उभरता था, वहाँ तो निराला के हृदय का करुण-कोमल माधुर्य ही लहरें मारता था। उनके चित्रों से भी यह स्पष्ट है। 'तुलसीदास' के साथ प्रकाशित उनके चित्र को देख कर जनाब 'फिराक' साहब ने कहा था—"निराला इस में आप बुढ़िया मेम लग रहे हैं।" निराला से प्रतिवाद करते नहीं बना, उन्होंने यों ही कह दिया था—"मैं सुन्दर हूँ और सौन्दर्य नारीत्व की बपौती है। रवीन्द्रनाथ तक ने लिखा है—'आमार माझारे जे आछे से गो कोनो विरहिणी नारी'? आप को मेम बुढ़िया विधवा लगती है कि सधवा? अदम्य आत्म-प्रकाश की प्रवृत्ति के कारण कवि सदैव एक अभाव का अनुभव करता है; पूर्णता का आधार खोजता है। इस खोज में नारीत्व का माधुर्य ही प्राप्ति का माध्यम बनता है। प्रायः कवि सुन्दर होते हैं। रवीन्द्र, पंत को देखो। कीट्स को भी बहुत सुन्दर बताया जाता है और गेटे तो था ही सुन्दर और विवेकानन्द तो अभी हाल ही में थे।"

मुझे याद आया कि महादेवी जी बता रही थीं कि पंत जी को पहले-पहल जब विद्यार्थी के रूप में हिन्दू-हास्टल के कवि-सम्मेलन में देखा तब उन्होंने पहले लड़की ही समझा और पुरुषों के बीच उस प्रकार की बैठने की धृष्टता पर नाराज भी हो

रही थीं कि किसी ने कहा कि वह लड़की की तरह लगने वाले कवि श्री पंत जी हैं। जो भी हो निराला उस दिन बहुत जँच रहे थे। किसी को खिलाने-पिलाने का उनको सहज ही, बेहद शौक था। इसकी सुविधा जुटने पर वे अत्यन्त स्नेह-सिक्त हो उठते थे। उनके हृदय का सारा ममत्व, सारा माधुर्य उनके मुँह पर मँड़राने लगता था। उस दिन मुझको ऐसा ही लगा। थोड़ी देर के बाद निराला जी उठ बैठे। झुक कर मुँह धोया और कुरते के सामने वाले पल्ले से पोंछने लगे। बढ़िया सी सेठों जैसी तोंद दिखी। मैंने कहा—"निराला जी आप का वजन अब भी कम है।" निराला जी ने चट से उत्तर दिया—"पेट मत देखो, यही तो विकार है। हिन्दुस्तानी पहलवानों का पेट आगे चलकर बढ़ भी जाता है, यहाँ के डण्ड-बैठक बड़े पेटू होते हैं। पाँच सौ डण्ड-बैठक लगाओ और सेर भर मलाई खाओ। गामा की खुराक सुनो तो गश आ जाय।" करीब तीन बज चुका था। नाव वापस की गई और कविता-पाठ होने लगा। सुधा जी ने एक सुन्दर छोटा गीत सुनाया। बाजपेयी जी भी मटके—'मैं प्यासा ही रह गया हाय तुम चटुल गगरियाँ लिए चलीं।' पाठक जी ने सब से अधिक वाह-वाह की। मेरी भी बारी सदर आला जी ने बताई और मैंने पंत जी की कविता 'नौका-विहार' सुनाई। निराला जी 'तेरे जहाँ ही जहाँ वह बाल तहाँ-तहाँ ताल में होत त्रिवेणी' वाली कुछ पंक्तियाँ सुनाकर कालिदास के 'ऋतु संहार' से उठाकर शरद की शुभ्रता और स्निग्धता पर बड़ी देर तक मुग्ध होते और करते रहे। संस्कृत श्लोक भी वे इतना सुन्दर पढ़ पाते हैं मैंने उस दिन प्रथम बार जाना।

किनारा करीब-करीब आ गया था। दिन डूब रहा था। पानी में गुलाल घुल चला था। हवा ठण्डी हो चली थी। लौटने की उदासी, साथ छूटने की कल्पना के बीच निराला जी ने सुनाया—

हमारा डूब रहा दिनमान!
मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हो गरल-अनल,
जलता यह जीवन असफल,
हिम-हत-पातों सा असमय ही
झुलसा हुआ शुष्क निश्चल
विकल डालियों से
झरने ही पर हैं पल्लव प्राण!
हमारा डूब रहा दिनमान!

भाव-विभोर होकर बोले—"साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी, नरेन्द्र ने खूब लिखा है।"

लौट कर दारागंज में एक पत्र मिला। दरवाजा खोलते ही निराला जी ने उठा लिया। तब तक काफी अँधेरा हो चुका था। पत्र को लिए ऊपर चले गए। ताक से दिया निकाला और जलाया। पत्र पढ़ा। पत्र किसी फिल्म कम्पनी का था। उसमें निराला जी के लिए हजार रुपये मासिक की नौकरी का आफर था। जब से निराला के स्नेही श्री अमृतलाल नागर फिल्मी दुनिया में गए तब से निराला जी को कई कम्पनियों से इस तरह के निमंत्रण मिल चुके थे। पत्र को मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"मैंने तो अब तक सौ रुपया माह भी नहीं कमाया तो हजार का हिसाब मैं क्या जानूं? यार लोग सोचते हैं पन्त नौकर उदयशंकर के, तो निराला क्यों रह जाय, उसे सिनेमा में ठूंसो। मुझे नहीं चाहिए नौकरी और पंत के लिए तो तुम्हीं बता रहे थे, शान्तिप्रिय ठीक कहता है कि पंत से नौकरी कराना गाय से हल जोतवाना है। मैंने भी लिखा है—

तबला दोनों हाथ आया हथियार
दरबारी वीर राग छाया रहा।
सुब्हो शाम किरन जैसे तार
जीवन-संग्राम हमारा छिड़ा।
सत्य सिनेमा की नटी से नाँचा,
पूरब का पाया हिला पश्चिम से,
दुश्मन की जान आई आफत में
गली-गली गले के गोले दगे।
कैद पासपोर्ट की नहीं तो कभी
देश आधा खाली हो गया होता;
देविका रानी और उदयशंकर के
पीछे लगे लोग चले गए होते।

यह समय ऐसा ही है। केवल साहित्य से जी सकना अभी यहाँ सम्भव नहीं है। बड़ी विवशता है, नाकों दम है। चैन तो बे के बिना बात नहीं करता।" मैंने फौरन हाँ में हाँ मिलाई—"वास्तव में आपको छोड़ कर सभी साहित्यिक नौकर-चाकर हैं। आपने 'अणिमा' में लिखा है—

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर

स्पष्ट दिख रहा, सुख के लिए खिलौने जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन, केवल पैसे
आज लक्ष में है मानव के, स्थल-जल-अम्बर
रेल तार-बिजली-जहाज नभयानों से भर
वर्ग कर रहे हैं मानव; वर्ग से वर्ग गण,
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण !
हँसते हैं जड़वाद ग्रस्त, प्रेत ज्यों परस्पर,
विकृत-नयन-मुख, कहते हुए, अतीत भयङ्कर
था मानव के लिए, पतित था वहाँ विश्वमन,
अपटु अशिक्षित वन्य हमारे रहे बन्धुगण,
नहीं वहाँ था कहीं आज का मुक्तप्राण यह,
तर्क सिद्ध है, स्वप्न एक है विनिर्वाण यह !"

निराला जैसे उछल पड़े और बोले—"बस-बस, यही तो पेंच है। इसी का नाम 'धोबिया पछार' रखा गया है।" इसके बाद उन्होंने एक साँस में कहा—"भाग जाओ साइकिल में बत्ती भी नहीं है, आजकल पुलिस का भी नहीं, फौजी राज है; सोच-समझ कर चला करो।"

तीन-चार दिनों के बाद निराला जी महादेवी जी के यहाँ मिले। बड़ी देर तक देश की विकट परिस्थिति, नेताओं की गिरफ्तारी और सन् '४२ के स्वतंत्रता संग्राम की बातें होती रहीं। निराला जी ने कहा—"अभी कई खून की होलियाँ खेली जावेंगी। देश भूख की ज्वाला में तपकर निखर रहा है। बिना स्वतंत्र हुए इस बार दम नहीं लेगा। राख के नीचे की आग हवा चलते ही दहकने लगती है। सुभाष की आहुतियाँ भी तो अपना काम कर रही हैं।" कहते, निराला जी सिकुड़ गए और जोर की जमुहाई ली। देवी जी ने श्री पंत की चर्चा छेड़ी—"सुना है बहुत बीमार है। दिल्ली में डाक्टर जोशी के यहाँ हैं।" निराला जी को जैसे मरते समय माहुर मिला ! आश्चर्य से बोले—"अच्छा, क्या पत्र आया है ? क्या बीमारी है ? कोई राजरोग है या यों ही साधारण।" देवी जी ने बताया कि पन्त जी को टाइफाइड ज्वर है, बहुत कमजोर हो गए हैं। मेरी तो तबियत खराब है वरना जाती। निराला जी ने फौरन कहा—"मैं भी जाता, मगर खर्च नहीं, और किसी के दान से गंगा नहाना मुझे पसन्द नहीं। दिल्ली रेडियो से बुलावा आया भी था मगर मैंने लिख दिया ५०१ रुपया लूंगा। ज्यों-ज्यों लोग रुपयों की तरफ अधिक झुकते जाते हैं त्यों-त्यों मैं अपनी फीस भी

बढ़ाता जाता हूँ। मैंने तय किया है कि कवि-सम्मेलनों में ११०० और रेडियो में ५०१ से कम में न जाऊँगा।"

देवी जी ने कहा—"कवि-सम्मेलन चाहे न भी दे, पर रेडियो जरूर देगा। मेरे पास भी उनका पत्र आया है, उसमें लिखा है, कि जितना आप चाहें उतना रुपया देंगे। पर मैं वहाँ गाने कभी तो नहीं गई अब क्या जाऊँगी।" निराला जी ने सयानेपन के साथ देवी जी के निश्चय का समर्थन किया और कहने लगे—"आप कभी भूलकर भी न जाइए। एक बार बुला भी लेंगे तो उनका रिकार्ड तैयार ही हो जावेगा फिर कौन पूछता है। रेडियो की नीति बहुत बुरी है। इसका तो 'बाइकाट' करना चाहिए। बाँदा से कवि-सम्मेलन का बुलावा मेरी शर्तों के साथ आया है, मैं शनिवार को जाऊँगा। कुछ रुपया मिला तो दिल्ली जाना होगा। पंत को देखना जरूरी है!" वे चले गए तब देवी जी ने कहा—"निराला जी पंत जी को बहुत चाहते हैं और मन-ही-मन स्पर्धा भी रखते हैं। खुद चाहे पंत जी की आलोचना भी कर लें, पर दूसरा यदि पंत जी की कृतियों को भला-बुरा कहे तो सुन नहीं पाते, शीघ्र ही प्रतिवाद करते हैं। एक दिन मैंने कह दिया कि 'युगान्त' के बाद वाली पंत जी की कविताएँ मुझे उतनी अच्छी नहीं लगतीं जितनी पहले की। इस पर निराला जी शतशः प्रकारेण उन कविताओं का सौन्दर्य और उनकी अतीत आवश्यकता प्रतिपादित करते रहे।"

मैंने दावत का किस्सा भी कह सुनाया, सुनकर देवी जी ने कहा—"यहीं पर तो निराला, निराला हैं। ठीक ही है, उदारता तो मनुष्य का शृङ्गार है।" मैंने टोका—"उदारता के अतिरिक्त एक बात और है। निराला के परिचितों, मित्रों सभी का जीवन उनसे अधिक व्यवस्थित है। सभी लोग निराला जी को चाय-पानी पिलाते हैं। निराला भी इसका बदला देना चाहते हैं, पर व्यवस्था नहीं हो पाती। इसलिए समय-समय पर सामूहिक भोजों का आयोजन करते रहते हैं। अभी उस दिन रामप्रताप बहादुर को करीब ५० रुपये का सामान भेंट कर आए, फिराक साहब को बोतल चढ़ा आए, नुमायश में चाय-पार्टी दी। वे किसी बात में किसी से कम रहना चाहते भी नहीं।"

बाँदा जाते समय निराला जी से भेंट नहीं हुई, पर वे चले गए। उसी तरफ से उन्नाव पहुँचे और तब प्रयाग आए। उनका डेढ़ महीना के करीब बाहर बीता। पत्र-व्यवहार भी नहीं हुआ। यों ही उड़ती खबरें मिलती रहीं, उनकी कुशलता का निश्चय बना रहा। इस बार जब निराला जी प्रयाग आए तब उनकी हालत और भी बुरे हाल थी। पंडा बाबा का किराया भी बढ़ गया था।

चीजों के दाम बढ़ गए थे। सब तरफ मँहगाई की महिमा छा रही थी। बंगाल का नर संहारी, शासन व्यवस्थित अकाल अपना मुँह खोल चुका था। निराला जी ने देव साहब के यहाँ कहा—"भुखमरी लाशों की संख्या छपते-छपते अखबारों में बदबू आने लगी, पर तुम्हारा बंगाल न बदला। लाखों आदमी कुत्ते की मौत मर गए। अरे डाँका डालते, दूकान लूटते, खजाना पर कब्जा जमाते और गोली खाकर मरते। देव, माफ करना, बंगाली बहुत गावदी होता है।" देव साहब भीतर चाय लेने चले गए। जब तक वापस आए निराला जी शान्त हो चुके थे। उन्होंने कहा—"कुछ खिलाओगे नहीं, खुराक नहीं मिली, भूख लगी है।" और मेरी ओर मुड़े—"अभी तो तुमने खाना नहीं खाया, चलो हॉस्टल में खायेंगे।" तीनों ने चाय पी और हॉल्टल की ओर चले। पहुँच कर खाना खाया तब निराला जी ने डकार के साथ सुनाया—

'चूंकि यहाँ दाना है
इसीलिए दीन है, दीवाना है
लोग हैं, महफिल है,
नग्मे हैं, साज है, दिलदार है और दिल है,
शमा है, परवाना है,
चूंकि यहाँ दाना है।
आँख है, लगी हुई;
जान है, जीवट भी है भगी हुई,
दोनों आँखों वाला है, काना है,
चूंकि यहाँ दाना है।
अम्मा है, बप्पा है,
पापड़ है और गोलगप्पा है
नौजवान मामा है और बुड्ढा नाना है,
चूंकि यहाँ दाना है।'

और उठ खड़े हुए। मैंने महान आश्चर्य से पूछा—"सोइयेगा नहीं?" निराला जी ने दबी सी जबान में बताया कि वे अब दिन में नहीं सोते। प्रकाश का समुचित प्रबन्ध न होने के कारण शाम से ही सो जाते हैं और दिन भर काम करते हैं। अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने को मोड़ तोड़ लेने में उनका क्षमता अद्भुत थी। वे अकसर कहते भी थे कि 'गरीबी का कोड़ा और नाक की फोड़ा' आदमी से चाहे जो करा ले थोड़ा है'।

खाना-पीना-सोना-पहिनना सभी में तो उनको समय-समय पर बहुत ही कठिन समझौते करने पड़े हैं; निराला ने 'सुकुल की बीबी' कहानी में लिखा है—'अपना नंगा बदन याद आया। ढँकना, कोई कपड़ा न था। कल्पना में सजने के तरह-तरह के सूट याद आए, पर वास्तव में दो मैले कुरते थे। बड़ा गुस्सा लगा, प्रकाशकों पर। कहा, नीच हैं, लेखकों की कद्र नहीं करते। उठकर मुंशी जी के कमरे में गया, उनकी रेशमी चादर उठा लाया। कायदे से गले में डालकर देखा, फबती है या नहीं। बालों की याद आई—उकस न गए हों। जल्द-जल्द आइना उठाया। एक बार मुँह देखा, कई बार आँखें सामने रेल-रेल कर। फिर तन कर गम्भीर मुद्रा में बैठा।' उनका सब दिन यही हाल रहा है। कभी लुंगी तो जूता नहीं और कभी जूता तो कुरता नहीं। पूरा ड्रेस कभी भी नसीब नहीं हुआ। और इधर सन् '४० से तो वे प्रायः नंगे-बदन रहने लगे थे, कभी-कभी एक उपन्ना गले में डाल लेते थे; कभी वह भी नदारत। मेरे हॉस्टल के लड़के उनकी ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखते थे। निराला ने सोचा, कपड़ों की कमी पर एतराज़ करते होंगे।

शनिवार को महादेवी जी के यहाँ से जोशी जी के यहाँ चलने की बात तय करके निराला जी दारागंज वापस गए और इतवार को ही सुबह फिर आ पहुँचे। देवी जी के यहाँ बड़ी देर तक निराला जी अपनी बाँदा-यात्रा और कवि-सम्मेलन की बात करते रहे। उन्होंने बताया कि वे अपनी नई कविताएँ ही सुनाते हैं मगर लोगों की माँग पुरानी कविताओं की रहती है। इस देश का पुरानापन नहीं छूटेगा। इतने में भक्तिन चाय ले आई और साथ ही गर्म-गर्म पकौड़ी; निराला जी खिल उठे और कहा—"देखिए कैसी सोंधी-सोंधी गर्म पकौड़ियाँ हैं। इतने प्रिय खाद्य पदार्थ पर यदि कविता लिखी जाय तो बुराई क्या है? सुनिये तो सही—

गर्म पकौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी।
तेल की भुनी,
नमक-मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी।
तूने पहले मुझको खींचा,
दिल लेकर फिर कपड़े-सा फींचा,
तेरे लिए छोड़ी बम्हन की पकाई—

मैंने घी की कचौड़ी।
ऐ गर्म पकौड़ी।"

उन दिनों निराला का पकौड़ियों से प्रायः रोज ही पाला पड़ता था। दो-चार पैसे की गर्म पकौड़ियाँ खाई, पानी पिया और दिन भर को मस्त। देवी जी ने कहा—"यह सब तो ठीक है पर बंगाल के अकाल पर भी तो हम लोगों को कुछ बोलना चाहिए। मनुष्यता के इतिहास में इससे बड़ी लज्जा की कोई दूसरी बात नहीं। सड़कें लाशों से पट रही हैं और कोई उपाय नहीं किया जाता।" निराला जी जैसे बिगड़ उठे और कहा—"तो आप ही क्या उपाय कीजिएगा? देश की बागडोर जिन लोगों के हाथ में है वे मर कर भी अहिंसक बने रहने का उपदेश देते-देते जेलों मे ठूंस दिये गये हैं। अब इसे कौन सँभाले? मैं तो यह जानता हूँ कि इस समय बंगालियों को दया की नहीं, उभारने की आवश्यकता है। उनके बीच मे जाकर उन्हे यह सिखलाया जाय कि वे इस स्थिति से बगावत करें, लूटें, मारें और तब मरें। कायरों का जमघट बना रखा है।" देवी जी ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"उनको लिख कर भी तो आप अपना सन्देश भेज सकते हैं। मैंने तो सोचा है कि 'वंग-दर्शन' नाम से एक सग्रह निकाला जाय जिसमें सब कवि अपना-अपना सन्देश दें और उसकी बिक्री का रुपया बंगाल भेजा जाय। आपने तो बंगाल में बहुत सा समय बिताया है, वहाँ की भूमि-प्रकृति और मनुष्यों से पूर्ण परिचित है; एक लम्बी सी ओजपूर्ण कविता लिखिए।" निराला ने आधे मन से हामी भर ली और रास्ते मे कहने लगे—"महादेवी जी बड़ी करुणाशील हैं। पत्रों मे बंगाल का समाचार पढ़-पढ़कर बहुत दुखी हो गई है। यह नही सोचतीं कि दस-पाँच हजार रुपयों से बंगाल का भला नहीं होना। सहानुभूति और करुणा से भीगी कविताएँ किस काम आवेंगी? वहाँ तो आग लगाने वालों की जरूरत है। हाँ, यह हो सकता है कि सब लोग वहाँ चलें और घूम-घूम कर क्रान्ति के लिए उन्हें जगावें, पर सरकार ऐसा क्यों करने देगी? खैर, मै एक कविता छोटी सी लिख दूँगा।"

मैंने विरोध किया—"छोटी क्यों? एक लम्बी कविता लिखिए और उसमें उन्हें क्रान्ति का सन्देश दीजिए। सरकार की निंदा कीजिए, जागरण का मंत्र फूंकिए। आपके जो विचार हों सो सब लिखिए।" निराला जी ने इस बात को हाँ-हूँ कहकर टाल दिया। और कहा—"वहाँ चलना ठीक है, देखें वास्तव में बात क्या है? यहाँ से यह कह कर चलें कि उनकी सेवा करने जा रहे हैं और वहाँ पहुँच कर हंगामा मचावें तो कुछ काम निकल सकता है। बाइरन कवि ही तो था

उसने तलवार उठाई थी तो क्या हमलोग नहीं उठा सकते ? पर प्रायः कवि बुड्ढे हैं और बाकी सुकुमार कोमल-तरुण तथा तरल-तुहिन । अभी यहाँ के कवि यही तुतलाते हैं—'घने लहरे रेशम से बाल, धरा है मैंने सिर पर देवि, तुम्हारा ही स्वर्गिक शृंगार' तब भला बताओ ये लोग भूख की बात क्या जानें ? और नौजवानों में समाजवाद का स्वाँग चढ़ा है, वे रूस की चिंता में व्यस्त हैं । उनके लिए बंगाल का अकाल उतना महत्व नहीं रखता । वे बेचारे 'जन-युद्ध' का प्रचार करते हैं, जन-मरण पर ममता कैसे दिखा सकते हैं । दो-चार रोज में आना एक कविता दूँगा । देवी जी की बात तो माननी ही है ।"

महादेवी जो ने श्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल जी को पत्र लिखा और प्रयाग निवासियों से कविता लेने का काम मुझे सौंपा । डा० रामकुमार वर्मा, बच्चन और जोशी जी के पास मैं गया । सभी ने कविताएँ दीं और उत्साह भी दिया । पर मुझे सबसे बड़ी ग्लानि उस समय हुई जब बच्चन जी ने अपनी पूरी कविता देने से इंकार किया । उनका ख्याल था, कविता आग का गोला है जो प्रकाशित होने पर देश में फ्रान्स की राजक्रान्ति की तरह क्रान्ति का कारण बनेगी, पर साथ ही बच्चन की भी खबर लेगी । उन्होंने बताया कि उनके परम शुभेच्छु डा० झा वगैरह की राय है कि अभी यह कविता प्रकाशित न की जाय अन्यथा बच्चन का यूनीवर्सिटी में रहना कठिन होगा । मैंने कहा—"बच्चन जी देश में क्रान्ति की बड़ी आवश्यकता है, आप कविता दीजिए, चाहे आपको फाँसी क्यों न हो जाय । आप एक ही कविता से अमर हो जाइएगा ।" पर उनकी हिम्मत नहीं बँधी । देवी जी के विशेष आग्रह से उन्होंने उस कविता का एक अंश दिया और पूरी कविता सन् '४६ में प्रकाशित की जब उसका महत्व कुछ नहीं रह गया, श्मशान का स्मरण-मात्र । निराला जी ने 'पाँचक' दिया जिसमें सन् '४३-४४ की स्थिति पर मार्मिक व्यंग है—

दीठ बँधी, अँधेरा उजाला हुआ,
सेंधों का ढेला शक्करपाला हुआ ।
आदमी हमारा तभी हारा है,
दूसरे के हाथ जब उतारा है ।
माल हाट में है मगर भाव नहीं,
जैसे लड़ने को खड़े दाव नहीं ।

गुलामी के जादू से, दलबन्दी के उन्माद से, पदाधिकार की लोलुपता से आँखें बँधी हैं, सफेद सेंधा नमक शक्कर दिखाई पड़ता है । उस समय देश की

यही हालत थी। भारतीय जनता के हृदय का क्षोभ, विद्रोह और विवशता-जनित पारस्परिक कलहपूर्ण अकर्मण्यता इन पंक्तियों से स्पष्ट है। काश कि 'वंग-दर्शन' के कवियों का दल बंगाल गया होता तब निराला जी का पौरुष वहाँ खुल कर खेलता, पर कई कारणों से यह सम्भव नहीं हुआ। फिर भी 'वंग-दर्शन' का अपना एक ऐतिहासिक महत्व है। 'वंग-दर्शन' के बाहर भी निराला ने देश की उस विपन्न स्थिति को अपनी काव्य-वाणी में प्रश्रय दिया।

बैर यह। बाधाओं से अंध।
प्रगति में दुर्गति का प्रतिबंध
मधुर, उर से उर, जैसे गंध
कभी बसने भी दोगे मुझे ?

में उनके मानसिक उद्वेलन का स्पष्टोकरण है। उनकी एक कविता में युग की दशा का इस प्रकार वर्णन है—

अशब्द हो गई वीणा.
विभास बजता था।
अमिय-क्षरण नव-जीवन—
समास बजता था।
कलुष मिला, मनसिज की
विदग्धता फैली ?
चल उँगलियाँ रुकीं डर कर
विलास बजता था।
उठी निगाह कहाँ से
कहाँ हुए हम भी,
दिखा कि ज्योति की छाया
में ह्रास बजता था।

गर्मी की छुट्टियाँ आ गईं और मैंने घर जाने की तैयारी शुरू की। निराला जी से भी आग्रह किया कि वे मेरे साथ चलें, पर वे सदा की भाँति इस बार भी टाल गए। बोले—"जब तुम अपनी पढ़ाई खतम कर लोगे तब वहीं चलकर साथ रहेंगे। अभी तो मैं तुम्हारे लिए एक बंधन हूँगा और तब एक साथी।" निराला जी ने उस दिन गरम-गरम जलेबियाँ खिलाईं और बिदा दी। पान वाली ने पूछा—"बाबू जी ई आपके लड़िका अहैं।" निराला जी ने तपाक से उत्तर दिया—"लड़के नहीं, ये मेरे दोस्त हैं; गोकि इनकी उम्र मेरे लड़के से

कम है।" मैं दो माह के लिए निराला जी से अलग हो गया। अब भी पत्रों का क्रम जारी रहा।

मैंने घर पहुँचने के पश्चात् निराला जी को एक पत्र लिखा जिसमें उनके जीवन की गतिविधि जानने की इच्छा का प्राबल्य था और आम खाने आने का निमंत्रण। निराला जी ने शीघ्र ही उत्तर दिया। उसमें निमंत्रण का धन्यवाद देकर उन्होंने लिखा था कि उन्हें चुसनी आम पसंद नहीं, गर्मी के दिन गंगा का किनारा कौन छोड़े? आज-कल मूड अच्छा है। कुछ नये पद लिखे हैं। 'देशदूत' में छपे भी हैं। देखना। बानगी भेज रहा हूँ—

आये पलक पर प्राण कि, बन्दनवार बने तुम।
उमड़े हो कंठ के गान, गले के हार बने तुम।
देह की माया की जोत
जीभ की सीप के मोती
छन-छन और उदोत,
बसंत-बहार बने तुम।
दुपहर की घनी छाँह
धनी इक मेरे बानिक
हाथ की पकड़ी बाँह
सुरों के तार बने तुम!
भीख के दिन-दूने दान
कमल जल-कुल कान, के
मेरे जिये के मान,
हिये के प्यार बने तुम!

'तुम' का इसमें यदि विश्लेषण छोड़ भी दिया जाय तो इससे जो शक्ति कवि में जगती है, उसका स्रष्टा स्वयं निराला जी का स्वभाव था।

निराला के जीवन में 'बानिकों की कमी नहीं रही' और यह भी घोर सत्य है कि निराला ने भीख के दिनों में—'दिन-दूने दान' दिये थे। भीख में ही नहीं भूख में भी उन्होंने दान दिया। साहित्य और जीवन दोनों में। 'कला की रूपरेखा' (सत्य घटना) कहानी में निराला ने लिखा है, कहानी पुरानी है—

"अहाते में मदरासियों का एक दल बैठा हुआ देख पड़ा। मैंने सोचा, शायद ये लोग कुम्भ नहाने आए थे। कि इतने ही में उनमें से एक आदमी, उम्र पैंतालिस के लगभग, भौंरे का रंग, खासा मोटा-तगड़ा, एक लंगोटी से किसी

तरह लाज बचाए हुए, उतने जाड़े में नंगा-बदन, दौड़ा हुआ मेरे पास आया (गोकि साथ में पाठक जी भी थे) और एक साँस में इतना कह गया कि मैं कुछ भी न समझा। मैंने फिर पूछा। टूटी-फूटी हिन्दी में पूरे उच्छ्वास से वह फिर कहने लगा। इस बार मतलब मेरी समझ में आया। वह यात्री है, मदरास का रहने वाला, कुम्भ नहाने आया था, यहाँ चोर उसके कपड़े-लत्ते, माल-असबाब उठा ले गए, गठरियों में ही उसके रुपये-पैसे थे। अब वह (अपने आदमियों के साथ) हर तरह लाचार है, दिन तो किसी तरह धूप खाकर, भीख माँग कर पार कर देता है, पर रात काटी नहीं कटती। जाड़ा लगता है। वह एक दृष्टि से मेरा मोटा खद्दर का चादरा देख रहा था। मैं विचार न कर सका, उतार कर दे दिया। वह मारे आनन्द के दौड़ा हुआ अपने साथियों के पास गया और इस महादान की तारीफ करने लगा। मेरी तरफ उँगली उठाकर बतलाता हुआ।

"पाठक संसार के चक्रान्त की बातें सोच रहे थे—देश दुर्दशाग्रस्त है, इसलिए कितने चक्कर रोज देशवासियों को खाने पड़ते हैं—कितने लोग उन्हें छलते रहते हैं—कितने प्रकार प्रचलित हैं। मुझसे बोले—"आखिर आपने अपना बतलाया नाम (वकूफ हुसेन) यहाँ सार्थक कर दिया न?—यह अभी दोपहर को, गुदड़ी बाजार में, चार आने में, यह चादरा बेंचेगा।"

"मैंने कहा—'धोखा भी हो सकता है और इसकी बात भी सच हो सकती है। यह मद्रास से यह सोचकर तो चला नहीं होगा कि गुदड़ी बाजार में कपड़ा बेंचेगा।' पाठक अप्रसन्न होकर बोले—'मैं आप के देने का विरोध नहीं करता, लेकिन—।' मेरे पास कपड़े कम रहते हैं, कम थे, लेकिन के बाद वह इसी भाव की पूर्ति करना चाहते थे, पर रुक गए।

"हम लोग लूकरगंज आये। धीरे-धीरे दो माह हो गए। लखनऊ काँग्रेस के समय सत्ताइस मार्च को वह मेरे साथ लखनऊ आये और मेरे मकान में ठहरे। उनके दो मित्र, जो मेरे भी मित्र हैं, आकर ठहरे। जहाँ तक बिना टिकट के देखा जा सकता था, मैंने घूम फिर कर कई रोज देखा। दो-तीन रुपये प्रदर्शनी देखने और महात्मा जी के व्याख्यान सुनने में खर्च किये। सब्जेक्ट कमेटी की बैठकें देखने की इच्छा थी, पर यह दृश्य अप्सराओं के नृत्य देखने से भी मँहगा था। जो मारवाड़ी सज्जन आये हुए थे, उन्होंने कहा—'निराला जी, मैं कई दिनों से देख रहा हूँ, आप सोते बहुत है।' मैंने कहा—'हाँ यह तो है, पर जब जागता हूँ, तब पन्द्रह-पन्द्रह रात लगातार नहीं सोता।' मारवाड़ी सज्जन

हँस कर बोले—'चलिए।' मैं बड़े संकट में पड़ा, कैसे कहूँ मेरे पास खर्च की बड़ी कमी है। कहा—'कांग्रेस में बड़ी गर्मी है।' 'हाँ, पर हवा अच्छी चलती है।' मारवाड़ी सज्जन बड़े मजेदार आदमी मालूम दिये। मैं उनके उत्तर पर मुस्करा रहा था, तब तक एक पच्चीस रुपये का टिकट निकाल कर उन्होंने कहा—'यह टिकट आपके लिए है।'

"मैं चला। मैं और मारवाड़ी सज्जन एक ही जगह पर थे। श्रीमती कमला चट्टोपाध्याय को मैं गौर से देख रहा था। रह-रह कर उस समर्पण की याद भी आ रही थी, जो मिस्टर चट्टोपाध्याय ने अपने एक अँग्रेजी पद्य-संग्रह का किया है, इस तरह का—To K, the first sunshine of my life (मेरे जीवन की प्रथम सूर्य-किरण 'क' को) फिर इस राजनीतिक जीवन के घोर परिवर्तन पर सोच रहा था, जहाँ दोनों एक-दूसरे के काव्य के विषय नहीं, जीवन के अन्तरंग नहीं, स्पर्धा के विषय हो गये हैं। शाम को बाहर निकला। एकाएक ऊँची आवाज आई। देखा, एक स्वयंसेवक दौड़ा आ रहा है, स्वयंसेवक की वर्दी पहने हुए। मुझे देखकर दोनों हाथ उठाकर उसने हर्षध्वनि की। मुझे ऐसा मालूम देने लगा जैसे उसे स्वप्न में कभी देखा हो। मुझे पहचानता हुआ न जानकर उसने आनन्दपूर्ण लड़खड़ाती हिन्दी में कहा—'मैं वही हूँ, जिसे आपने चादरा दिया था।'

"मुझे कला का जीवित रूप जैसे मिला। प्रसन्न आँखों से देखता हुआ मैं तत्काल कुछ कह न सका। संयत होकर बोला—'आप काँग्रेस में आ गए, अच्छा हुआ।' उसने कहा—'फिर मैं वहाँ स्वयंसेवकों में भर्ती हो गया।' प्रसन्न चित्त बाहर निकलकर मन मे मैंने कहा—पाठक मिलें तो बताऊँ, कैसे गुदड़ी बाजार में इसने चादरा बेंचा। कई दिन हो गए। काँग्रेस खतम हो गई। मैं शाम को कैसर बाग में टहल रहा था कि वह मनुष्य मेरी ओर तेज कदम से आता देख पड़ा; मैं खड़ा हो गया। मेरे पास आकर उसने कहा—'अब गर्मी बहुत पड़ने लगी है। देश जाना चाहता हूँ। रेल का किराया कहाँ मिलेगा। पैदल जाना चाहता हूँ।' मैंने बीच में बात काट कर कहा—'क्या काँग्रेस के लोग आपकी इतनी सी मदद नहीं कर दे सकते?' उसने कहा—'नहीं, काँग्रेस का यह नियम नहीं है। मैं मिला था। मुझे यह उत्तर मिला है। खैर, मैं भीख माँगता-खाता पैदल चला जाऊँगा।' पर—(अपने) पैरों की ओर देखकर कहा—'गरमी बहुत पड़ती है, पैर जल जाते हैं, अगर एक जोड़ी चप्पल आप ले दें। मुझपर जैसे वज्रपात हुआ। मैं लज्जा से वहीं गड़ गया। मेरे पास तब केवल छः पैसे थे।

इससे चप्पल नहीं लिये जा सकते। अपने चप्पल देखे, जीर्ण हो गये थे। लज्जित होकर कहा—'आप मुझे क्षमा करें, इस समय मेरे पास पैसे नहीं हैं।'

"उसने वीर की तरह मुझे देखा। फिर बड़े भाई की तरह आशीर्वाद दिया और मुस्कराकर अमीनाबाद की ओर चला। मैं खड़ा-खड़ा उसे देखता रहा, जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गया।"

कितना साफ और सार्थक स्पष्ट गद्य। छोटे-छोटे वाक्यांशों से सुगठित। निराला की कलात्मक रुचि, स्नेह-दृष्टि और राजनीतिक अभिरुचि के साथ-साथ अपने स्वभाव का 'घुवाछल नहीं' वाला स्पष्टीकरण संसार की बातों-घातों का मार्मिक विवेचन। सभी सच हैं, पर सब से कठोर सत्य निराला की दानशीलता और उनकी आर्थिक-विपन्नता है। वे कला को जीवन के रूप में देखना चाहते हैं। उनकी कृतियाँ जीवन के साथ हैं। 'भीख के दिन-दूने दान' लिखने और देने की 'दुनाली' हिन्दी में केवल निराला के पास है।

छुट्टियाँ धीरे-धीरे बीत गईं और जुलाई के अन्त में मैं वापस आया। निराला जी के यहाँ गया, पर भेंट न हुई। लिखकर छोड़ आया। बाद मे पता चला कि निराला जी को वह पत्र नहीं मिला। वे सावनी के दो-तीन दिन पहले शाम को मिले। चौक में और साथ हो लिये। रास्ते में जोशी जी के यहाँ हुक्का पिया और बोले—"मिस्टर जोशी, आप को संतोष की गुड़गुड़ी हुक्के में तो मिल ही जाती है।' जोशी जी ने कृत्रिम संतोष दिखलाते हुए कहा—"हाँ-आँ निराला जी सब ठीक है।" निराला जी आगे बढ़े—"यार एक दिन गोश्त खिलाओ।" जोशी जी ने तुरन्त मान लिया। मेरी भी दावत का ठिकाना लगा। जोशी जी ने इसे प्रसन्नता के रूप में लिया, विवशता के नहीं। इतवार की तय रही। निराला जी आनन्दपूर्वक बोले—"चलो, सावनी सज गई।" हॉस्टल में पहुँचते ही बादलों का मंद्र-मंद्र रव आकाश में गूँज उठा कि छुट-पुट बूँदें पड़ने लगीं, बढ़कर खासी रिमझिम-रिमझिम, तरल फुहार छोड़ती हुई वृष्टि होने लगी। सहसा पुरवइया भी मचल उठी। हॉस्टल के बरामदे से साफ सड़क पर सुनाई पड़ा—'ऐसे सावन के महिनवाँ गँवना तैं लैजा पिया मोर'। निराला जी ने ताल दी—'वाह कजली है। पाँड़े मिर्जापुर की कजली सुनो, बहुत अच्छी होती है। लोकगीतों में बड़ा रस और प्राण होता है। भाव, जीवन से कंधे में कंधा मिलाए हुए। भीतर बैठें, एक कजली मेरी भी है। नई, सुनोगे—?" मैं परम प्रसन्न हुआ और आइए-आइए कहता हुआ कमरे में घुसा।

निराला जी कहने लगे—"यों तो कजली का मजा झूले के पेंगों के साथ ही मिलता है, पर लोग ऐसे भी गाते-बजाते हैं। खैर सुनो—

काले-काले बादल छाये, न आये वीर जवाहर लाल।
कैसे-कैसे नाग मडलाये, न आये वीर जवाहर लाल।
बिजली फन के मन की कौंधी,
कर दी सीधी खोपड़ी औंधी.
सर पर सरसर करते धाये, न आये वीर जवाहर लाल।
पुरवाई की हैं फुफकारें,
छन-छन ये विष की बौछारें.
हम हैं जैसे गुफा में समाये, न आये वीर जवाहर लाल।
महँगाई की बाढ़ बढ़ आई,
गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई,
भूखे-नंगे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहर लाल।
कैसे हम बच पाये निहत्थे,
बहते गये हमारे जत्थे,
राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहर लाल।"

निराला जी ने बहुत मधुर-मंद स्वर से गया। किवाड़ा भी भिड़ा हुआ था, किन्तु आत्मीय पड़ोसी प्रेम, गिरीश, जितेन्द्र खिड़की से झाँकने लगे। मैंने मन में कहा—'अब मिर्जापुर जाने की जरूरत नहीं है।' निराला जी ने उन सब को भीतर बुला लिया और पूछा, "आप लोग कविता का शौक रखते हैं? गाते-बजाते भी होंगे। विश्वविद्यालय में तो म्यूजिक क्लासेज भी होते हैं।" सब ने गिरीश की ओर देखा। वे सहमे और पकड़े गए। तबला के होशियार हैं, कहानियाँ लिखते हैं, फर्स्टक्लास पाते हैं। मेरे न रहने पर उन्हें एक दिन अपने कमरे में जोशी जी को 'कानफोकल कानिक्स' समझाने का सौभाग्य तक प्राप्त है। एम० एस० सी० के छात्र। निराला जी ने कहा—"तबला ठोंकिये तो एक गजल सुनाऊं।" प्रेम दौड़कर तबला उठा लाया। गिरीश ने संकोच और आह्लाद के साथ ठुमकी दी और निराला जी गुनगुना उठे—

किनारा वे हमसे किये जा रहे हैं।
दिखाने को दर्शन दिये जा रहे हैं।
जुड़े थे सुहागिन के मोती के दाने
वही सूत तोड़े लिये जा रहे हैं।

छिपी चोट की बात पूछी तो बोले
निराशा के डोरे सिये जा रहे हैं।
जमाने की रफतार में कैसा तूफां
मरे जा रहे हैं जिये जा रहे हैं।
खुला भेद, विजयी कहाये हुये जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

समाप्त करते-करते निराला जी बोले—"अब गला नहीं चलता, दम उखड़ता है। आपके हाथ तबले पर खूब थिरकते हैं। और हम लोगों की न कहिए—

मुसीबत में कटे हैं दिन,
मुसीबत में कटीं रातें।
लगी हैं चाँद-सूरज से
निरन्तर राहु की घातें!

यह तो आप लोग जानते होंगे कि मेरा नाम 'सूर्यकान्त' है और पंतजी का स्थान काव्याकाश में स्निग्ध चंद्रिका जैसा छिटका ही है। बस, हम दोनों की आफतें समझ लीजिए। हो भी क्या? लिखने से जरूरी और मँहगा जीना है, जीने के लिए दाना जरूरी है और दाना या तो दादा का हो या दान का। दादा ने तो कुछ दिया नहीं, दान न कोई देता और न हम लेते। इस तरह दाने-दाने के मोहताज। दाने का जन्मजात अधिकार अभी इस देश को नहीं मिला, न देशियों ने दिया न विदेशियों ने। उसी अधिकार की लड़ाई छिडी है। सुना है लड़ाई खतम होते ही बात-चीत शुरू हो गई है, कुछ समझौता होगा, नेता लोग छूटेंगे। इस बार कुछ न कुछ होकर रहेगा। देश बहुत आगे बढ़ चुका है। उधर एटम बम भी बन रहे हैं। पटरी बैठ जाय तो अच्छा है।"

कुछ महीने बाद नेतागण छूट गए, समझौता भी हो गया। चुनाव से काँग्रेस ने फिर सरकारी दफ्तर अपनाये, हथियाये, और देश में अपेक्षाकृत शान्ति छा गई। आजाद हिन्द फौज के सरदारों की विजय ने भारत का सिक्का दूर तक जमा दिया। 'साहित्यकार-संसद' की स्थापना से निराला जी को भी सहायता-सान्त्वना मिलने लगी। वे कुछ दिनों के लिये आश्वस्त हुए और महादेवी की महिमा का लोहा माना। एक दिन निराला ने कहा—"हम भाई-बहिन को छोड़कर और साथी पिछड़ते जा रहे हैं। काव्य-भूमि जैसे सिहर कर सूख गई है। कोई नया कवि सामने नजर नहीं आता। बहुतों को तो मिलेटरी ने हजम कर लिया। मैं तो अपने नये गीतों का संग्रह 'बेला' नाम से दे रहा हूँ।

'चोटी की पकड़' तो छप गई। एक काव्य-संग्रह के लिये मसाला बिखरा पड़ा है, सँजोना है।"

महीने-डेढ़ महीने बाद 'बेला' नाम का काव्य-संग्रह निकला। 'आवेदन' में निराला ने लिखा है—

'बेला' मेरे नये गीतों का संग्रह है। प्रायः सभी तरह के गेय गीत इसमें हैं। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं। देश-भक्ति के गीत भी हैं। बढ़कर नई बात यह है कि अलग-अलग बहरों की गजलें भी हैं जिनमें फारसी के छन्दशास्त्र का निर्वाह किया गया है। काव्य की कसौटी भी है।'

वास्तव में 'बेला' में ये सभी गुण तो है ही, इनसे अधिक भी उसमे बहुत कुछ है। उसका एक गीत यह है—

बदली जो उनकी आँखें, इरादा बदल गया।
गुल जैसे चमचमाया कि बुलबुल मसल गया।
यह टहनी से हवा की छेड़छाड़ थी, मगर
खिलकर सुगन्ध से किसी का दिल दहल गया
खामोश फतह पाने को रोका नहीं रुका
मुश्किल मुकाम जिन्दगी का जब सम्हल गया।
मैंने कला की पाटी ली है शेर के लिये
दुनियाँ के गोलन्दाजों को देखा, दहल गया

'बेला' में बहुत तरह के निराला ने सफल प्रयोग किये हैं, जिनमें देशव्यापी परिस्थिति का पूरा-पूरा व्योरा पाया जाता है। सन्तोष की सुगन्ध और परिस्फुटन की पुकार से 'बेला' गुजरित है। पढ़कर निराला के ही शब्दों में कहना पड़ता है—

किरणें कैसी-कैसी फूटीं
आंखें कैसी-कैसी तुलीं।
चिड़ियाँ कैसी-कैसी उड़ीं
पाँखें कैसी-कैसी खुलीं
बूंदे कैसी-कैसी पड़ीं
कलियाँ कैसी-कैसी धुलीं!

सन् '४४-४५ में भी निराला ने अपने लिखने का क्रम बराबर जारी रखा, क्योंकि रोज कुआँ खोदना और रोज पानी पीना उनके लिये आवश्यक था, उनके

जीवन का क्रम था, अविरल प्रवाह था। 'बेला' के बदले उनको कुछ रुपया मिला कि फिर दावतों की धूम, दनादन दान-दक्षिणा की भी अविकल वर्षा। एक-दिन मैं सुबह घूमते हुए दारागंज पहुँचा, देखा तो निराला जी तख्त पर पड़े काँप रहे थे। मैं, कुछ समझ न सका और बोला—"कुछ ओढ़ न लीजिए, कहाँ है आपका बिस्तर-रजाई, मैं ओढ़ा दूँ।" निराला जी उठकर बैठ गए और बताया कि वह कँप-कँपी जाड़े की नहीं; बुखार की है। मैंने व्यंग में कहा—"तो क्या बुखार में कपड़े का प्रयोग मना है?" निराला जी उदास हो गए। धीरे-धीरे डरे हुए बच्चे की तरह इधर-उधर देखकर कहने लगे—"रजाई तो मैंने बुढ़िया को दे दी। बेचारी का एकलौता लड़का सन् '४२ से जेल में बन्द है; घर उजड़ गया; धर्मशाले में रहती है। न खाना न पीना और न ओढ़ना न बिछाना। सच कहता हूँ, पाँड़े, तुम जाकर देखो, धर्मशाले के पत्थर जाड़े में बरफ की सिल बन जाते हैं। कल रात को वहाँ से गुजरा तो बुढ़िया जोर-जोर से कराह रही थी। पास जाकर देखा तो वह जाड़े के मारे नीली पड़ गई थी। सुना है जाड़े-घाम का असर बुढ़ौती में अधिक सताता है। मैंने अपनी रजाई दे दी। न भोजन, न वस्त्र और भूखे-पेट का जाड़ा, तुम समझ नहीं सकते। और मेरा काम तो चल ही जायगा। मेरे तो चर्बी भी है; जाड़ा कम लगता है।" ऊपर से बिगड़ने का स्वाँग बनाते हुए भी भीतर से मैं बहुत पुलकित हो उठा। शाम को एक कम्बल भी पहुँचा दिया।

शाम को बुखार कम था, लगा जैसे निराला का बहाना-मात्र रहा हो, क्योंकि उनकी ऐसी दानशीलता को मेरे साथ, उनके प्रायः मित्र अच्छा नहीं समझते और निराला इधर-उधर के बहाने बनाकर उनका मन भर देते हैं। मैंने हँसते हुए पूछा—"बुखार था भी कि यों ही कह दिया था?" निराला ने सहज भाव से उत्तर दिया—"बुढ़िया का आशीर्वाद दवा का काम कर गया, उपवास भी मैंने तीन किये। बुखार भाग गया।" मैंने पंडा जी को बुलाया और निराला की देख-भाल करते रहने का आदेश दिया। आते समय पंडा जी मेरे पीछे-पीछे आए और बोले—"भइया इनका कोई उपाय नहीं। परसों पगले को कोट, नया कोट जो अभी बनवाया था उतार दिया और कल रजाई भी दे आए। अब खाली तख्ता बचा है। अगर कुछ कहो तो नाराज होते हैं। एक दिन एक भिखारी को पकड़ लाये थे। उसे अपना खाना खिला दिया और खुद बस सीताराम। कहते हैं गंगा-जल से भूख मिट जाती है। क्या कहूँ बाबू जी हम तो तीस बरस से रोज गंगा-जल पीते हैं तो भी भूख लगती है, पेट नहीं मानता।" मैंने निराला जी के

स्वभाव की कुछ विशेषताएँ और विवशताएँ बता कर पंडा जी को प्रबोधा और वापस चला आया।

दूसरे दिन दारागंज जाने की सोच ही रहा था कि निराला जी स्वयं पधार गए। नंगे पैर, फटी-लटी-लुगी और कंधे में एक चीकट अँगौछा। आते ही बोले —"देखो, मैंने कहा था कि बुढ़िया जोर मारेगी, मेरी तबीयत बिलकुल ठीक है।" मैंने कोट वाली चर्चा छेड़ी और निराला जी जैसे गिड़गिड़ा उठे—"तुम लोगों का ख्याल ठीक है, मेरी यह लत बुरी है, पर तकलीफ नहीं देखी जाती। कोट भी दे ही दिया। उसका बदन फट गया था, सारे शरीर में बेवाई फट गई थी। बड़ा करुण दृश्य था। बिना कपड़े के मेरा काम चल सकता है, जरूरत हुई तो बनवा लेना होगा। अभी 'नये पत्ते' से पैसा मिलेगा।" मुझे वास्तव में यह अच्छा नहीं लगा। मैंने कहा—"आप जानते हैं, कपड़ा नहीं मिलता। मुश्किल से खद्दर भंडार मे टुकड़ा मिला था। अब यों ही नंगे घूमिए। मैं तो जाकर देवी जी से भी कह दूँगा।" निराला जी हँस पड़े और मुझे शान्त करने की इच्छा से कहा—"अब मैंने सोच लिया है, किसी को कुछ न दूँगा। मेरे दो-चार फटे लत्तों से देश की गरीबी दूर तो हो ही न जावेगी—ऐसा प्रयास भी व्यर्थ है। तुम्हें अपने मित्रों के सामने मेरे लिये झेंपना भी पड़ता होगा। सूट-पैन्ट-धारी बाबुओं के बीच में मैं यों ही फटे हाल में चला आता हूँ।" मैं चुप रहा और निराला जी भी भाव-मग्न हो गये। मैंने पूछा—"देवी जी की तरफ चलियेगा, शायद गुप्त जी भी आए हैं।" निराला जी ने कहा—"कोट-रजाई की चर्चा न छेड़ो तो चलें।"

शाम की शीतल हवा चलने लगी थी। जाड़े को दबाने के लिये निराला जी बार-बार सुरती फाँक रहे थे। देवी जी ने तुरंत पूछा—"कोट आपने कहीं फेंक दिया?" निराला ने गम्भीरतम मुद्रा में उत्तर दिया—"हूँ, कुरता पहनना है।" देवी जी समझ गईं और निराला की भाव-भंगिमा देखकर इस विषय को वहीं छोड़ दिया। निराला जी ने कहा—"देखिये, ये किताब-महल वाले बेईमानी करना चाहते हैं। मेरी दो पुस्तकें छापकर अब बारह प्रति सैकड़ा रॉयलिटी सुनाते हैं। आप उन्हें बुलाकर डाँटिए। मेरी उनकी कोई लिखा-पढ़ी भी नहीं है।" देवी जी ने उदास होकर कहा—"आपने अपनी पुस्तकें साहित्यकार-संसद को न देकर वहाँ क्यों दीं? जब अपनी संस्था है तब दूसरे प्रकाशकों के पास जाने की जरूरत क्या है? पर आप तो सदैव अपने मन की करते हैं। खैर, उन्हें लिखूंगी।" निराला जी ने अपनी कृतियों के संग्रह को साहित्यकार-संसद से निकलवाने के

लिये वचन दिया। उनकी इच्छा थी कि पंत की 'पल्लविनी' की तरह एक काव्य-संग्रह निकले।

देवी जी ने लीडर-प्रेस के अधिकारों और श्री दुलारेलाल भार्गव से निराला की कविता-पुस्तकों के कापीराइट छुड़ाने की लिखा पढ़ी की। पहले तो उन लोगों ने अपने कानूनी अधिकारों के बल पर कृतियों को मुक्त करने से इंकार किया, पर संसद के बिना किसी से पूछे छापने वाले निश्चय के सामने उन्हें बाद में झुकना पड़ा। निराला जी ने 'अपरा' नाम से संग्रह कर दिया। 'कुकुरमुत्ता' भी उसमें देना चाहते थे, पर देवी जी ने उसे नहीं चाहा और वह कविता उसमें नहीं जा सकी। निराला जी ने कहा—"न दीजिये, पर यह संग्रह अधूरा रह जावेगा। 'कुकुरमुत्ता, आज की सबसे सुन्दर कविता है। भाव-भाषा-विचार सभी दृष्टियों से, पता नहीं आपको क्यों नहीं भाती? जीवन के यथार्थ से घबड़ाना नहीं चाहिए।" देवी जी ने कोई प्रतिवाद नहीं किया, पर निराला जी निश्चय ही कुछ खिन्न हुए। इसके पहले उन्होंने कभी भी देवी जी की रुचि का किसी तरह विरोध नहीं किया था। इस बार भी विरोध करने के साथ बात देवी जी की ही मान ली। 'अपरा' छपने लगी। दो माह के भीतर उनका दूसरा नया काव्य संग्रह 'नये पत्ते' भी छप गया। उसमें सब कुछ नया-नया था। कई तरह के आधुनिकतम पद्य, छन्द कई, सम-असम और मात्रिक। हास्य और व्यंग्य की बहुलता और भाषा चलती हुई—टकसाली। इसकी सभी कविताएँ देश-जीवन पर बड़ा कठोर व्यंग करनेवाली और विचारोन्मेषक थीं। इनमें केवल भावुकता ही नहीं भावज्ञता भी थी। 'प्रेम-संगीत,' 'कुत्ता भौंकने लगा,' 'भींगुर डर कर बोला,' 'खून की होली जो खेली' तथा 'महँगू महँगा रहा' आदि कविताओं में सामान्य साधारणजन और उनके साधारण सुख-दुख को निराला ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया। व्यंग के साथ अन्तःसलिला की भाँति बहती हुई निराला की सहानुभूति और प्रेम मनोभावना उभर-उभर कर बहने लगती है, किन्तु समाज और संसार की अहमन्यता और स्वार्थपरता पर उन्होंने करारी चोटें की हैं। उनका निशाना भी अचूक बैठता था। विकृत तथा अभारतीय गतिविध पर तो उनकी वाणी अपने आप बौखला उठी थी।

वर्ण और जाति व्यवस्था के सड़े स्वरूप पर 'गर्म-पकौड़ी' और 'प्रेम-संगीत' घन का घमाका देती हैं, इसमें सन्देह नहीं। उपमाएँ प्रत्यक्ष और यथार्थवादी। गाँव और किसानों को लेकर निराला जी ने उस जीवन के वास्तविक और बोध-

मय बहुत ही सुन्दर तथा सजीव चित्र उतारे हैं। 'मास्को डायलाग्स,' उनके व्यंग की एक बौछार देखिये—

मेरे नये मित्र हैं श्रीयुत गिडवानी जी;
बहुत बड़े सोश्यलिस्ट,
'मास्को डायलाग्स' लेकर आये हैं मिलने।
मुस्कराकर कहा, 'यह मास्को डायलाग्स' हैं,
सुभाष बाबू ने इसे जेल में मँगाया था,
भेंट किया था मुझको जब थे पहाड़ पर।
'३५ तक, मुश्किल से पिछड़े इस मुल्क में
दो प्रतियाँ आई थीं'।
फिर कहा, 'वक्त नहीं मिलता है,
बड़े भाई साहब का बँगला बन रहा है,
देख-भाल करता हूँ'।
फिर कहा, 'मेरे समाज में बड़े-बड़े आदमी हैं,
एक से एक मूर्ख;
उनको फँसाना है,
ऐसे कोई साला एक धेला नहीं देने का।
उपन्यास लिखा है;
जरा देख दीजिए
अगर कहीं छप जाय
तो प्रभाव पड़ जाय उल्लू के पट्ठों पर,
मनमाना रुपया फिर ले लूँ इन लोगों से
नये किसी बँगले में एक प्रेस खोल दूँ
आप भी वहीं चलें,
चैन की बंशी बजे'।
देखा उपन्यास मैंने,
श्रीगणेश में मिला—
'पृथ्य असनेहमयी स्यामा मुझे प्रेम है'।
इसको फिर रख दिया, देखा 'मास्को डायलाग्स,'
देखा गिडवानी को!

'नये पत्ते' के व्यंगों का यह एक अत्यन्त उत्तम उदाहरण है।

'अपरा' भी निकल गई। निराला की यह पहली पुस्तक थी जो मुझे दाम देकर लेनी पड़ी, अन्यथा निराला जी ने अपनी सभी कृतियाँ देने की मुझ पर अकारण ही कृपा की है। 'अपरा' में निराला के सभी तरह के पद्य संग्रहीत थे। सन् '१६ से लेकर सन् '४३ तक की प्रायः सभी सुन्दर कविताओं का इसमें संकलन किया गया था। कवि की हैसियत से निराला ने, पाठक की हैसियत से मैंने और एक परम आत्मीय तथा संसद की संस्थापिका की हैसियत से महादेवी जी ने इस संग्रह में सहयोग दिया था, जो अपने ढंग का अकेला काव्य-संग्रह है। यह सच है कि निराला की बहुत सी कविताएँ इसमें नहीं आ सकीं, किन्तु फिर भी यह अपने आप में 'अपरा' है।

संसद की मंत्री की अपनी बात में महादेवी जी ने लिखा है—

'कवि श्री निराला उस छायायुग के कृती हैं जिसने जीवन में उमड़ते हुए विद्रोह को संगीत का स्वर और भाव का मुक्त-सूक्ष्म आकाश दिया। वे ऐसे युग का भी प्रतिनिधित्व कर रहे हैं जो उस विद्रोह का परिचय, कठोर धरती पर विषम कंठ में ही चाहता है।

उनकी आत्मा नई दिशा खोजने के लिए सदा से विकल रही है, और यह खोज तीन दशक पार कर चुकी है। अतः यदि उनकी रचनाओं में रंग-रेखाओं का सम-विषम मेला मिले तो आश्चर्य नहीं। एक ओर उनका दर्शन उन रहस्य-मय सूक्ष्म तत्वों का साथ नहीं छोड़ना चाहता जो युग-युगों का अर्जित अनुभूति-वैभव है, और दूसरी ओर उनकी पार्थिवता धरती के उस गुरुत्व से बँधी हुई है जो आज की पहली आवश्यकता है। एक ओर उनकी सांस्कृतिक दृष्टि पुरातन की प्रत्येक रेखा में उजले रङ्ग भरती है और दूसरी ओर उनकी आधुनिकता व्यंग की ज्वाला में तपा-तपाकर सब रंग उड़ाती रहती है। कोमल मधुर गीतों की वंशी से आज के शंख तक उनकी स्वर-साधना का उतार-चढ़ाव है। उनका अनुकरण किसी के लिये सुकर नहीं रहा, इसी से उनके स्वर को अनेक प्रति-ध्वनियों का जाल नहीं घेर सका। उनका व्यक्तित्व अव्यवस्था में दुर्बोध है, इसी से आलोचक अपने अनुमानों के विरामों से उसे बाँध नहीं सके। वे अकेले और उनका स्वर अकेला है।

उन्होंने अनेक आघात सहे हैं जो उनके संवेदनशील व्यक्तित्व पर अमिट चिह्न छोड़ गए हैं। यदि इन चिह्नों को हम उनके संघर्ष का प्रमाण मानें तो उनकी आत्मा के सहजात संस्कार समझ लेना तथा उनके काव्य की भाव-भूमि और उसकी मूलगत प्रेरणा तक पहुँच जाना सहज हो जायगा।

आज का युग साहित्यकार के लिये दो धारवाली असि बन गया है—यदि वह विषम परिस्थितियों से समझौता करके जीवन की सुविधाएँ प्राप्त कर लेता है तो उसका साहित्य मर जाता है, और यदि वह ऐसी सन्धि को स्वीकृति नहीं देता तो उसका जीना कठिन हो जाता है। कवि निराला ने अपने अदम्य विद्रोह की छाया में एक को बचा लिया है, दूसरे को सुरक्षित रखने का प्रश्न उनसे अधिक उनके सहयोगियों से सम्बन्ध रखता है।

आज की विषम परिस्थितियों में साहित्यकारों को पारस्परिक सहानुभूति का नैतिक बल तथा सहयोग का लौकिक बल मिल सके इसी को लक्ष्य बनाकर साहित्यकार-संसद की स्थापना हुई थी—'अपरा' का प्रकाशन लक्ष्य की दिशा में हमारा एक (पहला) पग है। साहित्यकार-संसद के प्रकाशन सम्बन्धी अधिकार के आगे एक दुर्लघ्य प्रश्नवाचक लगा हुआ है और कागज आदि आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति समस्या बन गई है। इसके अतिरिक्त आरम्भ ही से हमारा ध्यान पुस्तक के प्रति न्याय से अधिक पुस्तककार के प्रति न्याय की माँग में केन्द्रित रहा है। इस दृष्टि से 'अपरा' के यशस्वी कवि का गौरव इसमें सुरक्षित है।'

महादेवी जी ने निराला के व्यक्तित्व और कवित्व की व्याख्या इन शब्दों की व्यथा भरी झंकार में पूर्णतया मुखरित कर दिया। कागज का अभाव, चीजों की महँगी, खरी-खोटी सुना देने की आदत, निराला के जीवन के ऐसे अभिशाप बन गए जिनका उपाय कभी भी नहीं सम्भव हो सका। अपनी काँग्रेस सरकार ने प्रकाशकों को कागज बहाल करके भी निराला जैसे साहित्यकारों की कोई चिंता नहीं की। अँग्रेज-सरकार की भाँति ही अपनी सरकार ने भी साहित्य और साहित्यकार से अपना कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया। निराला ने ठीक ही कहा था—"सरकार तो किसी दल को स्ट्राइक के बाद पहचानती है और साहित्यकार किससे स्ट्राइक करे। यही कारण है कि मेहतरों तक ने अपनी तनख्वाहें बढ़वा लीं, पर साहित्यिक अपना कुछ प्रबंध नहीं कर सके। काँग्रेसी लोग बिना स्ट्राइक की धमकी के 'हरिजनों' की भी बात नहीं सुनने वाले हैं तब भला हम 'स्वर-जनों' की कौन सुने? हिन्दुस्तान में अधिकारों का कोई हिसाब-किताब नहीं, जो ले सकें वह लें। सभी जगह ब्लैक-मारकेटिङ्ग का बोल-बाला है।" इतना कह कर वे इतने क्षुब्ध हो उठे थे कि उनके ओंठ फड़कने लगे। एक गिलास पानी पीकर उन्होंने शान्ति की साँस ली।

मैंने कहा—"घबड़ाइए नहीं, अब शीघ्र ही साहित्यिकों का भी भाग्य जगने

वाला है।" निराला ने बीच ही में मुझे रोक कर कहा—"तब भी मेरा भाग्य तो सोता ही रहेगा, क्योंकि सम्भवतः तुम यह संकेत करना चाहते हो कि मुझे भी नजरुल इस्लाम की तरह यू० पी० सरकार कुछ देने लगेगी। छिः, मैं किसी सरकार की सहायता नहीं चाहता और राष्ट्र अभी मेरे अधिकार मानने लायक बना ही नहीं। अरे पचास का पूरा हुआ, रही बात थोड़ी, करियारी और घोड़ी। मेरी पचास किताबें एक मिनिस्टर की तनख्वाह से ज्यादा मुझे दे सकती है, पर मेरे पास न तो उतनी पूंजी है और न सरकार कागज देगी कि अपनी सब चीजें मैं खुद छाप सकूं। एक आफत और है। प्रकाशक लोग भी अब केवल नेताओं की रचनायें छापते हैं, आगे मुमकिन है, केवल इन्हीं लोगों की चीजें छपा करेंगी। कहा जाता है सी० पी० में प्रायः स्कूल-कालेजों में 'कृष्णायन' पर 'सिरीज आफ लेक्चर्स' चल रहे है। बारह रुपये की खासी मोटी पोथी छपी है। न कागज की दिक्कत न छपाई की असुविधा। यहाँ तो लोग आदमी की पोजीशन देखते हैं, न कि उसके साहित्य की विशेषता। तुम्हारी यूनीवरसिटी के दो-दो प्रोफेसरों ने भूमिका रूप में 'कृष्णायन' की कैसी प्रशस्ति की है। यह ठीक है कि मिनस्टर होकर कोई सूर-तुलसी नहीं बन सकेगा, पर उसकी कृतियों का दस-पचीस हजार बिक जाना तो सहज ही सम्भव है। एक पुस्तक से ही हजारों रुपयों की आमदनी हाथ लगेगी, उसके साहित्यिक मूल्य से किसी का क्या मतलब ? हिन्दी पत्रों को उठाकर देखो तो मिनिस्टरों की स्तुतियाँ उनमें भरी पड़ी रहती हैं। अपने को कवि कहने वालों तक ने उनके रेखाचित्रों के लिये गद्य लिखना शुरू कर दिया है। मैं यू० पी० के आधे से अधिक सरकारी पदाधिकारियों से लड़े बैठा हूँ।"

मैंने निराला जी को खुश करने के लिये कहा कि ऐसे विवाद तो साहित्य और राजनीति में चला ही करते हैं। रूस तक में ऐसा हुआ है, पर वहाँ कभी किसी प्रतिभा की उपेक्षा नहीं हुई। पैवलॉफ का किस्सा तो आप ही सुना रहे थे। निराला चिंता में धँस से गए। उनका यह क्षोभ क्रोध-आक्रोष स्वाभाविक था, क्योंकि आज तक किसी ने निराला की प्रतिभा को वह सम्मान नहीं दिया जो उसके लिये तृप्ति का कारण बनता। किसी ने यह नहीं सोचा कि निराला लिखने के साथ-साथ कुछ खाता-पीता भी है। प्रायः सभी साहित्यिकों की आर्थिक स्थिति भयावह है, पर निराला तो सच्चे अर्थों में संन्यासी थे। उनके पास प्रतिभा और स्वस्थ शरीर को छोड़ कर और कुछ भी नहीं था। मैंने उन्हें सन् '३५ से इसी रूप में देखा था; कलम उठाने के दिन से ही वे ऐसे रहे थे, सुना

है। साहित्य-सेवा ही उनकी एकमात्र साधना थी। वस्तुतः सरस्वती के वरदान के साथ लक्ष्मी का अभिशाप भी उन्होंने सबसे अधिक उठाया। दुनिया बदल गई। हिन्दुस्तानियों को मरियल टट्टू के बजाय हवाई जहाज मिलने लगे, पर निराला जहाँ के तहाँ। वही गंदा कुरता और फटी लुंगी। उन्होंने भूख-प्यास और जीवन के कठोर घात-प्रतिघात के बीच जिस तन्मयता और तपस्या के साथ अपनी प्राणमयी प्रतिभा का प्रकाश फैलाया, वह निराला जैसे महाप्राण व्यक्ति की ही अद्वितीय क्षमता थी।

सन् '४० से '४६ तक निराला ने पूरी तरह से युद्ध की यातना पाई। युद्ध-कालीन परिस्थितियों ने उनकी हड्डियाँ तक चटका दीं। उनमें शिथिलता भी आई निश्चय है, पर एक वीर-विजयी सिपाही की; पराजित की नहीं। अभावों से भिड़ते-भिड़ते उनमें भिडने की धुन भी आ गई, वे किसी की परवाह न करते, बात कटी कि भिड़े। इसके कारण स्पष्ट थे। सन् '४६, भारत के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। जागरण का युग, अधिकारों की माँग। रेल-तार-डाक-खाना, मिल, स्कूल, पुलिस-फौज, राजा-गरीब, काँग्रेस-लीग सब के सब एक साथ ही अपने-अपने अधिकारों की आकुल पुकार कर उठे और किसी का स्ट्राइक तथा किसी की मार-काट का श्रीगणेश हुआ। अँग्रेज भी ठंडे पड़े और देश ने शासन सत्ता पाई और खुशियाँ मनाई जाने लगीं, बधाइयाँ दी जाने लगीं। देश का प्रायः प्रत्येक वर्ग अब तक अपनी माँगों को सामने रखकर या तो स्ट्राइक की धमकी से या तलवार से ले लेना चाहता था। सरकार एक सीमा तक दे भी रही थी। लीग को छोड़कर और सब की माँगें-तनख्वाहें (क्योंकि इस देश की सब से बड़ी समस्या भूख की है) सफल होकर आगे बढ़ गई! अध्यापकों तक ने जोर मारा।

पर इन कागज की नाव पर सवार साहित्यिकों ने कोई दल नहीं बनाया, स्ट्राइक की धमकी नहीं दी, चुनाव नहीं लड़े, पदवी के लिये किसी की मालिश नहीं की, न मिनिस्टरों की हाजिरी बजाई न गवर्नर को डाली लगाई, और जहाँ के तहाँ रहे। जो मँहगी के पहले सो मँहगी के बाद, ऊपर से कागज-पाथर का कंट्रोल, छक्का-पंजा सभी बन्द। निराला पागल हो उठा, और कह पड़ा—"मैं डाक्टर हूँ, गामा को लखनऊ नुमायश में दो मिनट में पटका था, और मेरा साहित्य आज का आइना है, युग-युगों तक मानवता इसमें देख-देख कर सजती जायगी। वाह, 'मैं हूँ कवि आज धन्य, नेता हैं जवाहर लाल।" पूरी कविता

'देशदूत' में छपी थी और धन्य के बाद या पहले कामा लगाने पर खासा विवाद भी छिड़ा था।

इस प्रकार निराला अब कुछ बदल गए थे। बात भी बदली-बदली करते और लिखते भी। सन् '४६ में प्रकाशित कविता 'कैलाश में शरत्' में उन्होंने बेमेल कल्पनाओं, तत्वों और सत्यों का समाज खड़ा किया। जहाँ स्वामी विवेकानन्द घोड़े से उतर बकरे पर चढ़ते हैं और फिर मानसरोवर मे नौका बिहार करते हैं। पढ़िए तो एकदम पागल का प्रलाप, पर निराला पागल नही थे। दुनिया पर व्यंग करना चाहते थे, जैसे कहना चाहते थे—'दुनिया कहती मुझको पागल मैं कहता दुनिया को पागल'। उन्होंने 'बेला', 'नये पत्ते' काव्य-संग्रह और 'चोटी की पकड़' इन्हीं दिनों, इसी मानसिक स्थिति में हिन्दी-साहित्य को अमर दान दिया, पर वे ग्लानि और प्रतिशोध की भावना से भरे, खिसिया उठे थे। किसी से सीधे बात न करते। विश्वास पाकर पूर्ववत सहज स्वाभाविक रीति से व्यवहार, बात करते, सब मिलाकर वे घायल की स्थिति में थे। जो सामने आता उसे भय और आशंका का प्रतीक समझकर पछाड़ देना चाहते, विवेकानन्द का आदर्श उनके सामने था। जो भी हो, लोगों में यह काना-फूसी चलने लगी कि निराला का दिमाग खराब हो गया। मुझे स्वयं भी कई बार उनकी बातों का कुछ तारतम्य न मिला। एक दिन जो घटना घटी, मैं स्तब्ध रह गया। निराला जी महादेवी जी से कह रहे थे, "जब हमारी ओपनिङ्ग लखनऊ नुमायश मे हुई थी, तब तो आप मौजूद थीं।" देवी जी धक् से रह गई। निराला जी आगे भी कहते गये—"बड़ा मुश्किल है, कोई कुछ भी क्लू नहीं देना चाहता, सभी राज दबाये बैठे हैं।" देवी जी ने बहुत ही करुण स्वर में पूछा—"निराला जी, सचमुच आपका दिमाग खराब हो गया है क्या? आप कैसी बातें करते है? इसी से तो लोग आपको पागल कहते हैं।" निराला जी ने जोर से प्रतिवाद किया—"कौन कहता है, पागल आप ही कहती हैं। अजब तमाशा है। सच बात कहो तो पागल हो।" कहते हुए निराला जी चल पड़े। मै भी उनके पीछे डरता-डरता लगा रहा।

वे सड़क पर आकर बोले—"सन् '३३-३४ मे बनारसीदास चौबे ने मुझे पागल बनाने का बीड़ा उठाया था। 'विशाल भारत' लेकर चले थे, अब की शायद 'विशाल जहान' सामने आवेगा।" इसके बाद उनका मूड एकदम बदल गया। तम्बाकू ठोंकते हुए बोले—"यूनीवरसिटी कब बन्द हो रही है? इस वर्ष गर्मी करारी पड़ेगी। अभी तो मुलाकात होगी। तुम जार्जटाउन से हास्टल चले

जाना।" कम्पनी बाग में घुसे। रम्य रंग, सौम्य सुगंध, तरह-तरह के अँग्रेजी सीज़नल फूल। क्यारियाँ कैंची से कटी हुई, एक पौधा न घट न बढ़! निराला ने कहा—"दुनिया आदमी को भी इसी तरह कटी-छँटी हालत में रखना चाहती है। उसे यह क्या पता कि आदमी की कलमें नहीं लगतीं, उसका थलहा नहीं बदला जा सकता। प्रकृति और पुरुष में यही भेद है, पर किसकी कौन सुने और कौन कहे?"

विदा होते समय मेरी आँखों की तरलता को लक्ष्य कर निराला ने कहा—"आनन्दोत्थं नयन सलिलं यत्रनानैर्निमित्तैः, का निवासी साहित्यकार हो होता है। उसकी लिखी ट्रेजडी आनन्द ही देती है। मैं न पागल हूँ न सिड़ी, सब को झाँसे में चढ़ा रहा हूँ। कुछ बोलो न, चुपचाप तमाशा देखो। नमोनमः, जाओ।" रास्ते भर मैं सोचता रहा—क्या निराला पागल का अभिनय करता है, सब से, अपने प्रति किये गये व्यवहार का बदला निकालता है, अधम आलोचकों के लिये कभी न सुलझने वाली समस्या बन जाना चाहता है। सभी को शोक पहुँचाना चाहता है, क्योंकि किसी को निराला ने अब तक पागलों की तरह कभी काटा-पीटा नहीं। और बहस-व्यंग तो निराला ने गाँधी जी से लेकर पाठक जी तक बराबर किया है, भीतर से जैसे कोई बोल उठा, 'पागल तो नहीं, पर निराला व्यथा-विह्वल अवश्य है।' इसी कारण विचलित की भाँति पहलू बदलता चलता है। किसी से कुछ, तो किसी से कुछ कहता चलता है। पर मुखापेक्षी न होकर केवल अडिग आत्म-बोधी बन गया है। यही संकेत मिलता है—

जननि मोहमयी निशा अब दूर मेरी हो चुकी है,
पल्लवों की धूलि वर्षा धो चुकी है!

निराला जी से इस बार कई दिनों में भेंट हुई। मैं दारागंज गया। साथ में कई साथी, विक्रम-वीरेन्द्र का जोड़ा, कैप्टेन गौतम आदि-आदि। निराला जी ने सब के परिचय के बाद पूछा—"कहिए कप्तान साहब, आपने कैसे कष्ट किया? राज देने आये हो कि लेने?" गौतम के कुछ कहने के पहले मैं बोल उठा—"निराला जी यह आपके दर्शनों के लिये जबलपुर से आए हैं? मेरे मित्र हैं। आप गैर न समझें।" निराला हँसे और कहा—"फौजी कप्तान और मेरे दर्शन?" विक्रम ने एक नये प्रश्न से बात टाल दी, और पूछा—"नये पत्ते, में आप ने खूब सरल भाषा तो लिखी, पर उसमें ताल-लय का पता नहीं चलता। छन्द-भाषा सभी कुछ नया आप चाहते हैं?" निराला ने संयत होकर उत्तर दिया—"हाँ, कुछ प्रयोग नये करना चाहता हूँ, साहित्य में मैंने

हमेशा प्रयोग ही तो किये हैं। न्यू ग्राउन्ड ब्रेक करने से कलम की नोक को जोर पड़ता है, वह दंड पेले पहलवान की तरह मजबूत हो जाती है। तभी न लोग 'प्रयोगकालीन बच्चन' की तरह 'प्रयोगकालीन निराला' लिखते-लिखते हाँफने लगेंगे।"

मुझे स्मरण आया, प्रसाद, पन्त, महादेवी, प्रेमचन्द; यहाँ तक कि बच्चन पर भी आलोचनात्मक पुस्तकें निकल चुकी थीं, पर निराला किसी समालोचक सम्राट को नहीं भाया। जोशी जी ने ठीक ही लिखा है—

'महान् प्रतिभापूर्ण कृतियों को अपने प्रचार के लिये ऐसे व्यक्तियों का मुँह ताकना पड़ता है, जिन्होंने अपने जीवन में एक भी महत्वपूर्ण कृति का निर्माण करने में सफलता नहीं पाई, और जो विद्वत्ता का बड़ा से बड़ा सार्टीफ़िकेट प्राप्त कर लेने पर भी किसी वास्तविक अर्थ में प्रतिभाशाली लेखक के उच्च तथा गहन बौद्धिक और मानसिक स्तर तक पहुँचने में एकदम असमर्थ है। वास्तव में संसार के सर्वश्रेष्ठ मनीषियों के लौकिक जीवन की प्रगति में यह एक बहुत बड़ी बाधा रही है। यह बात अविवादास्पद है कि कालिदास तथा शेक्सपियर के महान् से महान् आलोचक भी उनके बौद्धिक शिखर की तलहटी से आगे बढ़ने मे कभी समर्थ नहीं रहे हैं।'

मैंने जानबूझ कर कहा—"हाँ आगे चाहे कोई 'प्रयोग कालीन निराला' लिखे या कुछ और, पर अभी तक किसी आलोचक ने आप पर किसी काम की कृति का निर्माण नहीं किया?" निराला जी नाराज होने की अपेक्षा प्रफुल्लित हुए और अपने अहं को ऊँचा उठाकर बोले, "इसमें आलोचकों का दोष नहीं, मेरी तसवीर की साइज का कोई चौखटा उनके पास नहीं। इसी से मुझे न भाट मिले न भाँड़। छायावादी कवियों की प्रायः रचनायें उनको रसगुल्ले की तरह मुलायम और सरस लगीं और वे सट से गपक गए। किन्तु मेरी कविताओं को हजम करने के लिये सुरसा का मुँह चाहिए।

"छायावाद की मूल भाव-धारा को लेकर फूटने वाली प्रगति की जीवन विकास-मयी सभी धाराओं में मैंने काम किया है। आलोचक मेरे काव्य-दृष्टि की डालों के फल तोड़ने के लिये बन्दर नहीं बनना चाहते। बेचारे आखिर आदमी हैं। एक ही डाल में पहुँच सकते हैं। किसी वाद में न मेरी कैद न मेरे साहित्य की, सैद्धान्तिक तथा पुस्तकी ज्ञान से मेरी चीजों का लेखा-जोखा हो नहीं सकता और सर्जनात्मक तथा अनुभूतिशील आलोचना का हिन्दी में अभी आरम्भ ही नहीं हुआ। मैंने समालोचना में भी प्रयोग किये हैं। मेरे जीवन तथा प्राणों

को छूकर बहने वाली हल्की हवा भी औरों के लिये आँधी बन जाती है।" अब तक पंडा-बाबा बाजार से जलपान लेकर लौट चुके थे। जहाँ तक मुझे याद है निराला जी ने अपने निवास से कभी बिना कुछ खाये नहीं लौटने दिया। कहने लगते थे—"इसी बहाने मैं भी मिठाई खा लूंगा।"

खा-पीकर हम लोग चलते बने। गौतम ने दरवाजे के बाहर आते-आते कहा—"जवानी में निराला जी बहुत ही सुन्दर रहे होंगे। कुछ सनकी मिजाज के भी जान पड़ते हैं।" मैंने उसे एक लेक्चर पिलाकर शान्त किया। निराला की स्थिति और उनके जीवन-क्रम की रास्ते भर चर्चा होती रही, पर हम लोग किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। निराला को पूरी तरह समझना दुर्लभ ही नहीं शायद अलभ्य भी था।

अब निराला जी कहीं भी कुछ कम आते-जाते थे। एकान्त ही अधिक अच्छा समझने लगे थे। एक दिन उन्होंने बहुत बड़ी शुभेच्छा से बताया कि उनके पास आना-जाना किसी के लिये भी खतरनाक साबित हो सकता है। मुझे वहाँ समझ-बूझकर जाना चाहिये, किन्तु मैंने आना-जाना नहीं छोड़ा। मुझे प्रारम्भ से ही उनसे मिलने में, बातें करने में, उनका साहित्य पढ़ने में बड़ा आनन्द मिलता और इस स्वार्थ-त्याग की महानता मुझमें कभी भी समासीन नहीं हो सकी, तो इसे मैं अपना सौभाग्य ही कहूँगा। उनकी स्वच्छ निश्छल तथा अकृत्रिम आत्मीयता अन्यत्र जल्दी मिलनी भी सम्भव नहीं। भदन्त आनन्द कौसल्यायन की पंक्ति निराला के विषय में बिलकुल सच्ची लगती है—

'जिसने श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला को समीप से देख लिया और ठीक-ठीक समझ लिया, वह आज के समाज को—जिसका चौखटा सरासर चर्रा रहा है—समझने में समर्थ हो गया। मैं उस भारतीय प्रतिभा को जो हमारे रूढ़िवाद की चतुर्मुखी शृंखलाओं के तोड़ने के प्रयत्न में स्वयं टूट-टूट गई है, शतशः प्रणाम करता हूँ।"

समय की गति किसी निराला की प्रतीक्षा नहीं करती। धीरे-धीरे होली भी आ गई। निराला जी उत्सवों के प्रति अत्यन्त जागरूक रहते थे। उन्हें डट कर मनाते और कविता लिखते थे। आये, और होली की दावत कर गये। मैंने कहा—"साथियों से फुरसत पाकर आने की कोशिश करूँगा।" निराला जी ने अधिकार के साथ कहा—"आना जरूर, मैं बहुत बढ़िया-बढ़िया चीजें बना रखूंगा।" मैं सारे प्रयत्नों के साथ भी दो बजे दिन से पहले नहीं जा सका। निराला जी रँगे-चँगे बैठे थे बोले—"मैं तो निराश हो चुका था।" मैंने क्षमा

माँगते हुए अपनी विवशता की कथा सुनाई और वे बोले—"होली का तो त्यौहार ही ऐसा है कि इसमें विश्वप्रकृति की समरसता का संदेश मिलता है। सभी आपस में मिलते-जुलते हैं। सत्-रज-तम का इतना बड़ा गंठबन्धन और कभी नहीं होता। रज-तम आकर सत् में समाहित हो जाते हैं। कूड़े को जलाकर भस्म करने की प्रथा का आध्यात्मिक अर्थ यही है कि केवल सत् बचाया जाय। सफेद कपड़ों का रिवाज भी यही सिद्ध करता है। इस बार की होली में शासन का भौतिक बल मुझे राई-नोन उतार कर जला देना पड़ा है, अब मैं खुल कर विद्रोह करूँगा। मैं ही तो इस युग का प्रह्लाद हूँ। बाकी सब तो होली मनाने का स्वाँग करते हैं।"

मैंने अबीर की पुड़िया निकाली और निराला के मुँह को रँग दिया। आँखें तिलमिलाते हुए वे कहने लगे—"मैंने तो अबीर-रंग कुछ नहीं मँगवाया। मल्लाह के लड़कों ने मुझे तरकारी लेने जाते समय रँग दिया, मैं चुपचाप हँसता रहा। गणेश पाण्डे भी मिले थे, कहने लगे कि आप ठीक हैं, कपड़ा ही नहीं पहनते, रंग-अबीर का क्या डर? मैंने मन ही मन कहा—'कपड़े तो होली ही में नहीं मै दिवाली में भी नहीं पहनता'।" निराला जी ने आले पर से पूड़ियाँ-मिठाइयाँ निकालीं और मेरे साथ खाया-खिलाया। थोड़ी देर के बाद कंधे पर कुरता रखा और चल पड़े। कहा कि कुछ मित्रों से मिल आएँ, लीडर प्रेस भी हो आएँ।

सड़क के पीपल के नीचे एक पगली रहती थी, निराला जी से प्रायः कुछ पैसे पाती रहती थी। निराला को देखकर दौड़ी और पास आकर कहा—"आज होली है, पैसे दो, रंग खरीदना है।" निराला ने सहज भाव से कुछ पैसे उसको दिये और चलने लगे। उसने कहा—"ठहरो अभी आती हूँ।" निराला जी रुके रहे। उसने आकर निराला जी के पेट में अबीर धुरक दी और मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मैंने परिहास में कहा—"निराला जी, यह पगली काहे को, पूरी समझदार है। देखिये न आपके अबीर लगाई पर मुझसे नहीं बोली।" निराला जी मुस्कराये, फिर कहा—"पागल, पागल को पहचानता है।" अचानक पहले पण्डित अब डाक्टर उदयनारायण तिवारी रास्ते में मिले। निराला जी को बड़ी श्रद्धा से प्रणाम किया। निराला जी ने उत्तर में कहा—"आइये होली मिलें।" छोटे कद के तिवारी जी से निराला जी झुक-झुककर जिस प्रकार होली मिल रहे थे, वह दृश्य अद्भुत था। वे कम्पनीबाग से लीडर प्रेस की ओर चले गये; और मैं हास्टल लौट आया। बार-बार पगली का चित्र स्मृतिपट पर स्पष्ट

हो जाता था और कानों में निराला के शब्द ध्वनित हो रहे थे—पागल, पागल को पहचनता है। निराला ने लिखा है—

प्रति जन को करो सफल !
जीर्ण हुए जो यौवन, जीवन से भरो सकल !
रँगे गगन, अन्तराल,
मनुजोचित उठे भाल,
छल का छुट जाय जाल
देश मनाये मंगल।

इधर निराला की कविताएँ पढ़कर और उनकी चाल-ढाल तथा रंग-ढंग देखकर मेरी यह दृढ़ धारणा बन गई कि जब तक देश के बड़े आदमी अपनी धन-सम्पत्ति को छोड़कर एक साधारण और सहज स्थिति में सब को समान सुविधाओं का उपभोग नहीं करने देंगे तब तक इस देश का भला नहीं हो सकता और न निराला को संतोष। बीस-बाइस सौ तनख्वाह पाने वाला डी० पी० आई० गरीब अध्यापकों का ग्रेड यदि एक सौ बीस से न चाहकर केवल सौ से चाहता था तो इसके भीतर विषमता का ही रहस्य छिपा था। आज की राजनीति भी धनियों की चाँदी से ही चमचमा रही है और लेखकों की तो बात न पूछिए—उनके लिये तो बस यही कहा जा सकता है कि—

भुखिया के मारे बिरहा बिसरिगा, भुल गयी कजरी-कबीर,
गोरिया क मोहिनी सूरतिया देख क उठे न करेजवा में पीर !

निराला ने 'बेला' और 'नये पत्ते' में इसका स्पष्ट संकेत किया है—

बालों के नीचे पड़ी जनता बलतोड़ हुई।
माल के दलाल ये वैश्य हुए देश के।

'महगू मँहगा रहा' में निराला ने आज की दशा का व्यथा भरा खाका खींचा है; राजनीतिक नेता का एक चित्र देखिये कि दंग रह जाइए—

लेडी जमीदारों को आँखों तले रखे हुए,
मिलों के मुनाफे-खाके-वालों के अभिन्न मित्र,
देश के किसानों, मजदूरों के भी अपने सगे
विलायती राष्ट्र से समझौता के लिये।
गले का चढ़ाव बोर्जुआजी का नहीं गया।

नेताजी का भाषण समाप्त होने के बाद 'लुकुआ' ने 'महगू' से पूछा कि क्यों जी, कुछ लोगों का कहना है कि ये नेता लोग भी अपने नहीं रहे, तुम्हारी राय क्या

है ? तब महगू ने उत्तर दिया कि नेता लोगों को चुनाव में मिल-मालिकों, सेठ-साहूकारों की सहायता लेनी पड़ती है। कानपुर में मजदूरों पर गोली चलने का, चलवाने का कारण वही मिल-मालिक तो है जो कांग्रेस को चुनाव में सहायता दे रहा था। लुकुआ घबरा गया और प्रश्न किया कि आखिर उस जैसे गरीब कहाँ जायँ ? वास्तव में घबराहट में, निराला जी अपने लुकुआ से कम नहीं पड़ते, पर उनका निश्चय था कि—'पैरों की धरती आकाश को भी चली जाय, मैं कभी न बदलूंगा इतना महगा हूँगा।'

सन् '४६ के अप्रैल में एकाएक प्रयाग से अपने घर चले गये, इसकी सूचना तक उन्होंने नहीं दी। पंडा-बाबा ने बताया कि वे एक दिन सहसा बिना कुछ बोले-बताये यहाँ से चम्पत हो गए। गर्मी की छुट्टियों में मैं पहाड़ चला गया। इस बीच निराला जी का कोई समाचार नहीं मिला। बस इतना ही ज्ञात था कि वे अपने घर में हैं। जुलाई में लौटकर भी उनका समाचार नहीं मिला। उनके घर के पते पर पत्र भी दिया पर कुछ उत्तर न मिला। दो सितम्बर को पत्रों में एक समाचार छपा—"निराला जी, हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अपने घर से विवेकानन्द के 'राजयोग' को लेकर अचानक एक दिन गायब हो गए। इधर कुछ दिनों से उनका दिमाग कुछ खराब था।" यह समाचार निराला जी के सुपुत्र ने छपवाया था। मैंने जाकर देवी जी से इस घटना का उल्लेख किया। वे इसे सुनकर बड़ी चिंतित और व्यथित हुई और मुझे तो लगा जैसे मेरी रीढ़ ही टूट गई।

निराला जी के पुत्र को एक चिट्ठी लिखी और विस्तृत हाल शीघ्र ही भेजने की प्रार्थना की, पर उनके भी कान मे जूं तक न रेंगी। सौभाग्य से अखबारों द्वारा पता चल गया कि वे उन्नाव पहुँच गये और युग-मन्दिर में मजे से हैं। दो सितम्बर की एक घटना और भी महान् आश्चर्यजनक थी। उस दिन प्रयाग रेडियो से हिन्दी-कवि-सम्मेलन ब्राडकास्ट होने वाला था। सुनने के लिए मुझे भी निमन्त्रण था। शाम को मैंने सोचा कि आज के सम्मेलन में निराला के साथी कवि कैसे शरीक हो सकते हैं, पर डा० ब्रजमोहन गुप्त ने कहा—"अम्याँ किस चक्कर में पड़े हो, सभी भड़ुये वहाँ जायँगे और गावें-नाचेंगे, चाहो तो जाकर देख लेना।" मुझे डाक्टर की बात पर विश्वास तो नहीं हुआ, पर सन्देह भी उठता-गिरता रहा और मैं रेडियो स्टेशन की ओर चल पड़ा।

देखा तो हाल कवियों, कवयित्रयों तथा श्रोताओं से भरा था। उस दिन हिन्दी के नाम पर जो ग्लानि मुझे हुई, उसका वर्णन व्यर्थ होने के साथ सम्भव

भी नहीं। विश्व-प्राणों के साथ समरसता और सहानुभूति रखने वाले कवियों का यह रूप ? अपने साथी, समर्थ साथी, महाप्राण साथी, निराला की यह उपेक्षा ? मैंने दो-एक कवियों से पूछा भी—"आपने निराला वाला समाचार पढ़ा होगा ?" वे मुँह बनाकर कहने लगे—"हाँ, हाँ, बहुत ही सैड है।" मैंने धीरे से कहा—"और आप आज कवि-सम्मेलन कर रहे हैं।" कवि ने ऊँचे कंठ से उत्तर दिया—"रेडियो प्रोग्राम तो किसी की 'डेथ' से भी नहीं बन्द होते, विवशता है। प्रोग्राम तो बहुत पहले से बन जाता है।"

महाकवि 'रसाल' का तो जाना उचित था, क्योंकि वे खड़ी बोली के किसी कवि को कवि नहीं मानते और निराला ने तो छन्दों को तोड़ने-फोड़ने का भी अपराध किया था। शिवमंगल सिंह 'सुमन' भी क्षम्य थे, क्योंकि उन्होंने निराला पर एक लम्बी कविता लिखी थी। बेचारे बच्चन तो कवि-सम्मेलनों मे न जायँ तो शायद कवि ही न रह जायँ। किन्तु डाक्टर रामकुमार वर्मा की उपस्थिति बहुत ही खटकने वाली थी, '३५-४० रुपये की बात, टाल जाते। 'कोकिल' और 'सुधा' तो कवयित्री से ज्यादा गायित्री थीं। हिन्दी मे इस विषमता के लक्षण पग-पग पर दिखाई पड़ते थे। इसका कारण भी हमारी धन-यश की बुभुक्षा ही कही जा सकती है। निराला ने 'हिन्दी के सुमनों के प्रति' एक ठोकर दी थी, जो इस प्रकार है—

मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन,
मैं हूँ केवल पद तल—आसन,
तुम सहज विराजे महाराज !
तुम मध्य भाग के; महाभाग ?—
तरु के उर के गौरव प्रशस्त
मैं पड़ा जा चुका पत्र, न्यस्त,
तुम अलि के नव रस-रंग-राग
फल सर्व-श्रेष्ठ नायाब चीज
या तुम बाँध कर नया धागा;
फल के भी उर का, कटु, त्यागा,
मेरा आलोचक एक बीज !

इस प्रकार सन् '१६ से सन् '४६ तक निराला का साहित्य-संघर्ष प्रस्फुटित होता हुआ, अथक गति से बढ़ता हुआ अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेता है। हिन्दी में

निराला की अपनी शान और आन थी। उन्हें 'पलातक' और 'छायावादी भावुकता का शब्दजाल रचयिता' कहने वाला समझदार व्यक्ति ढूंढ़ निकालना कठिन था, यों संसार में सूरज के प्रकाश की भी उपेक्षा करने वाले जीव-जन्तुओं की कमी नहीं। वे निराला के साथ आगे तक चले, काफी बाद तक।

पता चला कि निराला जी इन दिनों 'रामचरित मानस' का 'खड़ीबोली-करण' करने मे व्यस्त थे, साथ ही विवेकानन्द के 'राजयोग' का भी हिन्दी अनुवाद कर रहे थे। सम्भवत; नवम्बर के माह में उसका कुछ अंश 'देशदूत' में छपा था। सम्पादक श्री निर्मल जी उनकी सभी प्रकार की रचनाओं को बड़े-सम्मान से छापते रहे। उन्होंने गजल नहीं गीत, कविता नहीं कहानी, लौकी नहीं कद्दू का व्यवसाय नहीं किया; जो निराला ने दिया सो छापा। इस नवीन प्रयोग की एक पंक्ति मुझे स्मरण है—स्मृति-चित्र की एक बारीक रेखा—बड़े भाग्य उर आवहिं जासू—का अनुवाद, अविकल रूप से निराला ने इस प्रकार किया था—बड़े भाग्य आते जिसके उर (घर)। मैंने सोचा, जिस दिन निराला इसे पूरा कर लेंगे, खड़ी बोली तुलसी की मांसल हरीतिमा में लहलहा उठेगी। निराला ने सूर और तुलसी का बहुत व्यापक अध्ययन किया था। उनके काव्यगत रसों को छक-छक कर पिया था। जीवन में उनके पवित्र तथा सन्ती जीवन को उतारने की साधना की थी, तपस्या में तपा था, क्योंकि निराला-कालीन भारत तुलसी-कालीन भारत से सब भाँति अधिक विपन्न, पराजित और गुलाम था। मुझे तो लगता था कि तब के घोर पाखंडपूर्ण नारकीय जीवन में महाकवि सूर-तुलसी पिस जाते। निराला की ये पँक्तियाँ जैसे मेरी गवाही दे रही थीं। यह बार-बार स्मरण दिलाने की चीज है कि 'बेला' और 'नये पत्ते' सन् '४६ की प्रकाशित पुस्तकें हैं। बेला की कली आज भी गमक रही है—

यह क्या मौज है रूप से रंग से भी,—
लिये जा रहा है, लुटा जा रहा है ?
ललक कर किसी से कभी जो न लिपटा,
भरा धान जैसा कुटा जा रहा है !

इन पंक्तियों में मनुष्य मात्र पर अखिल विश्व की वास्तविक स्थिति की सचाई के मूसर चलने लगते हैं। एक और पद बड़ा मजेदार, नमक-मिर्च का अनुकूल अनुपात। समाज और संसार के सुधार का ठेका लेने वालों पर वज्रपात—

पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे
जोर की आँधी चली,

हाथ मत डालो, हटाओ
पैर, बिच्छू बिल में है।
ताक पर है नमक-मिर्चा
लोग बिगड़ें या बनें
सीख क्या होगी पराई
जब पिसाई सिल में है।

तुलसी ही नहीं, शायद संसार के किसी महाकवि को नमक-मिर्च न पीसना पड़ा होगा। और निराला दोनों जून नहीं तो एक जून तो स्वयं पकाकर न जाने कब से खाते-जीते थे। नमक-मिर्च पीसना, आटा गूंधना उनका दैनिक तथा जीवन के लिये जरूरी कार्य-क्रम था। अपनी आटा लिपटी, टेढ़ी-मेढ़ी, कोमल-कलात्मक उँगलियों को मुझे दिखाते हुए, दिये के क्षीण प्रकाश की ओर देखकर कहा था—"अगर प्रकाश की इस धूमिलता में परदे के भीतर से अपनी उँगलियों को किसी को थमाँ दूँ तो उसे मेरी प्रियतमा का ही हाथ लगे।"

जो भी हो, निराला ने न तुलसीदास का स्नेह-सम्मान पाया और न उनपर रिसर्च की डिगरी डाक्टरेट मिली, किन्तु यह सच है कि वे तुलसी की भावज्ञता तक पूर्ण रूप से पहुँचते थे, विराजते थे। निराला बीसवीं सदी का तुलसी है। कुछ लोगों का विचार है कि मोटी-पोथी 'कृष्णायन' के रचयिता पं० द्वारका-प्रसाद मिश्र तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री मध्य-प्रदेश सरकार महाकवि सूर की समता करते हैं। एक बार आत्माराम ने बड़ी मीठी बात कही थी—

'नीक-नीक परसदबा कहिगा, निरलबौ कहिस अनूठी, भली-सधी महदेबी कहिगै और कहे सो जूंठी।' स्पष्ट भी किया था—"भाई, मैं समझता हूँ 'कामायनी' जैसे मनोवैज्ञानिक महाकाव्य की ऐसी उत्तम, नीकी-नीकी रचना किसी भी युग के किसी भी हिन्दी महाकवि के वश की बात नहीं थी। निराला ने महाकाव्य नहीं लिखा, पर हर कविता में उसकी घोर मौलिकता जीवन-विकास की नई सूझ, युगान्तरकारी विराट प्रतिभा किसी भी महाकवि की शोभा हैं। सब नया, नयनाभिराम, समस्त जीवन के लिए—अमिय-गरल, शशि-सीकर रविकर राग-विराग, भरा प्याला, पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला; की विकासोन्मुखी सतरंगी इन्द्रधनुषी कोमल किरणों की जीवन की निरीहता पर सहानुभूतिमय आच्छादन निराला के काव्य का, जीवन के समानान्तर व्यापक विषय रहा है। और महादेवी ने मानव मन की उस आध्यात्मिक प्राण-प्रवाहिनी भावधारा को, जिसे हिला सकने की क्षमता प्राप्त करना जीवन से वंचित होना

है, रक्षित रखा है। महादेवी के गीतों की साँस में जिस महाकरुणा की सुवास व्याप्त है, उसी वातावरण के लिए तो कहा गया है—

सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, आदि-आदि।

संसार घूम फिर कर वहीं लौटेगा। श्रद्धामयी आस्था और विश्वास के बिना केवल बुद्धि-व्यवसाय से जीवन का विकास शतशः असम्भव है। महादेवी, जीवन के साथ लगी मानवता के इस रूढ़, रहस्यवाद की परम्परा को आज के जड़वाद-ग्रस्त युग में भी 'दीपशिखा' की भाँति सँजो रखा है जो युग-युगों तक कवि-महा-कवि सभी के प्रकाश का कारण बनेगी। इसलिये यह उक्ति चाहे कटूक्ति ही क्यों न हो, जमती है, सच जान पड़ती है।" मैंने बड़े उत्साह से अनुमोदन किया—"हाँ, इसका आशय यह नहीं कि जूँठी कहने वाले महाकवि नहीं होते या हिन्दी में नहीं हैं।" तुलसी ने कहा है —

'सब उपमा कवि रहे जुँठारी—केहि पटतरिय विदेह कुमारी' किन्तु उन्होंने सीता के लिए यह भी लिखा है—

'उभय मध्य सिय सोहति कैसी—ब्रह्म-जीव बिच माया जैसी' और तुलसी को तो साहित्य-सम्मेलन के सभापति तक महाकवि मानते थे। औरों की और जानें, निराला महाकवि, महाप्राण तथा महामानव थे। 'बाम्हन' को छोड़कर और सभी जगह वे महा के साथ थे। निराला ने ब्राह्मण को बाम्हन लिखा है।

'२९ दिसम्बर सन् '४६ के 'देशदूत' में एक विज्ञप्ति छपी जिसमें राष्ट्रीय-विद्यालय, गायघाट, बनारस की ओर से बनारस में आगामी वसन्त-पंचमी को निराला स्वर्णजयन्ती के आयोजन की घोषणा थी। यह सुसमाचार मेरे लिये बस —'सँदेसो और न दूजो कोय, हरि सो बस इतनी कह दीजौ नेकु न बिसरें मोय' —से कम नहीं था। बाद में तो निराला को न केवल साहित्यिक, वरन् घोर सामाजिक दृष्टियों से भी सम्मान-स्नेह और श्रद्धा का अधिकार सहज ही प्राप्त था। यह तो निराला की विराट्-प्रतिभा की वह मजदूरी थी जिससे इन्कार करने से स्ट्राइक का डर था। दुनिया हड़ताल से डरती है। निराला का ध्यान आया, सोचा; 'बड़े प्रसन्न होंगे'। निराला की इस पुलक का कम्पन टटोलने की इच्छा इतनी प्रबल हो उठी कि मैं उन्नाव जाने की सोचने लगा। उधर समालोचक प्रसिद्ध श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तथा पण्डित गंगाधर शास्त्री की ओर से लेखकों को निमन्त्रण बँटने लगे और लेखों तथा लेखकों की प्रस्तावित सूची भी वितरित होने लगी। जोशी जी के पास आया हुआ लिफाफा अभी तक मेरे पास सुरक्षित है। बड़ी सुन्दर योजना, विषय चुनाव, योग्यता और मनोज्ञता की परख, और

सुगठित सम्पादक मण्डल। 'मनहु रंक निधि लूटन लागे' वाला अनुभव मुझे हुआ। वसन्त-पंचमी २७ जनवरी सन् '४७ को उत्सव था।

मैंने सोचा दो-चार दिन पहले उन्नाव पहुँचूंगा और वहीं से बनारस चला जाऊँगा। इसी विचार के फलस्वरूप २४ या २५ को उन्नाव जाने की बात मन में तय कर ली, पर महादेवी जी ने कहा कि यदि निराला जी प्रयाग होते हुए बनारस जायँ तो बहुत अच्छा हो। प्रयाग निवासी भी उनका बन्दन-अभिनन्दन तथा दर्शन कर लेंगे। इसलिये तुम कुछ जल्दी चले जाओ। और भी बहुत से निराला-प्रेमी मित्रों का यही आग्रह था। मैं ता० १७ को उन्नाव के लिये चल पड़ा, लखनऊ होते हुए १८ को सुबह वहाँ पहुँच गया। इसके पहले मैंने कभी उन्नाव नहीं देखा था। वस्तुतः स्टेशन पर ही 'युग-मन्दिर' का पता पूछा, पर किसी से ठीक पता नहीं चला। मैं शहर में आया कि सामने एक होटल दिखा, रङ्ग-ढङ्ग से लगा होटल मुसलमानी है। एक सज्जन सामने बैठे हुक्का पी रहे थे। मैंने उनसे भी पता लगाने की कोशिश की और वे एक नया ही प्रश्न कर बैठे—"आखिर आप चाहते किसे हैं? क्या काम है? कभी-कभी ऐसा भी तो होता है कि किसी-किसी इन्सान का घर न जानते हुये भी हम उसको पहचानते है। मुलाकातियों में बहुतों का घर मुझे नहीं मालूम।" मैंने 'हूँ' के साथ बताया कि मुझे महाकवि निराला से मिलना है। वे हुक्के को बगल करते हुये बोले—"देखिये मैंने कहा था न? मैं निराला को जानता हूँ, वह तो यहाँ के सबसे बड़े पहलवान है, मेरी दुकान में आते-जाते हैं, गोश्त के बेहद शौकीन हैं।" मैंने कहा—"वही-वही, पर रहते कहाँ हैं?" उन्होंने बताया कि ठिकाना तो नहीं मालूम पर (इशारा करते हुए) इस गली से रोज आते-जाते हैं। रात को मुसलमान की बताई उस गली में चाहे न भी घुसता, पर दिन के कारण मेरी हिम्मत बँध गई।

प्रायः प्रत्येक सम्भ्रान्त व्यक्ति से उनका पता पूछता आगे बढ़ता गया कि एक छोटा सा प्रेस दिखा। रूप-रङ्ग और हाथों की कालिख से मैंने उसे प्रेस की मशीन का नौकर समझा और प्रश्न किया—"आप युग-मन्दिर अथवा निराला जी को जानते हैं?" वह व्यक्ति स्तब्ध हो गया, एकदम भौंचक्का और उसने भी उत्तर देने की अपेक्षा प्रश्न ही किया—"आप कहाँ से आये है?" मैं मन ही मन खीझ गया, बोला—"जो मैं पूछता हूँ उसका उत्तर न देकर आप किसी प्रश्न का उत्तर मुझसे पाने की आशा कैसे कर सकते हैं।" मेरे स्वर की झुँझलाहट से परिचित होकर उसका उत्तर अद्वितीय था—"बाबू जी आप नाराज न हों, आपने

हमें आप कहा तभी हमने समझ लिया कि आप यहाँ के नहीं, कहीं बाहर के हैं। यहाँ कुलियों को कोई आप नहीं कहता—और कोई बात नहीं। निराला जी को मैं जानता हूँ, यहीं पास रहते हैं, आइए।" मैं पीछे-पीछे चल पड़ा और 'युग-मंदिर' के फाटक से भीतर घुसा। चौगान में ही, नीम के पेड़ तले घमछाँही में निराला जी एक तख्त में बैठे थे। सर घुटा, रुई की अधबंडी और वही पुरानी लुंगी। मैंने पास पहुँच कर प्रणाम किया कि निराला जी चौंक पड़े और उठते हुए बोले—"ओहो, आइए, आइए, खूब आये, क्या समाचार हैं?" मुझे उनके 'आइए' सम्बोधन का अभ्यास नहीं था। इसलिए कुछ विचित्र सा लगा, पर मैंने उसको भुलाकर उत्तर दिया—"सब आनन्द है, आप तो किसी की खबर लेते नहीं, पत्र का उत्तर तक नहीं देते; इसलिये मैं ही चला आया।" निराला जी ने गिन-गिन कर अपने सभी मित्रों की कुशल पूछी और कहा—"मेरा स्वास्थ्य कैसा है?" मैंने कहा—"आजकल तो आप बहुत स्वस्थ हैं—प्रसन्न हैं। उन्नाव का पानी आपको बहुत लगता है।" निराला जी ने छाती पर हाथ फेरकर बताया, "कि मातृभूमि का यही महत्व होता है, यहाँ मै ठीक हो जाता हूँ।"

भगवान राम ने भी तो कहा है—अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। तब उन्नाव की तारीफ करने के लिये मैंने उस कुली का किस्सा कह सुनाया और वह निराला जी का चिरपरिचित 'नये-पत्ते' का महगू निकला। अपने प्रेस के काम से थककर वह प्रायः निराला जी के पास से सुरती खा जाता था। निराला जी ने चौधरी जी को बुलाया और मेरा परिचय कराने के बाद चाय बनवाने की आज्ञा दी। मैंने उतावली से पूछा—"निराला जी, यह तमाम अखबारों में क्या छपा था? आप तो बिलकुल ठीक हैं।" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं नहीं जानता, अखबारों में उटपटाँग, अन्ट-सन्ट सभी तो छपता है। बड़ों का नाम और छोटों को बदनाम करना ही तो इनका काम है। 'पत्रिका' में पंत की मृत्यु तक की सूचना छपी थी, गोकि पंत अब भी जीवित हैं। योंही तबियत नहीं लगी, घर से यहाँ चला आया। कोई विशेष बात नहीं है।" चाय के लिये उन्होंने फिर पुकारा!

मैंने समय देखकर फिर प्रश्न किया—"और यह जयन्ती वाली सूचना आपको तो मिली ही होगी?" निराला जी को जैसे किसी ने चिकोटी काट दी। वे कहते रहे—"मिले या न मिले। मुझे इसकी परवाह नहीं, बाजपेयी आये थे मैंने उनसे सब बातें बता दी हैं। आज हिन्दी वाले निराला की स्वर्ण-जयन्ती मनाकर क्या पागल-पूजा का प्रचार करना चाहते हैं? जब निराला को सम्मान की साध थी तब

तो किसी ने दो कौड़ी का नहीं पूछा और अब मेरे लिये यह तमाशा हास्यास्पद लगता है। वही डा० जानसन और लार्ड चेस्टर फील्ड का कथानक जो तुमने पढ़ा होगा।" 'आप' का 'तुम' में पहुँच जाना मेरे लिये निराला के स्नेह का स्वाभाविक स्वरूप था, मैं खिल गया और उनके क्षोभ का प्रतिवाद करते हुए जयन्ती की महत्ता और उसके उपयोग की सार्थकता की अपील की तथा उसमें अवश्य सम्मिलित होने की प्रार्थना भी की। उन्होंने कहा कि कुछ तय नहीं, वे जा भी सकते हैं और नहीं भी जा सकते, क्योंकि अभी तक उनके पास कोई निश्चित प्रोग्राम भी नहीं पहुँचा।

चाय आ गई। निराला ने स्वयं चाय बनाई और पिया-पिलाया। मैंने उनसे बनारस जाने के पहले प्रयाग चलने की भी बात कही और यह भी बताया कि मैं केवल उन्हें प्रयाग ले चलने के लिये ही उन्नाव तक आया हूँ। निराला जी ने बताया कि यदि बनारस जाना हो पड़ा तो उनके पास कपड़े-लत्ते नहीं हैं। योंही जावेंगे या तो साफा-अँचला और कुरता पहनेंगे। स्वामी विवेकानन्द की पोशाक या तो नंग-धड़ंग। इतना कहकर वे खड़े हो गए और बोले—"भीतर आओ, कपड़े उतार कर आराम से बैठो।" भीतर जाकर वे स्वामी विवेकानन्द के चित्र के सामने खड़े हो गये और मुझसे पूछा कि वे कपड़े-लत्ते उसी तरह पहनकर अपने वर्तमान स्वास्थ्य में विवेकानन्द लगेंगे कि नहीं? मैं सब उनके मन की कहता गया, क्योंकि वास्तव में उनका स्वास्थ्य उस समय बहुत ही अच्छा और प्रतिभा-प्रसन्न था।

सुमित्रा जी उन दिनों लखनऊ गई थीं। खाने-पीने का प्रबन्ध नौकर के हाथ था। निराला जी ने उसे बुलाकर कहा कि वह सब समान ठीक करें, वे स्वयं खाना पकायेंगे। इतने ही में ठीक शान्तिप्रिय जी की तरह लघु-लघु गात लिये भुवनेश्वर जी पहुँच गए। वे कई दिनों से निराला के मेहमान थे। उनसे मैंने निराला जी के विषय में बहुत सी बातें पूछीं। उन्होंने कहा कि निराला जैसे सब दिन थे, वैसे ही है। उनका स्वभाव कुछ चिड़चिड़ा जरूर हो गया है पर यदि उनको छेड़ा न जाय तो वे बिलकुल 'नार्मल' रहते हैं और कभी-कभी स्वगत वार्तालाप भी करने लगते हैं, बाकी सब ठीक है।

खाना खाने के बाद निराला जी ने 'राजयोग' का अनुवाद और रामायण का खड़ी बोली-रूप सुनाया। प्रसंग सीता-स्वयंवर का था जो मुझे बहुत सुन्दर और सार्थक लगा। कुछ नये गीतों की भी रचना उन्होंने की थी, पर उन्हें सुनाने दिखाने को तैयार नहीं हुए। उनके प्रयाग आने की सम्भावना नहीं थी, वस्तुतः

मैं शाम को ही चलने को तैयार हो गया, पर निराला जी ने रात की गाड़ी से जाने की बात तय की और कहने लगे—"घर से कोसा का साफा मंगवाया है, शायद शाम तक आदमी वापस आ जाय। देखकर जाओ। तुम तो रियासती हो साफा बाँधना भी जानते होगे, सिखाकर जाना।" मुझे उनकी बात माननी ही थी, पर चौधरी साहब ने भी रुकने का आग्रह किया और रात को ९ बजे की गाड़ी से लखनऊ तक साथ चलने का वचन दिया। शाम होते ही निराला के गण इकट्ठा होने लगे। कोई कवि, कोई वादक और कोई कसरती, तो कोई गायक। निश्चय ही संपादक कोई नहीं। कविता-पाठ और गाना, दोनों का आयोजन रहा। निराला जी से बराबर जयन्ती में सम्मिलित होने और प्रयाग होकर बनारस जाने की करबद्ध प्रार्थना करके मैं वापस चला आया।

आते समय निराला जी फाटक तक आये और कहने लगे—"पांड़े बुरा न मानना। कपड़े, जूते कोई सामान नहीं है वरना तुम्हारे साथ चलता। बाद में आऊँगा। तब तक साहित्यकार-संसद का भवन भी खरीद लिया जावेगा। वहीं रहना होगा। महादेवी जी को मेरा प्रणाम देना और कहना कि वे भी बनारस अवश्य आवें। मैं जाने न जाने की सूचना दूँगा। अगर जाना है तो कानपुर होकर जाना होगा, क्योंकि वहाँ कपड़ों का प्रबंध करना होगा। फिर बनारस के बाद प्रयाग अवश्य आऊँगा।"

प्रयाग लौटकर मैं निराला की सूचना की प्रतीक्षा ही करता रहा। सुनने में आया कि वे कानपुर होते हुए बनारस पहुँच भी गए। मैंने भी २६ की रात को बनारस जाने की ठान ली। नवयुवक कथाकार श्री ओंकार शरद भी साथ चलने को तैयार हो गए। 'एक से दो भले' का मुझे बोध हुआ। श्रद्धा-साम्य से समाजी बनकर हम लोग बनारस पहुँचे। सब दिन लेट पहुँचने वाली गाड़ी उस दिन ठीक समय से पहुँची। उत्सव नागरी-प्रचारिणी-सभा भवन के कम्पाउन्ड में होने वाला था। खोजते हुए पहुँचे, क्योंकि अनेक बार बनारस जा कर भी यह शुभ स्थान हम दोनों में से किसी ने नहीं देखा था। सामने पीतल के बोल्ड लेटर में, अंग्रेजी में लिखा था—NAGRI प्रचारिणी सभा—मुझे पढ़ने में क्षण भर दिक्कत हुई तब तक शरद ने कह दिया—"यही तो है, वह देखिए साइन-बोर्ड लगा है।" घुस पड़े। एक विशाल शामियाना के पूर्वी भाग में—'सब मंचन ते मंच इक सुन्दर विशद विशाल' बना हुआ था। केला के खम्भे और रसाल पत्र के बन्दनवार। बैठने की खासी अच्छी सुविधा। निराला जी अभी नहीं आए थे। थोड़ी देर बाद वे अपने दल-बल के साथ पधारे—धीर-पद-मंद-गति मंच पर आरूढ़

होते निराला ने इधर-उधर 'वीक्षण-अराल' के जीवन-स्वर भरे छन्द-तालों का पात किया, क्योंकि बैठकर भी वे किसी को खोज से रहे थे।

बासंती साफा निराला के सिर की ऊँचाई पर मुकुट से कम नहीं फब रहा था। लहराता हुआ कौशेय उपन्ना (उत्तरीय) विजय-ध्वज की स्पर्धा कर रहा था। सामने फूलदान; रंग-बिरंगे सुगंधित फूलों से फूला हुआ, समस्त वातावरण दिव्य और श्रद्धालु। ठीक वैसा ही जैसा महात्मा जी के यहाँ निराला जी को लगा था। उन्होंने 'गाँधी जी से बातचीत' में लिखा है—

'मैं बँगले के बीच वाले कमरे में एक कोच पर बैठा प्रतीक्षा कर रहा था। तब मेरे बाल बड़े-बड़े थे, कवि की वेश-भूषा। वायुमंडल, मनोमंडल, वदनमंडल, भावमंडल मुझे बड़ा अच्छा लगा।'

फिर वही वातावरण, किन्तु निराला की वेष-भूषा आज एक विजयी की पोशाक थी। निराला ने कहा था—"बहुत दिनों बाद आज कम्प्लीट ड्रेस किया है।" धोती, रेशमी कुरता, उपन्ना, साफा, पूरी सरदारी शान। हम लोग निराला के ठीक सामने, पर दूर चुपचाप जा जमे। मंच पर बैठे महान मनीषी का जी भर-भरकर दर्शन लाभ करने लगे। उसकी भाव-भंगी को देखने में चकोर की तरह चुस्त और शरद बगल में। अमृतराय भी पास खिसक आए। डा० ब्रजमोहन गुप्त ने अपने पास बुलाया। सब पास बैठे। कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने निराला की लिखी सरस्वती-वन्दना की—'वर दे, वीणा वादिन वर दे'—की झंकार से सबके हृदय झंकृत हो उठे।

स्वागताध्यक्ष श्री द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र; मिनिस्टर मध्य प्रदेश उद्घोषित किए गये थे, पर सम्भवतः 'आफिशल' कार्यों से उनको आने का अवकाश नहीं मिला, आचार्य नरेन्द्रदेव ने यह कार्य सम्पादित किया। उनका भाषण बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। यहाँ पर यह बता देना अनुचित न होगा कि अपनी विख्यात पुस्तक 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने जिन कलाकारों को स्थान दिया है उनमें से वहाँ एक भी उपस्थित नहीं था। यों भी उपस्थिति बहुत कम ही थी। प्रोग्राम की नामावली में माननीय मिनिस्टरों का आधिक्य इस साहित्यिक सुअवसर को राजनीतिक दबाव से बाझिल सा बना रहा था। आचार्य जो ने कह भी डाला—"साहित्यिकों के भीतर राजनीतिक व्यक्तियों का आतंक आज भी देखकर आश्चर्य होता है। निराला का पूजन-बन्दन और अभिनन्दन साहित्यकारों की शोभा है। निराला को सुख-संतोष भी अपने साहित्यिक साथियों के सम्मान-स्नेह से अधिक होगा न कि राजनीतिक नेताओं के

शब्दाडम्बर से।" उन्होंने और भी बहुत सी मार्मिक बातें कह कर निराला का स्वागत किया।

मुझे भी मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, पंतजी, जोशीजी आदि की अनुपस्थिति बहुत ही ज्यादा खटक रही थी। उल्लेखनीय कलाकारों में केवल श्री 'दिनकर' और श्री सुभद्राकुमारी चौहान उपस्थित थीं। मेरा आशय यह नहीं कि वहाँ के बाकी उपस्थित कलाकार जिनके नाम 'देशदूत' में कुँवर चन्द्र-प्रकाश सिंह ने गिनाये हैं, अपना महत्व नहीं रखते, पर यह भी ठीक है कि निराला के समकक्ष साहित्यिक साथियों का वहाँ नितान्त अभाव था। किसी ने कहा—बाजपेयी जी ने किसी को ठीक से निमंत्रित ही नहीं किया, तो किसी ने बताया कि हिन्दी के साहित्यकार एक दूसरे के प्रति द्वेष-ईर्ष्या की भावना से इतने अधिक अभिभूत हैं कि वे एक दूसरे का सम्मान-स्वागत न स्वयं कर सकते हैं और न देख-सुन सकते हैं। कारण जो भी रहा हो किन्तु इस महान पर्व में साहित्यिकों के सहयोग की अपेक्षा असहयोग का ही आधिक्य था।

अन्त में निराला जी अपने भाषण के लिये खड़े हुए और कहा—"आप लोगों ने मेरे प्रति जिस स्नेह और सम्मान का भाव प्रदर्शित किया है उसके लिये मैं आपका हृदय से आभार मानता हूँ। मुझमें और आप लोगों में कोई अन्तर नहीं, क्योंकि दार्शनिक दृष्टिकोण से यदि आप लोग कंठ हैं तो मैं वाणी, आप प्राण हैं तो मैं गति। वस्तुतः आप मेरे और मैं आपका हूँ।" इसके बाद उन्होंने 'कुकुरमुत्ता' और एक गीत सुनाया। तत्पश्चात् थैली प्राप्त रुपयों को विभिन्न संस्थाओं को दान करके उन्होंने कहा कि हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को इत-मिनान रखना चाहिए कि कोई भी साहित्यकार उनके भेंट किए हुए रुपयों का सदुपयोग करने में कभी चूक नहीं सकता, इस बात का सब को विश्वास दिलाते हुए उन्होंने अपना अभिभाषण समाप्त किया। सभा विसर्जित हुई। हमलोग बड़ी उत्सुकता से निराला की ओर बढ़ चले। पास जाकर प्रणाम किया। वे मुस्कराते हुए बोले—'अच्छा तुम हो? आओ डेरा चलें।" शरद ने 'लहर' का प्रथम अंक देकर प्रणाम किया कि निराला ने तुरन्त कहा—"बड़ा अच्छा चित्र है पर है पुराना। आप कहाँ ठहरे हैं?" हम दोनों को साथ ही आये हुए, साथ ही ठहरे हुए जानकर वे कहने लगे—"तब क्या है? बस चलो, मुझे प्यास लगी है। प्रयाग से और कोई नहीं आया। महादेवी जी भी नहीं आईं। कैसा रहा? मुझे तो बार-बार पंत-महादेवी का स्मरण हो रहा था।" इतना कह कर वे उदास हो उठे।

निराला जी को रिक्शे में बिठाकर हम दोनों अगल-बगल होकर चलते हुए, बात करते हुए, हँसते हुए राष्ट्रभाषा विद्यालय, गायघाट पहुँचे। निराला जी ने अपने ठहरने के कमरे में पहुँच कर दीवाल पर लगे हुए शीशे के सामने खड़े होकर अपने को देखा और कहा—"विवेकानन्द भी पचास वर्ष की उम्र में ऐसे ही लगते कि नहीं ?" हम लोगों ने निराला के भीतर बैठे हुए शाश्वत-शिशु को दुलराते हुए कहा—"इसमें क्या शक है, आज तो आप विवेकानन्द से बढ़कर जँच रहे हैं।" निराला की आँखों में अविश्वास का भाव नहीं आया। वे तख्त पर बैठकर कपड़े उतारने लगे। कपड़े उतारने के बाद ही उन्होंने कहा कि कागज-कलम दो तो महादेवी जी को एक पत्र लिख दूँ, तब खाना खाने चलें। उन्होंने देवी जो को पत्र लिखा, जो इस प्रकार था।—

"पाँड़े आए हैं। खुश हैं। आप न आ सकीं। वापस जाते समय, हो सका तो प्रयाग आऊँगा। २००० रुपये साहित्यकार संसद के लिए भी मैंने दिये हैं। दो-तीन दिन बाद आपको मिल जायेंगे। मैं प्रसन्न हूँ।"

निराला को भोजन कराने के बाद हम लोगों ने उनसे विदा ली। जयन्ती समारोह का अयोजन-संयोजन कुछ इस प्रकार ढीला और अव्यवस्थित था कि देखकर कष्ट होता था। पग-पग पर कुछ ऐसी घटनायें घट रही थीं जो साहित्यिक सहृदयता की सीमा से बाहर थीं। इसलिए हमलोग उसी दिन रात की गाड़ी से वापस चले आए। जलसा दो-तीन दिन तक चलता रहा। बनारस से लौटकर निराला जी प्रयाग नहीं आए, सुना कि उन्नाव वापस चले गए। जयन्ती की कार्यवाही को लेकर पत्रों में वाद-विवाद भी चला, किन्तु बाद के सुझावों और परामर्शों का मूल्य-महत्व ही क्या ? इस कार्य के संगठन और सम्पादन में चाहे कर्त्ता-धरता महोदयों की जो भी अक्षमता रही हो, पर यह भी घोर सत्य है कि हिन्दी-सेवी-संसार ने उत्साह के साथ सामूहिक रूप से, इसमें सहयोग नहीं दिया। इस विषय की एक घटना चिरस्मरणीय रहेगी।

जयन्ती के अवसर पर श्री निराला जी को अभिनन्दन ग्रंथ नहीं भेंट किया जा सका, छप नहीं सका था; यद्यपि उसके सभी साधनों का संकलन हो चुका था। जिस समय एक थाल में रखे कुछ लिखित पन्नों की भेंट निराला जी को दी जा रही थी उस समय वे जिस व्यंग-व्यथामयी मुस्कान में अपने हृदयगत भावों को स्पष्ट कर रहे थे, वह बहुत ही अर्थवाही और विचारोन्मेषक थी। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि अभिनन्दन ग्रंथ के संपादकों में से 'अंचल' जी भी एक थे। उन्होंने अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किये जाने के ठीक बीस दिन पहले

'पारिजात' में निराला जी की एक कविता के लिये लिखा था—'बंगदर्शन में संकलित उनकी (निराला) कविता अनर्गल, बेमानी, सिलपट और भाव-शून्य है।' भला ऐसा व्यक्ति निराला का अभिनन्दन क्या कर सकता है? बहुत सम्भव है कि 'अंचल' की इस दुस्साहसिकता से क्षुब्ध होकर समर्थ और सयाने साहित्यिकों ने जयंती से अपना हाथ समेट लिया हो। सबसे बढ़कर बात यह थी कि इसी 'पारिजात' के पृष्ठों में 'अंचल' पं० रविशंकर शुक्ल और पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र जैसे मिनिस्टर महानों की स्तुति कर चुके थे, रेखाचित्र लिख चुके थे। ऐसी स्थिति में साहित्यकारों का सहयोग पाना उनके लिये सम्भव नहीं था, पर 'अंचल' का तो उद्देश्य हो कुछ और था जिसकी पूर्ति अभी तो नहीं हो पायी थी किन्तु भविष्य के लिए वे आशा लगाये थे, इसमें सन्देह नहीं।

निराला स्वर्ण-जयन्ती प्रायः समस्त हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में बड़े धूम-धाम मनाई गई। प्रयाग, बनारस, कानपुर, लखनऊ, दिल्ली, मेरठ में तो हफ्तों तक लोगों ने निराला के साहित्य का पाठ और प्रचार किया। बाम्बे और कलकत्ता में भी उत्सव मनाया गया। 'नया-साहित्य' ने अपना 'निराला अंक' भी निकाला। हिन्दी के और पत्रों ने यद्यपि ऐसा कुछ नहीं किया, पर जनता का उत्साह और उनकी निराला विषयक श्रद्धा की हिलोर सारे देश में लहरा उठी। जो निराला अस्पष्टता और दुरूहता का प्रतीक करार दिया जाता था, सबके गले का हार बन बैठा। आधुनिक कवियों में सबसे अधिक कविताएँ उन पर लिखी गईं, जिनमें पं० माखनलाल चतुर्वेदी लिखित कविता बहुत ही उच्च-कोटि की बन पड़ी है। निराला की काव्य-प्रतिभा को 'नई-नई सूझों की रानी' कह कर उन्होंने जिस उदारता और सहृदयता का परिचय दिया वह निराला की सूझों के प्रति स्नेह-सम्मान प्रकट करने के साथ स्वयं चतुर्वेदी जी की सूझ की साक्षी है। प्रसाद जी ने भी लिखा है—'उनमें केवल पिक की पंचम पुकार ही नहीं, कनेरी की सी एक ही मीठी तान नहीं; अपितु उनकी 'गीतिका' में सब स्वरों का समारोह है। 'गीतिका' हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखायें पुष्ट वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यञ्जना मूर्तिमती है। आलम्बन के प्रतीक, उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे जिन्होंने यह नहीं समझा कि रहस्यमयी अनुभूति; युग के अनुसार अपने लिये विभिन्न आधार चुना करती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदण्ड नहीं है। निराला जी ने नृम्ण और ओज, सौन्दर्य-भावना और कोमल-कल्पना

का जो माधुर्यमय संकलन किया है, वह उनको कविता में शक्ति-साधना का उज्ज्वल परिचायक है।'

वास्तव में यदि नवीन प्रयोगों और मनोवृत्तियों के नवीन उद्घाटनों तथा भावों के नवीन उत्कर्षों को जीवन के विकास और उसकी विविधता का परिचायक माना जाय तो निराला का सारा साहित्य बहुत सजीव एवं प्राण-प्रवेग-पूर्ण और स्वस्थ तथा सम्पन्न है। नया पथ निर्माण करने वाले उद्दाम जल-प्रपात की तरह उनका काव्य गतिशील होता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचने में अटूट और अडिग रहा। मानव-हृदय की एकता के आधार पर अपनी संवेदना के जिन रंगों और अनुभूति की तूलिका से निराला ने जो चित्र सजाये हैं वे केवल इसी युग के नहीं वरन् युग-युगों तक साहित्य के प्रासाद में सुशोभित और सम्मानित रहेंगे, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। स्वाभाविक और सहज जीवन के तादात्म्य के कारण निराला के काव्य में विस्तार और विविधता का बहुत ही व्यापक रूप सामने आता है। महादेवी के शब्दों में—'उसमें पौराणिक गाथाएँ बोलती हैं और साधारण दृष्टान्त-कथाएँ मुखर हैं। अतीत का गौरव गाता है और वर्तमान विकृतियों के स्वर का क्रन्दन मँडराता है। कृषक श्रमजीवी आदि का श्रम निमन्त्रण देता है और आर्त नारी की व्यथा पुकारती है। शापमुक्त पाषणी के समान परम्परागत जड़ता से छुटी हुई प्रकृति सब को अपने जीवित होने की सूचना देने को भटकती है और भारतीयता से प्रसाधित जातीयता उदात्त-अनुदात्त स्वरों में अलख जगाती है। नवीनता-प्राचीनता के मापदण्ड से काव्य की उत्कृष्टता परखने वालों को यह स्मरण रखना होगा कि—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढ़ः परप्रत्यग्यनेयबुद्धिः !

अतीत और वर्तमान के सम्बन्ध में निराला की इस युक्ति में केवल सरल सौन्दर्य ही नहीं, मार्मिक सत्य भी अन्तर्लीन है—

शिशु पाते हैं माताओं के
वक्षःस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के
अधरों पर अपनी मुस्कान ?

इसी प्रकार राष्ट्रीयता में भी निराला ने बाहर की स्थूल रेखाओं से अधिक जीवन का स्पंन्दन भरने की चेष्टा की है, उनकी राष्ट्रीयता भी अन्य भावनाओं के अनुसार एक विराट-भाव-रूप समष्टि में प्रतिष्ठापित है जिससे देश विशेष की

भौगोलिक सीमा के वर्णन से अधिक उसके सुख-स्वास्थ्य की आकांक्षा ही उभर कर सामने आती है। निराला ने लिखा है—

दीर्घता देह देश की छोड़
मिथ्या अपनापन, मुंह मरोड़,
केवल चेतन तू जहाँ, वहीं
मेरा-तेरा-तन-मन-धन-जन !

और—

है चेतन का आभास
जिसे, देखा भी उसने कभी किसी को दास ?
नहीं चाहिए ज्ञान जिसे, वह समझा कभी प्रकाश ?

अस्तु निराला के ही काव्याध्ययन में नहीं वरन् समस्त साहित्य के पठन-पाठन और उसके परीक्षण-निरीक्षण में यह स्मरण रखना होगा कि—

'जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं—एक तो वाह्य अनुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे, अन्तर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामञ्जस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे। अन्तर्जगत् में प्रेरणा बनने वाले साधनों की स्थिति, उस बीज के सामान है जिसे मिट्टी को, रंग-रूप-रस आदि में व्यक्त होने की सुविधा देने के लिये स्वयं उसके अंधकार में समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पड़ता है।

विधि-निषेध की दृष्टि से महान् कलाकार के पास उतना भी अधिकार नहीं जितना चौराहे पर खड़े सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता न उपदेश। वास्तव में कलाकार तो जीवन का ऐसा संगी है जो अपनी आत्म-कहानी में, हृदय-हृदय की कथा कहता है और स्वयं चलकर पग-पग के लिये पथ प्रशस्त करता है।

निराला का यह गीत सर्व कल्याणी स्फूर्ति की ऐसी ही भावना से ओत-प्रोत है—

वर दे वीणावादिन वर दे !
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र-नव
भारत में भर दे !
काट अंध-उर के बंधन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;

कलुष-भेद तम-हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे।
नवगति, नवलय, ताल छंद नव,
नवल कंठ नव जलद-मंद्र रव;
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर नव स्वर दे।

'निराला हिन्दी का एक अकेला कवि है जो अपने क्रैफ़्ट (कवि-कर्म) के प्रति अत्यन्त सचेतन रूप से प्रामाणिक रहा है और साथ ही जिसने युग के बदलते हुए मूल्य को भी सहेजा है—किताबों की मारफत नहीं, मगर जीवन के कड़ुए अनुभव से। उसकी स्याही की बूंद, उसके अपने खून और पसीने की है; वह निरे खारे, बेअसर आँसुओं की फीकी-फीकी रौशनाई नहीं। वास्तव में इतना महान कवि हिन्दी में बहुत दिनों के पश्चात् पैदा हुआ है जो अपने यशःकाय से दीर्घकाल तक जीवित रहकर आगे आने वाले कवियों—कलाकारों को प्रेरणा देता हुआ उनकी साधना का साथी बना रहेगा।' निराला के निकट परिचय से मैंने यह अच्छी प्रकार समझ लिया था कि उनका हृदय सहानुभूतिमय और मस्तिष्क विवेकमय तथा उनका स्वभाव स्नेहमय है। और बदले में उन्होंने आघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाया, वे सदा मजदूरी के ही टुकड़े तोड़ते हुए अपना जीवन निर्वाह करते रहे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस देश के पूँजीपतियों का लगाव यहाँ के राजनीतिकों, नेताओं से है और इसके लिए निराला ने नेताओं को भी कोसा है—

महगू ने कहा, हाँ कम्पू में किरिया के
गोली जो लगी थी,
उसका कारण पंडित जी का (नेता का) शार्गिद है;
रामदास को कांग्रेसमैन बनाने वाला,
जो मिल का मालिक है।
यहाँ भी वह जमींदार बाजू से लगा ही है।
कहते हैं, इनके रुपये से ये चलते हैं,
कभी-कभी लाखों पर हाथ साफ करते हैं।

इस प्रकार निराला को जीवन की इस विषम स्थिति में—

बैर यह बाधाओं से अंध
प्रगति में दुर्गति का प्रतिबंध।

पग-पग पर सहना पड़ा है। ऐसे विरोध कलाकार के लिए बहुत कठिन और दुस्साध्य होते हैं। पर निराला को यह दृढ़ निश्वास था कि उनका रास्ता ठीक है और वे बराबर विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए गतिशील रहेंगे। जैसे वे यह गुनगुनाते बढ़ते रहे हों—

बढ़ चलेंगे पैर डगमग
लक्ष्य तक चलना निरन्तर,
हो न चाहे शक्ति बाहर
किन्तु निर्बल है न अन्तर।

इतना ठोस और इतना साहसी शायद ही कभी किसी कवि का जीवन रहा हो। अपने आदर्शों से एक तिल भी पीछे हटना अपने विश्वासों से पल भर विचलित होना तो निराला ने जैसे कभी जाना ही नहीं। अपने जीवन सम्बन्धी सत्यों की अनुभूति में वे निरन्तर अटल रहे और जिसको सत्य समझा उसका डंके की चोट पर समर्थन किया। निराला को पढकर, देखकर ऐसा लगता है यह एक नवीन शक्ति थी जो पुरातन पृथ्वी पर मुक्त रूप से विचरण करती थी। आज तो जनता भी इस शक्ति से परिचित हो चुकी है, किन्तु जब पहली बार लोगों ने मनुष्य की मुक्ति का यह जयशंख सुना था तब किसी ने अपने कान मूंद लिए, किसी ने इसको नष्ट ही कर देना चाहा, किसी ने इसकी निंदा की और कुछ ने उसको पहचाना भी। अब वह समय नहीं रहा। सब लोग जान गए हैं कि निराला ने युग-युग से पीड़ित सामान्य मानवता की मुक्ति का ही प्रयास किया था। इसके लिए उन्हे अत्याचार और शोषण के विरुद्ध व्यक्तिगत लोहा लेना पड़ा। पुराने खयालों पर कुठाराघात करना पड़ा और लोगों के मस्तिष्क में जो सड़ा कूड़ा-कर्कट भरा पड़ा था उसे दूर फेंकना पड़ा, तब कहीं जाकर आज सामान्य मानवता में जागरण की अँगड़ाई आई है। आज साहित्य मे युग-धर्म की और निराला के युग-प्रवर्तक होने की विजय-पताका फहराने लगी है।

'बेला' और 'नये पत्ते' के प्रकाशन में प्रथम बार प्रकाशक ने निराला से कोई अपने मन की शर्त नहीं रखी। निराला ने कहा था—"पहली बार प्रकाशक ने मेरी कविताओं को ज्यों की त्यों छापने की इच्छा प्रकट की है, अपने मन की तूल-तवील नहीं पेश की, रुपया भी एडवान्स दे दिया।" मैंने आश्चर्य के साथ पूछा—"निराला जी क्या अब भी आपको प्रकाशकों की कमी है?" निराला

जी ने थोड़ी देर चुप लगाकर, जैसे कुछ सोच कर उत्तर दिया—"अब भी का क्या मतलब ? मेरी पुस्तकें आज भी कोर्स में नहीं चलतीं, पुरस्कृत नहीं हुई, लोग नहीं समझते, और इस दृष्टिकोण से प्रकाशक के लिये उसका कोई बड़ा महत्त्व नहीं। यों धीरे-धीरे कुछ लोग मेरी रचनाओं की तारीफ भी करने लगे हैं, पर वातावरण में एक गलतफहमी भी चल ही रही है।"

सम्पादकों और प्रकाशकों ने भी निराला के साथ कभी कोई सहानुभूति नहीं दिखलाई। उनके खून से लिखी कृतियों को कौड़ी मोल पर खरीदने की ही चेष्टा की। निराला की आर्थिक विपन्नता का सबसे अधिक लाभ प्रकाशकों ने ही उठाया। निराला प्रकाशकों के शोषण का ज्वलंत प्रतीक है। प्रकाशकों में से अधिकतर पूंजीवादी व्यापारी है, उन्हें साहित्य और समाज के पहले अपनी पूंजी—पैसे का ध्यान रहता है। एक प्रकाशक महोदय ने मेरे सामने निराला से कहा था—"साहित्य की चीजें बहुत कम बिकती हैं, पर हम आपकी रचनाएँ लाभ के लिये नहीं वरन् साहित्य के प्रचार के उद्देश्य से छाप सकते है।" निराला ने इसका उत्तर अट्टहास मे दिया और मेरी ओर देखने लगे। प्रायः प्रकाशक ऐसे ही उद्धारक बनते हैं और लाभ का पन्द्रह आना अपने पास रखकर लेखक को एक आना देने में भी नाक-भौं सिकोड़ते हैं। लेखकों का सम्मान करना भी वे नहीं जानते। बड़े से बड़े कलाकर से ऐसी बातें करते हैं जैसे वह उनके प्रेस का कोई नौकर मात्र हो।

निराला की बहुत सी रचनाएँ—'मतवाला' 'समन्वय' काल की अब भी अप्रकाशित पड़ी हैं। उनके दार्शनिक निबंधों का एक संग्रह तो कलकत्ते के एक प्रकाशक महोदय ने हजम ही कर लिया। उन्हें बराबर नये-नये प्रकाशक तलाशने पड़े, क्योंकि प्रत्येक के दुर्व्यव्यवहार से वे ऊब जाते थे। इसका इलाज कचहरी-कानून से हो सकता था। पर निराला ने इसे उचित नहीं समझा। सन् '१६ से बराबर कविता लिखते रहने पर भी निराला का प्रथम व्यवस्थित काव्य-संग्रह सन् '२९ में ही निकल सका, वह भी बहुत ही साधारण रूप में। आज के किसी भी बुद्धू-कवि की पुस्तक निराला की रचनाओं से कहीं अधिक ठाट-बाट के साथ प्रकाशित होती है। पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों और प्रकाशकों ने निराला को उनकी कविताओं के प्रति सदैव निरुत्साहित ही किया और छापने को उनके ऊपर बड़ी मेहरबानी के ही रूप में प्रदर्शित किया था। इसका मुख्य कारण निराला का पूंजीवादियों के खिलाफ बगावत ही था। बहुत से पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय निराला ने बहुत ही सस्ते दामों पर लिखा था और उसके यश के भागी सम्पन्न

सम्पादक-गण बने। पूंजीपतियों को प्रकाशक के साथ सम्पादक बनने का भी शौक रहा है और है भी। इन्डियन प्रेस के मालिक और 'यहूदी-प्रकाशक' श्री हरिकेशव घोष ने 'सरस्वती' का प्रधान संपादक अपने को बनाया था, इसी तरह के अन्य अनेक उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं।

रॉयलिटी के हिसाब-किताब में प्रकाशकों का जो रुख लेखकों के प्रति रहता है वह किसी से छिपा नहीं, पर सबसे अधिक पीड़ा पहुँचाने वाली बात उनका लेखकों के प्रति व्यवहार है। कोई भी प्रकाशक ऐसा नहीं जो लेखक से बराबरी के नाते से मिलता हो। उनमें से प्रत्येक अपने को केवल साहित्य-निर्माता ही नहीं वरन् लेखक-निर्माता भी मानता है! केवल लेखनी के बल पर जीने वाले निराला की विवशता का जितना निर्भय दुर्प्रयोग प्रकाशकों और संपादकों ने किया उतना किसी सूदखोर ने अपने ऋणी से भी न किया होगा। 'सफलता' कहानी में निराला ने ऐसे ही प्रकाशकों का मार्मिक चित्रण किया है। लेखकों की कृतियों का कापीराइट हड़पने के साथ-साथ उन्हें लांछित और अपमानित करने का श्रेय प्रकाशकों को ही मिलना चाहिए।

इन समस्त कठिनाइयों के बीच मे रहते हुए भी निराला ने अपनी मनुष्यता और अपनी कला का खर्ब नहीं होने दिया। क्षोभ-रहित सृजन में वे अकेले थे। अपने युग की स्वार्थपूर्ण परिस्थिति का सामना करते हुए उससे ऊपर उठने की चेष्टा में वे कभी पीछे नहीं हटे। शरीर के लिए आत्मा को नहीं बेंचा और भूखे रहकर भी अपनी आन पर अड़े रहने में उनके साथ किसी दूसरे का नाम नहीं लिया जा सकता, यह सभी जानते हैं। चतुर्दिक ठगी, धूर्तता और कटुता के मध्य अपनी आत्मा के सत्य को प्रकाशित करने की अटूट क्षमता को सँभाले रहना निराला की बहुत बड़ी शक्ति और सफलता का अद्वितीय उदाहरण है। निराला प्रायः कहा करते थे—'पाप और दुख का भाव मनुष्य की जीवात्मा के मूल में ही धँसा हुआ है उसके कारण हताश होना, ग्लानि करना मूर्खता है। दूसरों के कुकृत्यों का हिसाब लगाने की अपेक्षा अपने सुकृत्यों की संख्या बढ़ाना ही श्रेयस्कर है।' वास्तव में निराला ने यही किया है। जीवन के समस्त ताप-संताप और दुखों को निर्विकार भाव से सहन करते हुए अपने भीतर की स्निग्ध करुणा और मधुर आनन्द का स्रोत उन्होंने साहित्य में बहाया और समस्त मानवीय तथा प्राकृतिक जटिलताओं के भीतर से एक अपूर्व सामञ्जस्य का सन्देश दिया। किसी ने ठीक ही कहा है—

Errors like straws upon the surface flow

He who would search for pearls must dive below.

निराला ने जीवन की गहराई में गोता लगाकर अपने जीवन और सृजन के उदाहरण से सिद्ध कर दिया कि कलाकार तथा कला का उद्देश्य राजनीतिक तथा सामाजिक रूढ़ियों का प्रचार नहीं बल्कि मानव-मस्तिष्क के सौंदर्य मूलक तथा मनोवैज्ञानिक एवं रसावेग और सामूहिक सामञ्जस्य की सामान्य आवश्यकताओं की प्रोत्साहनमयी पूर्ति है। यही कारण है कि कला को मूल सत्ता में जो सत्य निहित है, उसके दबाने की अनेक चेष्टाएँ करने पर भी वह बार-बार व्यक्त होकर अपने को प्रतिष्ठत करता रहता है। कलात्मक प्रवाह को सिद्धान्त और राजनीति की बालू से बाँधने वाले अन्त में निश्चय ही परास्त होंगे, यह निर्विवाद है। मानवात्मा की परम सत्य और अन्तरतम आकांक्षा से उद्भूत साहित्य के बाँधने और घसीटने का प्रयास व्यर्थ ही नहीं वरन् शठतापूर्ण भी है, इसे स्मरण रखना होगा। प्रत्येक मनुष्य के भीतर भाव तथा रसावेगमयी प्रवृत्तियाँ अन्तर्निहित होती है। उनकी इन प्रवृत्तियों को कला के सब रूपों, सब रसों एवं सब रागों द्वारा चित्रण करके उन्हें परितृप्त करना ही कलाकार का परम कर्तव्य है। निराला जी इस कार्य में कृतकृत्य हैं, कलाकार हैं। निराला के लिए श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के ये शब्द कितने सटीक लगते हैं—

आनन्द, इन्दु-रस-बिन्दु अमर
जिसका गिरि-उर-भेदक निर्झर—
क्षिति का ही-तल शीतल करता लोचन जल;
जिसकी भाषा घन, सिंहनाद,
उच्छल-प्रतिभा-यौवनोन्माद,
उन्मुक्त भाव जिसके निनाद-से कल-कल !
सेवा-व्रत-हत-पार्थि-प्रमोद,
हिन्दी मन्दिर के मूर्त मोद,
साहित्य-सरस-अच्छोद कमल की माला,
चिर आत्माराम, अगाध-मेघ,
सारस्वत सित-शरशब्द-वेध
अविराम-सिद्ध वह नाम प्रसिद्ध निराला !

अन्त में यह बता देना अनुचित न होगा कि इस जीवन-वृत्त में मैंने निराला का जीवन-चरित लिखने की कोशिश नहीं की वरन् कवि निराला के जीवन और स्वभाव की वे घटनाएँ जो उनके साहित्यिक विकास में सहायक हुई हैं, उनको

आगे बढ़ाने में अपना प्रभाव रखती हैं, उन्हीं का उल्लेख मैंने किया है। मानव-हृदय के समीप कवि की पहुँच ही मेरा मुख्य विषय रही है, उसका दैनिक जीवन नहीं। कवि जिस प्रकार अपने काव्य का निर्माण करता है उसी प्रकार अपने जीवन-चरित की रचना उसके लिए अनिवार्य नहीं होती, क्योंकि काव्य की अपेक्षा जीवन कम प्रशस्त होता है, भाव और वस्तु की स्थिति में यही अन्तर है।

प्राचीन भारत के किसी भी कवि का जीवन चरित नहीं मिलता। आज भी अपनी जीवनी लिखने को राजनीतिज्ञों की तरह कवि उत्सुक नहीं, कारण उसका काव्य ही उसका जीवन-कर्म होता है। काव्य की जड़ एक महान आन्तरिक आवेग का परिणाम है, उसे एक अलौकिक तथा आकस्मिक आविर्भाव भी कहा जा सकता है। आदि कवि वाल्मीकि और कलिदास की जीवन-विषयक प्रचलित कहानियों के भीतर उनके महाकवि का आविर्भूत होना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि एक डाकू और एक स्त्री की हँसी का पात्र अपने आन्तरिक उद्वेग से कवित्व का स्वामी बन सकता है। वाल्मीकि अथवा कालिदास का प्रतिदिन का चरित्र 'रामायण' और 'शकुन्तला' के साथ तुलनीय नहीं, क्योंकि उनकी ये कृतियाँ अजर-अमर हैं जब कि उनका जीवन समय सापेक्ष और अनित्य था। काव्य, कवि के अन्तर्गत नित्य प्रकृति की, समग्र प्रकृति की सृष्टि है; वह मनुष्य की एक अपरिमेय और अनिर्वचनीय शक्ति का विकास है। पार्थिव जीवन की क्षणिक चंचलता से उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती, निराला का काव्य भी ऐसा ही है। मैंने ज्यों-ज्यों निराला को उनके निकट से देखा त्यों-त्यों उनके जीवन के साथ उनकी रचना का, साहित्य-सृजन का, सम्बन्ध मेरे ऊपर अधिक प्रबल होता गया और उनका दैनिक जीवन पीछे छूटता गया। निराला की इस भाव-सृष्टि की स्वाभाविकता की ओर सब का ध्यान आकर्षित करने का ही प्रयत्न मैंने किया है।

यदि साहित्य को देश, काल और पात्र के भीतर रखकर देखा जाय तो उसका सार ही लुप्त हो जाता है, क्योंकि मनुष्य अवस्थाओं और परिस्थितियों के द्वारा संकीर्ण होते हुए भी अपनी भाव-सृष्टि में विस्तृत और व्यापक होता है। सम्भवतः इसी कारण साहित्य को विश्व-मानव की भाषा कहा गया और साहित्यकार को विश्वमानव ! निराला के जीवन में संकीर्णताएँ और असंगतियाँ भी हो सकती हैं, हैं भी, किन्तु उनके भीतर जो कुछ महान और नित्य है, जिसको वे अपने जीवन में चरितार्थ नहीं कर सकते, वही उनके साहित्य के द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। साहित्य की सीमा में द्वन्द्वभेद नष्ट होकर केवल एक समग्रता के रूप में उपस्थित होता है। सत्य और सुन्दर का यह सम्मेलन ही आनन्द की सृष्टि है

और सत्य के इसी आनन्दरूप को अनुभव करके उसे व्यक्त करना ही काव्य का चरम लक्ष्य है।

'सत्य पदार्थों की स्थिति और गति का सामञ्जस्य है। सत्य कार्य-कारण परम्परा है, इस बात को बताने के लिए अन्य शास्त्र हैं, किन्तु साहित्य बतलाता है कि सत्य ही आनन्द है, सत्य ही अमृत है। साहित्य उपनिषद् के इस मंत्र की अहरहः व्याख्या कर रहा है—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'। वास्तव में यदि मनुष्य साहित्य के द्वारा समस्त हृदय-चिन्हों को व्यापक रूप में उपस्थित न करता तो यह सारा संसार बहुत ही संकीर्ण और स्वार्थी ज्ञात होता। आज आँखों देखा और कानों सुना संसार समानता और सहृदयता के सूत्र में बँधने की जो तैयारी कर रहा है उसका प्रधान कारण साहित्य ही है। हृदय विप्लव के पश्चात् राष्ट्रविप्लव की भाँति हृदय सामञ्जस्य के बाद ही राष्ट्र सामंजस्य सम्भव होता है। साहित्य सामंजस्य की ऐसी ही सम्भावनाओं का प्रेरक और प्रहरी है। अस्तु कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्यकार निराला के जीवन की अपेक्षा उनके साहित्य की ही जानकारी हमारे लिए सुखद और श्रेयस्कर है।

निराला के ये शब्द उनके जीवन के सम्बल हैं—'भारत में विचार-शुद्धि के लिए धन ही नहीं, समाज, शरीर और मन भी देना पड़ता है, तब विश्वमानवता की पहचान होती है। हमारे पीड़ित, अशिक्षित, पतित निरन्न मानवों का तभी उद्धार होगा, तभी भारत की भारती जागृत कही जायगी, तभी उसकी अपनी विशेषता सर उठायगी!' अपने इन्हीं विचारों के अनुकूल उन्होंने अपने जीवन को भी चलाया। वास्तव में वे सबसे बड़े साहित्यिक संन्यासी थे, घूमते-फिरते परिव्राजक थे। आधुनिक साहित्य में उनका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है, उनकी प्रतिभा का आज कोई दूसरा कवि नहीं, साहित्य क्षेत्र में उनकी शक्ति का साधन नहीं और अर्थ-क्षेत्र में उनके समान किसी की विपन्नता भी नहीं। पर उनके आत्म-विश्वास और उनके अप्रतिहत साहस की ये पंक्तियाँ भी अन्यत्र दुर्लभ हैं—

मैं अकेला।
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।
पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे,

चाल मेरी मन्द होती आ रही,
हट रहा मेला।
जानता हूँ नदी झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख
कोई नहीं मेला।
मैं अकेला।

और उन्होंने यह भी लिखा है—

प्रतिपद पराजित भी अप्रतिहत बढ़ता रहा
पहुँचा मैं लक्ष्य पर

वस्तुतः निराला का यह निर्भीक और साहसी जीवन-वृत्त हिन्दी साहित्य का ओज और अभिमान है।

बादल निराला के साहित्य और स्वभाव का प्रतीक है। उन्होंने एक दर्जन से अधिक कविताएँ बादलों पर लिखी हैं जिनमें कवि की प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन हुआ है। बादल की दानशीलता, आकाश में विचरण की मुक्तता, तरलता और सघनता, पानी और पत्थर दोनों की वृष्टि क्षमता आदि बादल के सभी गुण निराला के स्वभाव में सन्निहित हैं। जिस प्रकार बादल जलदान में किसी प्रकार का विभेद नहीं करता, सभी के लिए समान भाव से पानी देता है, उसी प्रकार निराला भी अपनी अभिव्यक्ति में समस्त मानवता के लिए रसदान देता है। चराचर प्रकृति के लिए बादलों का उपयोग कितना लाभप्रद होता है, कहने की आवश्यकता नहीं। फिर भी कुछ लोग बादलों की वर्षा से भी घबड़ाते हैं, भय-भीत होते हैं। कृषि का ध्यान न देकर कीचड़ मचाने का दोषारोपण करते हैं—

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया—
यह तेरी रण-तरी,
भरी आकांक्षाओं से
घन, भेरी-गर्जन से सजग, सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नव जीवन की, ऊँचा कर सिर,

ताक रहे हैं, विप्लव के बादल।
फिर-फिर।
बार बार गर्जन,
वर्षण है मूसलाधार,
हृदय थाम लेता संसार
सुन सुन घोर वज्र हुंकार।
अशनि-पात से शयति उन्नत शत शत वीर,
क्षत-विक्षत-हत अचल शरीर,
गगनस्पर्शी स्पर्धा-धीर।
हँसते हैं छोटे पौधे लघु भार—

शस्य अपार,
हिल हिल,
खिल खिल,
हाथ हिलाते,
तुझे बुलाते,
विप्लव-रव से छोटे ही हैं शोभा पाते।

अट्टालिका नहीं रे
आतङ्क भवन,
सदा पङ्क ही पर होता जल विप्लव प्लावन
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से सदा छलकता नीर,
रोग-शोक, में भी हँसता है शैशव का सुकुमार शरीर।
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष
अङ्गना-अङ्ग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं,
धनी, वज्र गर्जन से, बादल,
त्रस्त नयन मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर।
चूस लिया है उसका सार,

हाड़ मात्र ही है आधार,
ऐ जीवन के पारावार।

इस प्रकार के समान सामूहिक प्लावन और क्रान्ति के दूत बादल से घबड़ाने वाले व्यक्ति ही निराला के साहित्य से भी घबड़ाते हैं। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होती है। निराला-साहित्य का विरोध करने वाले व्यक्तियों में प्रायः सभी बादल के वज्र गर्जन से काँपने वाले धनी-मानी एवं पदवीधर तथा न्यस्त स्वार्थी रहे हैं। पर न बादल को उनकी परवाह है न निराला को, यह सभी जानते हैं। ऊपर दी गई कविता निराला ने अपने कवि-जीवन के प्रारम्भ-काल, सन् '२० में लिखी थी और तब से बराबर वे इसी समाजवादी भावधारा का प्रतिपादन करते चले आए।

कहा जाता है कि एक बार किसी फ्रान्स के राजकुमार ने सूरज की गर्मी की इसलिए निन्दा की थी कि उसके ताप से राजकुमार अपना सिगरेट जलाने में असमर्थ था। निराला-साहित्य के निन्दकों की भी यही स्थिति है। निराला के ये शब्द साहित्य और स्वयं उनके स्वभाव के परिचायक हैं—'साहित्य दायरे से छूट कर ही साहित्य है। साहित्य, वह है जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य लोक से, सीमा से, प्रान्त से, देश से, विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसीलिए वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है, लोक जो कुछ दे पड़ता है, उससे दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य मात्र का साहित्य है, भावों से, केवल भाषा का देशगत आवरण उस पर रहता है।'

देशगत भाषा के आवरण के साथ भावों की व्यापक तथा समान प्रभिष्णुता का परिचय हमें साधारण जीवन में भी मिलता है। अंग्रेज, अपने कुत्ते को अंग्रेजी में, जर्मन जर्मनी में, मुसलमान उर्दू में तथा हिन्दू हिन्दी में सिखाता और आज्ञा-पालन तथा आहार-व्यवहार का निर्देशन करता है, किन्तु कुत्ता भाषा के आवरण को भेद कर भावों की बोधगम्यता के अनुरूप इन सबों की बात समान रूप से समझ लेता है। भावों की सार्वभौम व्यापकता का यही प्रमाण है और साहित्य इन्हीं भावों की सौन्दर्यशील अभिव्यक्ति। निराला ऐसे ही उदार साहित्य का स्रष्टा है।

वास्तव में जीवन के प्रायः सभी सत्य प्रायः अनुमानात्मक और समय सापेक्ष होते हैं। पक्की सड़क पर फिसल पड़ना आकस्मिक घटना हो सकती है, पर इसकी कल्पना पहले से करना स्वाभाविक नहीं कहा जायगा। शायद इसीलिए

जीवन का अन्तिम सत्य अप्राप्य ही रहेगा। इस विचार से यह मानना ही उचित है कि सत्य की सत्ता अधिक से अधिक उदार तथा व्यापक होनी चाहिए। साहित्य, कला, विज्ञान, धर्म, राजनीति तथा अध्यात्म किसी का भी सत्य जो वर्ग, समाज अथवा देश-विदेश से बँधा हुआ है, उसका महत्व उतना नहीं होगा जितना सार्वभौम और सार्वजनीन सत्य का। धर्म, राजनीति और विज्ञान के चरम उद्घाटनों में सत्यों का विनाशकारी रूप संसार के सामने प्रत्यक्ष है, पर किसी भी साहित्यिक सत्यों का ऐसा स्वरूप अभी तक सामने नहीं आया, क्योंकि उसका आकलन और आवेदन कल्याणकारी होता है और उसका क्षेत्र समस्त मानवता होती है। साहित्यकार स्वार्थी न होकर उनमें होता है जो अपने शोक भी श्लोक बना देता है। शेलो ने कितना मर्मपूर्ण लिखा है—

They learn in suffering what they teach us in song.

निराला ने भी यही किया, किन्तु कवि भी तो आखिर मनुष्य होता है, उसके पास भी हाड़-माँस का बना शरीर और भावग्राही हृदय होता है। कभी-कभी व्यर्थ के विरोधों से खीझ उठना भी उसके लिए स्वाभाविक कहा जायगा और मन मे संशय का उदय हो आना भी असम्भव नहीं। 'राम की शक्ति-पूजा' में निराला ने लिखा है कि रावण-पूजित आसुरी शक्ति के बल से राम क्षण भर को शंकाकुल होकर दुखी तथा खिन्न हो जाते हैं और कह उठते हैं—

देखा, है महाशक्ति (आसुरी) रावण को लिए अंक,
लांच्छन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक;
हत मंत्र-पूत शर सम्वृत करती बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार।

तब जाम्बवान के बताने के अनुसार राम ने भी 'शक्ति की मौलिक कल्पना' की और उसके पूजन में व्यस्त हुए। पूजा के अन्तिम दिन में शक्ति, परीक्षा के लिए अन्तिम कमल को उठा ले गई और राम ने जब कमल उठाना चाहा तब वह उनके हाथ न लगा। राम के दोनों नेत्र भर आए और उन्होंने सोचा—निराला को भी कई बार ऐसा सोचना पड़ा है—

'धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध।
जानकी! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका'।
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;

जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति हतचेतन
राम में जगी स्मृति हुए सजग या भावप्रवन !

कहना न होगा कि निराला का विरोध और उनकी साहित्यक कल्याणकारी शोध अपने में अनन्य है। उनकी प्रिया (पत्नी) की मृत्यु भी इन्हीं विषम-विकट तथा विपन्न परिस्थितियों में हुई, पर निराला के सजग बुद्धिवादी मन ने कभी हार नहीं मानी। छायावादी कवियों में निराला ने हृदय के साथ साहित्य को बुद्धि का संबल दिया। उनके साहित्य में भावुकता के साथ भावज्ञता का भी सहयोग पाया जाता है। निराला के 'बुद्धि-दुर्ग' को जीतने की क्षमता किसी भी आपत्ति-विपत्ति अथवा विरोध में नहीं थी। इसी बुद्धि के सहारे सिद्धि का सम्वरण होता है—

जगा दिशा-ज्ञान,
उगा रवि पूर्व का गगन में, नव-यान !
खुले, जो पलक तम में हुए थे अचल,
चेतना-हत हुई दृष्टि दीखी चपल,
स्नेह से फुल्ल आई उमड़ मुसकान !
जागा दिशा-ज्ञान !

मोगल-दल की आसुरी और भारतीय संस्कृति के बीच में महाकवि तुलसी ने भारतीय संस्कृति की रक्षा का जो काव्य-संविधान किया था उसमें निराला ने उनकी बुद्धि का ही प्रयोग साफल्य माना। 'तुलसीदास' की ये पंक्तियाँ बुद्धि की आस्था से आपूरित हैं—

जागो जागो आया प्रभात,
बीती वह, बीती अंध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन,
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल !

बुद्धिवादी व्यक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह परिस्थितियों के अनुसार अपने कार्य तथा स्वभाव का संगठन कर लेता है जब कि केवल भावुक व्यक्ति अपनी भावुकता के प्रवाह में प्रवाहित हो जाता है। दूसरे शब्दों में

भाव सीधा चलता है, किन्तु बुद्धि में वक्रता भी रहती है। भावुक शूर होता है और बुद्धिवादी वीर। कुम्भकर्ण शूर था और मेघनाद वीर! इसीलिए मेघनाद का युद्ध-कौशल कुम्भकर्ण से कहीं ज्यादा प्रभावपूर्ण और राम-सेना के लिए दुर्जेय रहा। महाभारत में कर्ण को मारने का आदेश देते हुए भगवान ने अर्जुन को वीर बनने की प्रेरणा दी थी और बताया था कि शत्रु के साथ भाव की सिधाई का ध्यान न देकर बुद्धि की एकता के साथ वीरता का उपयोग करना चाहिए; तभी अर्जुन ने कर्ण का उस परिस्थिति मे भी वध करना स्वीकार किया और अन्त मे विजयी हुआ। इस प्रकार बुद्धि की वक्रता के बिना जीवन-क्षेत्र मे विजय दुर्लभ है। जीवन-युद्ध में शूर की अपेक्षा वीर ही विजयी होता है।

छायावाद युग ने भावों की बाढ़ में बुद्धि को एक प्रकार से भुला ही सा दिया था, किन्तु निराला ने बुद्धि का प्रयोग बराबर किया है। यही कारण है कि उस युग में निराला एकमात्र ऐसा कवि है जिसने वीररस की भी कविताएँ बड़ी सफलता के साथ लिखी हैं। वीर रस पुरुषत्व का मूल-भाव है और निराला उसका हिमायती—वीर बहादुर! स्वामी विवेकानन्द ने भी 'नाचुक ताहाते श्यामा' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध रचना में कोमल तथा कठोर भावों की वर्णना द्वारा कठोरता (वीरता) की ही सिद्धि दिखलाई है। निराला ने उस रचना का अनुवाद भी किया है—

चण्ड दिवाकर ही तो भरता
शशधर में कर कोमलप्राण,
किन्तु कलाधर को ही देता
सारा विश्व प्रेम सम्मान।
रुद्ररूप से सब डरते हैं
देख देख भरते हैं आह,
मृत्यु रूपिणी मुक्तकुन्तला
माँ की नहीं किसी को चाह।
छाग-कण्ठ की रुधिर धार से
सहम रहा तू भय-सञ्चार।
अरे कापुरुष बना दया का
तू आधार धन्य व्यवहार!
बढ़ जाओ तुम जलधि-ऊर्मि से
गरज गरज गाओ निज गान,

आँसू पीकर जीना; जाये
देह, हथेली पर लो जान !
चूर-चूर हो स्वार्थ, साध, सब
मान, हृदय हो महाश्मशान
नाचे उस पर श्यामा, घन रण
में लेकर निज भीम कृपाण !

कहने की आवश्यकता नहीं कि निराला जैसी रचनात्मक प्रतिभा का कवि किसी दूसरे की केवल उसी रचना का अनुवाद करना पसन्द करेगा जिसमें उसके अपने भावों का बहुत ही निकट साम्य हो। निराला की अपनी वीर रस की रचनाएँ भी बहुत ही ओजमय और प्रभावशालिनी हैं—

सोचो तुम,
उठती है नग्न तलवार जब स्वतंत्रता की,
कितने ही भावों से
याद दिलाकर दुःख दारुण परतन्त्रता का
फूंकती स्वतंत्रता निज मन्त्र से जब व्याकुल कान,
कौन वह सुमेरु रेणु-रेणु जो न हो जाय ?
इसीलिए दुर्जय है हमारी शक्ति !
अगर हो शानदार,
जानदार है यदि अश्व वेगवान्,
बाहुओं में बहता है
क्षत्रियों का खून यदि,
हृदय में जागती है, वीर, यदि
माता क्षत्राणी की दिव्य मूर्ति
स्फूर्ति यदि अङ्ग-अङ्ग को उकसा रही है,
आ रही है याद यदि अपनी मरजाद की,
चाहते हो यदि कुछ प्रतिकार
तुम रहते हो तलवार के म्यान में
आओ वीर स्वागत है;
सादर बुलाता हूँ।
दी है विधाता ने बुद्धि यदि तुम्हें कुछ
वंश का बचा हुआ यदि कुछ पुरुषत्व है,

तत्व है,
तपाकर तलवार ताप से निज जन्म भू के
दुःखियों के आंसुओं से
उस पर तुम पानी दो !

'जागो फिर एक बार', 'आवाहन' आदि कविताओं में निराला का वीर हृदय बहुत ही सशक्त और साहसिक रूप में अभिव्यक्त हुआ है, जिनको पढ़कर वीर गाथा काल की वीर रस की कविताएँ भी फीकी जान पड़ती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला की वीर-विजयिनी विराट प्रतिभा का विवेचन और विश्लेषण बहुत सहज नहीं, क्योंकि उन्होंने अपनी प्रतिभा से मानवता के मस्तिष्क और ज्ञान एवं भाव को कई कदम आगे बढ़ाया और साहित्य के वैभव को विस्तृत किया। यदि हम विख्यात समालोचक सेन्ट बाब के शब्दों में क्लासिक की विशेषता और परिभाषा को ग्रहण करें तो निराला की प्रतिभा क्लासिक है; क्योंकि उपर्युक्त समालोचक ने लिखा है—

A true classic, as I should like to hear it defined, is an author who has enriched the human mind, increased its treasure, and caused it to advance a step; who has discovered some moral and not equivocal truth, or revealed some eternal passion in that heart where all seemed known and discovered; who has expressed his thought, observation, or invention, in no matter what form, only provided it be broad and great, refined and sensible, sane and beautiful in itself; who has spoken to all in his own peculiar style, a style which is found to be also that of the whole world, a style new without neologism, new and old, easily co temporary with all time.

निराला में यह सब विशेषताएँ पाई जाती थीं। क्लासिक का अनुकरण करना भी बहुत कठिन होता है, यही कारण है कि आधुनिक काव्य में निराला का अनुकरण करने वाला कोई नहीं मिला। वे अपनी शैली के अकेले कवि थे; न चेलों के गुरु और न गुरुओं के चेला। निराला में Virtue, genius, soul, talent और taste का ऐसा रासायनिक समन्वय पाया जाता है जो बहुत ही दुर्लभ और दैवी है। Marie-Joseph Chenier ने कितना ठीक लिखा है—

What is Virtue ? Reason put in practice;—reason expressed

in brilliance;—Soul ? reason delicately put forth;—and genius is sublime reason.

काव्य का वह सर्वमान्य सिद्धान्त जो भाव को तर्क परिचालित मानते हुए क्लासिक की श्रेणी में बिठाता है उसके अनुसार आधुनिक युग में निराला ही एकमात्र कवि हैं जिसने Imagination और feeling को तर्क परिचालित स्वीकार किया है और इस प्रकार भी वे क्लासिक हैं। श्री जोशी जी ने भारतीय काव्य-प्रतिभा के पाँच स्तम्भ माने हैं, वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ। भारतीय साहित्य की इस परम्परा में इन पाँच मनीषियों के साथ छठवाँ नाम निर्विवाद निराला का ही होगा, ऐसा मेरा अपना मत है। यह सच है कि निराला-साहित्य का अभी समुचित समालोचन नहीं हुआ, पर समय की गति के साथ-साथ निराला का अध्ययन तथा उनकी प्रतिभा का विश्लेषण-विवेचन भी बढ़ रहा है और बढ़ता जायगा। अभी तक तो हिन्दी में समालोचना का नितान्त अभाव रहा है फिर निराला जैसे महाकवि की समालोचना के लिए बहुत बड़ी प्रतिभा की अपेक्षा है। मैं स्वयं उसकी क्षमता नहीं रखता, क्योंकि मैं समालोचना को काव्य की भाँति एक सुसंगत सर्जनात्मक प्रतिभा का ही परिणाम मानता हूँ। Dowden ने ठीक ही लिखा है—'When a man is a critic to that degree, he is a poet' वस्तुतः न निराला जैसा दूसरा कवि है न उसके साहित्य का समालोचक, फिर भी—

In poets as true genius is but rare,
True taste as seldom is the critic's share,
Both must alike from heaven derive their light,
These born to judge, as well as those to write.

अस्तु, कवि निराला का मैं उन्हीं के शब्दों में स्मरण करके ही संतोष करूँगा। एक पाठक से, इससे अधिक शब्द कुछ सम्भव भी नहीं।

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल अगम विस्तृत पथ पर विकराल;
कण्टक, कर्दम, भय-श्रम-निर्मम कितने शूल;
हिंस्र निशाचर, भूधर, कन्दर पशु-संकुल
पथ घन-तम, अगम अकूल
पार करके आए हे नूतन !
सार्थक जीवन ले आए

श्रम-कण में बन्धु, सफल श्रम !
सिर पर कितना गरजे वज्र-बादल,
उपल-वृष्टि, फिर शीत घोर, फिर ग्रीष्म-प्रबल !
साधक मन के निश्चल, पथ के सचल
प्रतीक्षा के हे अचल-अटल !
पथ पूरा करके आए तुम,
स्वागत हे प्रियदर्शन,
आए, नव-जीवन भर लाए !

• • •

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व, व्यक्ति की वह विशेषता है जो उसे अन्य व्यक्तियों से भिन्न करती हुई उसके निजत्व का स्वरूप धारण करती है। व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्ति के संस्कार, समाज, वातावरण और उसकी शिक्षा-संस्कृति के माध्यम से होता है, किन्तु इस निर्माण में व्यक्ति का जितना हाथ रहता है उतना किसी अन्य का नहीं। इस प्रकार व्यक्तित्व, व्यक्ति का स्वयं उपार्जित तत्व है, उसके अस्तित्व के समस्त सम्बन्धों और प्रभावों की समष्टि है।

तीस वर्ष की खोज के पश्चात् मनोविज्ञानी, शरीर-विज्ञानी, समाज विज्ञानी, विद्वानों की मंडली ने जिसे Psychiatrists (मानस-रोग-विश्लेषकों) ने भी स्वीकार किया है, व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार की है—

Personality as defined is an integrated system of habitual adjustments to environment particularly to the social environment. Personality is the individual's specific and ordinarily exhibited attitudes, characteristics and behaviour tendencies.

●

Personality is individual's social stimulus value. With minor and often irrelevant variations it is most convenient to consider personality as an achieved system.

William Healy, M. D.

उपनिषदों के अनुसार सत्य-असत्य तथा जड़-चेतन से बने संसार की वास्तविक स्थिति के विषय में ज्ञान-भेद और संशय की सम्भावना रहते हुए भी व्यक्ति 'अहम्' अथवा 'स्व' की चेतना में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करता, अपने अस्तित्व का सन्देह किसी को नहीं होता। इसी कारण आत्म-बोध, विश्व-बोध का प्रथम सोपान भी माना गया है। व्यक्ति का यह स्वबोध शेष विश्व के विषय में विचार का आधार और जन्मजात अधिकार माना जाता है। इसी आधारभूत

चेतना और उसके चारों तरफ फैले हुए शेष विश्व के सम्बन्ध तथा संगठन-समन्वय से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस निर्माण के शारीरिक तथा मानसिक दो मूल कारण हैं। इन्हीं कारणों के माध्यम से व्यक्ति प्रतिक्षण अपना निर्माण करता हुआ अनवरत गति से आगे बढ़ता रहता है। व्यक्ति के इस निर्माण में वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक तथ्यों के अनुसंधान एक सीमा तक सहायता पहुँचाते हैं, क्योंकि इनसे मस्तिष्क सम्बन्धी विचारों और व्यवहारों का निरूपण होता है, किन्तु व्यक्तित्व निर्माण के लिए यह जानना भी आवश्यक है कि शरीर, समाज और वातावरण के किन प्रभावों से कैसे मस्तिष्क का उद्भव तथा विकास होता है।

'गुरु गृह गए पढ़न रघुराई, अल्पकाल विद्या सब पाई' में गोस्वामी जी ने राम के मस्तिष्क की एक महान विशेषता तो बता दी, किन्तु उसके कारण नहीं बताए। इसे हम उनका दार्शनिक या आध्यात्मिक तथ्य निरूपण कह सकते हैं। आज तक भारतीय व्यक्तित्व निरुपण की प्रथा ही यही रही है। जिन मनीषियों ने जीवन कथाएँ भी लिखी हैं उन्होंने भी व्यक्तित्व निर्माण के सम्यक कारणों का विवेचन नहीं किया। जीवन-कथा, व्यक्तित्व निर्माण की कथा छोड़कर और कोई महत्व भी नहीं रखती। James C. Johnston ने ठीक ही लिखा है—The true yardstick of biography differentiates the depicting of a personality from the mere reporting of a life.

प्राचीन भारत में आत्मकथा लिखने की प्रथा नहीं थी और आधुनिक युग में जिन लोगों ने पाश्चात्य देशों की देखा-देखी में आत्मकथाएँ लिखी भी हैं वे व्यक्तित्व के विकास पर विचार न करके केवल जीवन-वृत्त पर ही आधारित हैं। आज भी आत्मकथा लिखने वालों में साहित्यिक नहीं राजनीतिक ही अधिक है। राजनीति का सम्बन्ध जीवन की स्थूल घटनाओं से अधिक रहता है, अस्तु जीवन के आन्तरिक विकास की खोज किसी राजनीतिक की आत्मकथा मे करना व्यर्थ भी है। यह भी सच है कि उनके जीवन-वृत्त को 'आत्मकथा' कहना भी निरर्थक है, क्योंकि आत्मकथा में व्यक्तित्व निर्माण के कार्य-कारण का विवेचन तथा संश्लेषण अनिवार्य होता है। जो भी हो, आजकल जीवन-कथा या आत्म-कथा का अभिप्राय व्यक्ति की व्यक्तित्व-निर्माणकारी स्फूर्तियों का समुचित निरूपण ही माना जाता है। उसे हम The natural history of one's mind भी कह सकते हैं।

ऐसे व्यक्तित्व के विकास की पूर्ण जानकारी के लिए किसी व्यक्ति की स्थूल

जीवन-कथा पर्याप्त नहीं, बल्कि इसके लिए दर्शन, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, जीवविज्ञान, समाजविज्ञान आदि सभी के समन्वित प्रभावों का लेखा-जोखा अपेक्षित है। यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व निर्माण का आधार न तो केवल शारीरिक है न केवल मानसिक और न दोनों का समन्वित स्वरूप ही, वरन् वातावरण के सहयोग से उत्पन्न दोनों की एक दूसरे पर प्रतिक्रिया है। शरीर और मस्तिष्क प्रत्येक व्यक्ति की बपौती है, किन्तु व्यक्तित्व सब का अलग-अलग होता है इस लिए शरीर और मस्तिष्क की, बाह्य आन्तरिक कारणों से परिचालित क्रिया की जानकारी व्यक्तित्व-निर्माण की व्यवस्था निश्चित करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होती है।

यद्यपि व्यक्ति के भिन्न भागों का समूह कभी उसकी सम्पूर्णता का प्रतीक नहीं हो सकता, फिर भी उनके अलग-अलग विवेचन एवं विश्लेषण से व्यक्ति की सम्पूर्णता को समझने में कुछ न कुछ सहायता अवश्य ही पहुँचती है।

सबसे पहले हमें शरीर सम्बन्धी तत्वों पर विचार करना चाहिए। शारीरिक तत्व मुख्य चार होते हैं :—

१—रचना-सम्बन्धी (Mechanical)
२—रस-सम्बन्धी (Chemical)
३—शरीर-सम्बन्धी (Physical)
४—तत्व-सम्बन्धी (Elemental)

इन तत्वों से बने शरीर-धारी जीव में ही आत्मा, मन तथा ज्ञान की स्थिति सम्भव है। इस जीवधारी शरीर की रचना इतनी रहस्यमय और दुर्बोध होती है कि इसकी पूरी जानकारी बहुत कठिन और प्रायः असम्भव सी है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि रज-वीर्य के सम्मिलन से एक ऐसे जीवन-तत्व का उन्नयन होता है जिसमें स्वरचना की स्फूर्ति और जीवन-विकास की शक्ति सन्निहित रहती है। जीवन-धारण की मूल-शक्ति आत्म-रक्षा और आत्म-विकास की क्षमता से संयुक्त होकर अपनी निजता और स्वरूप-समता (Identity) की रक्षा करते हुए स्वतः परिवर्तित और परिवर्धित होती चलती है। गर्भाधान के समय से ही एक स्वतन्त्र जीव-रचना के रूप में इसमें जीवन-विकास के तत्वों का संग्रहण करने और विनाशकारी तत्वों के परित्याग करने की चेतना जग जाती है, क्योंकि आत्म-रक्षण (Self preservation) ही जीव-मात्र का आदि लक्षण है।

जीव का दूसरा लक्षण पैतृक शरीर-रचना की समरूपता प्राप्त करना है। Janet का तो कहना है कि—We inherit psychological strength from

our parents, just as we inherit their material fortunes. और इस प्रकार Aristotle's 'Forms' and Plato's 'Ideas' are conceptual representations of these shaping powers inherent in the organism. इन पैतृक प्रभावों के साथ-साथ विकसित होता हुआ भी जीव अपनी जन्मजात वास्तविक स्थिरता, एकता और समरूपता की रक्षा में सफल होता है, उसकी निजता की यही विशेषता है। जीव-विज्ञानी Bergson ने लिखा है—There is something which is creating ourselves continually दूसरे विज्ञानी Herrick ने इसे यों माना है—Life is a system of forces.....so correlated as to conserve the identity of the system as an indievidual. भगवान बुद्ध का भी कहना है कि जीव एक स्फुलिंग के रूप में प्रकाशित होकर वातावरण, परिस्थिति और पैतृक प्रभावों से प्राप्त ईंधन ग्रहण करता हुआ एक ज्वाला का रूप धारण करता है, किन्तु उसके मूल रूप का कभी तिरोभाव नहीं होता। उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध दार्शनिक Lotze ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—

Even the highest capacities of man, his ability to synthesise, recognise and behave effectively, derive from the inherent urges to live and experience according to the self contained plans which the organism has the power and the compulsion to unfold for its own self realisation.

भ्रूण-विज्ञानियों ने बहुत बड़े अध्ययन और अनुभव के बाद निश्चित किया है कि रज-वीर्य के सम्मिश्रण के कुछ ही दिनों पश्चात् उसमें अपने विकास के साधन जुटाने तथा उन्हें प्राप्त करने की आश्चर्यजनक क्षमता उत्पन्न हो जाती है। There is that marvelous potentiality for self ordering, that will and power to live—call it vital energy or vital principal or organisation of forces.....that capacity for proceeding to live in its own way, preserving its own unity and identity. तरल पदार्थ प्रौढ़ और गाढ़ा होकर अपने को कई खण्डों में विभाजित करके एक पतली झिल्ली से ढँक लेता है। तब उन सब खण्डों को जोड़ते हुए एक नाल (umbilical cord) की उत्पत्ति होती है और इसी नाल के द्वारा वह अपना पोषण प्राप्त करता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस गर्भ-जीव का माँ के रक्तप्रवाह से भी कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रहता, बल्कि वह अपने आप इसी नाल के द्वारा

प्राण-वायु और अपने पोषण के अन्य तत्व माँ के रक्त-प्रवाह से स्वयं प्राप्त कर लेता है। वस्तुतः इस नवीन जीव के लिए माँ एक समुचित विश्राम-स्थल देने और पोषण प्राप्त करने की व्यवस्था करने के अतिरिक्त और कुछ अधिक नहीं कर सकती। प्रत्येक जीव की शक्तियाँ इन तत्वों के प्राप्त करने में अलग-अलग होती हैं, किन्तु यह निश्चय है कि इन्हीं के फलस्रूप जीव के भावी जीवन का विकास और उसके स्वभाव तथा व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस पोषण को ग्रहण करने की शक्ति और स्फूर्ति के अनुसार ही आगे चलकर आक्रमणात्मक (Aggressive) तथा समर्पणात्मक (Submissive) व्यक्तियों का संगठन होता है। क्योंकि The personality is ever in the making from the instant the fertilised ovum enters upon its lifes' adventure.

व्यक्तित्व निर्माण का दूसरा पहलू उसका मानसिक संकलन है। मानसिक तत्व मुख्य चार हैं।

१—भाव सम्बन्धी (Emotional)

२—विचार सम्बन्धी (Intellectual)

३—व्यवहार सम्बन्धी (Behaviour)

४—विश्वास तथा धर्म सम्बन्धी (Faithful and religious)

मन का सबसे पहला गुण अनुभव करना है। जीव-विज्ञानियों की राय है कि किसी भी जीवन रचना का पूर्ण ज्ञान तभी हो सकता है जब उसके वातावरण की प्रतिक्रिया से प्राप्त अनुभवों का अनुसंधान किया जाय। अस्तु व्यक्तित्व का दूसरा आधार जीव का अनुभव-चक्र (circular response) है। ठीक भी है, क्योंकि भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों का निर्माण इन्हीं भिन्न अनुभवों से होता है। अनुभव-चक्रों के अनुसार ही Extrovert और Introvert व्यक्तित्वों का उदय होता है।

जीव की मानसिकता के आधार पर उसकी जन्मजात इच्छाएँ भी महत्वपूर्ण और प्रभावशाली होती हैं जिनमें प्रमुख ये हैं—जीने की इच्छा (urge to live) प्यार पाने की इच्छा (desire for love) अनुभव करने की इच्छा (will to experience) और स्वयं को शक्ति-सम्पन्न बनाने की इच्छा (Self enrichment) इनके आलावा मनोविश्लेषणशास्त्रियों ने अन्य बहुत सी जन्मजात इच्छाओं का अनुसंधान किया है जो प्रत्येक उच्च जीवधारी और विशेषकर स्तनपायी जीवों में पाई जाती हैं। इनके साथ ही जीव की सहज प्रवृत्तियाँ (Instincts) भी अपना कार्य करती रहती हैं जिनकी संख्या कोई चार, कोई चौदह तो

कोई चालीस तक मानते हैं । पर इतना तय है कि इन सभी का बीजारोपण और इनका अंकुरित होना गर्भ-स्थित जीव में ही प्रारम्भ हो जाता है । जन्म के पश्चात रोना-हँसना; देखना-सुनना, दूध पीना तथा स्पर्श का अनुभव करना आदि इन्हीं इच्छाओं के प्रत्यक्ष प्रमाण है । Janet का कहना है कि Dispositions, which are reactions to certain forms of psychological asthenia, are just as constitutional and hereditary as the shape of one's nose or chin अवस्था के साथ-साथ यही मूल इच्छाएँ प्रौढ़ से प्रौढ़तर होती हुई स्पष्ट और प्रत्यक्ष होती जाती हैं । शिशु रूप में Identification (किसी व्यक्ति से समानरूपता प्राप्त करने की प्रवृत्ति) का स्वरूप सबसे पहले सामने आता है । Schilder ने इसे यों लिखा है—

The unconscious molding of oneself after the fashion of some other person who has been taken as a model. All of us, particularly in early childhood have without deliberation or conscious intents assimilated from others physical posturings, mental habits, beliefs and appreciations which we have built into our own personality.

यह समानरूपता प्रायः माँ-बाप अथवा परिवार के किसी अन्य व्यक्ति से ही निश्चत होती है, पर कभी-कभी शिशु किसी बाहरी व्यक्ति से भी समानता की स्फूर्ति ग्रहण करता है । इस चुनाव में उसका Ego-ideal (अहम् का आदर्श) सहायता करता है, क्योंकि Identification आत्म-पूर्ति का ही दूसरा साधन है, इसमें सन्देह नहीं । ऐसा भी देखा गया है कि शिशु किसी के व्यवहार किसी के गुण तथा किसी के शारीरिक गठन को अलग-अलग ग्रहण करता हुआ अपने को उन सब के समन्वित रूप में निर्मित करता है ।

इस प्रकार गर्भ से लेकर जन्म-ग्रहण के उपरान्त शिशु-अवस्था तक व्यक्ति के निर्माण में आठ प्रधान संचालक-शक्तियों का हाथ रहता है, जिनके द्वारा वह अपना स्वानुकूल निर्माण करता है ।

१—जन्मजात संचालक शक्ति (Dynamic)
२—वातावरण और सामाजिक शक्ति (Environmental and social)
३—भावात्मक शक्ति (Emotional)
४—नैतिक शक्ति (Ethical)
५—प्रज्ञा शक्ति (Intellectual)

६—मानस शक्ति (Sensory)

७—आर्थिक शक्ति (Economical)

८—विश्वास और शिक्षा शक्ति (Belief and Education)

प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तित्व निर्माण में इन्हीं उपर्युक्त शक्तियों का संचालन सहायक होता है, किन्तु इनके साथ-साथ प्राणी की अप्रत्यक्ष तथा अर्धचेतन एवं अवचेतन शक्तियाँ भी अपना कार्य करती रहती हैं जिनके प्रभाव से व्यक्ति अपने जीवन-विकास के साधन स्वतः जुटाता है। जीवन के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों का महत्व है, बल्कि कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जीवन-निर्माण में अप्रत्यक्ष-प्रयत्नों का अधिक महत्व होता है। महर्षि Emerson ने कहा है—Wise men read very sharply all your private history in your look and gait and behaviour.

इतना सब जानकर भी व्यक्तित्व-निर्माण के लिए यही कहा जा सकता है कि वह शेष-सृष्टि की तरह एक स्वतः-स्फूर्त रहस्यमय रचना है। उसका पूर्ण निर्माण करने वालों के लिए यही कहना उचित जान पड़ता है कि—Perhaps because in them burned the flame of divine discontent.

साधारणतः व्यक्तित्व दो प्रकार का होता है, (१) सहज और (२) विशेष। वातावरण की अनुरूपता और परिस्थिति की स्वाभाविकता के प्रभाव के भीतर 'सहज व्यक्तित्व का उन्मेष होता है। ऐसे व्यक्तित्व में आन्तरिक इच्छाओं का कोई विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। 'विशेष' व्यक्तित्व का निर्माण वातावरण से मुक्त और प्रायः आन्तरिक आकांक्षाओं के सामंजस्य और आग्रह से होता है। ऐसे व्यक्तित्व-निर्माण के कार्य-कारण का पूर्ण विवेचन कभी सम्भव नहीं हो सकता। महाकवि का भी व्यक्तित्व ऐसा ही अगम होता है, क्योंकि सहज प्रवृत्तियों की प्रबलता और आन्तरिक अवचेतन आकांक्षाओं की पूर्त्ति का उसमें प्राधान्य होता है। स्रष्टा के लिए The instinctual urges and desires and unconcious motivation बहुत महत्वपूर्ण हैं। सम्भवतः इसीलिए कहा गया है कि कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते—(Poets are born and not created 'कविर्मनीषी परभूः स्वयंभूः' से यही आशय प्रकट होता है) Cowper ने कवि के लिए लिखा है—There is in the work and labour of poetry a pleasure that only the poet knows ; the tricks and turns, the expedients and inventions of every kind to which the mind has recourse for the persuit of the most fitting terms, but which

hide themselves and do not easily allow themselves to be caught, to be able to arrest the fugitive images which the mirror of the soul, to retain them, to closely embrace them, to force them to fix themselves until the pen has drawn a faithful likeness of them in all their parts; then to dispose his pictures with such art that each one shall be seen in its most favourable light, and shall shine almost as much by the position given it as by the labour and talent it costs us ; those are the occupations of a poet's mind, so dear, so delightful to his thought, and of a kind to distract him skilfully from sad subjects, so that lost in his own dreams, happy man ! He feels the anxieties of life depart and fade away for want of their accustomed nourishment.

ऐसे कवि का निर्माण उसकी आन्तरिक भावात्मक सत्ता के ही माध्यम से हो सकता है न कि किसी बाह्य शिक्षा-साधन से। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में दो प्रकार की शिक्षा ग्रहण करता है, एक जो उसे दूसरों से प्राप्त होती है और दूसरी जो वह स्वयं अपने को दे देता है। कवि के लिए दूसरी शिक्षा का महत्व अधिक स्थायी होता है, क्योंकि इसी आत्म-शिक्षा के बल पर वह अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण निर्धारित करता है। उसकी एक अपनी अलग इकाई होती है। कवि का जीवन उस सुसज्जित तथा सुरक्षित ग्रह-पथ की तरह होता है जो वायु की तरंगों को अपनी बनावट के अनुसार प्रवाहित करने में समर्थ होता है। प्रतिभा का इतिहास वातावरण के साथ अन्य आन्तरिक व्यवस्थाओं के संकलन और संचालन से संगठित होता है। मनुष्य-मात्र, जीव-विज्ञान के साधारण, किन्तु निश्चित क्रमिक विकास के सत्य अपनी आन्तरिक तथा अज्ञात चेतना के प्रचार और प्रसार में बराबर गतिशील रहा है, अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसकी यही सबसे बड़ी विशेषता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने अत्यन्त परिपुष्ट प्रमाणों के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि मानव-मन के भीतर एक ऐसा गहन रहस्यमय, अपार और अपरिमित तथा अगम जगत वर्तमान है, जिसकी अपनी एक निजी स्वतंत्र सत्ता है और जो किसी भी बाह्य अनुशासन से परिचालित नहीं होता। उपनिषदों में इस अन्तश्चेतना की रहस्यमयता और इसकी वैयक्तिक विशेषता का विश्लेषण करके ऋषियों ने बताया है कि कला की कल्याणकारी प्रवृत्तियों

का उत्स अंतर्जीवन की गहराई से ही फूटता है न कि बाह्य-जीवन-चक्र के सामूहिक परिचालन से। यही कारण है कि मानव-जीवन प्रगति में व्यक्ति ही प्रतिभावान और दूसरे से अपेक्षाकृत महान हो सकता है, समाज या देश नहीं। मानवेतर प्राणी वातावरण के प्रतिकूल अपना स्वचेतन विकास नहीं कर पाते, मानव अपनी बुद्धि, इच्छाशक्ति और आन्तरिक प्रेरणा के बल पर वातावरण को स्वानुकूल बनाने में सफल होता है। मनु से लेकर मार्क्स तक व्यक्ति की इसी निजी प्रतिभा से ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल की उन्नति हुई है, इसमें सन्देह नहीं।

जीवन का व्यक्तिगत दर्शन उसकी मानसिक स्थिति के लिए वही महत्व और प्रभाव रखता है जो शरीर के लिए स्वास्थ्य। उसका यह दर्शन उसके जीवन में चरितार्थ होता हुआ आस-पास के समूह-जीवन से सामंजस्य करता चलता है। समस्त संसार की भाँति मानव मस्तिष्क भी सतत् गतिशील रहता है और इस गति में व्यक्ति-समूह, बाहर-भीतर एवं जीवन तथा मृत्यु के द्वन्द्व भी बराबर चलते रहते हैं। व्यक्ति का ही नहीं, विश्व-जीवन के विकास का मूल आधार यही द्वन्द्व है। धर्म, विज्ञान, राजनीति तथा साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में इस द्वन्द्व की सत्ता व्यापक और अनिवार्य है। (Conflict is the father of all things) संघर्ष ही विकास का जनक है, क्योंकि संघर्ष और विरोध जीवन को रोकने की अपेक्षा उसे गति ही देते है। इस तरह संघर्ष और समन्वय का व्यापक सिद्धान्त सारे विश्व-जीवन का आधार-स्तम्भ है, किन्तु इस संघर्ष का सामना शेष प्राणियों से भिन्न मनुष्य अपने अन्तःकरण से करता है। अन्तःकरण से मेरा आशय, मन, बुद्धि, चित तथा अहंकार के समन्वित स्वरूप से है। वाह्य प्रकृति और परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करना इसी अन्तःकरण की शक्ति और स्वभाव है। अन्तःकरण की पहचान और उसके उपयोग की क्षमता व्यक्ति की अपनी जन्मजात विशेषता से प्राप्त होती है और इसी के माध्यम से उसके व्यक्तित्व का शिलान्यास भी होता है। वास्तव मे सार्थक कल्पना, साहसिक चिंतन, अनुभूत तथ्यों का परीक्षण-निरीक्षण मानव मन का गुण है जो वातावरण की विपन्नता से कभी थमता नहीं, क्योंकि मनन, चिंतन और भावना तथा अभिव्यक्ति (आत्मप्रकाश) मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ हैं। मनुष्य, प्रकृति का केवल तात्विक परिणाम नहीं उसमें बुद्धि की भी व्यवस्था होती है। बुद्धि, मन की वह स्थिति है जिसके द्वारा मानव संकल्प, इच्छा, प्रयत्न और बोध का अनुभव करता है और अनुभव से परिपुष्ट भाव विचार बनते हैं तथा इन्हीं विचारों से व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

विश्व-जीवन के व्यापक क्षेत्र में केवल उन्हीं व्यक्तियों का महत्व है जो अपने व्यक्तित्व से जीवन-विकास की विचारधारा का उन्नयन करते हैं, अन्यथा बुद्धि-विचार-शून्य साधारण जीवन का कोई महत्व नहीं। बर्ट्रेंड रसल ने इसी उद्देश्य से लिखा है—The logical quality of the cosmos as it appears in each of just system is due to the fact that it is one man's Cosmos. यह कौन नहीं जानता कि हममें से प्रत्येक के पास अन्तश्चेतना का एक ऐसा वेगमय तथा दुर्दम्य प्रवाह है जो बाह्य परिस्थितियों के बीच हमारे मन को एक अलग दिशा देने की क्षमता रखता है। संसार के सुखों के बीच विचरण करते हुए भी मनुष्य कभी-कभी अपने भीतर के कारणों से उदास हो उठता है। कालिदास ने 'सुखिना अपि अन्यथा चेतमाना' में इसी अन्तर्मन की स्थिति का संकेत किया है। जिस प्रकार सुख की स्थिति में दुख का आभास सम्भव है उसी प्रकार दुख की दशा में आन्तरिक सुखाभास भी परिलक्षित होता है। इन द्वन्द्वात्मक और कलह-कोलाहलपूर्ण मन की स्थितियों का स्वाभाविक समन्वय और स्वानुकूल सात्विक विकास व्यक्ति ही करता है, समूह नहीं। जीवन और मृत्यु की अज्ञात समस्याएँ भी प्रत्येक व्यक्ति को समूह से अलग रखती हैं, यह किसी से छिपा नहीं। जीव-विज्ञान तथा मनोविज्ञान अपनी सारी जाँच-पड़ताल के पश्चात् भी व्यक्ति की अलग इकाई का अपहरण नहीं कर सका और सम्भवतः आगे भी नहीं कर सकेगा।

व्यक्ति की इसी इकाई को Horace ने Divine particulam aurae'—Divine spark कहा है जो आज भी—विज्ञान की इस चरम उन्नति में भी उसी रूप में स्थित है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत धारणाएँ तथा मान्यताएँ पूरे समाज तथा देश की बपौती बन जाती हैं और लाखों आदमी उनकी रक्षा और प्रगति के लिए अपने जीवन की बाजी लगाने को प्रस्तुत हो जाते हैं। बुद्ध, ईसा, मार्क्स, गाँधी ऐसे ही महान् व्यक्तियों में हैं जिनका व्यक्तित्व अपनी अलग-अलग विशेषता रखता है। एक भौतिक सत्ता के रूप में शारीरिक तथा तात्विक नियमों से प्रत्येक व्यक्ति अवश्य ही बँधा हुआ है, किन्तु उसकी विशेषता यही है कि वह इन नियमों की जानकारी और उन्हें अपने लिए उपयोगी बनाने की भी शक्ति रखता है। अनुभव, संकल्प और सहज ज्ञान उसके अपने निजी उपकरण हैं जिनके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व की रूप-रेखा को निर्मित एवं निश्चित करता है। इसी प्रकार वह अपने और शेष विश्व के सम्बन्ध भी निरूपित कर लेता है।

आन्तरिक आकांक्षाओं और संस्कारों के अतिरिक्त शिक्षा तथा समाज-सहयोग से प्राप्त संस्कारों तथा विचारों की महत्ता भी कम नहीं होती। गर्भ, उत्पत्ति, स्थिति और मरण सम्बन्धी दशाओं का प्रभाव व्यक्ति पर अवश्य ही पड़ता है, किन्तु प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति अपनी आन्तरिक दशा और व्यक्तिगत लय-विकास से अधिक प्रभावित और परिचालित होता है। इस प्रकार बाह्य संस्कार और आन्तरिक चेतना दोनों मिलकर ही व्यक्ति-स्वरूप अथवा व्यक्तित्व का विन्यास करते हैं। भौतिकवादियों की तरह यह कहना कि व्यक्तित्व का विकास आस-पास के वातावरण और आर्थिक तथा राजनीतिक दशाओं से ही होता है, ठीक नहीं। व्यक्तित्व का बाह्य वातावरण से वही सम्बन्ध होता है जो एन्द्रिकता (Organism) का, क्योंकि व्यक्ति संसार में जीता रहता है अवश्य, पर वह संसार के द्वारा जीवित नहीं रहता। जब उसकी अपनी जीवनी-शक्ति समाप्त हो जाती है तब सारा संसार मिलकर भी उसे जीवित नहीं रख सकता। वनस्पतियों से लेकर सभी जीवधारी बाह्य वातावरण के बीच में रहते हैं और उसी में पोषित तथा परिवर्धित होते है, किन्तु इस वातावरण की व्यापक एकता अथवा एकरसता में उनकी व्यक्तिगत इकाई का तिरोभाव नहीं होता। अपने व्यक्तित्व के विषम तथा विकट विरोधों के साथ सर्प और मोर एक ही वन मे विहरण करते हैं। सुभाष और टैगोर एक ही प्रान्त के निवासी थे। वस्तुतः व्यक्ति एकरूपात्मक (Identical) वातावरण मे रहते हुए भी एकमात्र उसी से निर्मित नही होता, क्योंकि प्रत्येक सजीव सत्ता बाह्य संसार का वह तत्व जो उसके विकास में सहायक होता है ग्रहण करके शेष को छोड़ देती है, फलों के साथ काँटे नहीं खाती। प्राणी की, फिर मानव की तो बात ही क्या है, पौधा तक वायु और पृथ्वी से केवल पोषण-तत्व लेकर शेष को छोड़ देता है। फूल का खिलना, अंकुर का उगना, वृक्ष का पल्लवित होना किसी बाह्य उपचार या दबाव से नहीं वरन् बीज की आन्तरिक शक्ति से सम्भव होता है।

प्रत्येक जीव-विज्ञानी यह जानता है कि वातावरण व्यक्ति के निर्माण को एक गति देता है, पर उसकी एक सीमा है, वस्तुतः सम्पूर्ण निर्माण का श्रेय उसको नहीं मिल सकता। भोजन की पूर्णता और संरक्षण की सतर्कता बकरे को स्वस्थ बना सकती है, शेर नहीं। आशय यह कि प्रत्येक जीवधारी वातावरण से प्रभावित होता हुआ भी अपने व्यक्तित्व के निर्माण में बहुत कुछ स्वतंत्र रहता है। प्राणि-श्रेष्ठ मानव तो वातावरण की और भी उपेक्षा कर सकता है, क्योंकि व्यक्ति को वातावरण का प्रतिफलन न कह कर वातावरण को व्यक्ति की रचना कहना ही

अधिक समीचीन है। जो भी हो, पर इतना निश्चय है कि वातावरण व्यक्तित्व का निर्माण नहीं करता वरन् यह व्यक्ति की ही विशेषता है कि वह प्रतिकूल वातावरण में भी अपना स्वानुकूल विकास कर लेता है। सम्भवतः इसीलिए दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कला और साधना का केन्द्र व्यक्ति होता है, वातावरण नहीं। जिस ईंट-पत्थर से मन्दिर बनता है उसी से समाधि भी बनती है, दोनों को बनाने वाला व्यक्ति ही होता है। गोस्वामी जी ने व्यक्ति की इसी स्वनिर्माण क्षमता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

एक पिता के विपुल कुमारा,
पृथक पृथक गुण तासु उचारा!

मानव का यही मानवपन है और है उसका श्रेष्ठतम अपनापन। प्रत्यक्ष भौतिक तथा अप्रत्यक्ष अभौतिक संस्कारों तथा विचारों से उलझता-सुलझता व्यक्ति अपनी सहज स्वाभाविक विकासशील प्रवृत्तियों से अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। मानसशास्त्रियों ने चिंता, इच्छा, अनुभूति को जो व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ हैं, व्यक्तित्व निर्माण में सहायक माना है। क्षतिपूर्ति का सिद्धान्त भी कम प्रभाव नहीं रखता। अतएव व्यक्तित्व-विन्यास का प्रमुख साधन शक्तिमान चेतन अन्तः-स्फूर्ति है, मनोयोग है।

सर्जनात्मक प्रतिभा व्यक्तित्व के विकास की अन्तिम सीढी है। उस क्षेत्र में भी संघर्ष और समन्वय का अस्तित्व है, क्योंकि स्रष्टा कठिनाइयों और नाना प्रलोभनों से उलझने के बाद ही एक निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचता है। उसका मस्तिष्क उसे सत्य-असत्य का विवेक देता है तो उसकी कल्पना उसकी सृष्टियों को सौन्दर्य-समन्वित करती है और तब वह कला को जन्म देने में समर्थ होता है। कला में कलाकार का व्यक्तित्व समाहित रहता है, इसीलिए प्रत्येक कलाकार की अपने व्यक्तित्व के अनुरूप एक अलग विशेषता-महत्ता भी रहती है। एक ही युग में, एक ही देश में, एक ही समय मे कई बड़े-बड़े कलाकारों के होने की सम्भावना का यही कारण है।

संसार के नाना रूपों, कार्यकलापों और चेष्टाओं के उद्दीपन स्वरूपों से व्यक्ति अपने मन का योग करने के पश्चात् ही अपनी निजी अनुभूति का सगठन करता है। नाना प्रकार के उद्दीपन हमारी चक्षु-तारिका (Retina) की संज्ञावाहिनियों (nerves) पर प्रभाव डालते हैं, उनमें स्पन्दन पैदा करते हैं। यह स्पन्दन संगठित संवेदन (sensation) बन जाता है और फिर बहुत से संवेदन संगठित होकर मन के योग से एक बिम्ब के रूप में—एक अनुभूति के रूप में परिणत हो जाते हैं।

इन्हीं अनुभूतियों का आकलन और उनकी सौन्दर्यशील अभिव्यक्ति कवि का प्रमुख कार्य है और इन्हीं के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का भी विकास करता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि चेतना द्वारा संग्रहीत संवेदनों को व्यक्ति आत्मीयता (अनुभूति) का स्वरूप देकर उसे अभिव्यक्त करता है तभी और केवल तभी वह साहित्य-स्रष्टा बन पाता है अन्यथा नहीं। यदि ऐसा न होता तो परिस्थिति की विपन्नता के कारण द्वार-द्वार पर भीख माँगते हुए सभी हरबोले कवि का सम्मान पा लेते, संगीतज्ञों का स्थान ग्रामोफ़ोनों ने ले लिया होता, और सजीव नर्तकियों का स्थान तथा उनका कार्यकलाप निर्जीव किन्तु परिस्थितियों की सजीवता से सम्पन्न कठपुतलियों ने छीन लिया होता, पर ऐसा नहीं हुआ और न आगे होने की सम्भावना है। व्यक्ति की, विशेष कर साहित्यकार की वातावरण के ऊपर विजय की यही प्रामाणिकता है। हरबोला, ग्रामोफ़ोन, कठपुतली क्रम से कवि, संगीतज्ञ तथा नर्तकी का कार्य संपादन चाहे किसी प्रकार कर भी लें, पर यह उनका सहज स्वभाव तथा व्यक्तित्वमय आत्मीय भाव नहीं है और स्वभाव तथा व्यक्तित्व के अभाव में किसी प्रकार की सृष्टि सम्भव नहीं होती, क्योंकि सृष्टि के लिए चैतन्य की आवश्यकता है जो मनुष्य में ही पाया जाता है। इसी कारण उसे पुरुष भी कहा जाता है—'पूः, शरीरंच पुरंच, पुटि शेते इति पुरुषः', वस्तुतः जो चैतन्यांश को, देह में धारण किए हो उसे पुरुष कहते हैं। यह भी कहा जाता है, कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब मनुष्य के पिण्ड में है।

वास्तव मे सब शास्त्रों का विषय, मानव देह और जीव, अन्तःकरण और वहिःकरण में, वर्तमान है। अपनी इसी जीवात्मक रचना की वजह से मनुष्य स्वयं स्रष्टा अथवा साहित्यकार या कवि बनने की क्षमता रखता है। यह विशेषता किसी भी अन्य जीव की नहीं है। वेदों में परमात्मा को कवि के रूप में स्मरण किया गया है, क्योंकि यह समस्त और व्यस्त जगत सब उसकी रचना-कविता हैं और वह स्वयं अद्वितीय कवि। 'रसो वै सः' भी परमात्मा के लिए कहा गया है। स्पष्ट है कि बिना परमात्मतत्व के सृष्टि करना नितान्त असम्भव है।

मनुष्य पक्षियों की बोली बोल लेता है और पक्षी मनुष्य की, किन्तु पक्षी से मनुष्य का अभाव दूर नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मनुष्य के स्वभाव का, उसकी अन्तश्चेतना का अस्तित्व नहीं, पक्षी की बोली में मनुष्य की बोली की तरह आत्मीयता (अपनापन) नहीं रहती। सामान्य मानव और विशेषकर कवि-कलाकार मन की इसी निजी आत्मीयता से अपनी सृष्टि (रचना) का विकास करता है। मानव मन की आत्मीयता का ग्रहण ही कला का सार है।

कलाकार यदि अपने चित्र, संगीत अथवा काव्य में अपने मन को आत्मीयता को स्थापित न कर सका तो उसका प्रयास व्यर्थ है, वह कभी किसी दूसरे के मन को आकर्षित नहीं कर सकता और न उसको रचना की सृष्टि का गौरव ही मिल सकता है। मानव के इस मन की महत्ता उसके अपने आत्म-स्वरूप को पहचानने में है, जो उसके व्यक्तित्व की आधारशिला है। मन की इस पहचान के पश्चात् मानव को उसकी सर्वव्याप्त सत्ता का आभास अपने आप होने लगता है। इसी का नाम मनोयोग-भावयोग है और मन के इसी विकास का नाम व्यक्तित्व है।

मनुष्य, सहज प्रवृत्ति (Instinct) और सहज भूख (Appetite) जो अन्य प्राणियों की भाँति उसमें भी पाई जाती है, के अतिरिक्त चेतनाशील मस्तिष्क का भी अधिकारी है जो दो प्रकार की—भावात्मक तथा बौद्धिक प्रवृत्तियों का केन्द्र है। बौद्धिक विवेचन और खोज का परिणाम विज्ञान है जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न तात्विक पदार्थों के संश्लेषण एवं विश्लेषण से संसार की नाना वस्तुओं के अस्तित्व और विकास पर प्रकाश पड़ता है। विज्ञान की यह भी शक्ति है कि वह इन तत्वों को अपनी इच्छित तथा कल्पित हित-साधना में भी प्रयुक्त कर सके, किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान सत्ता के कार्य-कारण (Process) पर ही विचार करता है, उसके उद्देश्य से उसका सम्बन्ध नहीं। दो अमुक तत्वों से मिलकर पानी बनता है, यह विज्ञान बताता है, पर पानी क्यों बनता है ? इसका उद्देश्य क्या है ? के प्रश्न विज्ञान की सीमा से बाहर पड़ते है। अनात्मा-पदार्थों तक ही उसकी पहुँच है। पर भाव ज्ञान-विज्ञान से आगे बढ़कर सत्ता के उद्देश्य का भी उद्घाटन करता है। आत्म-भाव को ग्रहण करता है। 'आत्मनस्तु कायाय सर्व वै प्रियं भवति'। मनुष्य की आत्मा अनन्त अनात्म-पदार्थों के द्वारा अपनी आत्मा का ही आस्वादन, रसन करती है। अनन्त रस तथा अनन्त अलंकार सब इस जगद्रूपी महाकाव्य मे भरे हैं। इसके किसी भी अंश का, किसी भी अंग का, मनुष्य का किया हुआ आत्मीय वर्णन काव्य (सृष्टि) है। इसी कारण कलाकार केवल विज्ञानी न होकर भाव-ज्ञानी तथा आत्म-ज्ञानी भी होता है। बाह्य पदार्थों के अध्ययन तथा अनुभव के साथ-साथ कलाकार आत्मानुभव वृत्ति का भी उपयोग करता है, क्योंकि उसका चित् चेतन है। 'अहम् अस्मि' यही सन्मय, चिन्मय मनुष्य की सृष्टि की सार्थकता है। कहना न होगा कि चैतन्य का परोक्ष नाम 'आत्मा' और अपरोक्ष नाम 'अहम्' हैं। मनुष्यों की आदि भाषा संस्कृत वर्णमाला का आदि अक्षर 'अ' तथा अन्तिम, 'ह' हैं। इन्हीं दोनों के बीच में सभी अन्य अक्षर हैं। अक्षरों के संयोग से सब वाक्य बनते हैं जो

अनन्त प्रकार की इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बोधक और वाचक हैं। सृष्टि चाहे वह दैवी हो या मानवी इस अहम्-भाव, आत्म-भाव, परमात्म-भाव की साक्षी है, इसमें सन्देह नहीं।

विज्ञान की खोज और उससे प्राप्त सत्य बढ़ते-बदलते रहते हैं, पर भाव का अनुभव में बँध जाना ही उसका शाश्वत सत्य होता है, यों भी तर्क और अनुमान का परिणाम अनुभव के परिणाम के समक्ष फीका पड़ जाता है। इन्द्रधनुष के अस्तित्व और उसके निर्माण के उपादानों का विश्लेषण विज्ञान-सुलभ है, किन्तु उसे देखकर पुलकित होना भाव-सुलभ। इसी से कलाकार को विज्ञानी नहीं, भाव-ज्ञानी कहना उपयुक्त है। विज्ञान का सत्य प्रत्यक्ष रूप से सब के लिए समान महत्व रखता है, पर भाव अपनी सीमा का विस्तार व्यक्ति के अनुसार करता है। No two persons, if sincere, can have the same philosophy ठीक ही है। जड़ता और मृत्यु, एकरूपता का लक्षण है और चेतना तथा जीवन विभिन्नता का। कहने का आशय यह कि विज्ञानी जड़वादी होता है और कलाकार चेतनावादी। विज्ञान का मत है कि मनुष्य और जगत् केवल आधिभौतिक-मैटीरियल फिजिकल हैं तथा मनस-अहंकार-बुद्धि-रूप चित्त, 'माइन्ड' की उत्पत्ति Matter, मात्रा, जड़ से होती है। गीता में इस विचार वालों के लिए 'आसुरी प्रकृति' की उपाधि दी गई है—अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत्, कामहैतुकम्।

किन्तु कलाकार जानता है कि मनुष्य और जगत् आध्यात्मिक 'स्पिरिचुअल' और आधिदैविक 'सुपर-फिजिकल' भी हैं और 'मैटर' मात्रा, दृश्य तथा जड़ पदार्थ सब चेतन की लीला मात्र है। मात्रा 'मैटर' का आधार चेतन है न कि चेतन का आधार और हेतु मात्रा! धीरे-धीरे वैज्ञानिकों ने भी इस मत को स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया है कि मैटर के ऊपर चेतन का आधिपत्य है। फ्रांसिस मेसन और आइन्सटाइन इसके अगुआ हैं। जो भी हो विज्ञान जड़-सत्ता का ज्ञानी है तो भाव आत्मा-चेतन का, यह निर्विवाद है।

संसार में कोई दो व्यक्ति प्रायः ऐसे नहीं पाए जाते जिनकी जीवन-विषयक जिज्ञासाएँ एक ही हों, क्योंकि व्यक्ति की चेतना उसकी एक अलग इकाई रखती है, किन्तु पदार्थों के विषय में यही नहीं कहा जा सकता। धातु एक ही साँचे में ढाली जा सकती है, व्यक्ति नहीं। कोई भी दो व्यक्ति शरीर और मस्तिष्क की समानता लेकर पैदा नहीं होते और न किसी व्यवस्था से पैदा किए जा सकते हैं, वरन् प्रत्येक में अपनेपन का अलग आभास रहता है। यह भिन्नता जीवन में

बड़ा महत्व रखती है जिसकी एकरूपता केवल मृत्यु की जड़ता में सम्भव है अन्यथा नहीं। जन्म से ही प्रत्येक बालक कतिपय व्यक्तिगत शक्तियाँ, सूझ और साहजिक रुचि लेकर पैदा होता है और उसकी यह वैयक्तिकता किसी दूसरे से मेल नहीं खातो, क्योंकि प्रत्येक चेतन विश्व के अनुभव और अध्ययन का अपना अलग स्वतंत्र मार्ग निश्चित करता है। चेतना में परिवर्तन और विकास की सम्भावनाएँ भी सन्निहित रहती हैं, तभी तो वह विकसित होती हुई जीवन की इस सीढ़ी तक पहुँचने में समर्थ हुई है।

कलाकार की चेतना सामान्य मनुष्यों से अधिक विकसित और ग्रहणशील होती है, इसी कारण उसे संसार तथा समाज का अगुआ माना गया है। 'जहाँ न जाय रवि तहाँ जाय कवि' में उसकी गति का निर्देशन मात्र है। मानवता की प्रगति का मार्ग कहीं दूर स्वर्ग में बैठे किसी ईश्वर या शैतान से निश्चित न होकर मनुष्य की अन्तःस्फूर्ति से होता है। विकासवाद की भी यही आस्था है। पूजन-आराधन की वृत्ति का आदेश या सन्देश कहीं बाहर से नहीं आता, वह तो अपने मन की ही मान्यता है। इसी प्रकार अन्य भावों, वृत्तियों के क्रम को भी समझना चाहिए। इस विश्व का विकास किसी संरक्षक या उपदेशक की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि चेतन क्रियात्मक तत्व सत्ता-संज्ञा तथा कण-मात्र का मूलाधार है। दार्शनिक का यह मत है कि—Creative force pervading all matter, living and dead, the machine of the universe is automatic. कलाकार इन्हीं क्रियात्मक तत्वों को अपने चेतन के बल से रचनात्मक तथा सर्जनात्मक गति दे देता है जब कि केवल जड़वादी व्यक्ति उन्हें विध्वंसात्मक भी बना सकता है; एटम बम इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। पर कलाकार का कहना है कि—

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

और फिर

शक्ति के विद्युत कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

मानवता के कल्याण के लिए कलाकार अपनी चेतना से, अपनी सहृदयता से, उपर्युक्त समन्वय का सदोपाय करता चलता है, यही उसका स्वभाव है। साहित्य को छोड़कर जीवन के सभी विभाग सापेक्षता से बँधे होते हैं क्योंकि उनका नेतृत्व करना पड़ता है। व्यक्ति को स्वतंत्रता का वहाँ अधिक मूल्य नहीं रहता, क्योंकि नेतृत्व में दूसरों की सम्मति की अपेक्षा रहती है और यहीं उसकी निरपेक्षता टूट जाती है, किन्तु कला अपनी निरपेक्षता में सतत् गतिशील रहती है। कलाकार, नेता की भाँति ध्वंस-युग का अग्रदूत रह कर भी निर्माण का भार अथवा उत्तराधिकार दूसरों के सिर पर नहीं छोड़ जाता क्योंकि उत्तराधिकार की परम्परा साहित्य में नहीं है, जब कि धर्म, राजनीति और विज्ञान में है। महादेवी जी ने लिखा है—'उपदेशों के विपरीत अर्थ लगाए जा सकते है, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते है, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का अपरिचित रह जाना सम्भव है, बदल जाना सम्भव नहीं। मनु की जीवन-स्मृतियों में अनर्थ की सम्भावना है, पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेषहीन ही रहेगा। इसी से कलाकार के मठ नहीं निर्मित हुए, महन्त नहीं प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नहीं स्थापित हुए और सम्राट नहीं अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता में ही सब का ऐसा अपना बन गया कि समय-समय पर धर्म, नीति आदि को, जीवन के निकट पहुँचने के लिए उससे परिचय-पत्र माँगना पड़ा।'

वस्तुतः साहित्यकार ऐसा ही होता है। राजनीति के विधान, विज्ञान के महत्वपूर्ण अनुसंधान और समाज की स्थूल मान्यताएँ जीवन के सूक्ष्म-तत्व को बाँधने मे असमर्थ है। जिस प्रकार शारीरिक कुरूपता मनुष्य की आन्तरिक सौन्दर्य-सुषमा का अपहरण नहीं कर पाती, बल्कि उसे और अधिक तीव्रता ही दे देती है उसी प्रकार इस बाह्य जगत् की विषमता और अपूर्णता कलाकार के भीतर की समन्वयशील समता और उसकी चेतनमय पूर्णता का अपहरण नहीं कर सकती। साहित्यकार जीवन के शत-शत विरोधों और विषम संघर्षों के बीच में भी समन्वय और सहयोग का सूत्र खोज ही निकालता है। शेली की नीचे लिखी पंक्ति से यह स्पष्ट है—

Our sweetest songs are those that tell of the saddest thought.

एक युग का स्वप्न दूसरे युग का सत्य बनता चलता है, क्योंकि वह व्यक्ति की परिस्थिति और उसकी कल्पना का प्रतिफलन होता है। यह स्वप्न, यह

कल्पना और यह भाव-प्रवणता साहित्यकार का स्वभाव और उसके आगम-दर्शी व्यक्तित्व का विभाव है। कलाकार केवल वर्तमान का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् भविष्यद्रष्टा भी होता है। जिस प्रकार गायक की स्वरलहरी उसकी कंठ-शक्ति के अनुसार अपनी सीमा का विस्तार करती है उसी प्रकार कलाकार की प्रतिभा के अनुसार उसके विषय की व्यापकता भी विस्तृत होती है। वह अपने कल्पना के तीसरे नेत्र से बहुत दूर तक देख सकने में समर्थ होता है। स्वप्नदर्शी तथा कल्पनाशील कवि ने कितने पते की बात कही है—

Such harmonious madness
From my lips will flow ;
The world shall listen them
As I am listening now.

इस प्रकार कलाकार केवल बुद्धि तथा तर्क द्वारा ही नहीं, अन्तःप्रेरणा द्वारा भी गतिशील होता है। बाह्य-जगत् को वाहिका बुद्धि और अन्तर्जगत की प्रेरणा का कलाकार में एक ऐसा सम्मेलन होता है जिसके द्वारा वह विश्व-जीवन की गति का अनुमान और अनुसंधान करने में समर्थ होता है। निरन्तर गतिशील जीवन के उत्थान-पतन में जीवन-विकास की सम्भावनाएँ कला में ही रक्षित रहती हैं। न जाने कितनी ही सभ्यताएँ और उनकी मान्यताएँ, संस्कृतियाँ और जातियाँ मिटकर विलीन हो गईं जिनका चिह्न केवल साहित्य में ही संरक्षित है, अन्यत्र कहीं नहीं। मानवता का स्वतः प्रस्फुटित अविरुद्ध स्रोत अविरत और अविकल गति से प्रवाहित होता रहता है और कला, समय के इसी प्रवाह के बीच जीवन का, अतीत के साथ वर्तमान का और वर्तमान के साथ भविष्य का संयोग-सूत्र स्थापित करती चलती है—अतीत का स्मरण करा कर वर्तमान को पूर्ण तथा पूर्णतम भविष्य का आवाहन करके उसके रूप की रेखा निश्चित करती रहती है। इस संकलन और संयोजन के द्वारा कला जीवन की शाश्वत गतिशीलता का साक्ष्य उपस्थित करते हुए उसे प्रेरणात्मक बल प्रदान करती है।

कलाकार अथवा प्रतिभा सम्पन्न के इसी उत्तराधिकार का स्मरण करते हुए आलोचक श्रेष्ठ Saint Beuve ने कहा है—There is nothing more incomprehensible than genius. If it was not incomprehensible, if it was not unique among many, unique among all, it would not be genius. वास्तव में कलाकार की प्रतिभा अगम होती है, क्योंकि अखिल जीवन और निखिल प्रकृति के साथ वह अपने मन का मेल स्थापित करने

में समर्थ होता है। समस्वर से सधी हुई कलाकार की मनोवीणा विश्व के मनोभावों के साथ झंकृत होती रहती है, व्यष्टि में समष्टि की प्राण-प्रतिष्ठा की यही साधना है। कलाकार ऐसा ही साधक होता है और स्वभावतः अपने व्यक्तित्व-निर्माण में भी वह स्वतंत्र है।

हिन्दी काव्याकाश में निराला का व्यक्तित्व बहुत ही अनोखा और प्रचंड था। अपने नाम के अनुसार वे वास्तव में 'सूर्यकान्त' थे। उन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास बहुत ही स्वतन्त्र रूप से किया। उनके व्यक्तित्व का सम्यक विश्लेषण तर्क और सामाजिक स्थितियों के विवेचन से सम्पूर्णतया सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि Reason is too feeble, we are told for the respect of strong man. उनके विषय में तो केवल यही कहा जा सकता है कि—The superlative abnormality represented by the self-satisfied man. He who has entered upon life to do what he jolly well likes. क्योंकि यह एक सर्वमान्य सत्य है कि The instinctual urges and desires and the unconcious motivation rule mankind, particularly a genius. It is not only the man in the street but even most of our ablest critical writers who seem to shy at any effort to comprehend the impost of the personality structuring of those whose doings they discuss. While emphasising superficial points they almost always neglect the deeper sources of individual or mass behaviour. In particular, nearly all the difficulties of mankind seem for them to be interpretable in materialistic terms, especially economic pressures and swings. One gets the impression that world events are regarded almost as if they were wholly phenomena of a physical nature, complex for understanding, of course, and only to be counteracted by other physical, mainly economic, phenomena. But it is not the real fact that for the most part even international and economic complications are essentially man-made, arising in response to the drives and urges deriving from some special structuring of personality. Is it that we are ignorant of these fundamental truths about the deeper roots of human behaviour

tendencies, or loath to acknowledge them to ourselves because many of them are unpleasant to contemplate? Is it on this account that we so often place the use upon external, 'natural' causations ? Evidently with good reasons Jung has stated, 'much of the evil of the world is due to the fact that man in general is hopelessly unconcious.

William Healy के इन सारगर्भित शब्दों के साथ मैं निराला के व्यक्तित्व-निरूपण की चेष्टा करने का प्रयत्न करूँगा।

मैं जितने आधुनिक कलाकारों को निकट से जानता हूँ उनमें से निराला का व्यक्तित्व सबसे जटिल और बहुत से विरोधों का संगम है। सजग आत्मवान व्यक्ति परस्पर विरोधी शक्तियों का प्रायः केन्द्र होता भी है। कहा गया है कि—सोऽयमात्मा सर्व विरुद्धधर्माणां आश्रयः। निराला का हृदय भावों का अगाध समुद्र था तो मस्तिष्क बौद्धिक जिज्ञासाओं का सावन-भादो। तूफान उठना, लहरों का टूटना वहाँ एक साधारण सी बात थी। उत्साह, स्नेह, करुणा, क्रोध, क्षोभ एवं विद्राह आदि सभी उनके पास से एक झटके के साथ जोर से बाहर निकलते थे। नाप-तोल की सोची-समझी बातें उनके पास नही थी, क्योंकि नागरिक वाकपटुता और सतर्कता की अपेक्षा एक सहज-सरल विश्वासमयी ग्रामीण आस्था की ओर उनका झुकाव अधिक था। वे उन्नाव जिले के देहाती माँ-बाप की सन्तान थे और उनका बचपन बंगाल की अकृत्रिम प्राकृतिक सुषमा के बीच बीता। घंटों बगीचे मे बैठे फूलों को सहलाना और उन्हीं से अपने मन की बातें गुनगुनाना उनका नित्य का काम था। तितली, भ्रमर उनके बाल सहचर रहे है। वे प्रायः अपनी माँ से सूर्यास्त की रंगीनी देखने की प्रार्थना करते थे। घर से अधिक बगीचे मे बैठना-उठना उनको प्रिय लगता था। फूलों की सुगंध और प्रकृति की पवित्र वायु से उनका तन और मन पोषित था। निराला स्वभाव से ही चिड़ियों की चहक, झरनों की कलकल और वसन्त की रंगमयता तथा आकाश की शुभ्रता से लगाव का अनुभव करते थे। प्रकृति के समस्त प्रसाधनों पर वे मुग्ध थे और हर ऋतु के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तनों की उनको पूर्ण जानकारी भी थी। यही कारण है कि उनकी प्रायः श्रेष्ठ रचनाएँ प्राकृतिक सुविधाओं और सौन्दर्यों से आवेष्ठित हैं। निराला ने प्रकृति को वेदान्तियों की तरह जड़ न मान कर उसमें एक व्यापक चेतना का स्फुरण और मानवीय जगत् के प्रति सम्वेदनशीलता का अनुभव किया था। इस कारण उनकी

वाणी और उनके व्यवहार में एक प्राकृतिक निश्छलता का स्पष्ट आभास मिलता था।

भावावेश में उनके अभिप्रायों की अविकल झड़ी सी लग जाती थी। उनके प्राण सदैव भाव भूले में झूलते रहते थे; ज्ञानियों की चहारदीवारियों से वे नहीं घिरे। पतले तारों से कसे हुए वाद्य-यंत्र की तरह वे हलके-फुलके आघात से भी सहसा झंकृत हो उठते थे पर इसके साथ ही आघात सहने की उनमें अटूट क्षमता भी थी। प्रतिभा की प्रखर जगमगाहट के साथ बुद्धि के संस्कार-परिष्कार और विवेकमय आचार-विचार की सुव्यवस्थित तथा शीतल चाँदनी की छटा भी उनमें घुली-मिली थी। अपने निश्चित पथ को छोड़कर कभी न भागने की उदात्त उठान के साथ प्रगति के मोड़ों की तरलता से उनका साहित्य सजा हुआ है। सतत् गतिशीलता ही उनके साहित्यिक जीवन की रीढ़ थी। उनका सारा जीवन, सारा साहित्य अथक और अनवरत परिश्रम तथा साधना एवं अदम्य उत्साह और ओज की आभा से निर्मित हुआ जान पड़ता है। वास्तव में श्रम-साध्य जीवन ही सच्चा होता है। निराला का जीवन ऐसा ही था; मुफ्तखोरी के अभिशाप से वे वंचित रहे। संकुचित और रूढ़िगत मनोवृत्तियों और परम्पराओं के साथ चाहे वे सामाजिक, राजनीतिक अथवा साहित्यिक या अन्य किसी प्रकार की हों निराला ने सदैव युद्ध किया। अपनी इस आस्था के प्रति अडिग रहते हुए भी किसी सुधार अथवा सामूहिक कल्याण की भावना के अवसर का स्वागत करने मे वे कभी नहीं चूके। जीवन की विलासमयी सुविधाएँ उनको बहुत कम मिली थीं, इसलिए आलस्य का उनमे एकान्त अभाव था।

जिस नगण्य पारिश्रमिक के साथ संसार के असंख्य प्रलोभनों और पीड़ाओं के बीच वे साहित्य-सेवा करते रहे वह केवल आश्चर्य को नहीं आदर की बात है। किसी विपन्नता और विरोध में दम तोड़ने की शक्ति निराला मे नहीं थी, क्योंकि शाश्वत संघर्ष ही तो उनका आनन्द था। शैशव से ही उनको ऐसा अभ्यास था। वे हिन्दी मे तरंग-पूर्ण यौवन के प्रतिनिधि थे। उनमें बैसवाड़े तथा बंगाली देहाती के सब गुण साकार थे—सादगी, श्रम, शक्ति, उदारता, भावुकता, राष्ट्रीयता, ईमानदारी, स्वास्थ्य और सुरती-सेवन। भयंकर दुखों की बौछार के नीचे भी मुस्कराती हुई प्रसन्न मुख-मुद्रा और शान्तिमयी सहनशीलता के साथ क्रान्ति की विवश झुंझलाहट की अस्पष्ट रेखा दीन-हीन, शोषित-पीड़ित भारतीय कृषक का स्मरण दिलाती है, पर उनके निकट जाकर पता चला कि

निराला के वृषभ स्कंध पर केवल एक भावुक कवि का नहीं एक दार्शनिक मनीषी का चिंतन-बहुल सिर भी था। वे अपने व्यवहार में हार्दिक और सृजन में मार्मिक थे। अपने ऊपरी शिष्टाचार में वे चूक भी सकते थे, प्रायः चूक जाते थे पर उनकी आन्तरिक सहृदयता अचूक थी, अटल थी।

निराला ने कालेज की चहारदिवारी के भीतर बैठकर विदेशी शिक्षा-क्रम की पाषाणीयता से सिर नहीं फोड़ा, पर जीवन का खुला अध्ययन और अनुभव उन्होंने किया। अँग्रेजी कवि पोप (Pope) की तरह उनका स्वाध्ययन बहुत विस्तृत और गम्भीर था। उन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में ही संस्कृत और बँगला का अध्ययन सुरुचि से कर लिया था। अँग्रेजी का भी पठन-पाठन प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार उनकी प्रायः सारी शिक्षा उनकी अपनी ही रुचि और स्वाध्ययन से हुई। यह कौन नहीं जानता कि मानवीय ज्ञान-साधना के दो ही मार्ग हैं—अध्ययन और अनुभव। अध्ययन का माध्यम इतिहास है और अनुभव का व्यक्ति स्वयम्। अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक शक्ति के अनुसार अपना अलग-अलग उपयोग तथा महत्व रखता है किन्तु अनुभव में एक प्रकार की विषम सापेक्षिक अभिन्नता रहती है। आग के स्पर्श का अनुभव प्रायः सब का समान ही होगा, यह बताने की आवश्यकता नहीं। संसार के सामान्य तथा व्यापक तथ्यों का उद्घाटन अनुभव के ही बल से होता है, अध्ययन से वह सम्भव नहीं होता, क्योंकि मनुष्य के विचारों और स्फूर्तियों का विषय प्रत्यक्ष संसार होता है लिखित-पठित नहीं। अध्ययन और अनुभव में वही अन्तर है जो कागज के और वास्तविक फूल में। प्रत्यक्ष जगत् और जीवन के अनुभव से ही व्यक्ति विश्व का रहस्य और जीवन का ज्ञान प्राप्त करता है। विशेषकर साहित्यकार के लिए अनुभव का अध्ययन से अधिक महत्व है। निराला इस महत्ता से मंडित थे। पर आधुनिक शिक्षा की कृत्रिम और दिखावटी साहबी रीति-नीति से वे अपरिचित रहे, यह सच है। झूठे civilized ढंग के संकोच-शील का उनमें अभाव था, किन्तु अपढ़ का अडिग धैर्य और सहज सारल्य उनकी अपनी निजी सम्पत्ति थी। इसका यह आशय नहीं कि निराला पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने जीवनोपयोगी सभी विषयों का विशद अध्ययन किया। पाली और उर्दू तो उन्होंने बाद में पढ़ी पर उनकी पढ़ाई-लिखाई डिगरी और नौकरी के लिए नहीं बल्कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए थी। कहना न होगा कि आजकल की स्कूली पढ़ाई केवल नौकरी के लिए होती है। डिगरीधारी लोग सबसे पहले नौकरी की खोज करते हैं। गत जनगणना के अनुसार नब्बे प्रतिशत डिगरीधारी सज्जन नौकरपेशा हैं।

नौकरी की बात सुनकर निराला प्रायः कह उठते थे—

'नौकरी हम ना करी, गर करी तो कट गई यह नाक री' गोस्वामीजी का भी दोहा है—

हम चाकर रघुवीर के पटौ लिख्यो दरबार,
अब तुलसी का होंइगे नर के मनसबदार।

अध्ययन के क्षेत्र में दर्शन निराला का सबसे प्रिय विषय जान पड़ता है। वे एक सचेष्ट दार्शनिक और सबल बुद्धिवादी थे। इसीलिए साहित्यिक चर्चाओं और वाद-विवादों में वे कभी किसी से पीछे नहीं रहते थे। साहित्य को लेकर उन्होंने गाँधी जी तथा अन्य नेता नामधारी व्यक्तियों से अनुत्तर कर देनेवाले तर्क किए थे, यह सभी को विदित है।

निराला हिन्दी के अन्य कलाकारों की भाँति 'नाम बडे दर्शन थोड़े' के बिलकुल विपरीत 'नाम थोड़े दर्शन बड़े' के आधार थे। मेरा यह आशय नहीं है कि हिन्दी में 'नाम बड़े दर्शन बड़े' की कोटि के साहित्यकार हैं ही नहीं, पर यह भी ठीक है कि हिन्दी के लेखक में व्यक्तित्व का प्रायः अभाव रहता है। इसका कारण प्रत्यक्ष है—अँग्रेजी की महत्ता ने हिन्दी को दबाया तो यह स्वाभाविक था, क्योंकि वह राज्यभाषा थी, पर हमारे देशप्रेमी नेताओं ने भी हिन्दी का कभी महत्व नहीं माना। मुसलमानों को खुश करने के लिए हिन्दी की उपेक्षा करके हिन्दुस्तानी के नाम पर उर्दू का प्रचार करते रहे और गरीब हिन्दी-लेखक दबता चला गया। फिर भी कतिपय साधनाशील कलाकारों ने अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है और डंके की चोट के साथ किया है। निराला उनके नेता थे।

कहा जाता है कवि देखने के नहीं पढ़ने-सुनने के होते हैं पर निराला इसके अपवाद थे, वे देखने-सुनने दोनों के लायक थे। लम्बे-तगड़े स्वस्थ-सौम्य शरीर को देखकर कोमल प्रवृत्ति के लोग उन्हे पहलवान मानकर संतोष कर लेते और उनकी कोमल स्वरलहरी को सुनकर, आँखों का तरल-करुण विन्यास देखकर, मुखाकृति की स्निग्ध सुकुमारता से प्रभावित होकर साधारण मनुष्य भी उन्हें कवि मान लेने को बाध्य होते थे। सच तो यह है कि निराला मे कवि-पहलवान का एक दर्शनीय समन्वय था जो अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। उनकी ये पंक्तियाँ—

मेरा अन्तर वज्र कठोर,
देना जी भरसक झकझोर।

उनके उद्दाम पौरुष को प्रत्यक्ष करती हैं तो—

अंधकार में मेरा रोदन,
सिक्तधरा के अंचल को
करता है, क्षण-क्षण !

में उनकी सकरुण कोमलता साकार हो उठी थी। कठोर-कोमल का यह सम्मिश्रण निराला के व्यक्तित्व में एक खास चीज थी। इस प्रकार के कई परस्पर विरोधी तत्वों तथा गुणों का निराला मे समावेश पाया जाता था। यह उनके बंगाल जीवन के संस्कार और संस्कृति का परिणाम था। बंगाल में कठोरता और प्रचंडता की प्रतीक दुर्गा-पूजा का बहुत बड़ा समारोह होता है और उसके साथ ही कोमलता तथा स्निग्धता की प्रतीक सरस्वती-पूजा की भी वहाँ बड़ी धूम-धाम रहती है। स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं इन दोनों रूपों की उपासना का निरूपण और विवेचन किया है। निराला ने लड़कपन से दोनों प्रकार की पूजाएँ देखी थीं और स्वामी विवेकानन्द का विशेष अध्ययन किया था। इसी का परिणाम उनके जीवन और कृतियों मे लक्षित था। इन्हीं विरोधी भावों की संगठित विभूतियों के कारण निराला हिन्दी का पहला कवि है जो विरोध और विपत्तियों को पार करता हुआ समय की संगीनों के सामने सीना तानकर खड़ा हुआ पीछे वालों को, साथियों को चेतावनी सा देता ललकार रहा है—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !
सामान सभी तैयार,
कितने ही हैं असुर, चाहिए कितने तुमको हार ?
कर मेखला मुंड मालाओं के बन मन-अभिराम।
एक बार बस और नाच तू श्यामा !

विरोधों के ऐसे सम्मेलन से व्यक्ति के व्यक्तित्व का दोहरा विकास होता है। बंगाली वातावरण की प्रकृतिजन्य भावुकता और क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की दुर्दम्य साहसिकता के आकर्षण और अनुबंध के कारण निराला के व्यक्तित्व में विषमताओं की ऐसी बारीक तहें पड़ गई थीं कि वे सहज ही समझ में भी नहीं आतीं, किन्तु सुविधा के लिए उन्हें भावात्मक और क्रियात्मक रूप में विभाजित किया जा सकता है। निराला में इन दोनों की एकरूपता का साक्ष्य मिलता था। गोस्वामीजी ने भी राम-स्वभाव मे विरोधों के मेल का संकेत किया है—

बज्रहु चाह कठोर अति कोमल कुसुमहु चाह,
चित खगेश रघुवंशमणि वरन सकहि लहु काह !

ऐसे दोहरे व्यक्तित्व होते हैं। योगी की कठोर कर्म-निष्ठा और कवि की कोमल भाव-प्रतिष्ठा राम में थी। निराला में अपने आवेशों को सम्हालने का योग उतना नहीं था जितना अपने भावों के साथ समस्वर होने का कवि-सुलभ अपनाव। मैंने उन्हें कितनी ही बार कविता पढ़ते देखा था। संगीत की बहार और अभिनय-कौशल के साथ उनकी वाणी कविता के भाव के साथ एकरूप हो जाती थी। जो भाव वही शब्द, और जो शब्द वही स्वर। उनकी कविता और कवितापाठ में कोई अन्तर ही न रह जाता था। निराला के काव्य को पढ़ने की अपेक्षा स्वयं उनके मुँह से उनकी कविता सुनने का आनन्द कुछ और ही होता था।

छः फीट से कुछ अधिक लम्बा, स्थूलता की ओर झुकता हुआ सा भरा-पूरा शरीर, गेहुँआ रंग, आँखों मे दर्शन की पिपासा से तने हुए लाल डोरे, लम्बे एवं चिकने-सटकारे बाल, निराला का रूप-विन्यास था। शैशव सा सरल और जवानी सा अलमस्त निराला अपने स्वभाव और आकार-प्रकार से मनोविज्ञान की प्रयोगशाला के ही उपयुक्त थे, इसमे सन्देह नहीं। यदि उनका केवल वाह्य शारीरिक संगठन देखा जाय तो भी वह सभी से भिन्न अनोखा और आकर्षक था। उनके अंगों की गठन, उनकी दृष्टिगत चेष्टाएँ, उनका चलना-फिरना सभी अपनेपन से पूर्ण और रुचिकर थे। प्रयाग तथा लखनऊ की सड़कों में पुराने फटे कपड़ों के साथ घूमते-फिरते, उनके शब्दों मे तिताला टहलते निराला ने अपनी ओर किसका ध्यान नही आकर्षित किया? फटे कुर्ते और मैली लुगी पर लाखों कोट-पैन्ट निछावर करके किस व्यक्ति ने इस भव्य स्वरूप के सम्मान मे हाथ नहीं उठाया? अपनी लम्बाई-चौड़ाई के कारण ही सही पर यह तो अनुभूत सत्य है कि बिना सर्व-साधारण का ध्यान आकर्षिक किए हुए निराला का किसी मार्ग से निकल जाना सम्भव नहीं था। एक घटना से यह स्पष्ट है। पुरुषोत्तम पार्क, प्रयाग मे मेजर जनरल शाहनिवाज का भाषण होने वाला था। मैं अपने पड़ोसी मित्र विक्रम को छोड़कर निराला जी के साथ, चला गया। भाषण के बीच में ही विक्रम महोदय हम लोगों के पास उपस्थित हो गए। मैने पूछा—"कैसे पा गए?" उत्तर मे उसने तुरन्त कहा, "सड़क पर से निराला जी का चेहरा साफ दिखाई पड़ता था, सबसे एक बालिश्त ऊँचा।" मित्र की इस बात को यदि कुछ बढ़ी-चढ़ी भी माना जाय तो भी निराला की उँचाई के लोग कम होते हैं, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है।

इस प्रकार प्रतिभा, आन्तरिकता और विचार-गम्भीरता आदि गुणों को अलग रखकर देखने वालों की आँखों को भी निराला तृप्तिकर नहीं तो चकित-

कर अवश्य थे। हिन्दी के किसी अन्य कवि की यह विशेषता इस युग में नहीं रही। बड़ी से बड़ी भीड़ में निराला का घुलमिल जाना कठिन होता था। सशक्त पौरुष का स्वरूप निराला शारीरिकता में भी अन्यतम थे। और निराला की मानसिकता—प्रतिभा कैसी थी? यदि प्रतिभा का भी वर्गीकरण हो सके तो निराला की प्रतिभा एक वीर क्षत्रिय की प्रतिभा थी। निराला के तन और मन दोनों में क्षत्रियत्व की छवि की आभा थी। वीर-भाव ही उनकी प्रतिभा का स्थायी भाव था। वे कहा भी करते थे—" 'करुणा' को ही रस-श्रेष्ठ बताना कमजोरों का काम है, न जाने भवभूति ने क्यों ऐसा कहा? पुरुष के लिए तो केवल एक ही रस, वीर-रस उपयुक्त है। वैसे सभी रस हैं ही। वीर रस में करुणा, दया का अंश आवश्यक है। किसी दुर्बल की रक्षा के लिए सबल का सामना करने से, अपने को जोखिम मे डालकर भी पड़ित की रक्षा करने से ही तो वीर रस सिद्ध होता है। पर आजकल लोग जोखिम उठाने से डरते हैं और करुणा-करुणा मिमियाने लगते हैं।" अपने इसी विचार के कारण निराला किसी से दब कर तथा किसी के अनुशासन मे रहने वाले व्यक्ति नहीं थे। विद्रोही की हुँकार, जोर के साथ किसी काम मे जुट जाने की लगन भी इसी का सुफल थी। दूसरे के विचारों और सम्मतियों का समादर करते हुए भी आवश्यक होने पर वे फौरन उनसे विद्रोह-विच्छेद कर सकते थे, समय के अनुसार सब से अकेले होकर खड़े हो सकते थे। व्यक्तित्व की गहराई तक न पहुँचने वाले व्यक्ति निराला की ऊपरी चाल-ढाल से असन्तुष्ट हो सकते थे, होते थे, पर निराला इसकी परवाह नहीं करते थे। वे जिसे ठीक समझते उसे करते थे। उनके वाक्य, भाव, शैली सभी सब से अलग और नितान्त मौलिक थे। अपनी प्रथम कविता पुस्तक 'परिमल' की भूमिका में निराला ने साफ लिखा है—"मेरी तमाम रचनाओं में दो-चार जगह दूसरे के भाव, मुमकिन है, आ गए हों; पर अधिकांश कल्पना पन्चानबे फीसदी मेरी अपनी है।" वे निर्विवाद रूप से एक मौलिक स्रष्टा थे और उन्हें स्वयं इसका पूर्ण विश्वास भी था। निराला का यह आत्म-विश्वास उन्हें जीवन और साहित्य में बहुत ऊँचे उठा देता है।

दूर से देखने पर निराला अपने अहम में डूबा हुआ सा जान पड़ता था, समीप से भी वह कुछ-कुछ ऐसा ही था, जैसे कहना चाहता हो—'मैं सब कुछ जानता हूँ, मुझे दुनियाँ की परवाह नहीं।' यह होते हुए भी निराला अहंकारी नहीं था, हाँ, आत्मचेता वह अवश्य था। अपनी दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण संसार से अलगाव की जो एक आस्था थी, वही निराला में अहंकार सी जान

पड़ती थी। साधारणतः संसार किसी की एकदम अलग इकाई को स्वीकार नहीं करना चाहता और निराला अपने स्वभाव और स्वरूप से सब के साथ दूध-पानी की तरह मिलने में असमर्थ था। इसी से निराला के बारे में भ्रम हो जाना एक सहज सी बात थी। बहुत से देखने वालों ने उनकी लस्टम-पस्टम वेश-भूषा में भी उनके अहम् को, जो समाज से विद्रोह करने का व्रत रखता था, स्पष्ट रूप से देखने का दावा किया है पर मेरी समझ में तो वह उनकी परिस्थितियों की सच्चाई के सिवा और कुछ नहीं था। ढोंग के इस युग में वास्तविकता को भी यदि बनाव-ठनाव समझा जाय तो आश्चर्य नहीं; ओलों के साथ रिमझिम की बूंदें भी वज्रपात सी मालूम पड़ती हैं।

अपने स्वभाव की कुतूहल-वृद्धि और आवेग के प्रवाह में निराला के दार्शनिक मूड का पता नहीं चलता था, ऐसे अवसरों पर दार्शनिक की तटस्थता की अपेक्षा उनमें एक बालक की जिज्ञासा सी जग पडती थी। वे दूसरों के विषय में, अपने विषय में बहुत कुछ जानने-सुनने को लालायित हो उठते थे। प्रोत्साहन को आन्तरिक प्रेरणा-परिचालित मानकर भी बाहर की निन्दा-स्तुति की वे उपेक्षा न कर पाते, अधिकतर उत्सुकता ही प्रकट करते। यदि बाहर की सम्मति अथवा आलोचना से उनको संतोष न होता और उसमें उन्होंने किसी कलात्मकता की कमी देखी तो स्वयं अपनी कला-कृति पर अपनी समालोचना और सम्मति दे बैठते थे। कुछ लोगों को उनका अपनी कृतियों के बारे मे कुछ कहना-लिखना अशोभन प्रतीत होता था। इसे वे उनके अभिमान की सूचना मानते थे, पर यह उनके अभिमान का नहीं वरन् मन की दृढ़ता और सत्याग्रह का संकल्प मात्र था। वास्तव में निराला बहुत बड़े जीवट के व्यक्ति थे, अंधश्रद्धा और दिखावे का शिष्टाचार ऐसे व्यक्ति का आदर्श हो भी नहीं सकता।

निराला को स्वास्थ्यरक्षा और पहलवानी का चाव था क्योंकि उनका यह निश्चित मत था कि शारीरिक स्वास्थ्य के बिना मानसिक स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रह सकता। सुन्दर स्वास्थ्य के ही कारण उनको जल्दी किसी प्रकार की उत्तेजना नहीं सताती थी, किन्तु यदि किसी कारण विशेष से वे कभी उत्तेजित हो जायँ तो फिर सँभलने में भी देर लगती थी। जीवन और साहित्य में वे किसी की चुनौती का उत्तर दिये बिना न रह सकते थे। लड़कपन में एक बार उन्होंने एक बड़े पहलवान को, यह कहते सुनकर कि उससे लड़ने लायक तो कोई नहीं, ये सब बच्चे हैं, अपनी शक्ति और सामर्थ्य के परे समझते हुए भी चैलेन्ज किया था। कुछ इसी प्रकार के चैलेन्ज का स्वर उनके साहित्य में भी पाया

जाता है। किसी भी मानवी शक्ति के सामने वे झुकने को तैयार न होते। 'जो एक मनुष्य कर सकता है वह मैं भी कर सकता हूँ,' उनका दृढ़ विश्वास था। यही निराला की निराली शान थी।

जिस कवि ने भूख की तीव्रता मे रोटी के टुकड़ों का निराश आह्वान किया था, अधिक से अधिक शारीरिक और मानसिक आघात सहा था, (निराला को पागल साबित करने की भी लोगों ने चेष्टा की थी) जीवन के संघर्ष से सात्विक अनुभूतियों का आकलन किया था, अपने को चारों ओर से चीन्हा-पहचाना था, वह निश्चय ही एक शक्ति-सम्पन्न कवि था और उसे अपनी शक्ति का मान भी हो ही सकता था, इसमें कोई बुराई भी नहीं। निराला इसी प्रकार का कवि था। जगत् की कुटिलता और मनुष्य की द्वेषात्मक वक्रता के कारणों को अच्छी तरह से समझ लेने के बाद यदि निराला में कुछ लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव जाग भी पड़ा हो तो यह अस्वाभाविक नहीं कहा जायगा। त्रुटियों और अपूर्णताओं के प्रति निराला क्षमाशाली थे, किन्तु समर्पणशील कदापि नहीं। बड़े से बड़े व्यक्ति की त्रुटियों की ओर संकेत करना और अपना सुझाव देना। वे अपना कर्तव्य समझते थे। और ऐसा करते समय उनसे कभी-कभी ज्यादती भी हो पड़ती थी। निराला के निकट संपर्क में आने वाले इसे भली भाँति जानते थे कि कभी-कभी आलोचनात्मक आवेश में वे गाली तक बक जाते थे। गाँधी जी की अनेक गल्तियों की स्वीकृति का हवाला देकर वे उन्हें हिन्दू-मुसलमान मेल का यह व्यंगात्मक ढंग भी बताने लगते थे—'बापू यदि तुम मुर्गी खाते, तो हिन्दू-मुसलमान मेल शीघ्र हो जाता।' बात यह थी कि निराला अपने मनोभावों को दमन करने वाला कोई सन्त-महंत नहीं था, और न आदर्शवाद का ढोल पीटने वाला ढोंगी, वह कवि था और अभिव्यक्ति उसका कार्य।

किसी ने उनके घाव में नमक छोड़ा कि उनकी त्योरी बदली, आँखें लाल, सारा शरीर काँप उठा और उस स्थिति में उनसे जो कुछ बनता कह सुनाते, पर आवेश का क्षण बीतने के पश्चात् उसी व्यक्ति की साधारण पीड़ा से निराला की आँख किस क्षण छलछला पड़ती, कोई नहीं कह सकता था। ऐसे ही भावात्मक विरोधों के मेल का नाम निराला था। उसमें दार्शनिक की खोज, संदेहवादी की संशयशीलता, भक्त-प्रेमी की आत्मविह्वलता, क्रान्त की क्रूरता और तीव्रता, शूर-वीर की तेजस्विता और जीवन के उत्ताप की पीड़ा एक साथ ही घुल-मिल गई थी। यही कारण था कि निराला ने धरती पर के दीनों, पीड़ितों, उपेक्षितों और शोषितों से लेकर चराचर प्रकृति और उसके आदि-स्रष्टा तक के गीत गाए।

निश्चय ही उनके साहित्य में उनके जीवन की भाँति एक सजग और सच्चे सिपाही की 'जागते रहो' वाली चेतनता परिव्याप्त थी पर इसके साथ ही स्वस्थ सौन्दर्य-दृष्टि, परिपुष्ट शब्द-योजना, तीर के समान तीखी किन्तु उपयोगी व्यंग-व्यापकता, जीवन के विभिन्न स्तरों की रंग-रसमय उद्भावना, बुद्धि-विलास की चातुरी और विकासशील सौजन्यमयी सहृदयता में भी वे किसी कवि से कम नहीं पड़ते थे। देव और दानव के संघर्ष से प्रस्फुटित निराला का साहित्यिक व्यक्तित्व विराट रूप था।

जीवन में भी वे विराट थे। धींगा-धींगी से उन्हें चिढ़ थी, स्पष्टवादिता उनका शृंगार-सम्बल था। लौकिक निपुणता की उनमें बहुत कमी थी और एक अंश तक उसकी अपेक्षा भी। उनके साथियों में केवल साहित्यिक ही नहीं, पूरी शंकर की बारात थी। वे प्राणीमात्र से समान आत्मीयता का व्यवहार बिना किसी भेदभाव के करते थे। निराला ने एक कहानी मे एक पगली से कहलाया है—"तुमने कपड़ों को पूजना सीखा है, मनुष्य का आदर करना नहीं।" पगले, लूले, लँगड़े, काले, कोढ़ी, नंगे भिखमंगे सभी निराला से सक्रिय आत्मीयता पाते। परिचित-अपरिचित सभी प्रकार के साहित्य-प्रेमी युवकों को उत्साह देना, उनमें आत्म-विश्वास का भाव भरना उनका नित्य का काम था। मजदूर-स्टाल में चाय पीना उन्हें बहुत प्रिय था, मेहमानों को भी वहीं चाय पिलाने की झक भी। कभी-कभी निराला का आतिथ्य बेढब होता था, यों वे खिलाने-पिलाने में बड़ा आनन्द भी लेते थे। दावत देने की उनकी लत थी।

छायावादी होते हुए भी वे प्रगतिवादी थे। और प्रगतिवादी होते हुए भी आध्यात्मिक। यथार्थ के प्रति इतने अधिक उन्मुख और जागरूक होते हुए भी जीवन की गहन तथा रहस्यमय आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से वे विमुख नहीं हो पाते थे। शक्ति, साहस, ओज और पौरुष के गायक की आत्मनिष्ठ आध्यात्मिक तन्मयता देखकर ऐसा लगता था जैसे कोई साधक अपनी साधना को जगाने के लिए किसी गुफा में प्रवेश कर रहा हो। अपनी ऐसी प्रवृत्तियों को वे ढोल पीट कर कभी दूसरों पर लादना भी न चाहते थे, क्योंकि उनको पता था कि देवता बनकर इस संसार में सुख से तभी रहा जा सकता है जब इसकी चतुर्दिक परिस्थितियाँ भी दिव्य हों। स्वभाव और समझ से बुद्धिवादी होने के नाते काव्य में केवल कोमल-कोमल, तुहिन-तरल हलको-फुलकी कल्पना को वे महत्व न देते थे, वे विचार या दर्शन का प्रतिपादन चाहते थे। केवल अनुभूति की सचाई पर भी उनको संतोष हो जाता था। कवि और योगी का उनमें आश्चर्यजनक मिलाप हुआ

था। उनका कवि प्रत्यक्ष जगत की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रतिफलित अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में लीन रहता था तो उनका योगी अन्तर्जगत की अनुभूतियों का संचयन करने में व्यस्त रहता था। दोनों का अलग-अलग आभास भी मिलता था, सम्भवत: कवि ही अपनी चरम साधना की परिणति में योगी बन जाता है। दाहकता जैसे आग का गुण है उसी प्रकार प्रत्यक्ष जीवन और जगत की अनुभूतिमयी अभिव्यक्ति कवि का, किन्तु जिस प्रकार आग बिना इंधन के राख हो जाती है उसी प्रकार प्रत्यक्ष जीवन मानस की उच्चभूमि अध्यात्म के बिना व्यर्थ और आधारहीन हो जाता है। व्यक्तिगत जीवन की सँकरी गली में आकाश की विस्तृत छाया की भाँति प्रत्यक्ष संसार की स्थिति में व्यापक अध्यात्म की सत्ता स्वयंसिद्ध है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि निराला इस जीवन की सामाजिक तथा राजनीतिक अथवा साहित्यिक परिस्थितियों के सुधार के लिए गाँधी की तरह पूजा-प्रार्थना या ईश्वर की सहायता चाहते थे। उनका कहना था—"गाँधी के ईश्वर से मेरे ईश्वर की स्पर्धा चलती है, क्योंकि गाँधी का ईश्वर हिन्दुस्तानी चाहता है और मेरा हिन्दी। जीत मेरे की होगी, यह तय है, क्योंकि दोनों ईश्वर बराबर और मैं गाँधी से कुश्ती में तगड़ा पड़ूंगा ही।" इन सब बातों से उनका मतलब व्यक्तिगत ईश्वर का परिहास करना मात्र था।

मनुष्य की क्रियाओं और उसके मनोभावों का यद्यपि कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता तथापि हैं वे अन्योन्याश्रित। मनुष्य की सारी उलझनों की कुंजी यही है। इसके सुलझाने-समझने के लिए ही मनुष्य धर्म, दर्शन और ज्ञान-विज्ञान की उपासना करता है, उसे बनाता है, मिटाता है और फिर गढ़ता है। कलाकार के सामने यह अड़चन नहीं रहतीं, क्योंकि वह उपदेशक नहीं गायक होता है। निराला कभी सोच-सोचकर, ठोक-पीट कर कोई चीज लिखना पसन्द नहीं करते थे। जो लिखते थे अपनी सहज प्रेरणा से, किसी नीति या दबाव से नहीं और न जनता से 'वोट' उगाहने की गरज से। साहित्य के दलालों ने उनकी रचनाओं में अस्पष्टता का आरोप किया है जो कि स्वयं उनकी बुद्धि के दिवा-लियापन का सबूत है। निराला के सामने ज्ञान की अपेक्षा जीवन का स्थान बहुत ऊँचा था, क्योंकि ज्ञान शुष्क और जीवन सरस होता है; इसी कारण यह प्राय: देखा जाता है कि ज्ञानी विनोदी न होकर गम्भीर होता है, परन्तु निराला सोलहो आने विनोदप्रिय थे। मन को अटूट आनन्द देने वाली कितनी ही विनोद-प्रिय कविताएँ उनके काव्य-संग्रहों में हैं और उनकी बातों में तो विनोद बिखरता चलता था। विनोद, हास-परिहास कला का एक विशेष अवयव माना गया

है। कुछ आचार्यों का तो यहाँ तक कहना है कि बिना इसके कला की वही स्थिति है जो बिना दरवाजे के घर की। आधुनिक कवियों में निराला का साहित्य जगह-जगह विनोद की मोदमयी उद्भावनाओं से आपूरित रहा।

स्वर-मैत्री और उनके संगीत की पकड़ निराला में बहुत ही विकसित थी। संगीत तो उनका जन्मजात अलंकार था। पाँच-सात वर्ष की अवस्था से ही निराला महिषादल के राज-मन्दिर के घड़ी-घन्टों और शंखों के स्वरों को सुन-कर एकदम तन्मय हो जाते थे। मनोवैज्ञानिकों ने पता चलाया है कि कोई-कोई बच्चा अपनी माँ की हृदय-धड़कन को सुन-सुनकर भी सुर-समता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रायः उन बालकों से सम्भव होता है जो अपने शरीर और स्वास्थ्य से बहुत ही परिपुष्ट और पूर्ण विकसित होते हैं। निराला के स्वास्थ्य की तो बात ही क्या ? वे दसवें माह में पैदा हुए थे, वस्तुतः उनके पूर्ण-विकास में भी कोई सन्देह नहीं। जो भी हो, पर इतना निश्चित है कि उनका संगीत-प्रेम बहुत लड़कपन से ही प्रत्यक्ष और स्पष्ट था। जन्मजात शक्तियों की सम्भा-वना हमारे यहाँ पुराणों में वर्णित है। अभिमन्यु के लिए कहा जाता है कि वह चक्र-व्यूह तोड़ने की कला गर्भ में ही सीख गया था, क्योंकि अर्जुन अपनी गर्भवती पत्नी को नित्य ही चक्र-व्यूह-रचना और उसके तोड़ने की कला की कथाएँ बताया समझाया करते थे। अब तक हम लोग इसे बहुत अधिक विश्वसनीय नहीं मानते थे, किन्तु अब तो पाश्चात्य देशों के विज्ञानियों ने भी इन तथ्यों को सम्भावना पर विश्वास करना प्रारम्भ कर दिया है, क्योंकि खोज, अध्ययन और प्रयोगों से उन्होंने Antenatal तत्वों की स्थिति का पता लगा लिया है। निराला की माँ वैसवाड़ी लोकगीतों को गुनगुनाती रहती थीं और उनका निवास-स्थान महिषादल में उस राजमन्दिर के निकट था जहाँ भजन-कीर्तन एवं संगीत-समारोह नित्य का नियमित कार्य-क्रम था। निराला संगीत के इन संस्कारों से लाभान्वित हुए हों तो कुछ आश्चर्य नहीं।

नादमय चुने हुए थोड़े शब्दों से अधिक आशय व्यक्त करने की उनकी चातुरी बहुत ही अद्भुत और अनोखी थी। इस दृष्टि से उनके जैसी अर्थवाही तथा संगीतप्राण एवं गुहावरेदार भाषा में लिखने वाले कम ही लोग हैं। प्रवर्तन-शील शैली से उनके वर्णन चित्रमय और संगीत के प्रभाव से ऐसे मुखरित हो उठते कि निराला के शब्द-चित्र प्रायः चलते-फिरते सजीव व्यक्ति का रूप धारण कर लेते—

प्रिय यामिनी जागी !
अलस पंकज-दृग अरुण-मुख
तरुण अनुरागी !
खुले केश अशेष शोभा भर रहे,
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे,
ज्योति की तन्वी, तड़ित—
द्युति ने क्षमा माँगी।
हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक, चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल,
वासना की मुक्ति मुक्ता
त्याग में तागी।

यह कविता उनके शब्द-चित्रों का एक उदाहरण है। पर यह भी ठीक है कि निराला की शैली कहीं इतनी निराली है कि उसका समझना भी बहुत कठिन होता है, उसके आस्वादन के लिए जिस मानसिक तथा हार्दिक परिष्कार और संस्कार की आवश्यकता पड़ती है उसे प्राप्त करने की साधना का कष्ट उठाना सब के लिए सम्भव भी नहीं है। ऐसी समस्या को सुलझाने का कष्ट उठाने की अपेक्षा लोग उसकी उपेक्षा करना ही अधिक सरल समझते हैं; किन्तु सतत् सृजनशील निराला का स्वभाव उनकी शैली की उपेक्षा में शान्ति न लेने देता और तब लोग उनकी शैली के निन्दक बनकर ही अपनी रक्षा कर पाते। निराला के ऐसे निन्दकों की कमी नहीं इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव भी है। ऐसी निन्दा से निराला का कुछ बिगड़ता नहीं। निराला ने इस विषय में बड़े पते की बात कही है—'सूरज को न देखने वाले उलूक और सूर्यकान्त को न समझने वाले आलोचक एक ही स्थिति रखते हैं।' उन्होंने कभी बे-सिर पैर के तार्किकों, समाज के पुरोहित-पंडों, और साहित्य के कोतवालों की कोई चिंता ही नहीं की। धनी-मानी मोटे आसामियों की परवाह नहीं की। मोटर तथा हवाई जहाज वालों की खुशामद उनके वश की बात नहीं थी। उन्होंने अस्थायी राजनीतिक एवं अन्य सामाजिक समझौतों में अपने को नहीं फँसाया, केवल स्वस्थ और सचेत मन से जीवन और मानवता की समवर्द्धना का प्रयास किया। उनका कहना था कि—

For forms of Govenment let fools contest. Whate'er is best administered is best.

इस कारण निराला को समाज-साहित्य के अधिकांश ढोंगी और स्वार्थी पुजारियों से अनेक बार उलझना भी पड़ा था। लेकिन उन्होंने कभी हार नहीं मानी, साफ कह दिया—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही बसंत का अग्रदूत,
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छबि !

वास्तव में ईर्ष्या का भाव निराला में नहीं था। वे अपने माँ-बाप की अकेली सन्तान थे। इसलिए उनको शैशवावस्था से ईर्ष्या का कोई अवसर ही नही मिला, क्योंकि इसका विकास अपने सहोदरों के प्रति Rivalry attitudes से ही होता है, ऐसा मनोवैज्ञानिकों का मत है। हाँ, स्पर्धा की असाधारणता से वे अवश्य ही आकुल-व्याकुल रहते थे ! स्वभावतः ऐसे दुर्धर्ष तथा सचेष्ट व्यक्ति का आलोचकों के लिए एक समस्या बन जाना उपयुक्त ही था। निराला की प्रकृति और उनकी लेखन-शैली में कहीं-कहीं इतना अन्तर है कि उनसे भ्रम उत्पन्न होना बहुत ही स्वाभाबिक हो जाता है। व्यक्ति का आचार-व्यवहार तथा रहन-सहन तात्कालिक समाज से प्रभावित होते है, किन्तु उसके विचार ऐतिहासिक प्रगति से भी प्रभावित होते हैं ! लेखन-शैली तथा प्रतिभा के विवेचन में ऐतिहाहिक प्रक्रिया और समाज-स्थिति दोनों का विश्लेषण आवश्यक होता है अन्यथा किसी कलाकृति की आलोचना पूरी नहीं हो सकती। एक व्यक्ति समय और परिस्थिति विशेष में रहता हुआ भी अपने प्रसरणशील अन्तर्जगत में गत-आगत सम्भावनाओं को सँजोये रखता है इसलिए उसकी कला का मूल्यांकन केवल वर्तमान की स्थूल सापेक्षता के माध्यम से करना ठीक भी नहीं। निराला ने अपने युग तक की समस्तगत राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतनाओं को अपने मे समाहित करके आगत के विकास के लिए साहित्यिक बीज-वपन किया जो एक युगान्तर कारी कलाकार की सब से भारी विशेषता थी और समालोचकों के लिए एक समस्या भी।

आज का युग व्यावसायिक प्रवृत्ति में इतना आगे बढ़ा हुआ है कि उसमें बाबू लोगों के बीच में गर्मागरम आलू-चाय बेचने वाला व्यक्ति अथवा अपनी धूर्तता से जनता को ठगने वाला ठग अपने जीवन-यापन की सुविधा जुटा लेने में जितना निश्चित और निश्चिन्त है उतना एक उच्चकोटि का कलाकार अपनी

कलाकृति के निर्माण से नहीं। कारण कला न तो व्यवसाय है और न किसी प्रकार की कूटनीति। रसगुल्लों की तरह गप्प से पेट में उतार लेने की भी कोई चीज वह नहीं, और न सिनेमा जैसी क्षणिक मनोरंजन की सुविधा ही उसमें रहती है। वह तो जीवन की गहराइयों से प्राप्त होने वाला मोती है जो साधना और सद्भाव से प्राप्त होता है। हीन भावना की विकृतियों और व्यक्तिगत लालसाओं से यह देश इस प्रकार भाराक्रान्त है कि उसे किसी साधना में जुटने की सुविधा और समय नहीं है। 'तरकारी बनाने की विधि' को यहाँ किसी भी कलाकृति से अधिक उपयोगी मानने की विवशता है। भारतीयता का यही निर्लज्ज अभिशाप है। इस कारण केवल निराला की ही नहीं किसी की भी कला का समुचित समादर नहीं हो पाया, सम्यक मूल्यांकन नहीं हो पाया, तब भला कलाकार के सम्मान-स्वागत की बात कौन कहे? फल यह होता है कि साधारण प्रतिभा के लोग विचलित होकर भटक जाते हैं और केवल ऊँचे पाये के कलाकार ही सौ-सौ आपत्तियों को झेलते हुए अपने सृजन में लगे रहते है। कर्मयोगी की 'सततं कार्य कर्म समाचार' की निष्ठा ही उनके जीवन का आधार होती है। निराला हिन्दी साहित्य का ऐसा ही कर्मयोगी था।

बहुत से ऐसे कलाकार होते हैं जिनका व्यक्तित्व उनकी कलाकृतियों से बहुत अंशों में महान होता है, निराला की गणना ऐसे ही कलाकारों में थी। कलाकृति की तरह व्यक्ति सर्व-सुलभ नहीं होता और व्यक्ति के जीवन को जानने का सौभाग्य बहुत कम लोगों को मिलता है। आलोचकगण भी कलाकार के जीवन से प्रायः परिचित नहीं हो पाते। अनुमान और सुनी-सुनाई बातों में उतना तथ्य भी नहीं रहता जितना वास्तविक जानकारी में। अतएव व्यक्ति को छोड़ कर उसकी कृति का अध्ययन करना आलोचक के लिए सहज पड़ता है। निराला की भाँति गुंथे हुए कलाकार के पास लोग-बाग और भी जाना नहीं पसन्द करते, दूर ही से अनुमान के द्वारा उन्हे जानने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में विभिन्न विवादास्पद बातों का जितना बाहुल्य है उतना किसी अन्य के बारे में नहीं है'। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति निराला के बारे में अपना एक विशेष मत रखता है। इससे निराला के बहुमुख व्यक्तित्व और कृतित्व का पता चलता है।

साधारणतया निराला सभी के साथ बड़ी आत्मीयता से मिलते-जुलते थे, पर जो लोग केवल बाहरी शिष्टाचार और नपे-तुले वचनों में जीवन के महान सत्यों और सिद्धान्तों को खोज निकालने का प्रयास करते हैं, वे निराला

से मिलकर स्तब्ध ही होते, घबड़ाते भी और निराश भी होते, क्योंकि सिद्धान्तों में बोलने का पाखंड निराला से नहीं बनता था और न वे किसी सिद्धान्त अथवा विचार को जीवन के लिए शाश्वत उपयोग का ही मानते थे। जीवन-व्यापी घटनाएँ तथा परिस्थितियाँ उनके विश्वास-अविश्वास को जगाती-सुलाती रहती थीं। एक बार मैंने पूछा—"जब आपके विचार समय की गति के अनुसार बिगड़ते-बदलते रहते हैं तब तो आपको किसी सार्वभौम और शाश्वत सत्ता पर विश्वास नहीं होना चाहिए।" निराला ने हँसते हुए उत्तर दिया—"यह ठीक भी है, गलत भी है, जीवन के भीतर एक सार्वभौम शाश्वत सत्ता का, चाहो तो उसे ईश्वर कह लो, चेतना कह लो मुझे विश्वास है, पर वह सत्ता आटा सानने के लिए पानी नहीं है यद्यपि वह पानी में भी है। पानी के अभाव में मेरी उस सत्ता का अभाव भी सच है और उसकी सर्वव्याप्त सत्ता भी। पर यह बातें समझाने की नहीं स्वयं समझने की, अनुभव करने की है। गाँधी अथवा अन्य व्यक्तियों की तरह जीवन की स्थूल सहायता के लिए उसको प्रत्यक्ष करना, स्थिति विशेष देना, मेरी समझ में नहीं आता। शाश्वत सत्ता की बात जाने दो। व्यक्ति को हनुमान की तरह अपनी महत्ता का मान भी कभी-कभी दूसरों के बताने-सुझाने से आता है। वपुमान मैं हूँ ही मुझे तुम हनुमान ही समझो मैं आदमी साधारण हूँ, मेरी बात-चीत का तरीका भी साधारण है, पर मेरी प्रतिभा असाधारण है, यह मुझे प्रत्येक क्षण याद रहे या नहीं, इससे कुछ बनता-बिगड़ता भी नहीं है। मेरे पास आने वाला आदमी मेरे विषय में सदैव ठीन ही ज्ञान प्राप्त कर ले, यह आवश्यक नहीं।" बात भी कुछ ऐसी थी। निराला के जीवन में अहम् की जो ऊपरी तह थी उसको पार कर उनके शुद्ध स्वरूप तक पहुँचना बहुत कठिन होता था, हर एक वहाँ नहीं पहुँच पाता था। अधिकतर लोग अपनी असफलता की खीझ से निराला को कोसते हुए उनके पास से वापस चले आते और उनके भीतर छिपे सरल-स्वच्छ विचारों और अभिप्रायों से अपरिचित रह जाते। निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व को बिलकुल न समझने वाले बहुत से पदवीधर लोग अपने को साहित्यिक मानने का अभिमान करते, निराला की शिकायत करते। निराला उनसे कह देते—"मौसी के मूँछें होतीं तो सब लोग उसे फूफा कहते, यह मैं जानता हूँ।" बात यह है कि निराला के पास या तो मीठे का महत्व था या खट्टे का, खटमिट्ठा की गुंजायश उनके पास नहीं थी।

मौलिकता और स्वच्छन्दता निराला के व्यक्तित्व के युगल पार्श्व थे।

इसका परिणाम यह हुआ कि अपनी आत्मा के दबाने का उन्होंने कभी प्रयत्न ही न किया। अपनी सम्मति को निर्भयता के साथ संसार के सामने रखने में वे कभी नहीं हिचकिचाये, चाहे वह किसी को बुरी लगे या अच्छी। वे संघर्ष, साहस और संकल्प के साथ निजत्व की रक्षा करने के हिमायती थे। उनकी निर्विकल्प वैयक्तिकता के मार्ग में विघ्न रूप खड़ा होकर कोई भी व्यक्ति उपेक्षा का अधिकारी बन सकता था। जो उन्हें बहुत अक्लमंद समझकर उनकी बुद्धि-परीक्षण के लिए उनके पास जाता, वह प्रायः उन्हें पागल समझकर लौटता और जो उनकी शिष्टाचारजनित व्यवहार-चातुरी देखने के लिए जाते, वे उन्हें पक्का और अक्खड़ देहाती पाकर चुप-चाप वापस आ जाते। इन बाहरी बातों की ओर ध्यान देने की आदत निराला में नहीं थी। जो उनकी निन्दा करता उसका वे सम्मान करते और जो उनकी प्रशंसा करता, उससे साधारण व्यवहार करते। वे एक विचित्र व्यक्ति, स्वतंत्र जीव थे। नियमित पथ निराला का नहीं, उनका मार्ग वही था जिससे वे चलते थे। कार्यों की परिणति पर विचार न करके साहस के साथ उसमें जुट जाने की धुन में निराला बहुत पक्के थे। ऐसी ही बातों को लेकर लोगों से उनका वाद-विवाद और मन-मुटाव भी हो जाता था, पर वे किसी की सुनते नहीं थे। आत्म-चेतना, वीरता उनके अणु-अणु में परिव्याप्त थी। वे अर्जुन, अभिमन्यु, शिवाजी, राणाप्रताप और गोविन्दसिंह की याद दिलाकर क्रान्ति का आह्वान करते थे, युद्ध की याद दिलाते थे, तलवार उठाने का सन्देश देते थे—

जागो फिर एक बार,
समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिन्धु से
सिन्धु-नद तीर वासी—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरङ्ग चमू सङ्ग,
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा"।
किसने सुनाया यह
वीर-जन मोहन अति

दुर्जय संग्राम राग,
फाग का खेला रण
बारहों महीने में ?
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार ।

वीरता के भाव, निराला के शैशव से ही पनपते चले आ रहे थे। अपने पिता की बन्दूक को लेकर उसके चलाने का उपक्रम करते हुए वे कई-बार पकड़े जा चुके थे। अपने सब साथियों को सहमते-डरते देखकर भी केवल सात वर्ष की अवस्था में उनका बंगाली भालू के कान पकड़ने का साहस देखकर सब लोग स्तब्ध रह गए थे और भालू पालने वाले ने कहा था—"इस उम्र का यह पहला लड़का है जिसने ऐसा साहस किया।" बढ़ी हुई गोमती में कूद कर बहती हुई बकरी की प्राण-रक्षा का साहस भी निराला का ही काम था। अपने जीवन में इस प्रकार के साहस के वे अनेक कार्य-सम्पादन कर चुके थे। एक घटना उल्लेखनीय है—सिविल-लाइन्स प्रयाग में टहलते हुए निराला ने देखा कि तीन गोरे सिपाही एक ताँगावाले को जोरे से घुड़क रहे हैं और मारने के लिए बेंत भी दिखा रहे है। बात सन् '४२ की है। उन दिनों सारे देश में ऐसा आतंक छाया हुआ था कि गोरे सिपाहियों से बोलने की किसी को हिम्मत नहीं थी। निराला ने कुतूहलवश उस तरफ खड़े होकर देखना शुरू किया कि एक सिपाही ने डाँट के साथ कहा—'जाओ मैन टुम क्या देखता है ? निराला जी और समीप पहुँच गए। दूसरे सिपाही ने कहा—"इडर कहाँ आटा है ?" निराला और भी पास पहुँच गए। ताँगे वाले से सब बातें पूछीं और सिपाहियों से बोले— "इसका पैसा दे दो, तुम्हारा बेंत गिरने की जिम्मेदारी इस पर नहीं, क्योंकि वह तो आगे बैठकर घोड़ा हाँकता है।" गोरों ने इस पर कुछ भला-बुरा कहा कि निराला ने तपाक से एक के हाथ से उसकी टोपी खींच ली और कहा— "आओ, अभी तीनों को सर कर दूँगा अन्यथा उसके पैसे जल्दी दो।" गोरों ने बड़बड़ाना शुरू किया कि निराला ने अपनी चादर मुझे दी और ताँगेवाले की चाबुक हाथ में ली और जोर से बोले—"चुप रहो, वरना मारे हन्टरों के लाल कर दूँगा। गरीबों को मजदूरी न देंगे और माँगने से मारेंगे। अभी जाकर टोपी किले में जमा करता हूँ।" निराला जी के भीमकाय शरीर, दृढ़ वचन और लाल नेत्र देखकर गोरे समझ गए कि यह आदमी नहीं कोई देव-दानव है। उन्होंने चुपचाप

पैसे दे दिये और टोपी लेकर अन्ट-शन्ट बकते चले गए। इस प्रकार निराला अपने पर या दूसरे पर अन्याय होते देखकर अपनी जान की बाजी भी लगाने में चूकने वाले न थे, यह मेरा अनुभव है।

निराला में बुद्धि और दर्शन का आधिक्य त्याग और संग्रह के पहले समीक्षा का आग्रह करता था। उनके पास कोई वस्तु पुरानी पड़ने के कारण न तो त्याज्य थी और न नई होने के कारण ग्राह्य। इस कारण एक ओर वे एकदम पुराणपंथी थे, तो दूसरी ओर नवीनता के अनन्य उपासक। प्राचीन गौरव के प्रति वे आकर्षण रखते थे, वर्तमान को सुन्दर बनाने को चेष्टा करते थे और भविष्य निर्माण का उद्‌बोधन देते थे। किन्तु सामाजिक तथा साहित्यिक रूढ़ि और मर्यादाओं को ठुकराते हुए चलने की उनकी बान थी, और ऐसा करने का उनमें बल था। कभी स्वप्न में भी वे न राजा से दबे और न रंक को दबाया। द्रोणाचार्य की भाँति शास्त्रार्थ और शस्त्रार्थ दोनों की निपुणता से वे युक्त थे। साहित्य की सात्विकता की रक्षा के लिए निराला लेखनी, बाहु और जिह्वा सभी से लड़ने-मरने को तैयार रहते। वास्तव में निराला साहित्य-बाँकुरा थे। काम करते उनको एक भारतीय के औसत जीवन से कहीं अधिक समय बीत चुका था, पर उनकी श्रमशीलता और सृजन-क्षमता की क्रम-गति उसी विश्वास और साहस से चलती जा रही थी। अपना सम्पूर्ण जीवन उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सेवा में बिता दिया, पर कभी न अपना पेट भर सके और न लोकप्रिय ही बन सके। लोकप्रियता शायद निराला का विशेषण बन भी नहीं सकती थी। बनती भी कैसे ? समाज तो उसी को मानता है जो सब तरह से उसका होकर रहता है; उसके जुए में अपनी गर्दन डाल देता है और उसके गढ़े नियमों और सिद्धांतों को बिना किसी तर्क-वितर्क के मानता चलता है। समाज के पास अपने से बाहर वालों की बात सोचने-समझने और सुनने का समय नहीं है। निराला सामाजिक नियमों के साथ व्यक्तिगत भावनाओं, संस्कारों और आकांक्षाओं की भी अलग प्रतिष्ठा मानते थे और इस दृष्टिकोण से वे समाज से अलग, उच्छृङ्खल तथा विद्रोही थे। उनकी यह व्यक्तिगत चेतना और स्पष्ट सनसनाहट समाज को नहीं भाती, क्योंकि वह नवीनता का आग्रह करते थे, सब कुछ नया चाहते थे। समाज और साहित्य की सड़ी-गली रूढ़ियों को पलट देना चाहते थे। निराला को बहुत अच्छी तरह से ज्ञात था कि कलाकार युग का प्रतिनिधि भी है और उसका नियामक भी।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार—'पुरुषे तु एव अविस्तरां आत्मा, स हि प्रज्ञानेन

सम्यनतमः; विज्ञातं वदति, विज्ञातं पश्यति। (पशवः) न विज्ञातं वदति, न विज्ञातं पश्यति'। मनुष्य जानता, देखता और बोलता है और साथ ही यह भी जानता है कि वह जान, देख और बोल रहा है। पशु जानते हैं, देखते हैं और बोलते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि हम जान, देख और बोल रहे है। मनुष्य में आत्मा के आविर्भाव का यही लक्षण और प्रमाण है। फिर इस आत्मा की सत्ता समझने वाले आत्मबोधी पुरुष का स्वभाव वैयक्तिक चेतना से युक्त और निर्भीक होना सहज स्वाभाविक है। उसे कभी कोई भेड़ की भाँति नहीं हाँक सकता, यह निश्चय है। इसी आत्म-ज्ञान और व्यक्तित्व के विकास के कारण निराला की कला और उनका जीवन किसी वाद विशेष की सीमा में, दलबन्दी के दलदल में नहीं समा सकता। कविता के प्रति उनका यह उच्चार है—

आज नहीं है मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !

बस मुक्तछन्द, मुक्तभाव, मुक्तभाषा यही निराला की मुक्त-साधना थी। प्राचीनों ने इसका कितना विरोध किया, मखौल उड़ाया, यह कहने की आवश्यकता नहीं। निराला ने उनकी एक नहीं सुनी और अपने मन का सृजन करते गए और बूढ़ों से कह दिया—

और और छबि रे यह
नूतन भी कवि रे यह
और और छबि !

इतने पर भी पुरानपंथी लोगों ने अपनी चाल-ढाल नहीं छोड़ी और इधर निराला ने भी अपनी मुक्त राह पकड़ी—

जन-अपवाद गूंजता था, पर दूर,
क्योंकि उसे कब फुर्सत सुनता ?—था वह चूर।
न देखा उसमें कभी विषाद,
देखा सिर्फ एक उन्माद।

इसलिए निराला के कंठ से उनका कवित्व, कुसुम-दल की भाँति अविराम गति से हिन्दी-भूमि में बिछता रहा और अन्त में बूढ़ों ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और उदासी-भरा मुख लेकर चुप हुए।

नवीनों से भी निराला को निबटना पड़ा, क्योंकि नवीनता के घोर उपासक निराला की 'भिखारी', 'बादल' और 'तोड़ती पत्थर इलाहाबाद के पथ पर' जैसी

प्रगतिशील कविताओं के साथ अपने को प्रगतिवादी कहने वाले साहित्यिक किसी अध्यात्म की आकुलता देखने को तैयार नहीं थे, क्योंकि जीवन से परे मनुष्य की किसी अन्य आध्यात्मिक विचारधारा का उनके पास कोई महत्व नहीं था। कवि की सौन्दर्यानुभूति के निरपेक्ष सिद्धान्त को वे स्वीकार नहीं करते थे। उनके पास केवल वस्तु-जगत का ढाँचा था जो इन्द्रिय-ग्राह्य-रस तक ही सीमित था, अतीन्द्रिय की किसी भी अभिव्यक्ति को वे व्यर्थ की बकवास समझते थे। इसलिए निराला की उनसे भी पटरी नहीं बैठती थी। निराला मानते और जानते थे कि वास्तव में काव्य, जीवन-दर्शन है, किन्तु दर्शन ही काव्य नहीं। कलाकार की प्रवृत्तियाँ केवल वहिर्मुखी ही नहीं अन्तर्मुखी भी होती हैं। अतएव स्थूल वाह्य मूल्यांकन द्वारा काव्य का महत्व और मूल्य नहीं आँका जा सकता, इसके लिए कलाकार की अन्तर्भावना का भी हिसाब-किताब रखना पड़ता है। अपनी आन्तरिक उद्वेगशीलता और सचेतनता के तथा व्यापक संवेदनशीलता की वास्तविक, किन्तु अप्रत्यक्ष स्थिति के कारण ही कलाकार युग और उसकी प्रवृत्तियों के परखने में अग्रगामी और सफल होता है तथा भविष्य की सम्भावनाएँ भी सब के लिए सहज सुलभ कर देता है। जीवन की शाश्वत प्रवाहित चेतन धारा से विमुख एकमात्र रूप, आकार और नियम को ही सब कुछ मानने वाले यह नहीं समझ पाते कि काव्य, रूप और अरूप का सम्मिलन-स्थल है। इसमें शारीरिक (वस्तु-जगत्) रूप भी है और उसके भीतर से छलकता हुआ मानसिक (भाव-जगत्) रस भी। रूप और रस की अभिन्नता, रूपवान रस और रसमय रूप यही काव्य-सौन्दर्य का सूत्र है।

निराला धरती के प्राणों का सन्देशवाहक और आकाश की नीलिमा का भी गायक था। धरती के यथार्थ रात-दिन के संघर्ष और कोलाहल से आँख बचाने वाले प्राचीनों और आकाश की ऊँचाई की उपेक्षा करने वाले नवीनों को उनसे कभी संतोष नहीं मिल सकता, क्योंकि विश्व की समस्थिति के लिए निराला धरती और आकाश दोनों की सत्ता स्वीकार करते थे, उनके यथार्थ और अध्यात्म में कोई विरोध नहीं था, परन्तु वे सबको संतोष नहीं दे सके, शायद दे भी नहीं सकते थे। तो क्या इसीलिए निराला के हृदय में एक हलचल थी, उद्वेग, अशान्ति और उत्ताप था ? वे जानते थे कि—

क्रूर यहाँ पर कहलाते हैं शूर,
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर।

किन्तु यह सब जानकर भी वे कभी हतोत्साह नहीं हुए, बल्कि ललकार उठते थे—

अभी न होगा मेरा अन्त।
मेरे ही अविकसित रागों से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त !

बादल के सम्बोधन में निराला ने जैसे अपने ही लिए कहा हो—

मुक्त, तुम्हारे मुक्तकंठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन, श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात।

यश और संसार का सम्मान सदैव प्रतिभा का ही प्रतिफलन नहीं होता, यह तो संयोग की बात है। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि संसार कभी-कभी उपयुक्त का अनादर और अनपयुक्त का समादर करने की भूल कर जाता है। निराला को यथोचित यश और सम्मान नहीं मिला, पर प्रतिभा उन्हें मिली थी। यह केवल संसार ही नहीं, वे स्वयं भी जानते थे। उन्होंने सन्तोष के साथ लिखा है—

यह सच है—
तुमने जो दिया दान, दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जनता का ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है।

निराला का यह कथन आत्मश्लाघा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने अपने साहित्य और व्यक्तित्व के निर्माण में वस्तु, विषय और व्यक्ति की स्वतंत्रता का ध्यान रखा, एक साहित्यिक की तरह, एक कवि की भाँति, एक दार्शनिक के अनुरूप। 'मेरा उद्देश्य था और है स्वतंत्रता बहुमुखी है और साहित्य का मतलब है—वह सबको साथ लिए रहे। इसी दृष्टि से दूसरे जाग्रत राष्ट्रों और उन्नतिशील साहित्यों के नमूने देखते हुए, अपने गत और वर्तमान राजनीति और साहित्य को समझते हुए, देश के विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, प्रान्तीय

भाषाओं, लोगों के भीतरी आचार-विचारों के भीतरी रूप जानते हुए, बाहरी संसार से उसके सहयोग का रूप देखते हुए जो साहित्य का निर्माण करते हैं, वे साथ-साथ जाति और राष्ट्र का भी निर्माण करते हैं। मैंने जो निरपेक्ष ज्ञान की बात कही है, निरपेक्ष ज्ञान के साथ वस्तुओं और विषयों की यही सापेक्षता सिद्ध होती है। उस निरपेक्षता में स्वाभाविक वस्तु और विषय जहाँ तक पहुँचते हैं, वहाँ हिन्दू और मुसलमान का सवाल नहीं, वहाँ भाषा भी बाह्य रूप छोड़ देती है, अर्थात् 'का' को चाहे 'क' लिखिए या 'के' कुछ नहीं आता-जाता। 'के' के पीछे लट्ठ लेकर पड़ने वाले पहली ही गति से साबित कर देते हैं कि वे बौद्धिक रूप से पराधीन हैं, वे लड़ेंगे, समझौता नहीं करेंगे। मैं हिन्दी साहित्यिक की हैसियत से विनय के साथ कहता हूँ, देश के वर्तमान हिन्दू और वर्तमान मुसलमान, वर्तमान सिख और वर्तमान पारसी, सापेक्षता में ही, पुरानी रूढ़ियों के पाबन्द रहने के कारण या अँग्रेजी पढ़कर यूरोप के नक्काल होने के कारण, निरपेक्षता से दूर हैं—वे अपने मन की चाहते हैं। स्वाधीनता और पराधीनता की यह बहुत सीधा रहस्य है'। काश कि निराला की इस सम्मति का सदुपयोग देश के नेताओं ने किया होता तो देश की यह दुर्गति कदापि न हुई होती। नेतृत्व की लालसा में पड़कर सापेक्षता को अपनाने वाले नेताओं के सिर पर ही इस देश-विभाजन का उत्तरदायित्व रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

समय-समय पर संसार के सभी देशों के साहित्य में एक ऐसा समय आता है जब एक वर्ग, कलाकार की शैली और वस्तु दोनों को परम्परा-पोषित धरा-तल पर ही पनपते देखना चाहता है। उसका विश्वास होता है कि नवीनता का आवेग सनातन सुखानुभूति के अनुकूल नहीं पड़ता, पर यह एक भ्रम-मात्र है। युग-परिवर्तन के समय शैली और वस्तु दोनों का बदलना अनिवार्य होता है। वायु में व्याप्त सुन्दर से सुन्दर सुगंध जिस प्रकार कुछ समय पश्चात् धीमी और सर्वथा विलीन हो जाती है उसी प्रकार साहित्य की पुरानी धारा भी। सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य भी परिवर्तित होता रहता है। मानव, प्रत्येक जीवित सत्ता की भाँति वातावरण की साँस से परिवर्तित होता हुआ अपने मूलभूत अस्तित्व को सँभालता चलता है, इतिहास के एक छोर से दूसरे छोर तक वस्तु-स्थिति के अनुसार अपनी कला का माध्यम और अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलता चलता है। इस परिवर्तन में कला के भीतरी रूप में कोई व्याघात नहीं पहुँचता।

निराला ने साहित्य की उपमा एक सरिता से दी है। सरिता की गति और

गहराई तथा उसका विस्तार उसके तल की भूमि के अनुसार बदलता चलता है। उसके किनारे का वातावरण भी परिवर्तित होता चलता है, किन्तु इससे शाश्वत प्रवाह में कोई अन्तर नहीं पड़ता। देश-काल के अनुसार साहित्य अपने बाहरी स्वरूप को बदल कर भी अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। ज्यों-ज्यों सभ्यता और बौद्धिक विकास का प्राधान्य होता चलता है त्यों-त्यों मनुष्य अपने पिछले सामाजिक निदान एवं साहित्यिक विधान और पुराने सौन्दर्यानुसंधान को छोड़ता चलता है। इतिहास और समय की किसी भी स्थिति विशेष के सौन्दर्य और कला को आगे आने वाले समय पर लदने का कोई भी अधिकार नहीं है। समय-परिवर्तन, युग-परिवर्तन का यही रहस्य है। गत दिनों की कलात्मक सौन्दर्य-सुषमा उधार लेना आगत समय पसन्द नहीं करता, क्योंकि ऐसा करने से विकास का इतिहास ही रुक जायगा और मौलिकता का कोई अर्थ ही न रह जायगा। कला में खोज, सूझ और सृजन की आवश्यकता होती है न कि दबाव और अनुसरण की ? निराला प्रायः कहते थे—

Man, intention and understanding are needed not disparagements and imitation.

इसी कारण से इतिहास घटना और समय सापेक्ष होता है, किन्तु कला मौलिक। जो हमारी प्राचीन साहित्यिक सम्पत्ति है उसका हमें सम्मान और संरक्षण करना चाहिए, पर आगे के सृजन और संचय से मुँह मोड़ना बुद्धिमानी नहीं। नवीन पीढ़ी को प्राचीन पीढ़ी से आगे बढ़कर उससे कुछ विभिन्न कार्य करने पड़ते हैं; यह बात दूसरी है कि प्राचीनों के इतिहास से भी उसे फायदा उठाना चाहिए। समकालीन जीवन और जगत की व्याख्या को सामयिकता के सस्तेपन का प्रलाप कहकर जीवन के प्रवाह को रोकने की चेष्टा करना महान मूर्खता है, किन्तु अवस्था और मस्तिष्क के बुढ़ापे की सनक में यह सत्य नहीं सूझता, यह भी ठीक है। नवीनता का आग्रह अपनाते हुए यह नहीं भूलना चाहिए कि कलाकार परिस्थितियों और युग की झकझोरों से इधर-उधर चक्कर लगाने वाला वायु-निर्देशक यंत्र मात्र नहीं, उसमें वायु को थाम्हने और उसे एक दिशा देने की चेतना-शक्ति भी है। कवि के लिए कहा जाता है कि He works with his muscles and intellect both निराला ने प्राचीनता और नवीनता का यही समन्वयशील दृष्टिकोण रखा। नवीनता के आग्रह में पैर की अपेक्षा न कभी सिर के बल चले और न प्राचीन-प्रियता के कारण नंगे घूमे।

प्राणमय प्रतिभा, उन तमाम कठिनाइयों पर, जो साधारण व्यक्ति को परास्त कर देती हैं, अवश्य विजयी होती है। निराला ने अपनी इसी विजयिनी प्रतिभा के बल पर प्राचीनों की दी हुई पीड़ा पी और नवीनों के एकांगी आक्षेपों का अनादर किया। दोनों के लिए एक ही उत्तर दिया—

उड़े हुए थे जो कण,
उतरे पा शुभ वर्षण
शुक्ति के हृदय से बन
मुक्ता झलके;
लखों, दिया है पहना,
किसने यह हार बना,
भारति-उर में अपना
देख दृग थके !

निराला का लौह-लेखनी और अडिग आत्म-शक्ति का यही मूलाधार है। इतना बड़ा आत्म-विश्वास और साहस लेकर व्यक्ति किसी दल विशेष की संकुचित सीमा में नहीं बँध सकता। स्थापित स्वार्थ से पनपने वाले सभी दलों के लिए वह अविश्वासी, तीखा, तिक्त और तलवार की धार सा पैना है, क्योंकि उसका उत्स मानव-प्रेम और उसका प्रसरण क्षेत्र विश्व-मानवता है। अन्तर्दर्शन के व्यापक प्रभाव से उन्होंने अपने आत्मजगत मे अखिल विश्व को प्रतिफलित करने की साधना की थी। इस भव्यता एवं विशालता की दिव्य अनुभूति से जाति या देश विशेष की सीमा का अतिक्रमण कर निराला सहज ही मानवता का कवि बन जाता है और उसकी वाणी एक से अनेक में व्याप्त होती है। बुद्धि-विपन्नता के कारण बहुत दिनों तक किसी ने इसे स्वीकार नहीं किया। आचार्य शुक्ल तक ने इस शैली को समझने और इसकी महत्ता की व्याख्या करने की क्षमता नहीं दिखलाई। इन्हीं कारणों से निराला ने, जनता का अज्ञान दूर करने के लिए स्वयं अपनी कविताओं के विषय में 'मेरे गीत और मेरी कला' नाम का एक वृहत् निबंध लिखा और एक तटस्थ दृष्टिकोण से अपनी कला का मर्म उद्घाटन किया ! मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि हिन्दी साहित्य में काव्यगत विशेषताओं और कला की कमनीय तथा मनोवैज्ञानिक मनोज्ञताओं का इतना विशद और तुलनात्मक अध्ययन आज तक कभी किसी समालोचक से नहीं बन पड़ा। हिन्दी में, निराला ने इस निबंध से प्रथम बार सर्जनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया, इसमें विवाद को आवश्य-

कता नहीं। विषय प्रतिपादन की इतनी महान क्षमता ही तो आलोचना को व्याख्या से उठाकर सृजन की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने में समर्थ होती है।

बात यह है कि हिन्दी में मुख़ालिफत होने के कारण निराला ने वस्तु-रूप से व्यक्ति और विषय-रूप से उसके मन की गहरी जाँच-पड़ताल की, किन्तु स्वार्थ के रंग में रँगे होने के कारण यहाँ के लोगों ने निराला की तत्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान नहीं दिया। यह कौन नहीं जानता कि साहित्य की स्वतंत्रता राजनीति या समाज-नीति की तरह केवल बाहरी उपकरणों को साथ लेकर नहीं चलती, उसे जीवनव्यापी जिज्ञासाओं को अपने साथ समेट कर चलना पड़ता है। बहिर्मुखी गति देह की सीमा में बँधी रहती है, पर अन्तर्मुखी रूप में उसे किसी की अपेक्षा नहीं रहती। भारत में ज्ञान को निरपेक्ष माना गया है और 'ऋते, ज्ञानान्न मुक्तिः' शाश्वत सत्य है। व्यक्ति की अनुभूति पृथ्वी के कठोर धरातल का स्पर्श करती हुई भी भाव से आकाश में उड़ती रहती है; ठीक उसी प्रकार जैसे पृथ्वी-पेड़ पर घोंसला बनाकर रहने वाले पक्षी आकाश में स्वच्छन्दता से उड़ते-विचरते हैं। द्विज के साथ खग भी उन्हीं का नाम है। कवि कभी संसार के आदान मात्र से जीवित नहीं रह सकता, उसे प्रदान का भी अधिकार है, जो उसकी प्रतिभा का पर्याय होता है। निराला ने संतोष के साथ लिखा है--

यह सच है—
तुमने जो दिया दान, दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन-ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है।

वास्तव मे निराला की यह गर्वोक्ति सफल और सार्थक है। हिन्दी-साहित्य ऐसे महान कलाकार का चिर ऋणी और कृतज्ञ रहेगा। निराला ने साहित्य-भाण्डार को अपनी विविध भावमयी गद्य-पद्य की रचनाओं से भरा पूरा किया और यदि वे अपने इस महादान के प्रति जागरूक भी रहे तो कुछ अनुचित नहीं। इससे उनकी प्रतिभा में कोई अन्तर नहीं आता। सबसे बढ़कर बात निराला में यह थी कि दैनिक जीवन के व्यवहार में वह जितना अभिमानी और आत्मश्लाघी था, उतना साहित्य रचना में नहीं। जीवन में सम्मान न मिलने की प्रतिक्रिया का अभिमान में प्रदर्शन करके वह संतोष पा लेता था, पर सृजन उसका निरपेक्ष और निरभिमान होता था। इसका परिणाम यह हुआ है

कि कलम में तूफान की ताकत, गीतों में बगावत की बौछार, निबन्धों में निष्पक्ष की अनन्य आकुलता और अपने सम्पूर्ण सृजन में समस्त मानवता के प्रति सद्भावना का सन्देश देते हुए भी उसे स्नेह की अपेक्षा उपेक्षा का ही भार ढोना पड़ा, उसने जैसे कभी इस ओर ध्यान ही नहीं दिया।

आँखों में आन्तरिक प्रसन्नता का प्रकाश, चित्त में चैतन्य की आभा और सारे शरीर में पुलक-स्फुरण तथा मस्ती से भरा मन लेकर निराला आगे बढ़ता गया। उसकी बेफिक्री से बोझिल चाल में किसी के अनुशासन का कम्पन नहीं था वरन् उसके विचारों और आत्म-विश्वास की दृढ़ता ही परिलक्षित होती थी। उसकी बड़ी-बड़ी लाल आँखों की ज्योति को देखकर अनायास ही यह पता चल जाता था कि यह व्यक्ति विकट वीर और उत्कट आत्मचेता है। उसकी ओर कड़ी आँख से देखने का किसी को साहस नहीं हो सकता था उसके व्यक्तित्व की भाँति उसके साहित्य की भी समता किसी दूसरे से संभव नहीं है। वह कवि, कथाकार, निबंधकार, समालोचक, जीवनी लेखक, नाट्य-गीतकार, दार्शनिक और हास-परिहास का पंडित सभी कुछ था, इससे भी आगे न जाने क्या-क्या? उसका दूर-दर्शन भयोत्पादक और विकराल लगता था, किन्तु उसकी निकटता और आत्मीयता अकलुष आनन्द देती थी। उसके साहित्य का मनन अमृत की अथाह और चिर-नूतन भेंट देने में समर्थ था, यह मेरा अध्ययन और अनुभव है। इतना सब होते हुए भी—

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

का व्यापक तत्व निराला के व्यक्तित्व में परिलक्षित होता था, यह भी सच है। यों भी विराट-दर्शन की क्षमता सब में कहाँ होती है?

विश्रान्ति-काल

वेद-पुराण का निर्णय है कि 'मोक्षस्तु मानवे देहे'। मनुष्य योनि में पहुँचकर ही जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसी स्थिति में उसे अपने बंधनों का ज्ञान तथा उनसे छूटने का अनुमान होता है। अन्य प्राणियों में इस प्रकार का विवेक-वैराग्य नहीं होता। पशु-योनि में तमो-बाहुल्य से विवेकिनी बुद्धि नहीं होती, देव-योनि में सूक्ष्म दिव्य इन्द्रियों का सुखानुभव इतना तीव्र होता है कि उसे छोड़ने की इच्छा का उदय ही नहीं होता। जीव में इस विवेक-वैराग्य की सहज सम्भावना केवल तभी होती है जब वह जीवन में तीव्रतर द्वन्द्व का, सुख-दुख का, प्रेम-घृणा का एक साथ ही अनुभव करता है। संसार-व्यापी संघर्ष और विषमता से कभी-कभी जीव एकदम बौखला उठता है और तब जीवन और यौवन के क्षणिक सुख से मुँह मोड़कर संसार के प्रति उदासीन हो जाता है। भारतीय उपदेष्टा संन्यासियों ने देह को अस्थि-मांस-रक्त का कदर्य समावेश बताकर उससे लगाव छोड़ने का उपदेश दिया है। समस्त नीतिशास्त्र की यही चेष्टा है।

इस दृष्टिकोण से देखने पर पता चलता है कि वैराग्य, घृणा तथा आक्रोष का ही रूपान्तर है। प्रत्यक्ष जीवन और जगत के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना वैराग्य-साधन का प्रशस्त उपाय है। साधारण जनों के लिए यह ठीक भी हो सकता है, परन्तु कवि कभी भी वैरागियों का चेला नहीं बन सकता, वह तो अनुरागियों का ही पक्षपाती होता है। इस कारण कवि की उदासी आत्मकरुणा में शरण पाती है, वैराग्य में नहीं। प्रतिभा-संपन्न-व्यक्ति की आत्मकरुणा 'अहम्' की उद्भावना में परितृप्त होती है। यह कौन नहीं जानता कि चैतन्य का परोक्ष नाम 'आत्मा' और अपरोक्ष नाम 'अहम्' है। संस्कृत वर्णमाला का आदि अक्षर 'अ' और अन्तिम 'ह' है। इन्हीं दोनों के बीच में अन्य सब अक्षर हैं। 'अहम्' इस आद्य-अंत्य और सर्वव्यापी मध्य 'म' की गूँज से गुम्फित शब्द में सारी प्रकृति समाहित हो जाती है, सारी सृष्टि अन्तर्लीन हो जाती है। निराला का 'अहम्' भी इसी सीमा का स्पर्श कर रहा था।

अब विचारणीय यह है कि निराला के 'अहम्' ने एकाएक इतना विराट रूप क्यों धारण कर लिया था? इसके अनेक कारण हैं—

जीवनव्यापी कठोर संघर्ष और पीड़न की थकान से शिथिल कवि-कल्पना दर्शन का आधार खोजने लगती है, आत्म-प्रकाश से आत्म-गोपन की ओर मुड़ना चाहती है; किन्तु कलाकार का आत्मगोपन आध्यात्मिक का आत्मगोपन नहीं है। आध्यात्मिक व्यक्ति आनन्द का अकेला अनुभव कर सकता है, पर कलाकार उसे बाँटना चाहता है। कला-प्रतिभा मानव-स्वभाव एवं मानव-कार्य प्रगट करने में ही सफल होती है। निराला, दर्शन के रूप में अद्वैतवादी थे, पर यह रूप उनके विचारक का था। कवि रूप में, ब्रह्म और जीव के विवेचन के समय उनका द्वैत रूप ही स्पष्ट होता था। ठीक भी है, क्योंकि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, पर जीव के भी आनन्दस्वरूप बन जाने में जीवन की रसात्मक सार्थकता नहीं प्राप्त हो सकती। गुड़ बन जाने से ही गुड़ की मिठास नहीं मिलती। जो काव्य का मूल-तत्व, हृदय की रागात्मक विभूति है उसका सामञ्जस्य कवि अद्वैत के साथ नहीं कर पाता; द्वैत का दानव उसका गला दबाए रहता है और उसकी 'अहम्' चेतना बराबर जागृत रहती है।

राष्ट्र की विपन्न स्थिति और अत्याचार के आधिक्य से उत्पन्न क्षोभ, क्रोध तथा ग्लानि के मिलित भाव कवि-मन को इतना बोझिल कर देते हैं कि वह अनुभूति-शून्यता का संधान करने लगता है, सक्रिय से निष्क्रिय बन बैठता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि निराला ने सन् '४६ तक अपने साहित्य के माध्यम से इस स्थिति के विरुद्ध कसकर आवाज उठाई, विद्रोह किया पर सुधार नहीं हुआ। अभी इस देश की जनता इतनी जागृत नहीं कि साहित्यकार के स्वरों के साथ अपनी शक्ति का सहयोग देकर अपने लिए एकत्व; ममत्व तथा समत्व का शासन व्यवस्थित कर ले। ऐसी परिस्थितियों में निराला अपनी साहित्यिक मर्यादाओं के ऊपर एक आवरण डालने के अलावा और कर ही क्या सकते थे। साहित्यकार की मर्यादा का जो आवरण सत्य के विरुद्ध नहीं है, बल्कि उसका आभरण है; उसे छोड़ना वे अपना अपमान समझते थे। वे जानते थे कि सृष्टि का जो आभरण प्रकाश करता है, आछन्न नहीं करता, उसका त्याग करने से स्रष्टा का सौन्दर्य कंगाल बन जायगा। आधुनिक दुःशासन जन-सभा में जनता द्रौपदी की चीर ही नहीं अन्न एवं निवास का भी हरण कर रहा है; इसलिए समझदार चेता भीष्म (साहित्यकार) मौन होकर प्रतिशोध की प्रतीक्षा में व्यग्र है।

मैंने पूछा—"निरालाजी आप कुछ लिखते-पढ़ते नहीं ?" निराला ने एक लम्बी साँस खींचते हुए उत्तर दिया—"अब देश स्वतंत्र है, समग्रता की आत्म-

घोषणा का समय नहीं रहा, दलबन्दी का जमाना है, इसलिए मैंने आत्मगत सत्य का पल्ला पकड़ा है। विश्व में, देश में आसक्त भाव का इतना आधिक्य है कि निर्विकार तद्गत भाव से किसी ओर देखना गुनाह है, पागल कहलाना है। लिखूं भी क्या ? अँग्रेजों के चले जाने पर बड़ी-बड़ी उम्मीदें थीं, पर सब व्यर्थ रहा। पहले की उद्बोधन कविताएँ राष्ट्रीय मानी जाती थीं, क्योंकि विदेशियों का शासन था और अब जागरण के गीत गाना राष्ट्र-द्रोह समझा जाता है। फिर मेरे पीछे पुलिस भी तो लगी रहती है। पहले ही प्रकाशक घबड़ाते थे, अब तो बात नहीं करते। सोचते हैं, न जाने इस पगले के मुँह से किसके खिलाफ क्या निकल जाय ? मैं चुपचाप तमाशा देख रहा हूँ।"

प्रारम्भ से ही समझौता करके चलना निराला ने अपनी शान के खिलाफ समझा, अकेला चलना उनका स्वभाव रहा। निराला ही क्या सम्पूर्ण छायायुग उद्दाम वैयक्तिकता का पहला और प्रबल विस्फोट था। इसने साहित्यिक रूपों में ही नहीं, वरन् समग्र जीवन की रूढ़ियों, सड़ी-गली मर्यादाओं एवं मनुष्य की चिंता-धाराओं को संकीर्ण करने वाली परिपाटियों के विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह खड़ा किया था। इसने मनुष्य की दबी हुई स्वतंत्रता की भावना को चारों ओर उभारने का अथक प्रयत्न किया था, इसमें सन्देह नहीं। निराला की प्रखर वैयक्तिकता का दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। इसी वैयक्तिकता ने निराला को राजनीतिकों के सामने झुकने से बचाया, अपमान के साथ समझौता करने से रोका और अपने लिए नवीन पथ का अनुसंधान करने का मौका दिया। इसी कारण वे 'निरंकुशाः कवयः' के अन्यतम उदाहरण बने। उनका कहना था, 'राजनीतिक दुरवस्थाओं की स्वस्थ प्रतिक्रिया विद्रोह को प्रेरित करना है न कि उससे भाग कर काल्पनिक आनन्द के घोसले में घुस जाना। मगर यह देश कायरों का देश है। बंगाल के अकाल तक में किसी ने चीं नहीं की। समय पर कवि को तलवार भी उठानी चाहिए। मैं उसी की प्रतीक्षा में हूँ।'

वस्तुतः नवजागरण की सम्भावनाएँ ज्यों-ज्यों स्वार्थी व्यक्तियों और समाज के कुत्सित रूपों में समाहित होती गईं त्यों-त्यों निराला को उनसे एक प्रकार की विरक्ति सी होती गई और उनकी विह्वलता बढ़ती गई। फलस्वरूप उनका मस्तिष्क उलझनों में उलझता गया। वे एक विद्रोही की भाँति सब से अलग हो गए। सन् '४७ से उन्होंने लिखना-पढ़ना बिलकुल बन्द कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया भी आवश्यक थी। निराला की प्रतिभा बहुत ही ज्वलंत थी, उसको बाँध रखना सहज नहीं; इसलिए वह व्यंग्योक्तियों के रूप में प्रकट होने लगी।

जिस प्रकार रेडियम अपने आस-पास ज्योतिस्फुलिंग विकीर्ण करता रहता है उसी प्रकार निराला भी अपनी स्वगतोक्तियों से रात-दिन मुखरित रहते थे। उनकी छलिया स्वर्णजयन्ती के बाद से उनका यही क्रम चलता रहा। स्वर्णजयन्ती का धूर्ततापूर्ण आयोजन भी निराला की इस मानसिक स्थिति में एक आघात का काम कर गया हो तो आश्चर्य नहीं। जयन्ती के समय श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने घोषणा की थी कि निराला जी को ११,००० रु० की निधि भेंट की जा रही है; इधर-उधर से रुपया भी इकट्ठा किया गया था, पर बाद में निराला जी को कुछ नहीं मिला। निराला को कुछ न पाने का इतना क्षोभ नहीं हुआ जितना कष्ट उन्हें इस बात से हुआ कि वे उन संस्थाओं, व्यक्तियों तथा साथियों को, जिनको वे उस निधि से उसी सभा में कुछ देने का वचन दे चुके थे, बाद में कुछ न दे सके। न उन्हें रुपया मिला न उन्होंने दिया। उन्होंने कितने करुण शब्दों में कहा था—"संकल्पित दान को न दे सकने का प्रायश्चित केवल आत्म-हत्या है। लोगों ने बड़ा धोखा दिया। मेरा सिर इतना नीचे कभी नहीं झुका। ऐसे हैं मेरे साहित्यिक साथी।" रुपया कहाँ गया? कितना वसूल किया गया था इसका लेखा-जोखा आज तक भी नहीं हुआ और न किसी ने इसकी चिंता ही की। काश कि निराला को पागल बताने वाले लोगों ने पागल होने के कारणों की ओर भी ध्यान दिया होता तो सम्भवतः ऐसी स्थिति न हुई होती।

जयन्ती के बाद निराला जी प्रयाग न आकर सीधे उन्नाव चले गए थे। कारण भी स्पष्ट था। उन्होंने साहित्यकार-संसद को २,००० की निधि प्रदान की थी, किन्तु वह लोगों की शठता से सक्रियता नहीं पा सकी; इसलिए निराला जी उस क्षण प्रयाग आकर संसद की संस्थापिका महादेवी जी से मिलना नहीं चाहते थे। उन्होने उन्नाव से लिखा भी था—"प्रयाग आने का मन तो है, पर अभी नहीं आ सकता। जयन्ती वाला परिहास-परिच्छेद आँखों से ओझल होने पर आऊँगा। इस तमाशे की चर्चा तो प्रयाग में भी खूब होगी। मैं प्रसन्न हूँ।" मेरे बार-बार लिखने पर भी वे आठ माह तक प्रयाग नहीं आए तो नहीं आए। इधर-उधर व्यक्तियों और पत्रों में निराला के कुछ विक्षिप्त होने की चर्चा चलती रही, किन्तु मुझे विश्वास नहीं हुआ। यह सच है कि इन दिनों निराला की आर्थिक विपन्नता अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी, क्योंकि नित्यप्रति कुछ गीत बेचकर खाने वाला कवि कुछ न लिखने पर खाने-पीने की सुविधा कैसे जुटा सकता!

सहसा सन् '४८ के सावन में निराला जी प्रयाग पधारे। उन दिनों मैं अपने

मित्र डा० ब्रजमोहन गुप्त के साथ कर्नलगंज में रहता था। पता लगाकर वे वहीं पहुँचे। शरीर से क्षीण, मन से खिन्न, मलिन वसन निराला का रूप बहुत ही करुण और मर्मभेदी लगा। नमस्कार-प्रणाम के बाद वे हम लोगों की उपस्थिति का विस्मरण सा करते हुए अपने-आप कहने लगे—"हाँ, हाँ, जानता हूँ, झुकते चले गए और देश में बँटवारा हो गया। जैसे दो भाइयों का हिस्सा हो। यह भी ठीक है। एक बाप के दो बेटे, हिन्दू और मुसलमान। बोलो न, तब सब हिन्दू मुसलमान हैं कि सब मुसलमान हिन्दू! यही तो मजा है, हा-हा-हा-हा-हा।" हम दोनों अवाक थे। मैंने छेड़ा—"निराला जी, किससे बात कर रहे हैं?" वे सहमे, सँभले और कहा—"कुछ नहीं, यों ही, चलो कहीं चाय पी जाय।" दोनों उठकर 'माई रेस्टोरेन्ट' की ओर चल पड़े। रास्ते में निराला जी बँगला भाषा में कुछ बोलते जाते थे। ऐसा लगा जैसे कवीन्द्र रवीन्द्र से बातें कर रहे हों, जिसका आशय यह था—"यदि आपको बाहर के लोगों ने नोबुल पुरस्कार न दिया होता तो इस देश के लोग आपको दो कौड़ी का भी न पूछते। हाँ, थोड़ा बहुत सम्मान करते; क्योंकि आप प्रिन्स द्वारिकानाथ के नाती हैं। अच्छा हुआ आप चले गए अन्यथा आज बहुत कष्ट उठाना पड़ता।"

रेस्टोरेन्ट में पहुँच कर चाय पीते हुए सहसा बोल उठे, कभी हिन्दी तो कभी अँग्रेजी में—"मिस्टर जवाहरलाल! आपको साहित्य और भाषा में दखल देने का कोई हक नहीं है। आप अपनी जगह रहें, हम अपनी जगह। नेता और साहित्यकार का क्षेत्र अलग-अलग है। आप हिन्दुस्तानी बोलें या इङ्गलिश्तानी, इससे कुछ आता-जाता नहीं। देश बँटा, अब भाषा नहीं बँटेगी। Please be careful."

आस-पास बैठे हुए विश्वविद्यालय के छात्र निराला के दिव्य दर्शन से जितने ही मुग्ध थे उनके स्वगत से उतने ही स्तब्ध। अनुनय के साथ मैं उन्हें घर वापस ले आया। तब तक गुप्त जो कालेज चले गए थे। मैंने एकान्त पा कर प्रश्न किया—"वास्तव में आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है। मस्तिष्क भी कमजोर पड़ गया है। आप न जाने अपने-आप क्या बकते रहते हैं, लोग सुनकर हँसते है।" निराला जी ने बड़ी सावधानी और गम्भीरता से कहा—"तुम भी अजब आदमी हो। अरे, जिस देश की राज्यसत्ता स्वेच्छाचारिणी हो, भाई-बन्धु धनलोलुप और पृथ्वी का स्वर्ग नरक बना हो उस देश के मानवों की कहानी और क्या होगी! सभी प्राणियों में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का अधिक गुलाम है। उसे अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र, सभी कुछ अच्छा चाहिए। 'दाना

चुगने', 'भूसा खाने' से उसका काम नहीं चलता। भोजन, वस्त्र और जीवन की अन्य अनेक पूरक वस्तुओं का अपहरण जब कुछ व्यक्ति ही अपने डंडे के बल पर कर लेते हैं तब बाकी जनों का जीवन इसी तरह बरगलाता फिरता है। तुम जानते नहीं, इसी बरगलाहट का परिणाम राजक्रान्ति और समाज-क्रान्ति होती है। मेरी चिंता छोड़ो और अपना काम करो।"

मैं कुछ उदास होकर चुप हो गया कि निराला जी ने पूछा—"आटा दाल का भाव मालूम है कि नहीं?" मैंने कहा—"हाँ यही सेर सवा सेर का है।" निराला जी ने फिर दुहराया—"और अँग्रेजी शासन में क्या भाव था?" "मुझे नहीं मालूम!" मैंने धीरे से कह दिया। निराला जी बिगड़ उठे—"फिर क्या बात करते हो, आदमी हो कि पायजामा? सन् '४२ की ए० आई० सी० सी० में तुमने मेरी स्पीच सुनी थी कि नहीं! मैंने विक्टोरिया से भी कह दिया था। पाँडे एक बात बताओ, मैं इस देश का पहला डी० लिट० हूँ, तुम तो जानते होगे।" मैं चुप साधे रहा। थोड़ी देर में वे भी चुप लगा गए। इन स्वगतोक्तियों को छोड़कर उनके किसी अन्य कार्य मे कोई असंगति नहीं थी। खाना-पीना, बैठना-उठना, मिलना-जुलना सभी सब तरह से ठीक। दूसरे दिन निराला जी ने महादेवी जी के यहाँ भोजन करने का निश्चय किया और बोले—"देवी जी के यहाँ का भोजन बहुत दिव्य होता है, वहीं चलेंगे।" हम लोग करीब चार घन्टे देवी जी के यहाँ रहे, पर निराला जी ने वहाँ अपनी नवीन कला का उद्घाटन नहीं किया। बाहर निकलते ही मैंने पूछा—"आप तो वहाँ बिलकुल चुप थे।" निराला जी ने सहज भाव से कहा—"उनकी तबियत नासाज थी, बोलकर और अधिक कष्ट देना ठीक न होता।" तब तक देश, काल और पात्र के अनुसार उनकी स्वागतोक्तियाँ भी सधी हुई चलती थीं। तीन-चार दिन रह कर वे वापस चले गए। जाते समय स्टेशन पर कहने लगे—"आया था कि दारागंज वालों से कुछ हिसाब-किताब करना है, पर न हो सका। कुछ रुपया देना-लेना है। मकान में ताला बन्द है, पुस्तकें पड़ी हैं। देवी जो का सामान है। खैर फिर देखा जायगा। नीचे जाओ गाड़ी चलने वाली है। अच्छा नमोनमः।" मैंने प्रणाम किया और घर की राह ली।

इधर राजनीतिक उलट-फेर के फलस्वरूप विन्ध्य प्रदेश का निर्माण हुआ और वहाँ के मंत्रिमंडल की इच्छा के कारण मुझे कुछ दिनों तक वहाँ रहकर शिक्षा-प्रसार का काम करना पड़ा। साहित्य, साहित्यिकों से एकदम अलग-सा हो गया। निराला जी से भी सम्पर्क छूट गया। सन् '३५ से लेकर अब तक के

बीच यह पहला ही अवसर था जब निराला जी से पत्र-व्यवहार भी बन्द रहा। उस काम को छोड़छाड़ कर जब प्रयाग वापस आया तब निराला जी की चिंता फिर सवार हुई। अब तक लोगों ने उन्हें पूरा पगला समझ लिया था। विकृत समाज में किसी भी भले आदमी का यही विशेषण होता भी है। मैंने निराला जी को पत्र लिखा, पर उत्तर नहीं मिला। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न बातें सुनने में आती थीं और कभी-कभी समाचार-पत्रों से भी कुछ सूचना मिल जाती थी। महादेवी जी की लिखा-पढी और प्रयत्नों के फलस्वरूप यू० पी० सरकार ने निराला जी को २०० रु० माह देने का निश्चय कर लिया था। संसद के माध्यम से यह रुपया उन्हे भेज दिया जाया करता था। कभी-कभी दो-दो माह तक मनीआर्डर की रसीद भी नहीं आती थी तो कभी रुपया ही वापस आ जाता था। निराला विषयक चिंता बढ़ती जाती थी। दशहरे की छुट्टियों में डलमऊ जाने का निश्चय था, पर एक भयानक मोटर दुर्घटना के कारण मुझे २ अक्टूबर से १५ दिसम्बर तक विक्टोरिया अस्पताल, रीवां में पड़ा रहना पड़ा। वापस आते ही फिर निराला जी को लिखा। उत्तर भी आया, जिसमें निराला जी ने पुनः स्वस्थ और प्रसन्न होने के बहुत से स्नेहाशीर्वाद भेजे थे। प्रयाग आने की बात भी लिखी थी।

इन्हीं दिनों एक आश्चर्यजनक घटना घटी। निराला के काव्य-संग्रह 'अपरा' पर यू० पी० सरकार ने २,१०० रु० का पुरस्कार दिया। इसका श्रेय भी महादेवी जी को ही मिलना चाहिए, क्योंकि उन्होंने ही 'अपरा' को उस प्रतियोगिता में उपस्थित किया और उसे पुरस्कृत होने लायक भी बताया। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि इसके पहले निराला की कोई भी पुस्तक कहीं से पुरस्कृत नहीं हुई थी न निराला ने कभी किसी प्रतियोगिता में अपनी कोई पुस्तक भेजी थी और न लोगों ने उनकी किसी पुस्तक को अपने-आप पुरस्कार के योग्य माना था। हिन्दी के न जाने कितने ऐरे-गैरे, नत्थू-खैरे सभी को पुरस्कार मिल चुके थे, पर निराला को हिन्दी वालों ने कभी इस योग्य नहीं समझा। पुरस्कार का समाचार-पत्रों में पढ़कर मैंने निराला जी को बधाई का एक पत्र भेजा और शीघ्र ही प्रयाग आने का भी आग्रह किया। उत्तर में निराला जी ने लिखा —"हाँ सुना है 'अपरा' पर २,१०० रुपये मिले हैं। मेरा तो सरकार में करोड़ों रुपया जमा है, उसी मे से २,१०० दे दिया होगा। मेरे पास इसकी कोई बाकायदे सूचना भी नहीं आई, यों ही सुना है, मुमकिन है सच हो।" उनके सारे पत्र में उल्लास का कोई चिन्ह नहीं दिखा, वही उदासीनता का शाश्वत राग ध्वनित

होता था। एक पत्र महादेवी जी के पास भी आया जिसमें लिखा था—"आप अपनी सांस्थिक मर्यादा के अनुसार उस रुपये को मँगवा सकती हैं। वह रुपया आप ही का है।"

मुझे सम्मेलन के उन छोटे-छोटे पुरस्कारों का स्मरण आ रहा है जिनके लिए बड़ा से बड़ा साहित्यिक नामधारी व्यक्ति आकुल-व्याकुल हो उठता है। अपनी कृतियों पर स्वयं आलोचनात्मक लेख लिखकर प्रशंसा के पुल बाँधता है और अपने को पुरस्कार पाने के योग्य साबित करता है। इसीलिए मेरा मत है कि भूखे-प्यासे और उपेक्षित रहकर भी निराला ने अपनी साहित्यिक मर्यादा को कभी किसी प्रकार किसी के सामने घटने नहीं दिया। यही कारण है कि उनके व्यक्तित्व में आत्मबोधी साधक की प्रसन्न मुद्रा तथा जीवन के प्रति अधिक जागरूक भावों का प्रकाश स्थायी रूप से विद्यमान रहता था। जीवन की प्रखरतर धूप में खड़े रहने पर भी उन्होंने अपने हृदय के रस को सूखने नहीं दिया।

धीरे-धीरे अप्रैल का महीना भी समाप्त हो गया, पर निराला जी नहीं आए। केवल समय-समय पर उनका समाचार अवश्य मिलता जाता था। २ अप्रैल को देवी जी ने कहा—"बाहर जाने के दिन आ गए, किन्तु निराला जी का समाचार नहीं मिला। कानपुर के एक अखबार में उनका एक गीत छपा है और सर्वदानन्द जी उनके स्वागत के लिए कुछ रुपया भी इकट्ठा कर रहे हैं। कानपुर के एक धनी व्यापारी ने २५१ रुपया दिया है। यह मुझे अच्छा नहीं लगता। निराला के नाम पर इस तरह रुपया माँगना अशोभन है। विशेषकर जब देने वाले धनियों का यह हाल है। निराला जी को एक जवाबी तार दो कि हमलोग आ रहे हैं। कब आवें, आप लिखिए।" तीन तारीख को तार भेज दिया गया। तीन-चार दिन तक उत्तर की प्रतीक्षा रही। आठ तारीख को निराला जी के सुपुत्र रामकृष्ण जी का कार्ड मिला, जिसमें लिखा था कि निराला जी कानपुर-लखनऊ की ओर गए हैं, आने पर आपको सम्वाद दूँगा। हम लोगों की उत्सुकता और अधिक बढ़ गई।

८ मई (सन् '४९) को जब मैं सुबह ६½ बजे संसद-भवन रसूलाबाद से वापस आया तब देखा कि महादेवी जी के मन्दिर के सामने एक दीर्घकाय व्यक्ति फाटक के बीच में मन्दिर की ओर मुख किए खड़ा है। मैंने मोटरकार रोकी कि निराला जी ने अपना मुँह फेरा; लम्बी डाढ़ी, बड़े-बड़े बाल, प्रसन्न चित्त, आधी धोती की लुंगी और आधी का उत्तरीय, नंगे पैर निराला का व्यक्तित्व प्राचीन भारतीय ऋषि का दर्शनाभास लगा। एक क्षण के लिए मुझे

भ्रम हुआ, पर निराला की सहज मुस्कान ने शीघ्र ही अपना परिचय दे दिया। मैं कार से उतरना ही चाहता था कि निराला जी ने कहा—"बढ़ाओ, बढ़ाओ, चढ़ा दो, नई कार खरीदी है, कितना रुपया लगा ?" मैंने कार खड़ी की और नीचे उतर कर प्रणाम किया। कुशल-समाचार के बाद निराला जी ने पूछा—"देवी जी हैं, तबियत कैसी है ?" मैंने सब हाल-चाल कह सुनाया और देवी जी को निराला-आगमन की सूचना दी। देवी जी ने चाय का प्याला मुँह में लगाया ही था कि मैंने समाचार दिया। उन्होंने प्याले को ज्यों का त्यों, मेज पर रख दिया और एक आकुलता के साथ पूछा—"कहा हैं, कैसे हैं ?" कहती हुई बाहर निकल आईं। निराला जी ने करबद्ध प्रणाम करते हुए कहा—"मजे में तो हैं, कुछ दुबली लग रही हैं, बैठिए, चाय तो न पिलाइएगा"। देवी जी ने कहा—"अवश्य, चाय तो पी ही रहे थे। और आप तो अच्छे हैं, डाढ़ी भी बहुत अच्छी है, कुछ दिनों में एकदम से सफेद हो जायगी। आपको तो तार भी दिया था मगर आप बाहर थे।" निराला जी ने बताया कि वे कानपुर-लखनऊ होते हुए आ रहे हैं। डाढ़ी के विषय में वे बताना नहीं भूले—"आजकल हम एक अनुष्ठान कर रहे हैं। बाल नहीं बनवाते, जूता नहीं पहनते, अन्न भी कई महीने नहीं खाया केवल फलों और दूध पर रहे।" मैंने पूछा—"निराला जी कितना दूध पीते थे ?" हँसते हुए निराला जी ने कह दिया—"यही चार-पाँच सेर दिन भर में।" बड़ी देर तक हमलोग उनके अनुष्ठान को लेकर विनोद करते और चाय पीते रहे। निराला जी ने पंत जी के विषय में पूछ-ताँछ की और बोले—"अच्छा अब हम सोना चाहते हैं, रात भर जगे हैं। स्नान आदि से भी निवृत्त हैं, सोने के बाद भोजन करेंगे।" सोने की सुविधा करके हम लोग विदा हो गए।

करीब ग्यारह बजे निराला जी उठे और भोजन की फरमायश की। भोजन आ गया। निराला ने एक ही थाली देखकर मेरी ओर देखा और कहा—"क्यों, क्या तुम नहीं खाओगे ?" मेरे लिए भी भोजन का प्रबन्ध हो गया। निराला जी ने बड़ी रुचि से भोजन किया और मुझसे कुछ और लेने का बराबर आग्रह करते रहे। छठवीं रोटी लेते समय कहा—"बड़ी भूख लगी थी, पेट भी बड़ा है, उस पर बढ़िया भोजन। वाह, खूब खाया। थोड़ा आराम करके लीडर प्रेस चलेंगे।" देवी जी भीतर चली गईं तब मैंने कहा—"निराला जी आप का २,१०० रु० जमा है, लेकर कुछ कपड़े-लत्ते बनवा लीजिए।" निराला जी उठकर बैठ गए और कहने लगे—"निराला दान नहीं लेता, क्या होगा २,१०० रुपया।

मेरा लाखों का हिसाब-किताब है । सब साथ ही लूंगा । यह रुपया मुन्शी नवजादिक लाल श्रीवास्तव की विधवा धर्मपत्नी को देना है । संसद के माध्यम से ५०) महीना जाता रहेगा । उनके कई बच्चे हैं । शादी के लायक लड़कियाँ भी हैं । आफत है, उनकी सहायता करनी है । देवी जी से कह देना । चिलकहर बलिया, उनका पता है, नोट कर लो ।" वे सहसा मुखरित हो उठे, "मेरी पुस्तकें हैं, लीडर प्रेस और इन्डियन प्रेस भी अपना है । आप क्या बात करते है ? मैंने कभी लिया नहीं, दिया ही है । आपको १,००० का नाज़ है तो २,१०० तो मैंने अभी-अभी दिया है । आदाबअर्ज है ।" अनुमान से पता चलता है कि पं० नेहरू से बात कर रहे थे । अभी हाल में उन्होंने १,००० की निधि संसद की लेखक-सहायक-निधि को दिया था ।

निराला की स्वगतोक्तियाँ भी संगतिपूर्ण होती थीं । वे जब किसी व्यक्ति के विषय में सोचते तब मानो वह व्यक्ति उनके सामने उपस्थित हो जाता था । 'साकार सामने हो आते उर के आकर्षण निराकार' का सच्चा स्वरूप सामने आ जाता था । कुछ क्षण बाद कहने लगे—"तुमको एक रहस्य बताऊँ, पहले जमाने में जैसे जमींदारी, जागीरदारी होती थी उसी प्रकार अब तीन दारियाँ होती हैं : लक्खीदारी, करोड़ीदारी और अरबीदारी, जो इन तीन के भीतर हैं उनकी बचत है, अन्यथा नहीं । साहित्यिक गरीब को कौन पूछता है ।" बात मुझको जँची और मैंने हृदय से अनुमोदन भी किया । हिन्दू-मुसलमान, राजनीति, और साहित्य, गाँधी, टैगोर, जवाहरलाल और शा, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित और मिसेज सूर्यकान्त को लेकर वे बहुत सी अस्पष्ट बातें करते हुए सो गए । शाम को लीडर प्रेस न जाकर मेरे साथ संसद के लिए तैयारी कर दी । संसद की स्वाभाविक सुन्दर सन्ध्या, हलकी-पतली चाँदनी, गंगा का क्षीण, किन्तु स्फूर्तिप्रद पावन-प्रवाह और निराला का साथ, सब मिलकर स्मृति के लिए जैसे अमर दान बन गए । निराला जी ने रवीन्द्र के कुछ गीत सुनाए और अपने गीतों से तुलना करते हुए उनकी विशेषताएँ निरूपित कीं । जी भर गंगाजल पिया और सो गए । सोने के पहले एक मार्मिक प्रश्न किया—"क्यों जी, निराला के खाने-पीने तथा सोने में तो पागलपन नजर नहीं आता, फिर न जाने लोग पागल क्यों कहते हैं ? यही खरी-खोटी बातें बुरी लगती होंगी ।" रात भर में केवल एक बार वे इतने जोर से हँसे कि मैं जाग गया । मैंने कहा—"निराला जी, अब तो आपसे भय लगता है, मैं नीचे जा रहा हूं ।" उन्होंने बहुत ही सहमे शब्दों में कहा—"नहीं-नहीं सोओ, अब मैं कुछ न बोलूंगा । स्वामी

विवेकानन्द ने एक ऐसी बात कह दी कि मैं हँस पड़ा। भय की क्या बात है ? तुम कभी स्वप्न नहीं देखते ? लोग कभी-कभी सोते-सोते अचानक बात करने लगते हैं। यह कौन सी नई बात है। सो जाओ, मैं भी सोता हूँ।" मैं आश्वस्त होकर ऐसा सोया कि सुबह निराला जी को ही जगाना पड़ा।

सुबह मुँह-हाथ धोकर देवी जी के यहाँ आ गए और दिन भर वहीं रहे। देवी जी ने बताया कि श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी यहाँ आए हैं और उनकी इच्छा शाम को संसद देखने की है। निराला जी ने फौरन कहा—"जरूर ले चलिए, कुछ पहले से चलें, स्थान बहुत रमणीक और सजीव है। कल बहुत अच्छा लगा, गर्मी भी नहीं है, गंगा को छूती हुई ठन्ढी हवा चलती रहती है; अब तो द्विवेदी डाक्टर हो गए हैं। अच्छा है।" शाम को छ बजे देवी जी, निराला जी तथा द्विवेदी जी के साथ संसद पहुँचीं। मैंने स्नान का प्रस्ताव किया कि निराला ने शीघ्र अनुमोदन किया और द्विवेदी जी भी 'हाँ-हाँ-हाँ' के साथ खिल पड़े। देवी जी ने वस्त्रों की व्यवस्था की बात चलाई कि निराला ने कहा—"हमें तो कुछ नहीं चाहिए। जो ओढ़े हैं, उसे पहन लेंगे और जो पहने हैं, उसे ओढ़ लेंगे। द्विवेदी जी से निराला जी के विषय में बहुत सी बातें होती रहीं। उन्होंने २,१०० रु० के उपयोग की बात सुनी और कहने लगे—"निराला वास्तव में महान हैं।"

स्नान करके वापस आए कि निराला जी ने देवी जी से कहा—"द्विवेदी जी को चाय पिलाना होगा, कुछ प्रबंध कीजिए।" और द्विवेदी जी से पूछा —"कहिए हमारी डाढ़ी का क्या हाल है, कैसी लगती है ?" द्विवेदी जी ने कहा—"यह तो गुरुदेव से मिलती-जुलती है, साइड मे बिलकुल वैसी ही लगती है।" निराला जी डाढ़ी पर हाथ फेर-फेर कर प्रसन्न होते रहे। चलते समय देवी जी ने द्विवेदी जी को संसद के बाग का एक कद्दू भेंट किया। निराला जी मुस्कराये और कहा—"वाह क्या बढ़िया उपहार है, गर्म पूड़ियों के साथ मजा देगा।" आठ बजे तक सब लोग वापस आ गए। स्नेही मित्र डा० रघुवंश का कहना है कि द्विवेदी जी बाद मे निराला जी की बड़ी प्रशंसा कर रहे थे। आज उनकी कौन नहीं प्रशंसा करता ? देवी जी ने कलकत्ते से लौट कर बताया कि वे कलकत्ते में जहाँ-जहाँ गईं उनसे निराला जी के विषय मे लोग-बाग बराबर पूछते रहे। समन्वय काल मे निराला ने बहुत से बंगालियों को हिन्दी पढ़ाने का भी कार्य किया था। इस प्रकार निराला ने हिन्दी की सभी तरह से सेवा की, इसमे सन्देह नहीं। निराला जी ने संसद से

आते समय द्विवेदी जी से कहा—"आपको मालूम होगा, यह संसद-भवन मेरा है, न मेरे पुरुषार्थ से सही मेरे लिए सही।" कहकर उन्होंने देवी जी की तरफ एक स्नेह-तरल दृष्टिपात किया और मुस्कराए।

दूसरे दिन निराला जी लीडर प्रेस गए। पाठक जी के यहाँ दावत खाई और वहाँ के अधिकारियों को डाँट-फटकार बताते रहे। जोशी जी और डा० उदयनारायण तिवारी से भी वहाँ भेंट हुई। तिवारी जी ने कहा कि निराला जी की डाढी महर्षि अरविन्द से मेल खाती है, किन्तु निराला जी ने बड़े जोरों से इसका प्रतिवाद किया और अपने को अरविन्द से बढ़ कर बताया। पाठक जी ने निराला जी के कई चित्र भी खिचवाए और बड़े चाव से निराला जी के साथ बतरस का आनन्द लेते रहे। गोपेश जी ने दूसरे दिन दावत दी और हम लोगों ने संसद के लिए प्रयाण किया। मैंने रास्ते में कहा—"मैं तो वहाँ (गोपेश के यहाँ) न जाऊँगा, क्योंकि उन्होंने मुझसे नहीं कहा और यदि गया भी तो आपको उतार कर कार में बैठा रहूँगा।" निराला जी ने बड़े मजे से कहा—"हाँ कार में बैठे रहना, मैं कुछ पूड़ियाँ चुरा लाऊँगा उन्हीं को खा लेना, बस।" उनकी इच्छा के अनुसार मेरा जाना आवश्यक सा हो गया। शाम को फिर देवी जी के यहाँ पहुँचे। उस दिन निराला जी का मूड बहुत अच्छा था। वे देवी जी के यहाँ ड्राइंग-रूम की चौकी पर ताल दे-देकर धीरे-धीरे गा रहे थे—

श्रावण-घन गहन मोहे
गोपन तब चरण फेले
निशार मन नीरव ओहे
सवार दीठि एड़ाए ऐले !

●

बारण करो तबे गाहिबो ना

मैंने कहा—"निराला जी कोई अपना गीत सुनाइए।" उन्होंने कहा—"मेरे गीतों में क्या रखा है, टैगोर के गीत सुनो। क्या आर्ट है, कलाबाजी की हद।"

देवी जी ने एक होमोपैथ डा० श्री उमाशंकर जी को भी बुलवाया था कि वे चुपचाप निराला जी को देख लें, मगर यह नहीं हुआ। निराला जी ने पूछ ही तो लिया—"और आप कौन हैं ?" सब भेद खुल गया। डा० साहब ने कहा, "निराला जी आज्ञा हो तो आपकी कुछ सेवा करें, सुना है आपका दाँत

हिलता है। एक खुराक में ठीक हो जायगा ?" हम लोगों ने भक्तिन की गवाही भी दिलाई, पर निराला जी को जैसे साँप छू गया, वे बोले—"न, हम दवा नहीं खाते, आप अच्छे डाक्टर हैं, यह तो देखने से ही पता चलता है, पर हमारा ढंग दूसरा है, आप चक्कर में न पड़ें।" डा० साहब ने एक दवा दी जिसको पानी के साथ हम लोगों ने चुपचाप निराला जी को खिला दिया। काश कि दवा काम कर जाय तो हिन्दी का इससे बड़ा कोई दूसरा सौभाग्य भी नहीं हो सकता।

जोशी जी की दावत के लिए निराला जी सुबह से ही जा डटे। जब मैं १०½ बजे पहुँचा तब वे खा कर सो रहे थे। जागते ही कहने लगे, "जोशी ने बड़ी मेहनत से खाना तैयार किया था। बनने पर मैं अपने-आपको रोक नहीं सका, खा लिया, अब तुम दोनों भी खाओ। चाहो तो मैं परोस भी सकता हूँ।" खाना खाने के बाद जोशी जी ने हुक्का चढ़ाया कि निराला जी ने हाथ बढ़ाते हुए कहा—"लाओ, हम भी दो-चार संतोष की गुड़गुड़ी मार लें।" वे काफी देर तक प्रेम-पूर्वक हुक्का गुड़गुड़ाते रहे। जोशी जी ने सन् '२२ का एक संस्मरण सुनाया। कलकत्ते मे उनकी निराला जी से प्रथम भेंट हुई कि रवीन्द्र पर बहस चल पड़ी। उसी सिलसिले में उन्होंने निराला जी से कहा कि वे रवीन्द्र को बहुत बड़ा कवि मानते हैं। निराला जी ने व्यंग-भाव से पूछा—'तो क्या कालिदास से बड़ा मानते हो ?' जोशी जी ने कहा 'हाँ'। निराला जी ने ताव में आकर जमीन पर पैर पटकते हुए पूछा—'तो क्या तुलसीदास से भी बड़ा मानने हो ?' जोशी जी ने और अधिक जोर से पैर पटक कर कहा—'हाँ तुलसीदास से भी बड़ा मानता हूँ, अब बोलिए क्या पूछना है।' निराला जी जोर से हँस पड़े और कहा—"जोशी, उस वक्त तुम बहुत दुबले-पतले और सुकुमार बच्चे थे।" इसके बाद मुझसे बोले—"कल वापस जाना है। अभी देवी जी को उस रुपये के उपयोग का लिखित अधिकार भी देना है, पर आज अभी से संसद चलें। वहाँ का वातावरण बहुत ही मनोरम और शान्तिमय है।"

वैसाख चतुर्दशी की रात, गंगा का नौकाविहार, निराला का काव्यामृत पान, कितनी मुग्धकर रात थी वह, यह शब्दों में बताना बहुत कठिन है। निराला जी ने गंगा में घुसते हुए कहा—"संसार में ऐसी कोई दूसरी नदी नहीं, यह वास्तव में मातु गंगा है। जीते-मरते इसी की गोद में शरण मिलती है। आज तो चौदस है न ? कल का दिन बहुत महत्वपूर्ण होगा। वैसाखी पूर्णिमा, मुक्ति महोत्सव का पावन पर्व। बुद्ध के जन्म, मृत्यु और बोध का दिन, इससे बड़ा दिन और कौन

होगा। देश ने अभी इसका महत्व नहीं समझा। राजनीतिक व्यक्तियों के स्मारकों के मारे और सब गायब है।" वे आवेश में आ गये—"घबड़ाने की बात नहीं, जो लोग अपनी शासन-सत्ता के मत्थे अपने स्मारकों का निर्माण करते हैं उन्हें यह समझ रखना चाहिए कि उनका शासन बदलते ही उनके स्मारक भी ढह जायँगे। जनता अब शासकों की स्मृतियाँ नहीं पालती, भूलने की चेष्टा करती है। इस देश का सबसे बड़ा पाप जनता की अवज्ञा है। काँग्रेसी शासन में भी यही त्रुटि है। पतन का कारण भी यही बनेगी। जब तक यहाँ की जनता को भोजन, वस्त्र, शिक्षा तथा संरक्षण नहीं प्राप्त होता तब तक यहाँ किसी प्रकार का शासन सफल नहीं हो सकता, देश की मिट्टी का यही गुण है। भारत को पुनर्जन्म देने के लिए विलायती सहयोग काम नहीं देगा, यहाँ की जनता को उसके लिए जगाना पड़ेगा। यही तो मेरा पागलपन है। अच्छा अब चलो छत पर बैठेंगे।"

छत पर आकर तथा खाना खाकर निराला जी तख्त पर लेट गए और अपनी स्वगतोक्तियों में फूट पडे—"जवाहरलाल जी, आपको अँग्रेजों के गुट मे रहना क्यों पसंद है? क्या भारत एकान्त स्वतन्त्र रहकर विश्व भर का स्नेह सहयोग नहीं प्राप्त कर सकता? यह तो बताइए आप शॉ के पास क्यों गये थे, अपने कलाकारों को आप इतना क्यों नहीं दे पाते? हिन्दी मे शॉ से बड़े कलाकार हैं, पर उनका आप उतना सम्मान नहीं करते। शायद वे कोट-पैन्ट नहीं पहनते, जो भी हो, यह रुख अच्छा नहीं। टैगोर, प्रसाद, भारतेन्दु आदि ही इस देश की विभूतियाँ हैं, माउन्टबेटन और शॉ नहीं। आपकी मर्जी।" इसके बाद वे एकदम से शान्त हो गए।

सुबह उठकर हम लोग देवी जी के यहाँ पहुँचे, चाय पीते हुए निराला जी ने कहा—"मैं दारागंज जा रहा हूँ। श्रीनारायण जी से मिलना है। यहाँ आया तो आया वरना उसी तरफ से डलमऊ चला जाऊँगा। फिर बरसात में भेंट होगी। मन चाहे तो समाचार देते रहना।" रिक्शा में बैठकर वे चले गए। मुझे एक पत्र श्रीमती नवजादिकलाल की धर्म-पत्नी के लिए रजिस्टरी करने को देते गये, जिसमें ५० रुपया माह की व्यवस्था कर देने का उन्होंने बड़े ही नम्र और आत्मीय शब्दों में उल्लेख किया था। रिक्शा रोककर निराला जी ने आवाज दी—"पाँडे, सुनो तो एक बात बहुत जरूरी है।" इतना कहते-कहते मैं उनके पास पहुँच गया। वे बघेलखंडी मे, जो मेरी मातृभाषा है बोले—"मैं त्वाखा आचार्य कै डिगरी द्यात हौं, तैं आज से अपने का आचार्य लिखे, कोऊ

कुछू न कही, भला। तै जनते नहीं, ई डिगरी देंय वाले सब बहुत चन्ट हैं। नेतन का औ बनियन का देत हैं। पढ़े लिखेन का नहीं पूछैं। अब वा समय आयगा है कि हम पंच अपने विद्यानन का मान-सम्मान करी।" निराला जी की इस बात से एक रहस्यमय तथ्य का उद्‌घाटन हुआ। वे इधर के प्रायः पत्रों में देवी जी के नाम के पहले डाक्टर लिखा करते थे। हम लोग उसे उनके मस्तिष्क की शिथिलता का परिणाम मानकर चुपचाप रह जाते थे। अब समझ में आ गया कि वे स्वयं डिगरी देने की क्षमता का अपने मे आह्वान कर चुके थे।

मैंने धीरे से प्रश्न किया—"निराला जी, हम सब को तो आप डाक्टर बना दीजिएगा, पर आपको कौन बनायेगा ?" निराला जी ने आक्रोश के साथ कहा—"अजब आदमी हो, मेरे लिए आज किसी डिगरा की जरूरत नहीं, पगला से बढ़कर और कौन डिगरी है ? लोगों ने मुझे खूब दिया है। मेरे प्रति तो सभी सदा उदार रहे हैं, पर जिन बेचारों को किसी ने नहीं पूछा उनका प्रबन्ध करना है। डरो मत, अधिकार माँगने से नहीं मिलते, छीनने से मिलते हैं। अधिकार के लिए अखाड़ेबाजी आवश्यक है। तुलसी काका की बात याद रखो—

'भय बिन होय न प्रीत'

क्या डिगरी, क्या सम्मान, क्या रुपया, क्या पद, आजकल सभी शक्ति या सिफारिश से मिलता है, योग्यता से नही। देखते नहीं, जनाबे मसुरियादीन भी प्रयाग विश्वविद्यालय की कोर्ट के सदस्य हैं। काँग्रेस सरकार के गवर्नर ने नामजद किया है और राहुल बाबा को कोई पूछता नहीं।"

मैंने शान्त करने की चेष्टा में कहा—"जाने दीजिए निराला जी, इन बातों से कुछ फायदा नहीं, समय की गति के साथ सब ठीक हो जायगा। अब हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है, आप लोग हिन्दी के महारथी है, सम्मान से, स्वागत से जी भर जायगा।" उन्होंने हँसते हुए रिक्शा वाले से कहा—'चलो'।

वे चले गए और मुझे पत्र की रजिस्टरी करने जाना है, अस्तु विदा ! और

आनन्द, इन्दु-रस-बिन्दु अमर,
जिसका गिरि-उर-भेदक निर्झर—
क्षिति का ही-तल शीतल करता लोचन जल;
जिसकी भाषा घन, सिंह-नाद,
उच्छल-प्रतिभा-यौवनोन्माद,
उन्मुक्त भाव जिसके निनाद से कलकल !

ऐसे महामानव, महाकवि तथा महाप्राण निराला जी को शतशः प्रणाम !

● ● ●

स्वस्ति

महाकवि निराला हमारे प्रतिनिधि राष्ट्रीय कवि थे। उनका काव्य हमारी सभ्यता तथा संस्कृति का प्रतीक है। विशेषता यह है कि उस कवि की राष्ट्रीय भावना और विश्वकल्याण की भावना में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति और समाज का भी मंगलमय सम्बन्ध उनकी कृतियों में बराबर मिलता है।

इस समय विश्व नितान्त उद्विग्न और अशान्त है, इस स्थिति में इस महाकवि की वाणी से हम शान्ति और संतोष प्राप्त कर सकते हैं, सहानुभूति का सन्देश ग्रहण कर सकते हैं, तप, त्याग और साहस का आश्रय पा सकते हैं।

राष्ट्र को अपने साहित्य और जीवन के द्वारा उन्नति तथा अभ्युदय के पथ पर अग्रसर करने वाले निराला जैसे महाकवि का वन्दन-पूजन हमारा पवित्र कार्य और कर्तव्य है।

हम कामना करते हैं कि—

परस्पर विरोधिन्योरेक संश्रय दुर्लभम्,
सङ्गतं श्री सरस्वत्यो र्भूतयेऽस्तु सदा सताम्!

और

सर्वस्तुरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु,
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु!
इति शुभम्!

● ● ●

परिशिष्ट | १

साहित्यकार संसद की स्थापना के पश्चात् निराला जी अतिथि के रूप में प्रयाग आने पर दो-चार दिनों के लिये वहाँ ठहर तो जाते थे, परन्तु स्थायी-रूप से वहाँ रहने की बात किसी न किसी बहाने से टाल जाते थे। और जो वे नहीं करना चाहते थे उसे करा लेना किसी के वश की बात नहीं थी। सन् '४८ में अपेक्षाकृत वे कुछ अधिक समय तक वहाँ ठहरे, लगा सम्भवतः स्थायी-रूप से ही रहने लगे, पर सहसा एक दिन फिर चले गये।

सन् '४९ की मई में जब आये तो महादेवी जी ने और मैंने पुनः विनम्र आग्रह किया। उन्होंने कहा—"अच्छा है, जौलाई से संसद में ही जमेंगे। कुछ नयी चीजें भी लिखना चाहता हूँ, घूमते-फिरते सध नहीं पाता।" हम लोग कुछ आश्वस्त हुये और निराला जी चले गए।

'४९ की जौलाई में उन्हें अपने बीच देख कर आश्चर्य और आनन्द की जो अनुभूति हुई, वह वर्णनातीत है। चाय पीते-पीते बोले—"तुमने गाड़ी रख ली, अच्छा हुआ, आने-जाने की सुविधा बढ़ गई। संसद चलना है, पर इसके पहले दारागंज के मकान और दूकानदारों का हिसाब साफ कर देना जरूरी है।" महादेवी जी ने तुरन्त रुपये का प्रबंध कर दिया और वे ऋण-मुक्त होने के लिये दारागंज को प्रस्थान कर गये। शाम को प्रायः ३ बजे विद्यापीठ लौट कर सारा हिसाब चुकता कर देने की सूचना दी। उस दिन वे इतने प्रसन्न थे कि इधर कई वर्षों से वैसी प्रसन्नता देखने को नहीं मिली थी।

लेन-देन मे उनकी साख इतनी पक्की थी कि उनकी सारी अव्यवस्था मे भी कोई दूकानदार उन्हे कोई सामान उधार देने मे जरा भी हिचकिचाता नहीं था। केवल सामान ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर वे दूकानों से नकद रुपये भी उठा लेते थे और रुपये मिलते ही वापस कर देते थे। उनके इस व्यवहार में व्यतिक्रम का कोई भी उदाहरण नहीं है।

प्रसंगानुसार मैं एक बात का उल्लेख कर देना चाहता हूँ। पिछले प्रायः २८ वर्षों के परिचय में मैंने यथासमय निराला जी के लिये कुछ पैसे खर्च किये थे। कभी किसी को दिला दिया, कभी उनकी इच्छानुसार उनके मित्रों की दावत का प्रबन्ध कर दिया, कभी कुछ कपड़े-लत्ते खरीद दिया, कभी उनके आने-जाने का टिकट बनवा दिया, कभी किसी के जन्म-दिन पर उनके उपहार

देने की इच्छा को चरितार्थ कर दिया, तो कभी किसी को कुछ रुपये भिजवा दिया—आदि-आदि।

एक दिन अपने गाँव के किसी आदमी की १५) रु० दिलाने के बाद बोले—"पाँड़े हजार-बारह सौ रुपये तुम्हारे चढ़ गये, अब देना चाहिये।" मैं कुछ ठीक से समझ नहीं सका, चुप रहा तो कहने लगे—"क्यों क्या हिसाब में कुछ गलती है? शुरू से अब तक तुमने इतना तो जरूर दिया होगा?" मैंने अनमने भाव से कहा—"मैंने आप को कभी कोई रुपया उधार तो दिया नहीं, मेरे पास रहा तो खर्च कर दिया। आप न जाने कैसी बातें करते हैं?" मेरा इतना कहना था कि वे उत्तेजित हो उठे—"उधार नहीं दिया तो क्या दान दिया है? दान तो मैं लेता नहीं, और उधार न देने पर घोड़ा या बैल बनना पड़ता है, यह तुम्हें मालूम है। उधार के बिना काम भी नहीं चलता। जब चाहिये था तुमने दिया, अब मैं वापस करना चाहता हूँ, इसमें बुराई क्या है? रुपये की भी मुझे कमी नहीं। आदान-प्रदान की इस छोटी सी बात को भी तुम नहीं समझ पाते? बड़ी आफत है।"

मैंने बड़ी नम्रता से प्रसंग टालने के लिये कहा—"यदि यह भी मान लिया जाय तो दस-पाँच से अधिक मैंने आप के लिये कभी खर्च न किया होगा। उसका लेखा-जोखा क्या?" निराला ने खिलखिलाते हुये कहा—"अच्छा, अच्छा, दस-पाँच यानी पन्द्रह सौ, उसका आधा साढ़े सात सौ, पचास भूल-चूक के, तो चलो, आठ सौ से हमारा-तुम्हारा समझौता हो गया। थोड़ी-बहुत कमी-बेशी होगी तो कोई बात नहीं।" मैं आगे कुछ भी न कह सका।

दूसरे ही दिन उन्होंने लीडर प्रेस को अपने हिसाब में से आठ सौ रुपये मुझे देने का लिखित आदेश दे दिया और वहाँ से मुझे रुपये भी मिल गये। यहाँ मेरा उद्देश्य अपने तथा महाकवि के बीच आर्थिक आदान-प्रदान का हिसाब पेश करना न होकर केवल उनकी किसी से कुछ न लेने की प्रवृत्ति पर प्रकाश डालना मात्र है। जहाँ तक मैं जानता हूँ वहाँ तक महादेवी जी को छोड़ कर उनकी इस प्रवृत्ति में कोई दूसरा अपवाद भी नहीं है।

दिया-बत्ती होते-होते हम लोग संसद-भवन पहुँच गये। महादेवी जी ने उन्हें सजा हुआ निराला-कक्ष दिखलाया तो वे बालकों की तरह सहज भाव से मुग्ध हो उठे। फर्श की कालीन उन्होंने हटवा दी और पलँग की जगह तख्त रखवा लिया। चौकी पर कागज और फाउनटेनपेन देख कर बोले—"इस तरह की कलम से लिखने का हमें अभ्यास नहीं, निब वाली होल्डर भेजवा दीजियेगा।" तनिक रुक कर फिर कहा—"कमरा तो बहुत ही अच्छा है, गंगा का दृश्य भी दिव्य है,

सभी ठीक है, पर इसका ठाट-बाट कुछ अधिक है। देखिये, निभ जाय तो ठीक है।"

देवी जी ने सहज भाव से सीधी बात कह दी—"ठाट-बाट क्या है? रहने लायक एक साधारण कमरा है। यदि आप को इसका ठाट-बाट कुछ अधिक लगता है तो आप को रहना है, आप इसे अपने मन का कर लीजियेगा।" निराला जी जैसे अपने में डूब गये।

देवी जी ने चलने की सूचना दी और बाहर की ओर चल पड़ीं। निराला जी जैसे सोते से जागे और देवी जी को बाहर तक पहुँचा कर वापस हो गये।

वह दिन मेरे लिये कितने आनन्द और उत्साह का दिन था, यह कैसे व्यक्त किया जाय, मैं नहीं जानता। निराला जी के साथ रह कर उनकी यथासाध्य सेवा की प्रतीक्षा आज सफल मनोरथ होकर मेरे भीतर एक नयी स्फूर्ति तथा प्रेरणा का जो अभिनव संचार कर रही थी, वह मेरे लिये आजीवन अविस्मरणीय है, इसमें सन्देह नहीं।

देवी जी को भेज कर लौटा और झाँक कर देखा तो निराला जी लेटे हुये धीरे-धीरे अपने-आप कुछ बात कर रहे थे। आहट पाते ही उठ कर बैठ गये और मेरा कमरा देखने की उत्सुकता प्रकट की। कमरा देखने के बाद मुस्कराते हुये कहा—"Mine is a better room. पुस्तकों का संग्रह खूब किया है, फिर कभी देखेंगे। चलते हैं, विश्राम करो।" मैंने भोजन के बाद विश्राम करते हुये नौकर महादेव को आवाज दी कि निराला जी एक साँस में कह गए—"हम भोजन तो करते नहीं, हमारा तो अनुष्ठान चल रहा है, नवरात्रि के बाद पूरा होगा। तब तक चाय और गंगाजल से ही निर्वाह करना है, तुम खाना खाओ, हम आराम करेंगे।"

मेरे काटो तो खून नहीं, लगा मेरी सारी सफलता पर पानी फिर गया। मैंने बड़े आग्रह से कहा—"कवियों का अनुष्ठान निराहार नहीं होता और यदि आप नहीं खायेंगे तो मैं भी नहीं खाऊँगा। यह सब सुन कर महादेवी जी को भी बहुत दुःख होगा। आज तो सब खाना वे स्वयं रख गई हैं। आपका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं है—आप यह सब क्यों करते हैं?"

निराला जी बिना कुछ उत्तर दिये हुये अपने कमरे की ओर चले गये। उनके निश्चय को समझ लेने के बाद दोबारा कुछ भी कह सकने की मुझमें हिम्मत नहीं थी। खीझ के साथ चारपाई में पड़ा-पड़ा कुछ सोचते-विसूरते जाने कब सो गया, कुछ पता नहीं।

प्राय: साढ़े ग्यारह बजे मेरे कानों में 'पाँड़े-पाँड़े' की एक तीखी भनक पड़ी। उठ कर देखा तो निराला जी बरामदे में खड़े प्रतीक्षा कर रहे थे। पास पहुँचा कि अत्यन्त स्नेह-तरल शब्दों में पूछा—"तुमने तो खाना नहीं खाया। देवी जी साथ में मिठाई भी तो लायी थीं। कहाँ है ? लाओ तो खाया जाय। चाय तो बन सकेगी ?" और बारह बजे के लगभग हम लोगों ने चाय पी और मिठाई खायी। मुझे खाते देख कर निराला जी की आँखों में तृप्ति की जो ज्योति लहरा रही थी, वह किसी माँ की ही आँखों में देखी जा सकती है। कमरे की ओर चलते-चलते कहने लगे—"भाई, आज जो हुआ सो हुआ। प्रात: गंगा-स्नान के बाद हम अपना व्रत तोड़ देंगे। यों भी भोजन और भजन में कोई विरोध नहीं। जाओ, सो जाओ।"

सम्भवत: अप्रत्याशित आनन्द का भी एक नशा होता है। उस नशे में मैं फिर सो ही नहीं सका। व्यक्तिगत साधना और परदुख कातरता को लेकर तरह-तरह के विचार मन में उठते और विलीन होते रहे। निराला की इन पंक्तियों से मेरा समाधान हुआ—

मृत्यु में, तृष्णा में अभिराम एक उपदेश,
कर्ममय, जटिल, तृप्त, निष्काम; देव, निश्शेष !
तुम हो वज्र-कठोर किन्तु देववत,
होता है संसार अत: मस्तक नत।—ज्येष्ट

निराला जी की एक कविता 'अधिवास' प्रथम 'अनामिका' (१९२३) में प्रकाशित है, जो उनके काव्य के मूल-स्वर का संकेत करती है—

मैंने 'मैं' शैली अपनाई,
देखा दुखी एक निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे,
झट उमड़ वेदना आई;
उसके निकट गया मैं धाय,
लगाया उसे गले से हाय !
फँसा माया में हूँ निरुपाय
कहो, फिर कैसे गति रुक जाय ?
उसकी अश्रु भरी आँखों पर मेरे करुणाञ्चल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनंत किन्तु तो भी मैं नहीं विमर्ष;

छूटता है यद्यपि अधिवास,
किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास !

स्पष्ट है कि ब्रह्म प्राप्ति की व्यक्ति-साधना की अपेक्षा वे करुणा के केन्द्र मानवता की ओर अधिक उन्मुख हैं। करुणा यदि उन्हें माया में भी फँसाये तो भी वे उसे छोड़ना नहीं चाहते। प्रारम्भ से ही यही जीवन-दर्शन और सांस्कृतिक चेतना-क्रम निराला के काव्य का केन्द्र-विन्दु रहा है। उन्होंने इसका बहुत ही स्पष्ट उद्घोष भी किया है—

ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सब के चरणों में दो तन-मन वार।
बहु रूपों में खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ है ईश ?
व्यर्थ खोज, यह जीव-प्रेम की ही सेवा पाते जगदीश !

उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है—

हिल चुका हूँ मैं हवा में; हानि क्या
यदि झड़ूं, बहता फिरूँ मैं अन्तहीन प्रवाह में
तब तक न जब तक दूर हो निज ज्ञान—
नारायण मिलें हँस अन्त में !

पीड़ित नर-नारायणों की सेवा में निजत्व का ऐसा विलयन करने वाले निराला को भी यदि अहंवादी कहा जाय तो महान आश्चर्य के साथ दुख होना भी स्वाभाविक ही माना जायगा। जो भी हो, निराला का यह प्रश्न युग-युगों तक हमारी चेतना को झकझोकरता रहेगा—

रोक रहे हो जिन्हें
नहीं अनुराग मूर्ति वे
किसी कृष्ण के उर की गीता अनुपम ?
और लगाना गले उन्हें—
जो धूलि-धूसरित खड़े हुये हैं—
कब से प्रियतम, है भ्रम
हुई दुई में अगर कहीं पहचान
तो रस भी क्या
अपने ही हित का गया न जब अनुमान ?

निराला वेदान्त से प्रभावित रहे हैं। वेदान्त के मूल स्वर 'जगन्मिथ्या' ने उनमें निस्संगता का उन्मेष किया और 'एकमेवाद्वितीयम्' ने मूल सत्ता की अवगति

द्वारा विश्वास और आस्था के संचार के साथ सबके प्रति परम आत्मीयता और सहानुभूति का अटूट सम्बल भी दिया। इसी कारण प्रेरणा और चेतना के विकास में वे कभी व्यक्तिवादी फलतः निराशावादी नहीं रहे। स्वभावतः उनकी अभिव्यक्ति अनाविल और पूर्ण है। मूलभूत निस्संगता के कारण आत्मनिष्ठा के प्रभाव में भी वस्तु को देखने की उनकी दृष्टि व्यापक और गहन है। व्यक्ति-निष्ठा और वस्तुनिष्ठा के सधे संयोग के कारण उनके काव्य में एक ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण क्षमता का उद्भव पाया जाता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। उनके व्यक्तित्व के उत्थान में मानवता का संस्पर्श और उनके आत्मोल्लास में अखिल लोक-जीवन के विकास का स्वर सन्निहित है। उनके कवि की सौन्दर्य-दृष्टि व्यापक जीवन के अश्रु-ह्रास में धुलकर बिखरती-निखरती है। उनका सौन्दर्य, सत्य-शिव को छोड़कर प्रतिष्ठित नहीं होता। कला के इस उच्चाशयी स्वरूप में प्राणप्रतिष्ठा करने के लिये ही निराला को अनुभूति, कल्पना और प्रयोगोन्मुखी उत्सुकता का सम्मिश्रण करना पड़ा है, यह स्पष्ट है।

पौ फटते ही बूंदा-बाँदी शुरू हो गई थी। उजाला छिटकने पर देखा कि निराला जी बाहर टहल रहे थे और बीच-बीच में खड़े होकर अपनी जाँघ के पार्श्व में तबल की सी थाप दे रहे थे। कुछ गुनगुनाते भी जाते थे। मुझे देखते ही गंभीर होकर कहा—"एक भजन बूंदों के साथ उतरते-उतरते थम गया। आज होल्डर लेते आना, कुछ काम करना जरूरी हो गया है। तुमको तो पता होगा—जब साफोक्लीज पर उसके लड़के ने पागल होने का मुकदमा चलाया था तब उसने अपने नवीनतम नाटक के कुछ अंश जज को सुना कर उस आरोप को खंडित किया था। गो, वह झगड़ा धन-सम्पत्ति का था, पर यहाँ तो सारे कृतित्व की बाजी है। बनारसीदास ने सम्पूर्ण देशी दासों को अपने पक्ष मे कर लिया है। कुछ प्रमाण और भी देने होंगे।"

भोजन करने के पश्चात जब निराला जी आराम के लिये जाने लगे तब मैंने पूछा—"यदि आपके संसद-निवास की सूचना पत्रों में दे दी जाय तो कैसा रहे?" किंचित आवेश में उन्होंने कहा—"पत्रों में मेरी खोज-खबर के लिये कुछ इनाम तो नहीं छपा? यदि नहीं तो इस तमाशे को क्या जरूरत? लोग, यों भी धीरे-धीरे पता पा ही लेंगे।" मैं चुपचाप शहर की ओर चल पड़ा।

शाम को चार बजे जब मैं लौटा तो निराला जी शान्त मन से बाहर टहल रहे थे। पास पहुँचते ही मैंने चार रंग के चार होल्डर उन्हें दिखाया और उन्होंने लपक कर ले लिया। सफेद रंग की होल्डर वापस करते हुये बोले—"लाल,

पीली और नीली, अच्छा तो अभी मुझे तीन रचनाएँ लिखनी पड़ेंगी। सहसा जैसे मेरी उपस्थिति भूल कर अपने आप किसी और से बात करने लगे—"इन तीन कलमों से आपका संकेत स्पष्ट है। दौड़ाइये, दौड़ूंगा, चालक तो आप ही हैं, मेरा क्या ? अच्छा, नमोनमः।" कहते हुये वे अपने कमरे में चले गये।

निराला जी की प्रथम 'अनामिका' की ये पंक्तियाँ मेरी स्मृति में तैरने लगीं—

माँ जिस तरह चाहो बजाओ इस वीणा को,
यंत्र है;
सुनो तुम्हीं अपनी सुमधुर तान
बिगड़ेगी वीणा तो सुधारोगी बाध्य हो !

'गीतिका' में भी इसी आशय का एक गीत है—

तुम्हीं गाती हो अपना गान,
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान !

प्रत्यक्ष है कि निराला अपने इस स्वगत में माँ सरस्वती से बात कर रहे थे। इसी प्रकार उनके स्वगत-भाषण का अर्थ संदर्भ की अवगति के साथ सदैव खुलता चलता है। मेरा विश्वास है कि संदर्भ-ज्ञान के अभाव के कारण ही लोग उनके स्वगत को प्रलाप या पागलपन कह उठते थे। इतना ही नहीं, यदि किसी ने इस विषय में कुछ सफाई देनी चाही तो उस पर भी टूट पड़ते थे।

इलियट ने अपनी पुस्तक on poetry and poets (कविता और कवि) के एक निबंध में कवि की तीन आवाजों का विश्लेषण किया है। पहली 'स्वगत' दूसरी 'श्रोतागत' और तीसरी 'पात्रगत'। प्रारम्भ से ही निराला-काव्य में इन तीनों स्वरों की ध्वनियाँ मुखरित हैं। उनकी प्रथम काव्य-कृति 'परिमल' में गीत, प्रगीत और काव्य-नाटिका पंचवटी-प्रसंग में इसका प्रमाण पाया जा सकता है। यह ठीक है कि आजकल काव्य का स्वगत स्वर निराला जी के जीवन में उतर आया है, पर उसे अर्थ-हीन बकवास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। मुक्त आकाश में मुक्त उड़ान भरने वाले पक्षी की उड़ान यदि आप प्रारम्भ से ही देखें तो आकाश में बहुत दूर तक आपकी दृष्टि उसका अनुसरण कर सकती है, किन्तु उड़ान भरने के कुछ समय बाद यदि आप उसे अनन्त आकाश में खोज लेना चाहें तो आपको निराश ही होना पड़ेगा। यही बात निराला के स्वगत के विषय में भी कही जा सकती है। कल्पना अथवा ध्यान का अप्रत्याशित रूप से मुखरित हो उठना ही तो स्वगत है। आवेशवश साधक या कवि की विवश शिथिल समाधि के अतिरिक्त इसे कुछ और कहना ठीक नहीं

जान पड़ता।

इधर निराला जी जमकर बड़ी देर तक बात नहीं करते थे। प्रायः मौन या स्वगत-भाषण अथवा अध्ययन में व्यस्त रहते थे। उनमें भावावेश और उत्तेजना का आधिक्य भी दिखाई पड़ता था, किन्तु इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष अथवा कटुता से कदापि नहीं था। इसका मूल हमें कहीं और अधिक गहराई में खोजना चाहिए।

निराला का सम्पूर्ण जीवन संघर्षरत और सामरिक रहा है। यह संघर्ष दो प्रकार का है। पहला भोग और भाग्य का संघर्ष है, जो कवि के जन्म के साथ ही जन्म लेता है—शैशव में ही माँ की मृत्यु इसका प्रथम चरण है। इक्कीस वर्ष की अवस्था में पिता की और बाईस वर्ष की भरी जवानी में पत्नी की मृत्यु हो जाना उसका दूसरा चरण है। सन् '१८ की महामारी में चाचा, चचेरा भाई, भौजाई और छोटी भतीजी की एक साथ मृत्यु ने भीषणता का तीसरा चरण पूरा किया। परिणामस्वरूप निराला के ऊपर दो अपने और चार चाचा के अनाथ बच्चों के पालन-पोषण का दायित्व भी अचानक आ पड़ा। विवशतावश महिषादल में नौकरी की तो वह भी छूट गई। कलकत्ते के 'समन्वय' में कुछ दिन काम किया और फिर 'मतवाला' में चले गये। भाग्य की विडम्बना कि वह भी कुछ वर्ष बाद बन्द हो गया। आशय यह कि निराला जिस डाल को पकड़ते थे, वही टूट जाती थी। इतने पर भी निराला ने कभी जिच नहीं खाई। अपने अदम्य साहस और अपराजेय पुरुषार्थ के बल से वे निरन्तर संघर्ष का सामना करते हुए भी अपनी सृजन-शक्ति को सँजोये-सँभाले रहे, यह बहुत बड़ी बात है।

पहले से भी भयावह संघर्ष निराला को अपने समाज, सहकर्मी और अपरिणामदर्शी राजनीतिकों से करना पड़ा। दुख की बात है कि उनकी प्रथम रचना 'अनामिका' (१९२३) तथा मतवाला में प्रकाशित उनकी अनेक रचनाएँ, जो नवयुगोन्मेषिनी होने के साथ-साथ वैयक्तिक, सामाजिक और सामूहिक आयामों को लपेटती हुई एक अभिनव सांस्कृतिक चेतना के स्वरूप को प्रतिष्ठित करती है; लोगों के स्वागत का महोत्सव न बन कर आतंक का ही कारण बनीं। छंद, भाव और भाषा की जिस मुक्ति का कवि ने इन रचनाओं में साधनात्मक आकलन किया था उस पर ऐसे-ऐसे व्यंग्य-प्रहार किये गये कि उनकी स्मृति से आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हिन्दी के आधुनिक काव्य की ऐतिहासिक महत्व की रचना 'जुही की कली'

जो अनुभूति, कल्पना, सौन्दर्य, दर्शन तथा कला की दृष्टि से सर्वाङ्ग सुन्दर, भाषा तथा भाव की रूप-रेखा में नितान्त मौलिक तथा प्रकृति के मानवीकरण का अनन्य उदाहरण एवं हिन्दी कविता में मुक्त-छंद का ही नहीं, मुक्त-स्वर का भी पहला राग को लेकर जो वितंडावाद लोगों ने तब खड़ा किया था, वह भी इतिहास के काले पृष्ठों का मसाला बन चुका है। आश्चर्य है तो केवल इस बात का कि निराला इतने पर भी हताश नहीं हुये। अपने छंद के विशेषण—केचुआ छंद, रबड़ छंद, कंगारू छंद तथा बिच्छू का मंत्र आदि सुन कर वे उसी प्रकार हँस देते थे, जैसे बच्चों की अनर्गल बातें सुन कर बड़े-सयाने मुस्करा देते हैं। उत्तर रूप में मुक्त-छंद की अबाध रचना और साहित्य में उसकी प्रतिष्ठा सदा के लिये अमर रहेगी।

सन् '२९ में उनकी प्रथम वृहत रचना 'परिमल' का प्रकाशन हुआ। 'परिमल' काव्य की बहिरंग तथा अंतरंग दोनों स्थितियों में क्रान्तिकारी रचना है। वास्तव में यह रचना अपनी विविधता, विषय-व्यापकता, नवीनतम भाव-कल्पना की उर्वरता और क्रांति तथा विद्रोह की मुखरता के साथ काव्योचित स्वच्छन्दता का ऐसा सामञ्जस्य उपस्थित करती है कि इसे ही छायावादी काव्य के उत्थान का प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। वास्तव में खड़ी बोली की कविता जिस भाषा-शैली, भाव-विस्तार रूप के साथ अरूप का निस्तार, व्यक्ति-समाज, कोमल-कठोर, प्राचीन-नवीन, पृथ्वी-आकाश, भावना-बुद्धि और यथार्थ-आदर्श के सह-अस्तित्व की खोज कर रही थी, उसका निर्वाह 'परिमल' में परिपूर्ण रूप से पाया जाता है। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आत्मनिष्ठ कल्पना के स्वच्छन्द प्रवाह में भी 'परिमल' का कवि सामाजिक चेतना की उपेक्षा नहीं करता। समाज के साधारण वर्ग और मानव-जीवन की व्यापकता पर उसकी दृष्टि बराबर टिकी रहती है। इतना ही नहीं तथाकथित प्रगतिशील कविता का भी बीज-वमन परिमल से ही होता है। अस्तु, जीवनानुभूतियों के विविध और बहुरंगी स्वरों में मुखरित निराला की 'परिमल' छायावादी काव्योत्थान की प्रथम प्रतिनिधि रचना है, इसमें सन्देह नहीं। परस्पर-प्रशंसी रुचि और विश्लेषण-विवेचन के अभाव में चाहे 'पल्लव' का नाम लिया जाय चाहे 'आँसू' का पर तटस्थ समालोचकों की दृष्टि में प्रतिनिधित्व का श्रेय 'परिमल' को ही मिलेगा, और मिल भी रहा है।

इस चर्चा को हम 'परिमल' की प्रार्थना से समाप्त करेंगे—

जग को ज्योतिमय कर दो!

प्रिय कोमल-पद-गामिनि ! मन्द उतर
जीवनमृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो ।
जग को ज्योतिर्मय कर दो !

यदि निराला ने अपने इस भीषण दो-मुहे संघर्ष की चर्चा अपनी कृतियों में की है तो यह अस्वाभाविक नहीं । परन्तु इस चर्चा में कहीं पराजय का भाव नहीं आया, वरन् विजयोल्लास का ही बखान किया गया है । यदि यत्र-तत्र आक्रोश, क्षोभ और ग्लानि तथा आवेश के स्वरों का संधान भी हुआ है तो वह समाज और संसार की जड़ अनभिज्ञता और विषण्ण विद्रूपता को ही लक्ष्य करके हुआ है ।

यों तो निराला की सभी कृतियों में संघर्ष-जनित क्षोभ की चर्चा पायी जाती है, परन्तु सन् '३५ में उनकी पुत्री की अकाल मृत्यु के द्वारा भाग्य ने जब उनके संघर्ष का चौथा चरण पूरा किया तब से वे निश्चय ही कुछ अधिक तिलमिला उठे और उनकी रचनाओं में संघर्ष का स्वर अधिक तीव्र हो उठा । संगीत और गीत का सरस समन्वय करने वाली रचना 'गीतिका' (१९३६) भी इससे मुक्त नहीं है । 'अनामिका' से, जिसे हम न केवल निराला की वरन् पूरे स्वछन्दतावाद की प्रमुख प्रतिनिधि रचना भी कह सकते हैं, हम कुछ ऐसी पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करेंगे जिनमें निराला के संघर्ष और उनकी विजय-भावना के साथ संतोष के स्वर भी संरक्षित हैं । कतिपय वादी आलोचकों ने इनमें से कुछ पंक्तियाँ लेकर, उन्हें संदर्भ-च्युत स्थिति में रख इन्हें निराला की पराजय-भावना का प्रतीक माना है, जो बहुत ही भ्रामक और निरर्थक है ।

'अनामिका' की कई रचनायें महाकाव्योचित गरिमा और विराटता से महिमान्वित है, 'सरोज-स्मृति' उनमें से एक विशिष्ट रचना है । 'सरोज-स्मृति' एक महान् शोक-गीत है । आदि से अंत तक इसमें शोक का वातावरण, अपनी सम्पूर्ण महनता के साथ छाया हुआ है । विविध सामाजिक प्रतिक्रियाओं के साथ कवि का पूर्ण व्यक्तित्व इस रचना में बहुत ही कलात्मक ढंग से व्यंजित है । इसमें निराला ने शृंगार, वात्सल्य, करुण औदास्य रसों का समायोजन करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है । व्यंग्य और विद्रोह की ध्वनियों का भी इसमें यथोचित समावेश है । यद्यपि इस रचना का मूलाधार नितांत वैयक्तिक है, पर निराला अपनी सहज निस्संग भावना के बल पर इसे सामाजिक प्रतिष्ठा देने में सफल

मनोरथ हुये हैं। भाग्य के अंक और सामाजिक प्राचीन रूढ़ियों को खंडित करने का दुर्धर्ष साहस सक्रिय रूप में उपस्थित किया गया है। व्यक्तिगत वेदना के माध्यम से कवि ने जिस निर्लिप्त एवं तटस्थ भाव से सामाजिक कुरीतियों का चित्रण किया है, वह उत्तमतम निर्वैयक्तिक कला का अनन्य उदाहरण है। पुत्री के सौन्दर्य और यौवन का ऐसा निरपेक्ष और निस्संग वर्णन हिन्दी-काव्य में ही नहीं, विश्वकाव्य में भी अत्यंत विरल है। निराला ने अपनी चोटों की चर्चा इसमें इस प्रकार की है—

देखे वे, हँसते हुए प्रवर,
जो रहे देखते सदा समर,
एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप, वह रण कौशल !

●

धन्ये, मैं पिता निरर्थक था,
कुछ भी तेरे हित न कर सका !

यह तो विदित ही है कि अर्थाभाव के कारण निराला जी सरोज की बीमारी में भी यथोचित प्रबन्ध नहीं कर सके, क्योंकि

जाना तो अर्थागमोपाय,
पर रहा सदा संकुचित काय
लख कर अनर्थ आर्थिक पथ पर
हारता रहा मैं स्वार्थ-समर !

यद्यपि निराला को यह ज्ञात था कि धन कैसे कमाया जाता है, किन्तु वे धन कमाने की स्वार्थी नीति-रीति का संवरण नहीं कर पाये, किसी को ठगना, किसी के श्रम का दुरुपयोग करना, किसी से कुछ छीन लेना आदि उनसे सम्भव नहीं था। अतः वे स्वार्थ-समर में पराजित अर्थहीन ही बने रहे—

क्षीण का न छीना कभी अन्न,
मैं लख न सका वे दृग विपन्न;
अपने आँसुओं अतः बिम्बित
देखे हैं अपने ही मुख-चित !

किसी के मुख से उसका कौर छीनने की अपेक्षा उन्होंने आँसुओं भरे अपने

मुख को ही देखना अधिक उचित समझा है। तो क्या उनकी इस मानवीय उदात्त प्रवृत्ति को हम उनकी पराजय मान लें ? निराला तो यह नहीं मानते—

यह हिन्दी का स्नेहोपहार
यह नहीं हार मेरी, भास्वर
यह रत्नहार—लोकोत्तरवर
अन्यथा, जहाँ है भाव शुद्ध
साहित्य-कला-कौशल-प्रबुद्ध,
है दिये हुये मेरे प्रमाण
कुछ वहाँ, प्राप्ति को समाधान
पार्श्व में अन्य रख कुशल हस्त
गद्य में पद्य में समाभ्यस्त !

आपत्तियों और विपत्तियों के भारी से भारी आक्रमण के समय भी जो महान व्यक्ति दूसरों के प्रति कठोर होने की अपेक्षा आत्मत्याग और स्वार्थ-विसर्जन को प्रश्रय देता है, उसे पराजित कहना मानवता के विकास-क्रम का अपमान करना है। मैं समझता हूँ कि निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व को महान बनाने में सबसे बड़ा हाथ उनके इसी आत्मत्याग का ही है। वस्तुतः यह उनकी पराजय का नहीं, उनकी विजय का प्रतीक है।

'राम की शक्ति पूजा' (१९३६) में भी राम के माध्यम से निराला ने अपने संघर्ष का स्वरूप प्रत्यक्ष किया है —

है अमानिशा; उगलता गगन घन अंधकार,
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान मग्न, केवल जलती मसाल !

ऐसे आतंककारी, स्तब्ध वातावरण में राम का मन शंकाशील हो उठता है—

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय
रह-रह उठता जग जीवन में रावण जय-भय,
जो हुआ नहीं आज तक हृदय रिपु दम्य—श्रान्त
एक भी, अयुत-लक्ष में रहा जो दुराक्रान्त,
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार !

घबराहट और आशंका की इसी स्थिति में राम की आँखों में सीता-मिलन

के सारे दृश्य सहसा अंधकार में बिजली की तरह चमक उठे। राम ने सोचा कि आज वही सीता रावण के यहाँ विवश बन्दी पड़ी है। फिर अपने अन्तर्कानों से सुना—

फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खल-खल
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता-दल !

निरुपाय, थके और संशय-ग्रस्त राम के इस अश्रु-सिक्त चित्र में हम निराला का चित्र सहज ही देख लेते हैं। निराला के संघर्षरत जीवन में चिंता, ग्लानि एवं क्षोभ के ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जब अन्याय, निर्ममता, पाशविकता तथा मानवता के नाम पर दानवता के पुजारियों से उलझते-सुलझते एवं भिड़ते-लड़ते समय उनकी सारी साधना और उच्च मानवीय ज्ञान-गुण कुंठित और संकुचित होने की स्थिति में पहुँच कर लड़खड़ाने लग गये हैं और वे भी राम की तरह क्षण भर को घबड़ा उठे हैं—

निज सहज रूप में संयत हो जानकी प्राण
बोले—आया न समझ में यह दैवी विधान,
रावण अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर-शंकर !

इतना होते हुए भी राम और निराला कभी जीवन की अन्यायपूर्ण विडम्बना और भाग्य की भीषणता में सर्वांशतः विचलित नहीं हुये। दोनों ने ही शक्ति-पूजा का निश्चय किया और आसन जमा कर बैठ गये। इसीलिये राम की यह शक्ति-पूजा निराला की भी अपनी शक्ति-पूजा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि राम का युद्ध दैवी विधान और रावण से था, परन्तु निराला का युद्ध भाग्य और विकृत समाज की अनेकमुखी विषमताओं से था। राम को केवल शक्ति-पूजा करनी थी, जबकि निराला को शक्ति-पूजा के साथ सृजन की देवी सरस्वती की पूजा भी करनी थी।

निराला ने भली भाँति देख लिया था कि धन, यश, सम्मान और शक्ति सभी अन्याय और अधर्म के साथ संयुक्त है। सारे समाज मे त्याग, तपस्या, सत् कर्म और विवेक एवं अध्यात्म का कोई मूल्य अथवा महत्व नही रह गया है। उनकी यह चेतना कभी दुतकार के रूप में, कभी हुंकार के रूप में तो कभी फटकार-ललकार रूप में बराबर व्यक्त होती रही है। इसके साथ-साथ आत्म-शक्ति को जगाने का उनका प्रयत्न भी बराबर चलता रहा है। शक्ति-पूजा में राम की तरह निराला को भी न जाने कितनी बार यह कहना पड़ा है—

धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिये सदा ही किया शोध।
जानकी ? आह, उद्धार, दुःख, जो न हो सका,
वह एक और मन रहा राम का जो न थका।
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति, हत चेतन
राम में जगी स्मृति, हुये सजग या भाव प्रमन !

एक ऐसा ही अथक मन और बौद्धिक-दर्शन का सम्बल निराला के पास भी सतत् जागरूक रहा है, जो दैन्य अथवा पलायन की अपेक्षा उन्हें शक्ति-साधना की प्रेरणा देता रहा और अंत में उनकी शक्ति-सिद्धि और विजय का कारण बना।

'राम की शक्ति-पूजा' की आत्म-धिक्कार की पंक्तियों को लेकर कुछ लोगों ने उन्हें निराला के पराजित व्यक्तित्व का प्रकाशन कहा है। उन्हें यह सम्भवतः स्मरण नहीं रहा कि जिस प्रकार राम अपने ग्लानिमय अन्तर्द्वंद्व और तज्जनित क्षणिक निराशा पर विजय प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार निराला भी अपनी मौलिक-सृजन-सूझ और अकम्प आत्म-विश्वास के सहारे अपने को विजयी बनाते हैं। वास्तव में 'राम की शक्ति पूजा' निराला की दोहरी विजय का काव्य-प्रतीक है। एक तो यह कि यह रचना अपनी ओजस्वी कलात्मक प्रौढ़ि के माध्यम से महाकाव्योचित शिखर का स्पर्श करती हुई निराला को महाकवि का गौरव और प्रसिद्धि देती है और दूसरी यह कि शक्ति-साधना द्वारा निराला का व्यक्तित्व राम की तरह असत (रावण) को पराजित करने की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। मैं श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के नीचे उल्लिखित वक्तव्य के साथ सहर्ष अपनी सहमति व्यक्त करना चाहता हूँ—

'राम की शक्ति-पूजा' के-से स्वल्प आकार-प्रकार का, परम प्रौढ़ 'प्रबन्ध काव्य' विश्व की किसी भाषा में कभी नहीं लिखा गया।'

'अनामिका' की 'वन-बेला' में महाकवि अपने संघर्ष और आक्रोश के स्वरों को अपने आत्मबोध की सदाशयता में सदा के लिये डुबा देने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। निराला के व्यक्तित्व का यही उच्चतम बोधि-स्थल है। वन-बेला के साथ निराला के जीवन का नया प्रभात, नया तत्व-बोध भी खिल उठता है। कवि ने देखा कि सूर्य अपनी शत-शत किरणों से पृथ्वी को चूम रहा है और

अपने सर्वस्वदान से अपनी 'प्रिया का सुकृत मान प्राप्त कर रहा है। सम्भवतः इसी विजयोल्लास के कारण उसका प्रताप चारों दिशाओं में व्याप्त है।

इस प्राकृतिक दृश्य की प्रतिक्रिया स्वरूप कवि अपने विषय में सोचता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है—

हो गया व्यर्थ जीवन
मैं रण में गया हार
सोचा न कभी—
अपने भविष्य की रचना पर चल रहे सभी !

चूँकि मैंने स्वार्थ पर चलकर भविष्य-निर्माण की चिंता नहीं की, इसलिये ऐसा जान पड़ता है कि मैं पराजित हो गया। कवि ने सोचा यदि वह राजपुत्र होता तो कलंकों से पूर्ण होकर भी विद्वानों का सम्मान प्राप्त कर लेता। पत्रों में मेरा यश-गान और चित्र छपता। यदि राजपुत्र न होकर मैं किसी लखपती का ही बेटा हुआ होता तो समुद्र पार शिक्षा के लिये जाता और मेरे पिता देश की राजनीति के कर्णधार बनकर अपार धन-संचय के साथ एकाग्र चित्त से साम्यवाद का यश-गान करते हुये देश के राष्ट्रपति निर्वाचित होते। हिन्दी-सम्मेलन उनका अभिनंदन करता और लोग उन पर पैसे के दस राष्ट्रीय गीत लिखकर गर्दभ स्वर मे गा-गाकर बेचते फिरते। मैं वायुयान से लौटता तो पत्र-प्रतिनिधियों में हलचल मच जाती और सभी मेरा चित्र खींचने में व्यस्त हो जाते। पिता के साथ मैं भी, उनका उत्तराधिकार सँभालने के लिये देश के कोने-कोने में साम्य-वाद का प्रचार करता फिरता।

कवि यह सब सोच ही रहा था कि उसी समय सूर्य की किरणों का कठोर जाल चीर कर अपनी सरस सुगन्ध बिखेरती हुई एकान्त में खिली वन-बेला पर उसकी दृष्टि पड़ी—

तप तप मस्तक
हो गया सान्ध्य नभ का रक्ताभ दिगन्त फलक
खोलीं आँखें आतुरता से, देखा अमंद
प्रेयसी के अलक से आती ज्यों स्निग्ध गन्ध

●

घिर कर हँसती उपवन—बेला।
जीवन में भर—
यह ताप त्रास

मस्तक पर लेकर उठी अतल की अतुल साँस,
ज्यों सिद्धि परम
भेंट कर कर्म-जीवन के दुस्तर क्लेश, सुषुम
आई ऊपर,
जैसे पार कर क्षीर सागर
अप्सरा सुघर
सिक्त-तन-केश, शत लहरों पर
काँपती विश्व के चकित दृश्य के दर्शन-शर !

प्रखर ताप की चिंता न करके झुक-झुक झूम-झूम कर हँसने वाली बेला के पास पहुँच कर कवि ने उसे ज्योंही छूना चाहा कि वह रोकती हुई बोली—

मै देती हूँ सर्वस्व, छुओ मत, अवहेला
की अपनी स्थिति की जो तुमने, अपवित्र स्पर्श
हो गया तुम्हारा, रुको, दूर से करो दर्श !

अपने सर्वस्व का त्याग करने वाले कभी भी अपनी स्थिति की अवहेला नहीं करते। निराला ने यही अपराध किया था, कवि के सर्वस्व-त्यागी व्रत का अपमान किया था। बेला के उज्ज्वल पथ-निदर्शन से कवि संकुचित हो गया और विनयावनत् हो कर पूछा—

हे वन्य वन्हि की तन्वि नवल !
कविता में कहाँ खुले ऐसे दुग्ध धवल दल ?

बेला ने उत्तर दिया—

यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर,
त्यों-त्यों आत्मा की निधि पावन बनती पत्थर।
है वहाँ मान,
इसलिये बड़ा है एक, शेष छोटे अजान,
पर ज्ञान जहाँ,
देखना—बड़े, छोटे; असमान, समान वहाँ—
सब सुहृदवर्ग
उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग !

इस उत्तर से आघातों और भौतिक पीड़ाओं से आच्छादित कवि की दिव्य-दृष्टि सहसा उद्दीप्त हो उठी और अपने वास्तविक स्वरूप का उसे ज्ञान हो गया।

उसने तुरन्त कहा—

यही सत्य सुन्दर !
नाचती वृन्त पर तुझ ऊपर
होता जब उपल-प्रहार प्रखर
अपनी कविता
तुम रहो एक मेरे उर में
अपनी छवि में शुचि सञ्चरिता ।

अस्तु, इस कविता की इस पंक्ति—'हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण में गया हार' को लेकर यदि कोई इसे उनके पराजय का प्रमाण माने तो इसका क्या उपाय है ? अन्यथा कवि का व्यक्तित्व प्रकृति के सौन्दर्य और जीवन्त उपादानों से स्वकर्मलीन होने का जो शाश्वत सत्य उपलब्ध करता है, वह उसकी हार का नहीं विजय का आख्यान है । इस कविता से कवि अपनी विचलित अवस्था की हीन-भावना से मुक्त होकर अपनी कुंठा और ग्लानि को विदा कर अपने सहज सयंत रूप में प्रतिष्ठित हो गया है । कवि की इससे बड़ी उपलब्धि भी और क्या हो सकती है ?

निराला जी के विषय में ऐसे भ्रम फैलने-फैलाने के अन्य अनेक कारणों के साथ मुझे सब से बड़ा कारण यह लगता है कि वे हमें काव्य-कला के सुन्दरतम रूप के साथ जीवन के सत्य और शिव का जो अरूप इंगित करते चलते हैं उसे हम अपनी सास्कृतिक सम्पन्नता और अपने अध्यात्म के ऐश्वर्य से अपरिचित होने के कारण ग्रहण नहीं कर पाते और उसे कवि के पलायन या पराजय का प्रतीक कह कर संतोष कर लेते हैं । उनके काव्य में व्यक्तिगत पीड़ा, अतृप्ति, असंतोष और पराजय की लिपि पढ़ना हमारे अपढ़ होने का ही प्रमाण है, यह हम भूल जाते हैं । निराला ने अपने काव्योत्कर्ष के ही समय में हमे सावधान कर दिया था कि काव्य का यह राग-विराग भरा प्याला जो साधक की तरह निर्लिप्त रह पान करेगा केवल उसी को आनन्द मिलेगा, अन्यथा नहीं । दुख की बात है कि उनकी चेतावनी का सदुपयोग हम लोग अब तक भी नहीं कर पाये ।

जो भी हो, इतना सच है कि 'वन-बेला' के बाद फिर कभी निराला ने अपनी स्थिति की अवहेला सूचक सूचना अपनी रचनाओं से कभी नहीं दी, वरन् अपनी आत्मबोध की स्थिर स्थिति का ही उद्घोष करते रहे ।

'तुलसीदास' १९३८ की रचना है । यह सांस्कृतिक काव्य अपनी भाषा, भाव, शैली और दर्शन की कलात्मक अभिव्यक्ति में इतना प्रौढ़ और प्राञ्जल होने के साथ असाधारण और महत् है कि इसमें महाकाव्योचित औदात्य तथा

व्यापक चेतनात्मक स्फुरण का आकलन अनायास ही हो गया है। यदि विस्तार की बात छोड़ दी जाय तो अपनी चिंतन प्रणालियों और दर्शनानुभूतियों में, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक-सामाजिक उपलब्धियों में यह कामायानी से किसी तरह उन्नीस नहीं पड़ेगा। मैं तो मनोवैज्ञानिक संयोजन और कलात्मक गठन में इसे कामायानी से श्रेष्ठ कृति मानता हूँ, किन्तु अपनी कथा-परिधि और समय की सीमा के कारण इसे कामायानी के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, इसमें सन्देह नहीं।

विशेष बात जो उल्लेखनीय है, वह प्रकृति की प्रेरणा से कवि की चेतना का ऊर्ध्वगमन और तुलसी तथा निराला के व्यक्तित्त्वों में साम्य-स्थापन है—

युवकों में प्रमुख रत्न-चेतन,
समधीत-शास्त्र-काव्यालोचन
जो, तुलसीदास, वहीं ब्राह्मण-कुलदीपक;
आयत-दृग, पुष्ट-देह, गत-भय,
अपने प्रकाश में निःसंशय
प्रतिभा का मंद-स्मित परिचय, संस्मारक !

इसके अतिरिक्त दोनों की पत्नी-आसक्तियाँ भी ऐतिहासिक निधियाँ बन चुकी हैं। सांस्कृतिक उद्धार का निश्चय भी साम्य रखता है। अंत में तुलसीदास को चित्रकूट की प्रकृति से वही प्रेरणा मिलती है जो निराला को 'वन-बेला' से मिली थी। प्रकृति ने जैसे तुलसी से कहा—

फिर असुरों से होती क्षण-क्षण
स्मृति की पृथ्वी यह, दलित-चरण,
वे सुप्त भाव, गुप्ताभूषण अब है सब;
इस जग के मग के मुक्त प्राण !
गाओ विहंग ! सब् ध्वनित गान,
त्यागोज्जीवित, वह ऊर्ध्व ध्यान, धारा-स्तव !

और प्रकृति की इसी प्रेरणा से दोनों ही कवियों ने निश्चय किया—

करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वंद्व समर,

रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर—
जाना, भिक्ष भी देह, निज घर निःसंशय !

अपने इस निश्चय को कर्मयोग में परिणत करते हुये दोनों कवि प्रज्ञा की उस उच्च भूमि में पहुँच जाते हैं जहाँ—'आनन्द रहा, मिट गये द्वन्द्व, बन्धन सब' और—

थे मुंदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,;
कलि में सौरभ ज्यों, चित में स्थित;
अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय;
जिस कलिका में कवि रहा बन्द,
वह आज उसी में खुली मंद
भारती-रूप में सुरभि-छंद निष्प्रश्रय !

काव्य के अतिरिक्त गाँधी-नेहरू से बातचीत में भी निराला ने अपनी विजय-यात्रा की ही चर्चा की है न कि दीनता अथवा पीड़ा की !

सन् '४० में लिखी निराला की एक कविता की निम्नलिखित पंक्तियों को लेकर भी उनकी पराजय-भावना का वितंडा ख

मैं अकेला;
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

आलोचकों और विशेषकर पाठकों के लिये मैं उसी कविता की अंतिम पंक्तियाँ यहाँ रख देना चाहता हूँ और निराला का यह स्वर विश्वास तथा संतोष का है अथवा पराजय और दीनता का है, इसका निर्णय पाठकों पर ही छोड़ देना चाहता हूँ—

जानता हूँ, नदी झरने,
जो मुझे थे पार करने,
कर चुका हूँ, हँस रहा यह देख,
कोई नहीं भेला।

मेरा विश्वास है कि प्रबुद्ध नयी पीढ़ी निराला के प्रति आरोपित दुराग्रहों का परिहार करने में सर्वथा सफल सिद्ध होगी। इतने भीषण संघर्ष और विरोध को पाकर अपनी प्रतिष्ठा की स्थापना से व्यक्ति मे अपने प्रति उच्चभाव और आत्म-विश्वास का उन्मेष कोई अप्रत्याशित घटना नहीं है।

दूसरे दिन मैं निराला-कक्ष में गया तो एक विचित्र दृश्य देखा—निराला

ने उन तीनों कलमों को कमरे के तीन कोनों में खड़ी कर दिया था और उनकी निबों में कागज के पन्ने फँसा दिये थे। मैने यों ही पूछा—"निराला जी, कागज-कलम को ऐसी सजा क्यों दे रहे हैं?" निराला स्तब्ध और मौन। मैं भी चुप लगा गया।

जब मैं शहर की ओर चलने लगा तब उन्होंने कहा—"आज एक जिल्ददार कापी लेते आना। अलग-अलग पन्नों मे कुछ लिखना, फिर उन्हें सँभालना कठिन होता है। कापी ठीक रहती है। दो-एक दिन में सर का बोझ फेंककर कलमे भी जग जायँगी। तभी कुछ काम होगा।"

अपनी रुचि की बहुत ही सुन्दर और मोटे कागज की एक मोटी कापी मैंने निराला जी को दी, परन्तु वे उससे प्रसन्न नहीं हुये। कहने लगे—"इसकी तड़क-भड़क से तो मैं ही क्या भजन भी भड़क जायँगे। एक मामूली सी कापी चाहिए थी। खैर रख दो।" मैंने चौकी पर कापी रखा नहीं कि निराला जी उठे और तीनों कलमों को उठाकर कापी के ऊपर रख दिया।

उन दिनों संसद में रविवार का दिन उत्सव का दिन होता था। निराला-प्रेमी साहित्यिक बन्धुओं का आगमन, महादेवी जी का वात्सल्य-स्निग्ध स्वागत-सत्कार और निराला जी का संक्षिप्त व्यंग्य-विनोद मिलाकर जिस आनन्दोल्लास की सृष्टि करते थे, वह केवल अनुभवगम्य है। एकान्त प्रेमी, मुखरता से अधिक मौन को महत्व देने वाले निराला भी इस दिन की प्रतीक्षा में रहते थे।

इस मिलने-जुलने का प्रभाव भी बहुत अच्छा रहा। धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य भी बदलने लगा और उन्हें नींद भी आने लगी। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह मिला कि उन्होंने एक भजन, जिसे हम लोग गीत कहते हैं, डा० ब्रजमोहन गुप्त, शरद तथा रमेश के सामने गाकर सुनाया भी। सम्भवतः यह सन् '४९ का एकमात्र गीत है—

मन मधुवन आली।
ईरण तन की ज्योति तपन की
गगन घटा काली-काली।
दमकी सौदामिनी ग्राम में
नूपुर-उर सुरधुनी धाम में
रस रशना जो बजी नाम में
यौवन वन वाली बाली।
सजी सुतनु तिर्यक तप-रेखा,

पंक्ति-पंक्ति पर अविजित लेखा,
झुका दृगों से जिसने देखा,
तन-मन-धन पा-ली ताली !

ऋतुओं में वर्षा ऋतु निराला को सर्वाधिक प्रिय थी। वस्तुतः इस गीत को सावन की झड़ी का ही प्रतिदान समझना चाहिए। वर्षा के उपादान बादल, बिजली और रिमझिम की झड़ी से निराला की जन्मजात आत्मीयता थी। इसी-लिए वर्षागम सदा से उनकी प्रसन्नता का परम कारण भी बनता रहा। निराला गीत गा रहे थे कि गम्भीर गर्जन के बाद वर्षा भी प्रारम्भ हो गई। निराला ने बादलों के साथ अपने कंठ की बाजी लगा दी और हम लोग बाहर-भीतर दोनों ओर से रससिक्त हो गये।

अपने स्वभाव के अनुसार निराला जी ने इस गीत के विषय में श्रोताओं से कुछ नहीं पूछा बल्कि स्वयं कहने लगे—"गले में तो कुछ दम है। पर, बाँहें और रानें अब भी बेदम हैं। धीरे-धीरे ठीक होने की उम्मीद है।" सब लोगों ने उनके पूर्णतः स्वस्थ होने की मंगलाशा के साथ उनको प्रणाम किया और विदा हो गये।

रक्षा-बन्धन के दिन महादेवी जी आई तो निराला सहज भाव से मिले और साहित्य, राजनीति और समाज को लेकर बहुत ही सुलझी और सुथरी बातचीत करते रहे, न स्वगत-भाषण में व्यस्त हुये न मौन में आत्म-लीन। जब देवी जी चलने लगीं तब 'ठहरिए', कहकर अपने कमरे की तरफ झपटे और एक कागज लेकर वापस आये। कागज देवी जी को देते हुये कहा—"इसमे एक भजन है, इस समय हमारे पास देने के लिये यही है, और क्या कहे ?" देवी जी ने कीमती से कीमती नोट की तरह उसे अपने हैण्ड-बेग मे रख लिया और चल पड़ीं। इस तरह वर्षाकाल सुख और शान्ति से व्यतीत हुआ।

शरदागम के साथ जिस प्रकार सामने रहने वाली गंगा की धारा बरसात के उद्वेलित रूप-रंग छोड़कर शान्त-स्निग्ध तथा अमल-धवल होकर आवेश-रहित मंद-संचरण करने लगती है, उसी प्रकार निराला भी सहज, शान्त और सुस्थिर होकर प्रकृतिस्थ से हो गये। प्रायः ध्यानरत और मौन। शहर का आना-जाना जो पिछले दिनों बंद था, शुरू हो गया और कभी महादेवी जी के यहाँ कभी लीडर प्रेस तो कभी दारागंज का चक्कर लगने लगा। सबने उनकी इस प्रक्रिया से संतोष की साँस ली और भगवान को धन्यवाद दिया।

मैंने जब सन् '४८ में निराला जी संसद आये थे तभी से 'महाप्राण निराला' का सृजन-संयोजक प्रारम्भ कर दिया था, जो पूरा हो गया तो मैंने उसमें

उनसे दो शब्द लिख देने की प्रार्थना की, तो बोले—"I would write in English, if you want Hindi request Mahadevi." मैंने कोई उत्तर नहीं दिया पर मन से क्षुब्ध और उदास हो गया। उन्होंने तुरन्त मेरी मानसिक स्थिति पहचान ली और हँसते-हँसते कहा—"यों कोई बात नहीं, हिन्दी में भी लिख ही सकता हूँ। मैंने पाण्डुलिपि उनको दे दी और आश्वस्त हो गया। ४-५ दिन बाद सुबह चाय पीते समय आदेश दिया—"आज काली स्याही लेते आना, तुम्हारे लिए कुछ लिख दूँगा। काली स्याही का ब्लाक ठीक बनता है, ब्लाक ही देना भी चाहिए।" मैं परम प्रसन्न हुआ, क्योंकि उनका निर्देश मेरी अभिलाषा के सर्वथा अनुरूप था। ३-१०-४६ को वाङ्मय शीर्षक से जो स्नेहाशीर्वाद दिया उससे मैं कृतार्थ हो गया।

वर्षा का प्रारम्भ बहुत ही अच्छा रहा। निराला जी प्रायः बिलकुल स्वस्थ से हो गये। शाम-सुबह नीम के नीचे बैठक लगने लगी, व्यायाम और मालिश का भी क्रम चलने लगा। स्वगत-भाषण प्रायः बंद और अँग्रेजी की जगह सहज रूप में हिन्दी का व्यवहार करने लगे। लिखने-पढ़ने की ओर भी अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देने लगे और भजनों (गीतों) की रचना होने लगी। निराला भक्तों और प्रेमियों के हृदय मे उत्साह और आनन्द की अभिनव लहरियाँ लहराने लगीं।

इस समय डाढ़ी, बाल बढ़ाने के कारण अपेक्षाकृत क्षीण शरीर के साथ उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी सौम्य महर्षिता का उन्मेष परिलक्षित होने लगा था कि उनका दर्शन मात्र सभी के लिये बहुत तृप्तिकर होता था। उनके आयत दृगों की तेजोदीप्त आभा उनके मौन रहने पर भी उनके हृदय की सात्विक वृत्तियों का व्याख्यान करती रहती थी। इतना सब होते हुये भी स्वभाव की कुछ मूलगत विशेषताएँ उनसे नहीं छूटीं तो नहीं छूटीं।

अखबार पढ़ते-पढ़ते कभी ठहाके के साथ हँसना तो कभी इतना उत्तेजित हो उठना कि आस-पास के लोग आतंकित हो उठें, अब भी चलता रहा, परन्तु उसका वाचनिक या चेष्टागत आवेश कभी किसी रूप में किसी को पीड़ा पहुँचाने मे सक्रिय नहीं हुआ। किसी के साथ व्यवहार में समता, सहानुभूति और करुणा की त्रिवेणी के तट उन्होंने कभी नहीं छोड़े, इसे सभी जानते और मानते हैं। उद्वेग के इन कुछ क्षणों को छोड़कर वे प्रायः आत्मलीन और नितान्त मौन रहते थे।

अपनी रचना 'परिमल' की प्रथम कविता में मौन का महत्व उन्होंने मुखरता से कहीं अधिक माना है—

बैठ लें कुछ देर,
आओ, एक पथ के पथिक से
प्रिय, अन्त और अनन्त के,
तम - गहन - जीवन घेर।
मौन मधु हो जाय
भाषा मूकता की आड़ में,
मन सरलता की बाढ़ में
जल-बिन्दु-सा बह जाय!
सरल अति स्वच्छन्द
जीवन. प्रात के लघु-पात से
उत्थान - पतनाघात से
रह जाय चुप, निर्द्वन्द!

कवि ने दो भिन्न, सान्त (भौतिक) और अनन्त (आध्यात्मिक) पथों पर चलने वालों से आग्रह किया है कि दोनों मौन होकर कुछ क्षणों के लिये साथ-साथ बैठ लें, क्योंकि अन्य सारी भिन्नताओं के साथ जीवन की विषमता का गहन अंधकार दोनों के जीवन में समान रूप से परिव्याप्त है। दोनों चाहें तो उसे सहेजकर, एक क्षण के लिये ही सही, एकरस हो सकते हैं। मौन होकर दोनों अपने-अपने मन को इस प्रकार घुलने-पिघलने दें कि वह पानी की बूंद की तरह उस सहज-सरल भाव से बहता रहे, जिसकी अभिव्यक्ति भाषा की वाचाल मुखरता के लिये असम्भव है। इस मौन के माध्यम से दोनों ही जीवन के द्वन्द और कम्पन से मुक्त कुछ क्षणों के लिये स्थिर होकर समता के धरातल पर आनन्द का अनुभव कर सकते हैं।

ऐसा जान पड़ता था कि निराला इसी साधना में व्यस्त और समासीन होकर आजकल मौन हैं। 'बेला' का एक गीत है—

बाहर मैं कर दिया गया हूँ। भीतर, पर, भर दिया गया हूँ।
ऊपर वह बर्फ गली है, नीचे यह नदी चली है,
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है;
इसी तरह हर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।
आँखों पर पानी है लाज का, राग बजा अलग-अलग साज का
भेद खुला सविता के किरण-व्याज का
तभी सहज कर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ!

भीतर, बाहर, बाहर, भीतर, देखा जब से हुआ अनश्वर,
माया का साधन यह सस्वर
ऐसे ही धर दिया गया हूँ। बाहर मैं कर दिया गया हूँ।

नितान्त सहज भाव और सरल भाषा में निराला ने जीवन और समाज से अपने पृथकत्व की चर्चा की है। कवि कहता है कि यद्यपि वह बाहर कर दिया गया है, तथापि उसके भीतर को ऐसे भावों से भर दिया गया है कि वह भाव-बोध के उच्च शिखर—आत्म-ज्ञान पर बैठ कर भी कर्म-ज्ञान की करुणा-नदी बहाने को विवश है। उसे ज्ञात होता है कि आत्म-ज्ञान की साधना से हर कर उसे कर्म क्षेत्र में बन्दी बना दिया गया है। स्थिति यह है कि उसका भीतर का ज्ञान बाहर आ गया है और बाहर का मायालोक भीतर चला गया है। इसे समझ लेने पर उसे अमृतत्व मिल गया है—माया का साधन उसकी अमरता की सिद्धि बन गया है और इसकी प्राप्ति कैसे हुई? अणिमा के इस गीत से स्पष्ट है—

मैं बैठा था पथ पर,
तुम आये चढ़ रथ पर।
हँसे, किरण फूट पड़ी,
टूटी जुड़ गई कड़ी,
भूल गये पहर - घड़ी
आई इति अथ पर!

आशय यह कि निराला ने जिस आध्यात्मिक उन्मेष को लेकर अपने जीवन तथा काव्य में संचरण किया था अन्त में पुनः उसी भूमिका में पहुँच गये। 'आई इति अथ पर' की यही व्यञ्जना है। इन रचनाओं को वे इसी कारण 'भजन' भी कहते थे। यह स्मरण रखना होगा कि ये 'भजन' सामूहिक कल्याण की भावना से ही मुखरित हैं—

माँ अपने आलोक निखारो,
नर को नरक-त्रास से वारो।
विपुल दिशावधि शून्य वर्गजन,
व्याधि शयन जर्जर मानव मन;
ज्ञान-गगन से निर्जर जीवन
करुणा करों उतारो, तारो!
पल्लव में रस, सुरभि सुमन में,

फल में दल, कलरव उपवन में;
लाओ चारु-चयन चितवन में,
स्वर्ग धरा के कर तुम धारो। —अर्चना

शरदान्त होते-होते निराला जी का भावावेश फिर बढ़ने लगा। स्वगत भाषण और अँग्रेजी का अनावश्यक प्रयोग भी चल पड़ा। उनकी सहज प्रसन्नता जैसे खो गई और मुख-मंडल उदासी की छाया से मलिन पड़ गया। सोने-जगने और खाने-पीने में अव्यवस्था का आधिक्य हो गया। डा० डी० यन० बसु, जो होमोपैथी तथा एलोपैथी दोनों के विशेषज्ञ हैं, को दिखाया गया पर निराला ने किसी प्रकार की दवा-सेवन करने से इंकार कर दिया और डाक्टर से बड़ी नम्रता के साथ कहा—"आपने इस बुजुर्गी में यहाँ तक तकलीफ की, हम बहुत शुक्र-गुज़ार हैं। हमारी तबियत ठीक है, जो कसर है वह भी गंगा-स्नान से ठीक हो जायगी।" डा० निराश होकर लौट गये।

दूसरे दिन से सुबह-शाम गंगा-स्नान करने लगे। कुछ लाभ भी हुआ। डा० बसु ने एक दवा दाल के साथ मिला देने के लिये दिया था। चाहे उस दवा से फायदा पहुँचा हो, चाहे गंगा-स्नान से, पर तबियत बहुत कुछ सँभल गई। आठ-दस दिन तक नियमित रूप से गंगा-स्नान चला फिर ढीला पड़ने लगा। गर्मी बढ़ने के साथ-साथ उसमें फिर सक्रियता आ गई।

बहुत ही प्रसन्न मुद्रा में एक दिन बोले—"पाँडे, यहाँ जन-सम्पर्क तो क्या जन-दर्शन भी दुर्लभ है। बच्चों का स्कूल खोला जाय तो कैसा रहे?" मैंने कहा, "रहे तो बहुत अच्छा, पर बच्चों का शोरगुल भी तो साथ रहेगा।" निराला ने हँसते हुये कहा—"शोर की परवाह नहीं, सयाने भी आ ही सकते हैं, परन्तु सुकरात वाला भय है। यथावत और यथोचित का भी झगड़ा चलेगा ही। देश का शिक्षा-क्रम तो बदलना ही चाहिये और भी बहुत से काम करने हैं।

"फिलहाल हम सन्डे को शेक्सपियर और कालिदास पर टाक दिया करेंगे। तुम साथियों में एनाउन्स कर देना।" और फिर आँखें बंद और स्वगत—Yes, Nothing else, but by telling the truth, You offended everybody. By reason and imagination you simply turned your vital experience into foresight and wisdom. I agree with you, virtue is knowledge and that know thyself. Plato thanked God for being born in your age. You badly refused to beg for mercy and welcomed death. You are the first

martyr of philosophy. My best respects to you." आँखें खोलीं तो मुझे बगल में देखकर पूछा—"सुकरात की जीवनी और रोमां रोलां को लिखा टाल्सटाय का पत्र कहीं से ला सकते हो।" और फिर आँखे बंद—"आप भी बहुत बड़े व्यक्ति हैं। सैनिक और स्रष्टा दोनों, क्या खूब। आपने भी तो रूसी चर्च को व्यावसायिक संस्था घोषित किया था। उस समय यह बहुत बड़े साहस का काम था! अंत में एक साधारण किसान का जीवन व्यतीत करते हुए आपने मृत्यु को भी आशीर्वाद दिया—मृत्यु तेरा मंगल हो। धन्य हैं आप। ठीक भी है, यदि रचनाकार अपनी रचना के आदर्श को अपने चरित्र में न उतार सके, तो वह उसकी सृष्टि नहीं। विज्ञापन मात्र है। आप वास्तव में साहित्यकार हैं। नमोनमः।"

इसके बाद हड़बड़ी में उठे और मेरे हाथ से कागज छीनकर पढ़ा और सौम्य ढंग से कहा—"शायद फोरसाइट की स्पेलिंग गलत है।" कुछ बुदबुदाते हुये वे अपने कमरे की ओर चले गये। साफ है कि उनका पहला कथन सुकरात के प्रति था और दूसरा टाल्सटाय के प्रति।

तीसरे दिन रविवार था। मैंने अपने चार-छः मित्रों को शेक्सपियर और कालिदास पर निराला का भाषण सुनने के लिये बुला रखा था, जिनमें जौहरी शेक्सपियर का बहुत बड़ा प्रसंशक था। निराला शेक्सपियर पर बोलने की बात भूल चुके थे। कुछ अपरचित चेहरे देखकर बोले—"क्या बात है?" याद दिलाने पर कुछ संकोच के साथ कहा—"आप लोग सब स्कालर हैं, आपके सामने बोलना आसान नहीं, हमने कोई तैयारी भी नहीं की है। मैं भूल ही गया था, फिर भी दो-चार मोटी बातें तो कही ही जा सकती हैं। कालिदास की भी चर्चा मात्र ही आज करूँगा।

इतना कहते-कहते न जाने उनका कौन-सा तार चढ़ गया कि वे अँग्रेजी बोलने लगे—"Well, I would like to tell you only a few points about Shakespear first, then some thing about Kalidas. The first point is that he led us into the deep—very deep knowledge of our own nature. Secondly; he is one of the greatest poets of human passions. Thirdly, He taught us that we carry our worst enimieo within us, This I think, is his greatest contribution. You all know it well that his matchless charecter Hamlet's difficulties lie not in his situation but in

himself. Whatsoever, half maddened by grief and rage, he finds it a better relief to act the mad man.

"और कालिदास, जिसे कतिपय भारतीय विद्वानों ने Indian Shakespear—भारतीय शेक्सपियर कह कर अपमानित किया है, बहुत बड़ा कवि और नाटककार है। आश्चर्य है कि कालिदास अथवा शेक्सपियर को लोग देश-काल की सीमा में बाँधकर अभी तक अपनी संकीर्णता का परिचय देने मे हिचकते नहीं। मामूली सी बात लोग नही समझते कि बड़ा कवि एक देश का होकर भी सब देशों का तथा एक युग का होकर भी युग-युगों का प्रतिनिधि होता है। यदि कृतित्व यूनीवरसल न हो तो बड़प्पन की पहचान ही क्या है? A great poet is not only representative of his times, he goes beyond his times as well. जो भी हो, कालिदास प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य के अद्वितीय शिल्पी हैं। मंगलमय सौन्दर्य-सृष्टि मे उनकी बराबरी करने वाला अभी तक कोई दूसरा नहीं है, मुमकिन है आगे हो। मानव-जीवन और प्रकृति जीवन में सामरस्य का जो संकेत कालिदास में मिलता है, वैसा शेक्सपियर में नहीं। कालिदास ने महाकाव्य, गीति-काव्य, और नाटकों की रचना की है, शेक्सपियर ने नाटकों को ही अपनी प्रतिभा का दान दिया है। कालिदास के पात्र ठीक पुष्पों की भाँति अपनी निसर्ग-सुषमा के साथ ही विकसित-प्रफुल्लित होते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि कालिदास प्रेय के साथ श्रेय का विधान करने मे अत्यंत सजग और संवेदनशील हैं। यो कालिदास के विषय मे गेटे की उक्ति मुझे बड़ी मार्मिक लगती है। आप परिचित होंगे। टैगोर ने उद्धृत किया है—

Wouldst thou the young year's
Blossoms and the fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed,
Enraptured feasted fed ?
Wouldst thou the earth and heaven
Itself in one sole combine ?
I name thee, O Sakuntala, and
All at once is said.

अब समाप्त करते हैं, आगे फिर कभी। 'पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्म भूः', याद रखिये।"

सभी लोग परम प्रसन्न और अत्यधिक प्रभावित थे। तर्क-सम्मत निर्णय

और स्मृति की सम्पन्नता तो सबसे आश्चर्य का ही कारण थी। चाय-पान के पश्चात् सामूहिक कृतज्ञता और हार्दिक उल्लास व्यक्त करते हुये सब लोग वापस चले गये। डा० ब्रजमोहन गुप्त, जौहरी और श्याम ने चलते समय मुझसे कहा—"इस स्थिति में भी जो लोग निराला जी को मानसिक रोग ग्रस्त मानते हैं उन्हें शीघ्रातिशीघ्र अपनी दवा के लिये आगरा या राँची जाना चाहिए।"

मैं भी निराला को पागल नही मानता था। मेरा सम्पर्क उनसे रहा है और उनके स्नेह-सौहार्द तथा आशीर्वाद का भी सौभाग्य मिला है, पर मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि वे विक्षिप्त है। उनके भावावेश, उद्वेग और उत्तेजना के क्षण भी मैंने देखे है, पर ऐसे क्षणों को परिस्थिति और सदर्भ में रखकर देखने पर उनकी विक्षिप्ता का प्रमाण मुझे नहीं मिला। यह मेरा भ्रम भी हो सकता है, पर अभी तक विक्षिप्त कहने वालों के अनुमानात्मक तथा ईर्ष्यालु वक्तव्यों से मेरा समाधान नहीं हुआ। आकृति, प्रकृति, चेष्टा और क्रिया—व्यवहार तथा विचार-आचार एवं सृजन-संस्कार में कहीं भी कोई ऐसी बात नहीं मिली कि उन्हे पागल घोषित किया जा सके। रूढ़ि, जड़ता, ढोंग, शोषण, अत्याचार, अन्याय, विषमता, कायरता, झूठ और दम्भ के ध्वस्त करने की उनमें एक धुन, एक लगन और एक निरन्तरता अवश्य थी तथा इसकी सक्रियता का उत्साह एक उन्माद का रूप भी धारण कर लेता था। ऐसे एकनिष्ठ उन्माद को मनोवैज्ञानिकों ने 'मोनोमेनिया' कहा है और इसी अर्थ में शेक्सपियर ने प्रेमी और कवि दोनों को पागल बताया है। यही एक एकोन्माद निराला में अवश्य था, जो उनकी विशिष्टता का प्रतीक है न कि पागलपन का! उन्होंने अपने जीवन और रचनाओं में व्यक्ति, वर्ग, जाति, समाज और संस्कृति की सड़ी-गली ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के विरुद्ध बराबर विद्रोह किया है और परिणाम स्वरूप प्राप्त सारी असुविधाओं तथा यातनाओं को एक वीर की तरह केवल सहा ही नहीं, स्वागत किया। यह आकस्मिक नहीं कि जिन बातों को लेकर उनसे पुरानी पीढ़ी और उनके सह-कर्मी उन्हें पागल कहते रहे उन्हीं के बल पर नयी पीढ़ी उन्हें अपना मसीहा मानती है।

निराला की कुछ रचनायें इस तथ्य का संकेत करती हैं कि वे इस बात को जानते थे कि लोग उन्हें पागल सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे—

सिर्फ एक उन्माद,
अपने लिये घोर उत्पीड़न,
किन्तु क्रीड़नक था लोगों के लिये

पक्षी का सा जीवन ।

●

जन-अपवाद गूंजता था, पर दूर,
क्योंकि उसे कब फुरसत—सुनता ?—था वह चूर ।
न देखा उसमें कभी विषाद,
देखा सिर्फ एक उन्माद !

इसी उन्माद के आवेश में धरती को अपने सर्वस्वदान से सिक्त करने वाले तथा अपने उन्मादक स्वर से धरती और आकाश को कम्पित करने वाले बादल को निराला ने स्वयं पागल कहा है—

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव-संसार ।
उथल-पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल—
मेरे पागल बादल !

तो क्या, जीवन और साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में हलचल मचाने वाले; उथल-पुथल करने वाली क्रान्ति का सक्रिय सन्देश देने वाले निराला को बादल की भाँति ही पागल कहा जाता है ? अथवा, शंकर की भाँति औढर दानी और अमृत देकर विष लेने की प्रवृत्ति के कारण उनको यह विशेषण मिला है, इसका निर्णय तो काल देवता ही करेंगे । पर इतना निश्चित है कि ब्रह्मा जी ने शंकर जी की जो शिकायत पार्वती जी से की थी, उसके अपराधी निराला भी रहे हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी ।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद बड़ाई भानी ।

●

दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं भीख भली मैं जानी ।

तो क्या हम भी 'प्रेम-प्रशंसा-विनय-व्यंगजुत' वाणी में ही निराला को पागल कहते हैं ?

जो भी हो, 'प्रलाप' शीर्षक कविता में, जो सन् '२४ की रचना है, निराला ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अगर बतायेगी तू पागल मुझको
तो उन्मादिनी कहूँगा मैं भी तुझको;
अगर कहेगी तू, मुझको 'यह है मतवाला निरा'
तो तुझे बताऊँगा मैं भी लावण्य-माधुरी-मदिरा;
अगर कभी देगी तू, मुझको कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव के पद दो-चार !

प्रसन्नता की बात है कि अपनी बाहु-बल्लियों से उन्हें घेरने वाली उनकी कल्पना-लता ने उन्हें कविता का ही उपहार दिया ! यदि हम उनके भैरव पदों को न समझकर उन्हें पागल कहें तो दोष हमारा ही है, उनका कदापि नहीं। 'देवी' कहानी में संस्कृति, कला, साहित्य और समाज—सभी के दम्भी संचालकों के प्रति एक तीखा व्यंग्य उभारने के लिये ही निराला ने परम प्रबुद्ध 'पगली' का निर्माण किया है, इसमें सन्देह नहीं।

कहने का आशय यह कि निराला कभी विक्षिप्त नहीं थे और अन्तिम क्षण तक पूर्ण प्रबुद्ध बने रहे। विक्षिप्त व्यक्ति का सामान्य व्यवहार भी असामाजिक होता है, किन्तु निराला ने अपने सहज-सजग सामाजिक आग्रह को कभी नहीं छोड़ा। उनकी तर्क-शक्ति, स्मृति-शक्ति और सृजन-शक्ति सर्वथा उद्बुद्ध एवं प्रभावशाली बनी रही, उनकी अंतिम रचना में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है—

जीवन का विष बुझा हुआ है,
आशा का प्रदीप जलता है, हृदय-कुञ्ज में,
अन्धकार पथ एक रश्मि से सुझा हुआ है
दिङ् निर्णय ध्रुव से जैसे नक्षत्र पुञ्ज में !

अस्तु, भावावेश, एकोन्माद—मोनोमेनिया, जो उनका जन्मजात स्वभाव रहा है, को छोड़कर उनमें विक्षिप्तता का कोई लक्षण मुझे नहीं दिखलाई पड़ा। अपनी परवर्ती रचनाओं में जहाँ उन्होंने अपनी शारीरिक अथवा मानसिक शिथिलिता का उल्लेख भी किया है वहीं अपनी उपलब्धि के प्रति संतोष का स्वर भी झंकृत करने में कभी नहीं चूके। इसलिये इन रचनाओं में निराशा अथवा ग्लानि की खोज का प्रयत्न सार्थक तथा औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता—

तुमसे लाग लगी जो मन की
जग की हुई वासना बासी,

गंगा की निर्मल धारा की
मिली मुक्ति, मानस की काशी ।
निःस्पृह, निस्व, निरामय, निर्मम,
निराकांक्ष, निर्लेप, निरुद्गम,
निर्भय, निराकार, निःसम, शम,
माया आदि पदों की दासी ।—आराधना

साधना-साध्य आत्मबोध की यह उच्चतम स्थिति निराशा अथवा ग्लानि से प्राप्त नहीं हो सकती, यह कहने की आवश्यकता नहीं ।

निराला की सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि में 'नये पत्ते' की रचना 'कैलाश में शरत'—१९४६ मार्च मे प्रकाशित एक मात्र ऐसी रचना है, जिसमें असम्बद्ध कल्पनाओं की मुक्त उड़ान का संगठन पाया जाता है। देश-काल तथा पात्र की स्थितियों का इसमे बहुत ही स्पष्ट अतिक्रमण किया गया है। इसे कुछ लोगों ने निराला की विक्षिप्तता का ही प्रमाण माना है। रचना अस्पष्टता और असम्बद्धता से बोझिल है, किन्तु इसे मात्र विक्षिप्तता की सृष्टि ही नहीं कहा जा सकता। यह तो विदित ही है कि सन् '४२ से निराला ने अपना सास्कृतिक स्वर बदल कर मुक्त कल्पना (फैन्टेसी) व्यंग्य-विनोद का सहारा ले लिया था। उनके काव्य भाव-समर्थक का रूप जैसे भाव-समीक्षक मे बदल गया था। वह देख रहे थे कि संस्कृति, आदर्श, साधना और तप की बात करना अब प्रलाप माना जाता है, क्योंकि नया युग जीवन के स्थूल यथार्थ और मन की असंतुलित तथा मर्यादित मनोवृत्तियों के प्रकाशन को ही महत्व देता है। द्वितीय महायुद्ध और सन् '४२ की राष्ट्रीय आन्दोलन की विफलता ने मिलकर जीवन को जिस कुंठा, ग्लानि और अवचेतन के गहरे गड्ढे में डुबो दिया था, उससे वे पूर्णतया परिचित थे। व्यंग्य-बौछारों से देश की तत्काल चेतना को प्रबुद्ध करने की उन्होने भरपूर कोशिश की, पर सफलता नहीं मिली। पश्चिमी वादों-विवादों की बाढ से सारा देश परिप्लावित हो गया और सांस्कृतिक निष्ठा और राष्ट्रीयता का स्थान क्रमश. काम-कुंठा और वर्ग-चेतना ने ग्रहण कर लिया। साहित्य मे प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का एक द्वन्द्व चल पड़ा। प्रयोगवाद का विश्लेषण अन्यत्र किया जा चुका है। यहाँ केवल उसकी प्रमुख विशेषता की ओर संकेत करना है।

पहली बात तो यह कि प्रयोगवाद के पास उसका अपना कोई जीवन-दर्शन नहीं है—काम-कुंठा की बयार और अवचेतन के तरंगाभिघातों से उसकी गति मंचरित होती है। आशय यह कि प्रयोगवाद की चदरिया उपचेतन मन के सूत्रों

से ही बिनी जाती है।

लगता है, प्रगतिवादियों पर व्यंग्य करने के लिये जिस तरह 'कुकुरमुत्ता' की सृष्टि निराला ने की थी, उसी तरह 'कैलाश में शरत' प्रयोगवादियों पर व्यंग्य है। स्वतंत्र भाव-संयोग, अवचेतन के सूत्र-संगठन, अति यथार्थवादी कला के कतिपय उदाहरण इस रचना में खोजे जा सकते हैं। कवि की सामूहिक जीवन से द्वीपी-विच्छिन्नता और स्वप्न-सृष्टि भी इसे कहा जा सकता है। इसका आधार भी है। निराला की एक पंक्ति है—

ठग को जग-जीवन-दान करो,
तुम अन्य प्रदान करो न करो।

निराला की मानवीय उदारता की यह पराकाष्ठा है। वह कहते हैं, 'जो ठग है, संसार को ठगता है; उसे भी सहज मानवीय स्तर पर जीने दो, सामाजिक मर्यादा से च्युत कर असामाजिक तत्व बनने से बचा लो। वस्तुतः प्रयोगवाद के आग्रहियों पर अनुग्रह स्वरूप भी इस रचना की सृष्टि उनसे सम्भव हुई। यदि यह सब नहीं तो ज्ञाता और ज्ञेय की एकता का आकलन करने वाली भाव-समाधि की रचना भी इसे माना जा सकता है। स्वामी रामकृष्ण की भाव-समाधि की रचनाओं से हम सभी परिचित है। और कुछ नहीं तो इसे हम निराला की मनोविश्लेषण-वादी रचना स्वीकार ही कर सकते हैं। अवचेतन मन की घटनाओं से सामान्यतः हमारा चेतन मन परिचित नहीं रहता, क्योंकि अवचेतना में देश, काल के नियम शासन नहीं कर पाते, वहाँ हमारा मन उन्मुक्त, निर्बाध तथा सर्वातिशायी बन जाता है। कुछ-कुछ इसी स्थिति की सृष्टि 'कैलाश में शरत्' जान पड़ती है। और भी कितने ही विकल्प उपस्थित किये जा सकते हैं। ऐसी अवस्था में केवल विच्छिप्तता का ही आग्रह अस्वाभाविक ही लगता है। विशेषकर इसलिये कि न तो 'नये पत्ते' में और न उसके बाद की सैकड़ों रचनाओं में ऐसा कोई तथ्य मिलता है जिससे कवि की चेतना का व्यतिक्रम परिलक्षित होता हो। मन की मुक्त ऊर्ध्व-उड़ान का एक चित्र 'तुलसीदास' में भी है—

दूर, दूरतर, दूरतम, शेष
कर रहा पार मन नभो देश,
सजता सुवेश, फिर-फिर सुवेश जीवन पर;
छोड़ता रंग, फिर-फिर सँवार
उड़ती तरंग ऊपर अपार
सन्ध्या-ज्योतिः ज्यों सुविस्तार अंबरतर।

संक्षेपतः 'कैलाश में शरत् निराला के अवचेतन मन की वह मुक्त उड़ान है जिसमें चेतन मन की सीमा के पार एक अलौकिक कैलाश का आविर्भाव होता है, जो सामान्य चेतना का नहीं, महाचेतना का अधिवास है। प्रसाद जी ने भी लिखा है—

देश कल्पना काल परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है।

मुझे लगता है कि इस मनोस्थिति का मूल कारण निराला की अकेलेपन की अनुभूति में ही निहित है। महान प्रतिभाओं को अकेलेपन का अभिशाप तो ढोना ही पड़ता है फिर निराला का तो अर्थ ही 'नान्यः परं' होता है। प्रतिभा, दर्शन, स्वभाव, विद्रोह, संवेदन सभी में वे अद्वैतवादी थे—दुई में हुई पहचान को उन्होंने सदैव नीरस माना है। फिर उन्हें रस-तृप्त करने वाला दूसरा कौन और कहाँ मिलता? परन्तु इसका अभाव उन्हें बराबर खटकता रहा, यह निश्चित है।

मानवधर्मी और संस्कृति के पुरस्कर्ता होने के नाते उन्होंने संसार के स्वार्थ, धन, सत्ता और विषमता के धरातल को समतल तथा निर्विष बनाने के लिये अपने हृदय का सारा अमृत उँडेल दिया, किन्तु मरुस्थल-समाज की शुष्कता में उससे तनिक भी सरसता का संचार नहीं हुआ। विषमता का वेग बढ़ता ही गया। निराला ने सोचा—

विश्व का नियम निश्चल,
जो जैसा, उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया,
सोचने को न कुछ रहा नया;
सौन्दर्य, गीत, बहु वर्ण, गंध,
भाषा, भावों के छन्द-बन्ध,
और भी उच्चतर जो विलास,
प्राकृतिक दान वे, सप्रयास
या अनायास आते हैं सब,
सब में श्रेष्ठ, धन्य, मानव !

और फिर देखा—

एक ओर पथ के, कृशकाय
कंकाल शेष नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल,

भिक्षा को उठी दृष्टि निश्चल;
अति क्षीण कंठ, है तीव्र श्वास,
जीता ज्यों जीवन से उदास
ढोता जो वह, कौन सा शाप ?
भोगता कठिन, कौन सा पाप ?
यह प्रश्न सदा ही है पथ पर,
पर सदा मौन इसका उत्तर

दीन-दुखी, शोषित-पीड़ित मानवों को लेकर ऐसे मौन कर देने वाले प्रश्नों को उठाने वाला व्यक्ति सदा से अकेला रहा है और रहेगा। युग के विषम अभिशाप ने—

जो बड़ी दया का उदाहरण
वह पैसा एक उपायकरण।

बना रखा है, तब भला संवेदना का क्या महत्व है ? ऐसी स्थिति मे निराला की तरह आत्मदानी, सर्वस्वदानी व्यक्ति अकेलेपन की अनुभूति से विह्वल तो रहेगा ही, और उपाय भी क्या है ? यह कम दुखद नहीं है कि निराला की इस व्यथा को समझने वाला कोई सहृदय-आत्मीय व्यक्ति नहीं मिला। उन्हें या तो विरोधी कटु आलोचक मिले या प्रणत भक्त, किन्तु इन दोनों में उनके मार्मिक अभाव को भर सकने की क्षमता नहीं थी। एक ने उन्हें पागल कहकर छुट्टी पा ली, तो दूसरे ने उन्हें देवता मानकर पत्थर बना दिया। यह आश्चर्य की ही बात है कि इतने जीवन्त महामानव को किसी ने कभी सहज मानवीय रूप में देखने-पहचानने की चेष्टा नहीं की। फूल सा कोमल कवि-हृदय ओस सी स्नेह-तरल बूंदों का ही भार उठा सकता है, पर उन पर लोगों ने या तो दम्भ के ढेले फेंके या श्रद्धा के भारी भरकम बोझिल फूल, और ये दोनों उनके लिये बेकार ही सिद्ध हुये। इस प्रकार वे आजीवन केवल देते ही रहे, लेने-पाने का प्रश्न ही नहीं उठा। यह मैं मानता हूँ कि उनकी निस्संगता की दुर्भेद्य कवच को भेद कर उनके राग को जगाना सहज नहीं था, फिर भी उसे जगाना असम्भव तो नहीं कहा जा सकता। कारण जो भी रहे हों, पर यह हो नहीं सका, यह सच है।

स्वभावतः वे जीवन भर यही कहते रह गये—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?

और अन्त में उन्हें यहाँ तक भी कह देना पड़ा—

स्नेह निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।

●

दिये हैं मैंने जगत को फूल-फल
किया है अपनी प्रभा से चकित-चल;
पर अनश्वर था सकल पल्लवित पल
ठाट जीवन का वही
जो ढह गया है।
अब नहीं आती पुलिन पर प्रियतमा
श्याम तृण पर बैठने को निरुपमा।
बह रही है हृदय पर केवल अमा
मैं अलक्षित हूँ, यही
कवि कह गया है।

वस्तुतः वे 'अनामिका' को ही सार्थवती बनाते रहे और धरती की 'शेफाली' को गगन शिशिर धौत चुम्बनों के प्रति उन्मुख करते रहे, तो यह स्वाभाविक ही था। कहने की आवश्यकता नहीं कि निराला की यह स्नेहाकांक्षा धन, यश, मान, उपाधि तथा अभिनंदन-वंदन से पूरी नहीं की जा सकती थी और जिससे उसे तृप्त होना था उसे हमारा अनुदार-अकिंचन युग नहीं दे सका तो नहीं दे सका। मैं समझता हूँ कि इसी अलक्षित रह जाने की, निपट अकेलेपन की अनुभूति की आकुलता ही निराला के भावावेश का प्रमुख कारण थी। यों जो व्यक्ति किसी का अनुसरण अथवा अनुकरण न करके स्वयं अपना पथ निर्माण करता है और साहस के साथ अपने पौरुष पर अडिग रहता है उसे संसार सदा से सनकी, झक्की, उद्दंड अथवा पागल कहता आया है, इतिहास इस बात का साक्षी है।

गर्मी की तीव्रता के साथ गंगा-स्नान का क्रम अधिक व्यवस्थित रूप से चलने लगा। कमर तक का प्रवाहित स्वच्छन्द गंगा-जल और धारा की विद्युतवाही गति। हम दोनों सुबह-शाम कभी-कभी दो-दो घंटे उसमे घुसे बैठे रहते थे। निराला पानी उछालने या डुबकी लगाने में इतने व्यस्त रहते थे कि बात-चीत का अवकाश ही नहीं मिलता था। बीच में मैं दो-चार दिनों के लिये अस्वस्थ हो गया, पर वे निर्बाध रूप से स्नान करते रहे। परिणाम अच्छा ही निकला। रात को छत पर सोते हुये मुझे उनकी गहरी निद्रा का पता चला और स्वगत

में भी कमी आ गई—प्रायः मौन रहने लगे। मौन भी ऐसा कि जिसे काष्ठ मौन कहा जा सकता है। साथ ही विशेष बात यह हुई कि भोजन कम और चाय अधिक लेने लगे—चाय भी शुद्ध, बिना दूध-चीनी की। इसे निराला जी प्रायः 'लिकर' कहा करते थे। कभी-कभी गंगा के बीच में भी चाय लिया करते थे।

एक दिन शाम को गंगा-स्नान के लिये गये तो बीच गंगा में मल्लाह लोग ठेकेदार की तरफ से कछुये पकड़ रहे थे। पूछने पर पता चला कि रसूलाबाद का यह घाट ठेके पर बिक गया है और रोज ही रात भर कछुओं की पकड़ाई हुआ करेगी। मुझे भी पीड़ा हुई, पर निराला जी अत्यंत क्षुब्ध और उत्तेजित हो उठे। मल्लाहों को डाँट कर भगा दिया और जाल के बाँस उखाड़ फेंके। ललकार के साथ कहा—"दैवो दुर्बल घातकः, सरकार भी अजब है, थोड़े से पैसों के लिये निरीह जीवों की हत्या, वह भी घाट पर, बड़ा तमाशा है। मैं इसके विषय मे आन्दोलन चलाऊँगा। मेरे देखते इस घाट पर यह अनर्थ नहीं हो सकता। मैंने अँग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे, इनकी क्या विसात? ओफ़ इतना बड़ा तमाशा, सावधान!" आदि-आदि बड़बड़ाते हुये वापस आये। उस शाम भोजन नहीं किया, चुपचाप लेटे कुछ बुदबुदाते रहे।

दूसरे दिन महादेवी जी से सारा समाचार बताया तो उन्होंने तत्कालीन डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को एक बहुत ही मार्मिक किन्तु कठोर पत्र लिखा और ठेका तो नहीं टूटा पर कछुये लादने वाला ठेला फाफामऊ के पुल के पास वाले घाट पर खड़ा होने लगा।

देवी जी ने निराला से मिलकर उन्हें शान्त करने की चेष्टा की तो वे बोले—"मैंने सन् '३० में अपने गाँव में लगानबन्दी का आन्दोलन चलाया था, मेरी सहायता के लिये नवीन जी कानपुर से आये थे। अब घाटों में कछुवा-बध निवारण आन्दोलन चलाना है। अब की आपको, पंत जी को मेरी मदद करनी है, तैयार रहे। अजीब बात है, धर्म-निरपेक्षिता का यह अर्थ नहीं होता कि अनर्थ किया जाय।" महादेवी जी ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया—"आप सोचते हैं कि यदि आप कोई ऐसा आन्दोलन चलायेंगे तो उसमें सम्मिलित होने के लिये आपको मुझसे और पंत जी से कहना पड़ेगा? पर इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी—लिखा-पढ़ी से ही काम बन जायगा।"

उस दिन से निराला गंगा-स्नान को नहीं गये। कहने लगे—"दरस, परस अरु मज्जन पाना' में दरस, पान भी चलता रहे तो बहुत है। बाहरी स्वतन्त्रता! गंगा भी अपनी नहीं रही, बोलो नेहरू जी की जय!"

इसका सद्यः प्रभाव यह पड़ा कि निराला का मौन भंग हो गया और स्वगत मुखरित हो उठा। बातचीत अँग्रेजी में ही पुनः चलने लगी। और गीत-गान तो जैसे सदा के लिये विदा हो गया। सबसे दुखद बात यह हुई कि उस स्थान से उनका मन उचाट हो गया।

इस घटना से यह भी स्पष्ट हो गया कि निराला ने 'कुकुरमुत्ता,' 'खजोहरा', 'थोड़ों के पेट में बहुतों को आना पड़ा,' 'खुश खबरी,' 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत' तथा 'स्फटिक शिला' आदि कविताओं में सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को करुण, असंस्कारी एवं उपहासास्पद रूप में क्यों उपस्थित किया है? वास्तव में तत्कालीन भारतीय समाज की यही स्थिति थी। निराला अपनी तटस्थता के कारण उसे देख और समझ सकते थे और एक आत्मचेता-द्रष्टा के रूप में उसका मजाक उड़ाते और उस पर तीखा व्यंग्य करते थे। 'नये पत्ते' और 'बेला' की प्रायः रचनायें उनकी इसी यथार्थ दृष्टि की परिचायक हैं, स्वतंत्र होने के पश्चात् भी हमारा सामाजिक असंस्कार सांस्कृतिक नहीं बन सका, यह किसी से छिपा नहीं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् संघर्ष प्रस्फुटित स्फूर्ति और आवेग-आवेश में शिथिलता आ जाने के कारण राष्ट्रीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में, विशेषकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों में एक ऐसी अव्यवस्था, अराजकता और विषमता छा गई कि सारा राष्ट्र जड़त्व की सीमा स्पर्श करने लगा। स्वतंत्रता की जो आकुल आकांक्षा संघर्ष के उत्तप्त दिनों में हमारे भविष्य का उज्ज्वल और गौरवपूर्ण साध्य थी, वही उपभोग में आकर साधन-मात्र बन गई। राष्ट्र के कर्णधारों की अपरिणामदर्शी रीति-नीति और विलासी अकर्मण्यता के कारण इस साधन को ही चरम विकास माना जाने लगा। स्पष्ट है कि साधन का साध्य बन जाना विकास की समाप्ति का ही प्रमाण होता है। जीवन की इस स्थिरता का परिणाम सड़न, जड़त्व, आत्महीनता तथा बेकारी ही राष्ट्र की सहज उपलब्धि बन गई, तो आश्चर्य की बात नहीं। व्यक्ति की तो बात ही क्या सारा राष्ट्र ही जैसे सहसा कुंठित हो गया। राष्ट्रीय संस्कृति, साहित्य और दर्शन के प्रति उसके भीतर एक सहज उपेक्षा का भाव जग पड़ा और वह अपना सारा अतीत और अपनापन भूल कर पश्चिमी आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की ओर भौतिक सुख की लालसा के साथ नितान्त उन्मुख हो गया।

अपनी राष्ट्रीय धरती को पोषण तत्व देकर सुदृढ़ बनाये बिना ही हम अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर लपक पड़े और परिणाम यह हुआ कि दलदल की अस्थिरता में वृक्ष के शाखा-विस्तार का अर्थ, जिस प्रकार केवल उसका धरा-

शायी हो जाना ही होता है, उसी प्रकार की स्थिति में हम भी पहुँच गये। स्वयं दान की कुछ भी शक्ति न रखने वाला आदान का इच्छुक राष्ट्र मंगन के अतिरिक्त और कोई संज्ञा नहीं पा सकता। जिसकी आँख में स्वयं आलोक की कोई स्थिति नहीं है, वह सौ-सौ सूर्यों के तीव्रतम प्रकाश को भी ग्रहण करने में असमर्थ ही रहता है, इस सत्य को हम नहीं समझ सके।

महादेवी जी ने बड़े पते की बात कही है—तत्वतः एक होने पर भी मानव जाति को अपने पृथक परिवेशों के कारण भिन्न-भिन्न समस्याओं का सामना करना और भिन्न समाधानों को स्वीकार करना पड़ता है। प्राकृतिक परिवेश के साथ जैवी प्रकृति की स्थिति धरती और बीज की स्थिति है, जो एक का दूसरे में रूप परिवर्तन है और जिसमे आदि से अंत तक बीज को अपने नित्य के पोषण-परिवर्द्धन के लिये ही नहीं, अपनी स्थिति के लिए भी धरती की आवश्यकता रहती है। इतिहास ने अनेक बार प्रमाणित किया है जो मानव-समूह अपनी धरती से जिस सीमा तक तादात्म्य कर सका है, उसी सीमा तक अपनी धरती पर अपराजेय रहा है।

घर में दारिद्रय, अज्ञान, अकर्मण्यता और अकथनीय वैषम्य तथा अपरिचय के बादलों को घिरता, घुमड़ता एवं बरसता देखते हुये भी अपनी आँख मूंदकर हम विश्व भर से परिचय और आत्मीयता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा-पूर्ण यात्रा के लिये चल पड़े, किन्तु पाथेय के लिये हमारे पास न तो कोई अभिनव राष्ट्रीय भौतिक शक्ति ही है और न प्राचीन आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की आस्था ही। एक की क्षीणता का कारण हमारी अकर्मण्यता है और दूसरे की अनास्था का कारण हमारी हीन भावना। इस प्रकार हम दोनों से वंचित है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य और सम्पन्नता के पुलक-प्रवेग में यदि हम अपने पूर्वजों की भाँति यह घोषणा—'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या' करके अपनी स्थिति की विश्वजनीनता का परिचय दे सकते तो हमारी स्थिति नितान्त भिन्न होती, क्योंकि पारस्परिक आदान-प्रदान के लिये दोनों ओर की शक्ति-सम्पन्नता अनिवार्य होती है। हमारे स्वतंत्र राष्ट्र का सारा संकट इसी भूल का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं।

राष्ट्र-निर्माण के लिए जो परीक्षित विकासशील प्रवृत्तियाँ, संवेदनशील हृदय-द्रावकता तथा परिष्कृत बुद्धि एवं युग-युगों से अर्जित सांस्कृतिक आस्था अपेक्षित थी उसको न ग्रहण करके अपनी सहज राष्ट्रीयता की उपेक्षा करते हुये हम अन्तर्राष्ट्रीयता के ऐसे भँवर में कूद पड़े कि हमारे राष्ट्र का जीवन उत्तरोत्तर अधिक

विकृत और विपन्न एवं विषम होता चला गया। एक दिन हमने सहसा पाया कि हम न केवल अपने व्यावसायिक और शारीरिक पोषण के लिये वरन् अपने मानसिक पोषण के लिये भी पश्चिम के मुखापेक्षी हैं। द्वितीय महायुद्ध के बीच से जो सांस्कृतिक ह्रास प्रारम्भ हुआ था वह सन् '४२ की असफलता, विभाजन के रक्तपात और गाँधी की हत्या में अपनी चरम सीमा को स्पर्श करता हुआ स्वतंत्र राष्ट्र के जीवन में पूर्णतः परिव्याप्त हो गया। निराला जैसा राष्ट्रीय कवि भी स्वतंत्रता के स्वागत में मौन रहा, यह कम आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में उनका ध्यान उदात्त जीवन के सांस्कृतिक मूल्य विघटन की ओर अधिक उन्मुख था, इसलिए राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रति वह उल्लास नहीं व्यक्त कर सके।

अस्तु, राष्ट्र जीवन की ऐसी स्थिति में निराला की तरह संस्कृति-निष्ठ और अध्यात्म-चेता कवि या तो व्यक्तिगत साधना के मार्ग समाधि के शिखरों की ओर प्रस्थान कर सकता था या लोक-मंगल के लिये जगत् नियंता से प्रार्थी हो सकता था। निराला ने दूसरे पथ का ही अनुसरण किया, क्योंकि मानव-विकास के प्रति उनकी आस्था अब भी अटूट बनी हुई थी। 'अर्चना', 'आराधना' तथा 'गीत-गुंज' इसी मानववादी-समष्टि-कल्याणी मनोवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ एवं अन्तर्ध्वनियाँ हैं।

अन्तिम बीस वर्षों में स्व-पर भेद को मिटाकर निराला ने अपने जीवन और व्यक्तित्व को इतना समष्टिगत बना लिया था कि उसमें सबके सुख-दुख समान रूप से प्रतिफलित होते रहते थे। इसीलिये उनके इन गीतों में एक तटस्थ उदासीनता के अतिरिक्त उनकी व्यक्तिगत रीझ-खीझ का स्वर नितान्त मन्द है। उनके व्यक्तित्व की यह बहुत बड़ी सार्थकता है। यह काव्य केवल कवि की ही साधना को सम्बल देने वाला नहीं, संत की साधना का भी उन्मेषक है। यहाँ पहुँचकर कवि के गहनतम संवेदन सरलतम अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं, जो सम्भवतः संत-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। इस संचारण में यदि कभी कवि की वीणा से कुछ टूटे उखड़े स्वर झंकृत भी हुये हैं तो वे टूटे युग के ही प्रतीक हैं न कि कवि के टूटे हुये व्यक्तित्व या भाव-बोध के? राष्ट्रकवि गुप्त जी ने महर्षि नारद से जो कहलाया है, वह निराला के लिये भी परम उपयुक्त है—

वादी-संवादी स्वर लेकर, सोधा सभी बजाते हैं
पर प्रतिवादी स्वर भी मेरी वीणा में बज जाते हैं

शायी हो जाना ही होता है, उसी प्रकार की स्थिति में हम भी पहुँच गये। स्वयं दान की कुछ भी शक्ति न रखने वाला आदान का इच्छुक राष्ट्र मंगन के अतिरिक्त और कोई संज्ञा नहीं पा सकता। जिसकी आँख में स्वयं आलोक की कोई स्थिति नहीं है, वह सौ-सौ सूर्यों के तीव्रतम प्रकाश को भी ग्रहण करने में असमर्थ ही रहता है, इस सत्य को हम नहीं समझ सके।

महादेवी जी ने बड़े पते की बात कही है—तत्वतः एक होने पर भी मानव जाति को अपने पृथक परिवेशों के कारण भिन्न-भिन्न समस्याओं का सामना करना और भिन्न समाधानों को स्वीकार करना पड़ता है। प्राकृतिक परिवेश के साथ जैवी प्रकृति की स्थिति धरती और बीज की स्थिति है, जो एक का दूसरे में रूप परिवर्तन है और जिसमे आदि से अंत तक बीज को अपने नित्य के पोषण-परिवर्द्धन के लिये ही नहीं, अपनी स्थिति के लिए भी धरती की आवश्यकता रहती है। इतिहास ने अनेक बार प्रमाणित किया है जो मानव-समूह अपनी धरती से जिस सीमा तक तादात्म्य कर सका है, उसी सीमा तक अपनी धरती पर अपराजेय रहा है।

घर में दारिद्रय, अज्ञान, अकर्मण्यता और अकथनीय वैषम्य तथा अपरिचय के बादलों को घिरता, घुमड़ता एवं बरसता देखते हुये भी अपनी आँख मूंदकर हम विश्व भर से परिचय और आत्मीयता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा-पूर्ण यात्रा के लिये चल पड़े, किन्तु पाथेय के लिये हमारे पास न तो कोई अभिनव राष्ट्रीय भौतिक शक्ति ही है और न प्राचीन आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की आस्था ही। एक की क्षीणता का कारण हमारी अकर्मण्यता है और दूसरे की अनास्था का कारण हमारी हीन भावना। इस प्रकार हम दोनों से वंचित हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य और सम्पन्नता के पुलक-प्रवेग में यदि हम अपने पूर्वजों की भाँति यह घोषणा—'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या' करके अपनी स्थिति की विश्वजनीनता का परिचय दे सकते तो हमारी स्थिति नितान्त भिन्न होती, क्योंकि पारस्परिक आदान-प्रदान के लिये दोनों ओर की शक्ति-सम्पन्नता अनिवार्य होती है। हमारे स्वतंत्र राष्ट्र का सारा संकट इसी भूल का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं।

राष्ट्र-निर्माण के लिए जो परीक्षित विकासशील प्रवृत्तियाँ, संवेदनशील हृदय-द्रावकता तथा परिष्कृत बुद्धि एवं युग-युगों से अर्जित सांस्कृतिक आस्था अपेक्षित थी उसको न ग्रहण करके अपनी सहज राष्ट्रीयता की उपेक्षा करते हुये हम अन्तर्राष्ट्रीयता के ऐसे भँवर मे कूद पड़े कि हमारे राष्ट्र का जीवन उत्तरोत्तर अधिक

विकृत और विपन्न एवं विषम होता चला गया। एक दिन हमने सहसा पाया कि हम न केवल अपने व्यावसायिक और शारीरिक पोषण के लिये वरन् अपने मानसिक पोषण के लिये भी पश्चिम के मुखापेक्षी हैं। द्वितीय महायुद्ध के बीच से जो सांस्कृतिक ह्रास प्रारम्भ हुआ था वह सन् '४२ की असफलता, विभाजन के रक्तपात और गाँधी की हत्या में अपनी चरम सीमा को स्पर्श करता हुआ स्वतंत्र राष्ट्र के जीवन में पूर्णतः परिव्याप्त हो गया। निराला जैसा राष्ट्रीय कवि भी स्वतंत्रता के स्वागत में मौन रहा, यह कम आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में उनका ध्यान उदात्त जीवन के सांस्कृतिक मूल्य विघटन की ओर अधिक उन्मुख था, इसलिए राजनीतिक स्वतंत्रता के प्रति वह उल्लास नहीं व्यक्त कर सके।

अस्तु, राष्ट्र जीवन की ऐसी स्थिति मे निराला की तरह संस्कृति-निष्ठ और अध्यात्म-चेता कवि या तो व्यक्तिगत साधना के मार्ग समाधि के शिखरों की ओर प्रस्थान कर सकता था या लोक-मंगल के लिये जगत् नियंता से प्रार्थी हो सकता था। निराला ने दूसरे पथ का ही अनुसरण किया, क्योंकि मानव-विकास के प्रति उनकी आस्था अब भी अटूट बनी हुई थी। 'अर्चना', 'आराधना' तथा 'गीत-गुंज' इसी मानववादी-समष्टि-कल्याणी मनोवृत्ति की अभिव्यक्तियाँ एवं अन्तर्ध्वनियाँ है।

अन्तिम बीस वर्षों में स्व-पर भेद को मिटाकर निराला ने अपने जीवन और व्यक्तित्व को इतना समष्टिगत बना लिया था कि उसमें सबके सुख-दुख समान रूप से प्रतिफलित होते रहते थे। इसीलिये उनके इन गीतों में एक तटस्थ उदासीनता के अतिरिक्त उनकी व्यक्तिगत रीझ-खीझ का स्वर नितान्त मन्द है। उनके व्यक्तित्व की यह बहुत बड़ी सार्थकता है। यह काव्य केवल कवि की ही साधना को सम्बल देने वाला नहीं, संत की साधना का भी उन्मेषक है। यहाँ पहुँचकर कवि के गहनतम संवेदन सरलतम अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते हैं, जो सम्भवतः संत-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। इस संचारण में यदि कभी कवि की वीणा से कुछ टूटे उखड़े स्वर झंकृत भी हुये हैं तो वे टूटे युग के ही प्रतीक हैं न कि कवि के टूटे हुये व्यक्तित्व या भाव-बोध के? राष्ट्रकवि गुप्त जी ने महर्षि नारद से जो कहलाया है, वह निराला के लिये भी परम उपयुक्त है—

वादी-संवादी स्वर लेकर, सीधा सभी बजाते हैं
पर प्रतिवादी स्वर भी मेरी वीणा में बज जाते हैं

बिना विवादी के विनोद क्या ? बस प्रयोग सर्वत्र बड़ा
बने भैरवी भी मृदु मधुरा मेरा माध्यम रहे कड़ा !

वस्तुतः अपनी विविधता, नवीनता और प्रयोग में निराला सदा से अप्रतिम और अप्रत्याशित ही रहे हैं : सत्य-बोध, सामूहिक स्वतन्त्रता के लिये अनवरत संघर्ष और सबके प्रति सहज सहानुभूति से उत्थित करुणा ही उनके इन गीतों का मेरुदंड है—

रँग रँग से यह गागर भर दो,
निष्प्राणों को रसमय कर दो।
माँ, मानस के सित शतदल को
रेणु-गन्ध के पंख खिला दो,
जग को मङ्गल-मङ्गल के पग
पार लगा दो, प्राण मिला दो;
तरु को तरुण पत्र मर्मर दो।

जन-जीवन के साथ स्मरण होने के पश्चात् ही ऐसी सहज-सरल तथा अलंकारहीन काव्याभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं।

निराला का कछुआ-बध सम्बन्धी आक्रोश क्रमशः शान्त हो गया, पर ग्रीष्म की तीव्रता उनकी उत्तेजना का कारण बराबर बनी रही। खस की टट्टियों के प्रबंध की चर्चा की तो कहने लगे—"ना, ना, ना, उससे साइटिका के बढ़ जाने की सम्भावना है। मोटे टाट के पर्दे काफी होंगे।" एक दिन महादेवी जी ने रामगढ़, नैनीताल चलने का प्रस्ताव किया तो उसे भी उन्होंने साइटिका के नाम पर मना कर दिया और बताया कि शिमले में उन्हें बड़ा कष्ट हुआ था। पहाड़ की यात्रा उनके लिये बड़ी घातक है। मलयागिर चंदन का लोंदा अपने सिर पर रखकर उसे पानी से तर करते हुये वे प्रायः दिन भर कमरे में पड़े रहते थे। शाम-सुबह बाहर टहलना अब भी जारी था। शारीरिक दुर्बलता के साथ उनकी आँखों का तेज और अधिक उद्दीप्त हो उठा था। भजनों की रचना भी प्रायः निरन्तर चल रही थी। पर न सुनाने का उत्साह था, न गाने का। इन गीतों में निराला ने शब्द-संगीत, अलंकार, अभिव्यञ्जना के चमत्कार तथा कला-विशिष्टता की भंगिमा से अपने को मुक्त कर लिया था। भाव-संगीत के साथ अभिव्यक्ति की सीधी-सरल रूप-रेखा ही उनका लक्ष्य बन चुकी थी, जो सुनने की अपेक्षा समझने और मनन करने से अधिक सम्बन्ध रखती है—

नयन नहाये
जब से उसकी छवि में रूप बहाये।
कण्ठ नये स्वर से क्या
फूट कर खुला ?
बदल गई आँख, विश्व—
रूप वह धुला ?
मिथ्या के भास सभी,
कहाँ समाये ?

दो-तीन दिन बाद मुझे दादी जी के स्वर्गवास की दुखद सूचना मिली और मैं घर चला गया। उनकी तेरहवीं तक मुझे वहाँ रुकना पड़ा। लौटकर आया तो पता चला कि नाव में बैठकर निराला जी दारागंज चले गये। दारागंज पहुँचकर देखा कि वे अपने चिर परिचित मित्र कलाकार श्री कमलाशंकर जी के घर में ठहरे हैं। मुझे देखते ही बोले—"आओ, आओ, हम याद ही कर रहे थे। कुछ दिनों के लिये यहाँ आ गये हैं। यात्रियों का केन्द्र होने के कारण यह स्थान सम्पूर्ण भारत का दर्शन सुलभ कर देता है। मिलते-जुलते रहा करना।" मैं चुपचाप सुनता रहा और उदासीन होकर लौट आया। श्री माचवे जी उनसे मिलने दारागंज गये और संसद छोड़ने के विषय में उनसे पूछा तो उन्होंने कहा—"यहाँ अच्छा लगता है, कई लोग गंगा जाते हुये नजर आते हैं। मैं इस मेले में खो जाना चाहता हूँ। एक दिन इसी संगम मे जाना है।" श्री माचवे ने 'आज' के निराला-स्मृति-अंक में इसका उल्लेख किया है।

अगस्त १९५० में कला मंदिर, दारागंज से 'अर्चना' प्रकाशित हुई। इसके गीतों में निराला का शान्त, स्वस्थ संत कवि का स्वर मुखरित है। उसकी 'स्वयोक्ति' में इन गीतों की रचना-प्रक्रिया, भाषा और उद्देश्य पर कवि ने जो प्रकाश डाला है, वह उसकी संयमित, उदार तथा भक्ति-रत मनोस्थिति को स्पष्ट करने में सहज ही सक्षम है—'अन्तरङ्ग विषय यौवन से अतिक्रांत कवि के पर-लोक से सम्बद्ध है। इसलिये यहाँ सम्मति का फल निष्काम मे ही होगा। रस सिद्धि की परताल कीजियेगा तो कहना होगा कि हिन्दी के भाषा-साहित्य में ज्ञानी और भक्त कवियों की पंक्ति की पंक्ति बैठी हुई है, जिनकी रचनायें साधारण जनों के जिह्वाग्र से अमृत की धारा बहा चुकी हैं, ऐसी अवस्था में लोकप्रियता की सफलता दुराशा मात्र है। अतः यहाँ प्राचीन परम्परा से इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

भाव कुभाव अलख आलस हूँ,
राम जपत मंगल दिशि दसहूँ ।

गीत के साथ गले का सम्बन्ध पहला है । खड़ी बोली की गाड़ी के और चलते रहने की आवश्यकता है; ये गीत जैसे उसी की पूर्ति करते हैं । यथाशक्ति सुरचित शब्दों की शृंखला रक्खी गई है जो सहज ही उच्चारित हो जाय, जिससे आधुनिक गीतों की मेड़ें और स्वर-कम्पन प्राचीन शब्दोच्चारण की दीवारों को पार करके अपनी सत्यता पर समासीन हो ।

स्पष्ट है कि सहज, समतल भूमि पर प्रतिष्ठित गीतों का यह स्वरूप कवि की कला का नया मोड़ या प्रवाह नियोजित करता है । विह्वल आत्म-निवेदन, सामूहिक सुख-शान्ति और कल्याण की भावना, सौन्दर्य तथा प्रकृति का यथातथ्य अकृत्रिम रूप-अंकन इन गीतों का प्राण-स्पंदन है । कवि को इसका बोध भी है—

तुम जो सुथरे पथ उतरे हो,
सुमन खिले पराग बिखरे ओ !
पवन-मन्द-मृदु-गन्ध प्रवाहित,
मधु-मकरन्द-सुमन-सर- गाहित,
छन्द-छन्द सरि-तरि उत्साहित
अवनि-अनिल-अम्बर सँवरे हो !
स्वर्ण-रेणु के उदयाचल-रवि,
दुपहर के खरतर ज्योतिश्छवि
हे उर-उर के मुखर-मधुर कवि,
निःस्व विश्व को तुम्हीं बरे हो !

●

मूँदे नयन, मिले प्राण,
हो गया निशावसान ।
ज्ञान-सूत्र में मिलकर
स्वर्ग से चढ़े ऊपर,
जहाँ नहीं नर, न अमर—
सुन्दरता का विधान !

सम्भवतः निराला जी को यह आभास था कि 'परिमल' की मुक्त छंद की रचनाओं के पश्चात् 'गीतिका' के छंद-बद्ध सधे गेय गीतों को देखकर हिन्दी समीक्षकों को जो आश्चर्यजनक कुतूहल तथा संभ्रम हुआ था, वही, मध्यवर्ती

हास्य-व्यंय-विनोद की रचनाओं के पश्चात् सहसा इन गीतों को देखकर भी होगा। इसलिये अन्त में उन्होंने कालिदास का वह श्लोक दे दिया है जिसमें रागाश्रित कवि की ओर से तर्काश्रित वैज्ञानिक पर व्यंग्य किया गया है। 'तत्वान्वेषण' को निराला ने 'शास्त्रान्वेषण' करके वही व्यंग्य समालोचकों के लिये रूपान्तरित कर दिया है—

चलापाङ्गं दृष्टिं, स्पृशसि बहुसो वेपथुमतीम्,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिक चरः।
करौ व्याधून्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्,
वयं शास्त्रान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।

हे मधुकर ! तुम उस कम्पनशीला, चंचल नेत्रों वाली सुन्दरी को बारम्बार छूते जा रहे हो। उसके कानों के पास जाकर धीरे-धीरे इस प्रकार गुनगुनाते हो, जैसे तुम उसे किसी बड़े रहस्य की बात बताना चाहते हो। बराबर उसके हाथों द्वारा हटाये जाने पर भी उसके रसीले अधरों का पान करते जा रहे हो। हम तत्व के अन्वेषण मे लगे रहे और नष्ट हो गये, किन्तु तुम्हारा जीवन सचमुच सफल और यशस्वी है।

कालिदास ने यहाँ कवि और वैज्ञानिक के मौलिक भेद को बड़े ही कलात्मक ढंग से व्यंजित किया है। कवि मधु की खोज करता है और उसकी चर्वणा मे आत्म-विसर्जन कर देता है। वैज्ञानिक तत्व की खोज मे व्यस्त रहकर उसी के अनुशीलन में जीवन नष्ट कर देता है। पहला सौंदर्य की उपासना करता है दूसरा तत्व की। पहले की साधना रागाश्रित होती है और दूसरे की तर्काश्रित। कवि अन्तःकरण प्रवृत्तियों को प्रमाण्य मान कर जीवन को सफल बना लेता है और वैज्ञानिक व्यभिचारिणी बुद्धि का प्रश्रय ग्रहण कर जीवन के रस-आनन्द से वंचित रह जाता है। स्पष्ट है कि कवि का प्रकृत मार्ग संवेदनशील हृदय का है, तर्कशील बुद्धि का नहीं। निराला ने आलोचकों के लिये भी यही चेतावनी दी है।

इस कथन से यह भी व्यक्त होता है कि इन गीतों में भी निराला का कवि रूप ही प्रधान है, भक्ति उसका माध्यम-मात्र है। इसीलिये इस समर्पण में आत्म-निन्दा का स्वर नहीं पाया जाता, आत्मोत्थान की आकांक्षा निश्चय ही पायी जाती है। वस्तुतः निराला भक्त-कवि नहीं, कवि-भक्त हैं। निराला अपने सम्पूर्ण काव्य में भावानुगामी भाषा के विविध रूपों के प्रयोक्ता रहे हैं। इन गीतों की सहज भाषा उनके सहज भाव-संवेदन के उन्मेष का अभिनव प्रतीक

हैं। वीर और शृंगार रस का कवि यहाँ पहुँच कर प्रशान्त शान्त और करुण रस की भावना से स्निग्ध-विमुग्ध हो गया है। उसके आत्म-विस्तार की पूर्व प्रचंड भावना संयोजित होकर संबोधि में समासीन हो गई है। यही कारण है कि इन गीतों में विस्तार की अपेक्षा गहनता की भाव-भूमिका अधिक प्रोज्ज्वल और प्राणवान है। उत्कर्ष और अपकर्ष के विविध आयामों को पार करके अब वे उपलब्धि की शाश्वत वाणी मे बोलने लगे है, जो उनको काव्य-साधना की सिद्धि का ही प्रतीक है। कवि की इन प्रार्थनाओं में पहले की प्रार्थना का साफल्य संस्थित हो गया है—सन् '३९ मे उन्होंने प्रार्थना की थी—

बोलूँ अल्प न करूँ जल्पना,
सत्य रहे मिट जाय कल्पना,
आगे-पीछे दायें-बाँयें
जो आये थे वे हट जायें,
उठे सृष्टि से दृष्टि, सहज मैं
करूँ लोक-आलोक-सन्तरण !

अस्तु, यह कहा जा सकता है कि इन गीतों की भाव-भूमिका में कवि, ज्ञानी और भक्त-संत समरस होकर मुक्त संचरण करते देखे जाते है, किसी में प्रतिस्पर्द्धा और विरोध तथा द्वन्द्व का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि रज मे खेलती हुई भी ज्योति सदा विरज ही बनी रहती है।

'आराधना' का प्रकाशन १९५३ मे हुआ। इसे 'अर्चना' के विकास-क्रम की कड़ी ही मानना चाहिए। प्रकाशकीय वक्तव्य मे महादेवी जी ने लिखा है—'जीवन में जो कुछ सत्य, सुन्दर और मंगलमय है वही निराला का आराध्य रहा है। 'आराधना' भी उसी जीवन-व्यापी अर्चन की एक कड़ी है। अविश्वास के इस अंधकार युग में आराधना के स्वर दीपक-राग की भाँति संगीत और आलोक की समन्वित सृष्टि करने में समर्थ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

'आराधना' में कवि का काव्य-सौष्ठव, संगीत-संगति और अभिव्यक्ति का लयात्मक स्वच्छ प्रवाह संरक्षित है। भाषा और अधिक अर्थ-प्रवण हो गई है। आत्मपरकता भी प्रगाढ़ हो गई है, किन्तु मूल भाव-भूमि मानवतावादी ही है—

पद्मा के पद को पाकर हो
सविते, कविता को यह वर दो !
मेरी अलक धूलि पग पोंछे,

श्रम शरीर का पलक अँगोछे,
उठे ऊर्ध्व मन से जो ओछे;
मिले निलय में एक प्रकर दो !

इसमें शब्दों की लघिमा के साथ उदात्त भावों की गरिमा उल्लेखनीय है। सन् '५२ से निराला जी का स्वास्थ्य अप्रत्याशित रूप से गिरने लगा था और इस वर्ष के प्रायः मध्य में दाहिने बाहु की पीड़ा ने तो उन्हें बहुत अधिक कष्ट दिया। ऐसी स्थिति में आत्म-द्रवणता अनिवार्य है, फिर भी काव्य में व्यापक जीवन-चिंतन की मार्मिक भाव-प्रवणता का पल्ला कवि ने नहीं छोड़ा। जहाँ वह यह कहते हैं—

भग्न तन, रुग्ण मन,
जीवन विषण्ण बन।

वहीं यह कहना कभी नहीं भूलते—

हिम के आतप के तप झुलसो,
नाम-वारि के वारिद हुलसो।
भीगे कठिन धरा निष्पावन,
चलें चतुर्दिक हल अभिभावन,
बोये बीज सीझ कर उलसो !
बढ़े नये पौधे लह-लह कर,
पुरवाई के झोंके सहकर,
थकें नयन साधन-धन गह कर,
जीवन के सावन तुम सुलसो।

भारत के ही नहीं, विश्व के विख्यात अद्वैतवादी तत्ववेत्ता आचार्य शंकर ने भी अंत में भक्ति की महत्ता और श्रेष्ठता घोषित की है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी

इसका कारण यही है कि तर्कजन्य ज्ञान कभी पक्ष-विपक्ष के द्वैत का अतिक्रमण नहीं कर सकता, क्योंकि बुद्धि के विकल्पों की कोई सीमा नहीं। भक्ति-आस्था-विश्वास के माध्यम से हमारी मानस वृत्तियाँ एक क्षण में ही आलोकित हो उठती हैं। वस्तुतः तर्कसाध्य परोक्षानुभूति और प्रातिभ परोक्षानुभूति में वही अन्तर है, जो किसी अनुभव के विवरण और उपभोग में होता है। भक्ति में ज्ञान और अनुभव का सामरस्य, 'सीयराममय सब जग जानी' की स्थिति का सहज ही आकलन कर लेता है। निराला इसी अर्थ में भक्त कहे जा सकते हैं। उनके

जीवन में स्वार्थ तथा परार्थ का, व्यवहार और सिद्धान्त का, कथनी और करनी का अनुपम समन्वय दिखायी पड़ता है। साधना के इस उच्च धरातल पर व्यक्ति का स्वर समष्टि का स्वर बन जाता है। निराला कभी भी समाज के लिये बोझ बन कर नहीं रहे। उन्होंने अपने काव्य से, अपने जीवन के उदाहरण से लोगों के सामने एक सामान्य व्यावहारिक दर्शन का आदर्श उपस्थित किया है। उन्होंने संसार के प्राणियों के साथ मैत्री तथा सहानुभूति का भाव रख कर उनमें व्याप्त भगवान के दर्शन किये हैं। यही कारण है कि उनकी भक्ति साम्प्रदायिक न होकर सर्व-जन-सुलभ है। उनकी आकांक्षा रही है—

गाने दो प्रिय मुझे भूलकर
अपनापन—अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती जल नित बरसाओ !

'आराधना' में ऐसी आकांक्षाओं की अधिकता है—

जीवन के मधु से भर दो मन,
गन्ध विधुर कर दो नश्वर तन,
मोह मदिर चितवन को चेतन,
आत्मा को प्रकाश से पावन !

सहज मानवीय स्तर पर उनकी संवेदना इतनी व्यापक और अनुभव मुखर था कि कभी-कभी आश्चर्य होता है—

मानव जहाँ बैल घोड़ा है,
कैसा तन-मन का जोड़ा है ?
किस साधन का स्वांग रचा यह,
किस बाधा की बनी त्वचा यह,
देख रहा है विज्ञ आधुनिक
वन्य भाव का यह कोड़ा है।
इस पर से विश्वास उठ गया,
विद्या से जब मेल छुट गया,
पक-पक कर ऐसा फूटा है,
जैसे सावन का फोड़ा है।

काव्यात्मकता और सरल मुहावरेदार भाषा के साथ संवेदना की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति बहुत विरल होती है, यह निर्विवाद है।

वास्तव में निराला आदि से अंत तक विराटवादी कवि थे, जो वैयक्तिक चेतना की उपेक्षा तो कर ही नहीं सकते थे, पर व्यक्तिगत वृत्तियों और अनुभूतियों को सामूहिक-सामाजिक स्वरूप देकर उन्हे सार्थकता देने का आग्रह भी वे नहीं छोड़ सकते थे। उनकी कोई भी वैयक्तिक प्रार्थना सामाजिक दायित्व से शून्य हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह व्यक्तिधर्मी नहीं, मानवधर्मी थे। इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास उनके आदर्श थे, जिनके इष्टदेव राम थे जो भारतीय आदर्श चरित्रों में सामाजिक मार्यादा तथा अनुशासन का सबसे अधिक आग्रह करने वाले थे। व्यक्तिगत रूप से सीता को निर्दोष समझते हुये राम उन्हें निर्वासित नहीं करना चाहते थे, पर सामाजिक मर्यादा के लिए उन्होंने वैयक्तिक चेतना की बलि दे दी थी। सामूहिक-सांस्कृतिक चेतना के विकास और उत्थान के लिये वे विद्रोह कर सकते थे, करते थे, पर व्यक्तिगत स्वार्थ और स्वतंत्रता के नाम पर कोई भी असामाजिक कार्य उनसे सम्भव नहीं था। आशय यह कि व्यक्ति का कोई भी प्रयास सामाजिक संयोजन के बिना मंगलमय नहीं हो सकता है—

दुख के सुख जियो, पियो प्याला,
शङ्कर की स्मर-शर की हाला।
शशि के लाञ्छन हों सुन्दरतर,
अभिशाप समुत्कल जीवन-वर,
वाणी कल्याणी अविनश्वर
शरणों की जीवन-पण माला!

राखी का दिन बीत गया, पर निराला जी देवी जी के यहाँ नहीं आये। स्वभावतः उनकी चिंता बढ़ गई। मैं बीच-बीच में दारागंज जाता रहता था, किन्तु इधर कुछ अस्वस्थ होने के कारण नहीं जा सका था। जब प्रायः डेढ़ महीने के बाद पहुँचा तो देखा कि निराला जी का स्वास्थ्य बहुत गिर गया है। उनकी मुखाकृति अपेक्षाकृत मलीन और चित्त उद्विग्न सा है। मुझे देखते ही गली में घूमना बन्द करके कमरे में बैठ गये। नमस्कार के बाद उनका स्वगत शुरू हुआ तो बहुत देर तक चलता रहा। पहली बार मैंने देखा कि वे अब अपने स्वगत को किसी के द्वारा सुना-अनसुना होने की चिंता नहीं करते। पहले किसी की उपस्थिति का संकोच भी अनुभव करते थे अब वैसा कुछ नहीं। अपने-आप में सर्वथा लीन होकर प्रसन्न और खिन्न होने के भावों को प्रत्यक्ष करते रहते। अतिथि के स्वागत का सारा प्रबंध करते हुये भी आवश्यक नहीं कि वे उससे

बात-चीत भी करें।

यदि आगन्तुक बहुत ही अड़ियल निकला तो उसकी प्रतीक्षा और साहस को परखने के पश्चात् कुछ बातचीत भी कर लेते। वार्तालाप में हिन्दी, अँग्रेजी, संस्कृत, बँगला तथा ठेठ बोलियों का मुक्त प्रयोग चलता। अपने चिंतन की प्रतिक्रिया में भी मुखरित हो उठते—'वाह मिस्टर शेक्सपियर, चूँकि तुमको अपनी नायिका का नाम 'वाइला' रखना था इसलिये अपने पाठकों का परिचय पहले ही 'वाइलेट' के फूलों से करा दिया। वातावरण की सार्थक सिद्धि का विधान यही है।'

इस प्रकार कल्पनात्मक अनुभूतियों की भूमि पर से जब वे कोई बात अपने आप करते तब उन्हें समझ सकना कठिन होता। उनसे मिलने वाले को सबसे अधिक आश्चर्य तब होता जब वह देखता कि अपनी इन तमाम उधेड़-बुनों में उलझा हुआ भी कवि जीवन, जगत तथा समस्त मानवता के प्रति सर्वांशतः जागरूक और ममतालु है। विद्यार्थियों पर लाठी-वर्षा की वे खोज-खबर रखते, भुखमरी से मरे व्यक्तियों की यातना का अनुभव करते और गल्ले के बाजार भाव की पूंछ-ताँछ करते रहते। व्यक्तिगत कपड़े-लत्ते या रहन-सहन की व्यवस्था पर बात करने से बिगड़ कर कहने लगते—ई तो बताओ, यहाँ कितनों के पास कोट, ओवर-कोट हैं और कितने लोग व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते हैं, जरा होश मे रहौ, आँख मूंद कै न चलौ।"

श्री इलाचन्द्र जोशी की जयन्ती मे सम्मिलित होने का आग्रह करने गया तो गली में टहलते हुये कह रहे थे—"क्या बात है, कमाल कर दिया।" कि मैं पहुँच गया तो बोले—"क्या श्लोक है?" श्लोक सुनाया और अर्थ करने लगे—"गर्भिणी सिंहनी आषाढ़ के बादलों से कहती है, ऐ बादल अपना गरजना बन्द कर दे। मेरे पेट का बच्चा तुम्हारी गरज को हाथी की चिग्घाड़ समझ कर धावा करने के लिये पेट फाड़कर बाहर निकल आना चाहता है।" फिर अत्यन्त गम्भीर भाव से कहा—"देखा, यह धरती की विजय का गीत है। मिट्टी बादल को फटकार रही है।" मैंने कहा—"आप भी तो आजकल धरती के विजय-गीत लिख रहे है।" उन्होंने कुछ संकोच से कहा—"हाँ कुछ न कुछ तो लिखना ही है। यारों ने अर्जित कीर्ति खानी शुरू कर दी है, अपने पास कीर्ति-ऊर्ति तो है नहीं, जो खायें-पियें। उलटे बदनामी है, जो कभी खुराक नहीं बन सकती। हमे तो जब तक जीना है, सीना है, क्योंकि रोटियाँ तो तोड़नी ही पड़ती है।"

जो भी हो, उनसे मिलकर मुझे बराबर यही लगता रहा कि निराला

अपने व्यवहार, बात और काव्य-साधना में मानव-जीवन को उच्चतर धरातल में प्रतिष्ठित करने की धुन में ही मस्त रहते थे। वे प्रायः कहते थे—The experimental demonstration of one man may save the time of many. वास्तव में निराला जीवन-दर्शन की जिस उदात्त भूमिका में स्थित थे, वहाँ सबकी पहुँच सम्भव नहीं है। इस कारण उनकी बहुत सी बातें यदि अट-पटी और विचित्र लगें तो यह कुछ अस्वाभाविक भी नहीं है। परन्तु उनके सार-गर्भित वचनों की समृद्धि से मुझे उनमें किसी प्रकार की अनर्गलता का आभास नहीं मिला तो यह मेरी अपनी विवश हो सकती है। उनके कुछ वाक्य ये हैं :

1—I have combined the contribution in terms of literary art to the philosophy of living.

2—I as an artist know the right relation of knowledge to action and of knowledge to contemplation.

3—I think the natural goodness is better than any piece of art.

4—I am making an example of playing the same card in life and literature.

तो क्या अंग्रेजी में होने के कारण इन उच्चाशयों को पागल का प्रलाप कह-कर टाला जा सकता है ? मैं समझता हूँ कदापि नहीं।

मानवीय चेतना-लोक की अपार रहस्यमयता का ध्यान भूलकर किसी की चेतना के विषय मे शीघ्रता से कोई राय दे देना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऐसा भी होता है कि—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अस्तु, मनुष्य को साधारण जाग्रत चेतना से नितान्त भिन्न और अपरिचित किसी उदात्त चेतना में मग्न रहना पागल का नहीं, सिद्ध पुरुष का लक्षण है। मृत और जीवित दोनों के शरीरावयव का सामंजस्य समान ही रहता है, अन्तर केवल चिदभिव्यक्ति का होता है। निराला की काव्याभिव्यक्ति चित्प्राण को स्फूर्ति देनेवाली और प्रकाशित करने वाली बनी रही, जो उनकी प्रबुद्ध चेतना और सर्वकल्याणकारी कलाकारिता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जिस प्रकार परमात्मा का चैतन्य विलास यह जगत है, उसी प्रकार कला, कलाकार का चिद्विलास है। इसके विषय में गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति स्मरण रखना आवश्यक है—

तुलीदास कह चिद-विलास जग बूझत बूझत बूझै ।

असह्य यातना सहन करते हुये भी निराला ने अंत तक अपने चिद्विलास को स्थिर एवं दृढ़ बनाये रखा और कला-सृजन से कभी विचलित तथा विरत नहीं हुये।

१९५३ के सितम्बर में कलकत्ते में निराला-अभिनंदन का एक विराट आयोजन हुआ। कलकत्ता-निवास की मीठी-कड़ुवी स्मृतियों से आन्दोलित होकर निराला में एक ऐसी स्फूर्ति का जागरण हुआ कि वे यात्रा के लिये सहर्ष सन्नद्ध हो गये ।

इलाहाबाद स्टेशन पर उनको विदा देने, देखने के लिये नगर-निवासी साहित्यिकों और नागरिकों की एक भीड़ एकत्रित हो गई थी। निराला सबसे बड़े स्नेह और आत्मीयता से मिले। उस दिन उनका उत्साहमंडित और शुभ्र वस्त्राभूषित सौम्य व्यक्तित्व दर्शनीय था। महादेवी जी, जोशी जी, पाठक जी तथा जितेन्द्र बाबू और अन्य अनेक सज्जनों के साथ मैं भी उनका सहयात्री था। जब गाड़ी चलने लगी तब निराला ने कहा—"अच्छा, अब हम अँग्रेजी को जवाहर लाल के प्रान्त में ही छोड़कर केवल हिन्दी और बँगला का प्रयोग करेंगे।" इस वचन का पूरा निर्वाह भी उन्होंने किया।

कलकत्ते के स्टेशन पर इतनी भीड़ थी कि स्टेशन वाले भी चकित थे। गाड़ी पहुँचते ही प्लेटफार्म महाप्राण निराला की 'जय' घोष से गड़गड़ा उठा। निराला का विशाल शरीर फूल-मालाओं से ढँक गया। सुमन-वृष्टि से उनके आस-पास की धरती पुष्पाभरण से लद गई। निराला सभी पर स्निग्ध दृष्टि निक्षेप करते हुए जिस सहज भाव से हाथ जोड़े खड़े थे उसका वर्णन सम्भव नहीं।

मोटरकारों के एक वृहत् जुलूस के साथ निराला को उनके ठहरने के स्थान में ले जाया गया। महादेवी जी को छोड़कर हम सब भी उन्हीं के साथ ठहराये गये। शाम को निराला बड़ा बाजार की ओर पैदल ही चल पड़े और हम लोगों को वे सभी स्थान जहाँ कभी वे रह चुके थे अनेक स्मृतियों की चर्चा के साथ दिखाया। सड़कों और गलियों में निराला को देखकर लोग चिरपरिचित की भाँति कह रहे थे—शेई कोबि निराला, एई खाने आश्चेन।

१९ सितम्बर की सन्ध्या को बड़ा बाजार के जैन-भवन में निराला अभिनंदन का आयोजन हुआ। देखा कि एक कल्पनातीत अपार भीड़ फूल-माला के साथ भवन को घेरे हुई खड़ी थी। निराला के साथ इतने लोग भीतर धँस गये कि हाल खचाखच भर गया। ऊपर जाने के दोनों रास्ते, हाल की बालकनी, मंच

और हाल में कहीं पाँव रखने तक की भी जगह काफी नहीं थी। धक्कों से हाल के दरवाजे चरमरा रहे थे। परिणामतः महादेवी जी, जोशी जी और मैं स्वयं किसी भी प्रकार हाल में प्रवेश कर सकने में असमर्थ सिद्ध हुये। भीड़ के बीच से महादेवी जी आगे बढ़ने लगीं तो एक समवेत स्वर सुनायी पड़ा—"जब तक सब लोगों के जाने की व्यवस्था न हो तब तक आपको भी न जाना चाहिए। निराला को इस तरह चहारदीवारी के भीतर अभिनंदित नहीं किया जा सकता, यह आप लोगों को पहले समझ लेना चाहिए था, उन्हें बाहर बुलाइए, हम सब भी उनका दर्शन करना चाहते हैं, अन्यथा आप भी न जा सकेंगी।"

महादेवी जी ने भीड़ को हाथ जोड़े और सड़क पर आ गईं कि भीड़ ने उनको घेर लिया। महादेवी जी ने दृढ़ आश्वासन दिया कि दूसरे ही दिन यही आयोजन सार्वजनिक खुले मैदान में होगा, पर आज इसे निर्विघ्न समाप्त हो जाने देना चाहिए। तब कहीं हम लोग गिरते-पड़ते हाल में पहुँच सके। मंच तक पहुँचना फिर भी प्रायः असम्भव था। महिलाओं के बीच से महादेवी जी और जोशी जी को किसी तरह मंच पर पहुँचाया गया, किन्तु मैं दरवाजे के कोने में ही दबा खड़ा रहा।

मंच पर शान्तिनिकेतन के संत आचार्य क्षिति मोहन और उनके बगल में निराला जी विराजमान थे। गर्मी इतनी थी कि लोग पसीने से तर हो रहे थे। निराला जी भीड़, कोलाहल और सारी अव्यवस्था के बीच भी अत्यन्त स्थिर, शान्त और प्रसन्न दिखाई पड़ रहे थे।

महादेवी जी की अध्यक्षता में आयोजन का शुभारम्भ हुआ। देवी जी ने सबसे शान्त रहने का प्रभावशाली आग्रह करते हुये दूसरे दिन मुहम्मद अली पार्क में सार्वजनिक समारोह के आश्वासन को दुहराया, तब जनता कुछ शान्त हुई।

आचार्य सेन ने निराला के प्रति अपने भाव-भीने अभिनन्दन में निराला की गणना कृष्ण, कबीर तथा टैगोर के समान विद्रोही एवं क्रान्तिकारी महापुरुषों में करते हुए उनकी वाणी को संतों की निर्भीक वाणी का गौरव दिया और कहा कि निराला की प्रतिभा और व्यक्तित्व केवल हिन्दी वालों के लिए ही नहीं वरन् सारे देश और समस्त मानवता के लिए सम्माननीय और श्रद्धास्पद है।

आचार्य जी के भाषण के बाद भीड़ की निरन्तर वृद्धि के कारण पुनः कोलाहल का क्रम प्रारम्भ हो गया कि निराला स्वयं उठ खड़े हुए और स्नेह-सिक्त शब्दों में बोले—"जगह की कमी के कारण आप लोगों को बड़ी परेशानी है। मैं

देख रहा हूँ कि आप लोग दियासलाई की डिब्बी में सलाइयों की तरह एक-दूसरे पर ठसाठस भरे हैं, विवशता है। मैं आप सबके मनोरंजन के लिए एक छोटी कविता सुनाता हूँ। उन्होंने 'भर देते हो' शीर्षक कविता ताल-लय के साथ सुनायी कि सब लोग जैसे मन्त्र-मुग्ध हो गए। तब उन्होंने श्री जानकी वल्लभ शास्त्री से कविता सुनाने का आग्रह किया। शास्त्री जी ने निरालाजी की प्रसिद्ध कविता 'यमुना के प्रति' के कुछ पद संगीतमय स्वरों में सुनाये और वातावरण स्निग्ध शान्ति में परिणत हो गया। निराला जी ने पुनः 'शिवा जी का पत्र' कविता सुनायी और जनता पूर्ण तृप्त हो गई।

चन्दन-चर्चित करने के पश्चात् निराला को अभिनन्दन ग्रंथ अर्पित किया गया और समारोह समाप्त हुआ। जब तक निराला जी की मोटरकार चल नहीं पड़ी तब तक 'महाप्राण निराला की जय' ध्वनि से समस्त वायुमंडल मुखरित होता रहा।

दूसरे दिन कलकत्ते के मेयर श्री नरेशनाथ मुकर्जी की अध्यक्षता मे मुहम्मद-अली पार्क मे तीसरे पहर अभिनन्दन का आयोजन किया गया। लोगों को आशंका थी कि वृहत-स्थान मे जनता की कमी के कारण कहीं समारोह हलका न पड़ जाय, पर वहाँ पहुँचते ही पता चला कि पूरा पार्क खचाखच भरा है और पार्क में न समा सकने के कारण भीड़ बाहर सड़क पर इतनी अधिक हो गई थी कि मोटरों, बसों का आना-जाना एकदम बन्द हो गया था। निराला के मंच पर पहुँचते ही जय के नारों से धरती और आकाश एक हो गये।

यह मेरा परम सौभाग्य था कि महाकवि को प्रणाम देने का सर्वप्रथम अवसर मुझे ही दिया गया। मैं भीड़, कोलाहल और विद्वत् समाज के बीच में अपनी अक्षमता से इतना आतंकित था कि मुझे यह भी स्मरण नहीं कि मैंने क्या कहा, किन्तु इतना तो स्पष्ट था कि निराला विषयक चर्चा सुनने को लोग इतने उत्सुक और उत्साह में थे कि मुझ जैसे नगण्य वक्ता की बातें भी उन्होंने बड़े धीरज और प्रेम के साथ सुनीं और सर्वथा शान्त बने रहे। श्री बेनीपुरी जी, श्री जोशी जी ने निराला-साहित्य का मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक विश्लेषण-विवेचन करते हुये उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की महनीयता का विस्तृत व्याख्यान किया।

जब महादेवी जी बोलने के लिये खड़ी हुईं तब तालियों की गड़गड़ाहट और निराला को मुस्कान का ताल-मेल देखने ही लायक था। निराला-साहित्य के सांस्कृतिक महत्व और उसकी विराट-व्यापक परिधि की चर्चा करते हुये उन्होंने हिन्दी को और निराला जैसी प्रतिभा के प्रतिदान के लिये बंगभूमि के प्रति कृतज्ञता

देख रहा हूँ कि आप लोग दियासलाई की डिब्बी में सलाइयों की तरह एक-दूसरे पर ठसाठस भरे हैं, विवशता है। मैं आप सबके मनोरंजन के लिए एक छोटी कविता सुनाता हूँ। उन्होंने 'भर देते हो' शीर्षक कविता ताल-लय के साथ सुनायी कि सब लोग जैसे मन्त्र-मुग्ध हो गए। तब उन्होंने श्री जानकी वल्लभ शास्त्री से कविता सुनाने का आग्रह किया। शास्त्री जी ने निरालाजी की प्रसिद्ध कविता 'यमुना के प्रति' के कुछ पद संगीतमय स्वरों में सुनाये और वातावरण स्निग्ध शान्ति में परिणत हो गया। निराला जी ने पुनः 'शिवा जी का पत्र' कविता सुनायी और जनता पूर्ण तृप्त हो गई।

चन्दन-चर्चित करने के पश्चात् निराला को अभिनन्दन ग्रंथ अर्पित किया गया और समारोह समाप्त हुआ। जब तक निराला जी की मोटरकार चल नहीं पड़ी तब तक 'महाप्राण निराला की जय' ध्वनि से समस्त वायुमंडल मुखरित होता रहा।

दूसरे दिन कलकत्ते के मेयर श्री नरेशनाथ मुकर्जी की अध्यक्षता में मुहम्मद-अली पार्क में तीसरे पहर अभिनन्दन का आयोजन किया गया। लोगों को आशंका थी कि वृहत-स्थान में जनता की कमी के कारण कहीं समारोह हलका न पड़ जाय, पर वहाँ पहुँचते ही पता चला कि पूरा पार्क खचाखच भरा है और पार्क में न समा सकने के कारण भीड़ बाहर सड़क पर इतनी अधिक हो गई थी कि मोटरों, बसों का आना-जाना एकदम बन्द हो गया था। निराला के मंच पर पहुँचते ही जय के नारों से धरती और आकाश एक हो गये।

यह मेरा परम सौभाग्य था कि महाकवि को प्रणाम देने का सर्वप्रथम अवसर मुझे ही दिया गया। मैं भीड़, कोलाहल और विद्वत् समाज के बीच में अपनी अक्षमता से इतना आतंकित था कि मुझे यह भी स्मरण नहीं कि मैंने क्या कहा, किन्तु इतना तो स्पष्ट था कि निराला विषयक चर्चा सुनने को लोग इतने उत्सुक और उत्साह में थे कि मुझ जैसे नगण्य वक्ता की बातें भी उन्होंने बड़े धीरज और प्रेम के साथ सुनीं और सर्वथा शान्त बने रहे। श्री बेनीपुरी जी, श्री जोशी जी ने निराला-साहित्य का मार्मिक तथा प्रभावोत्पादक विश्लेषण-विवेचन करते हुये उनके कृतित्व और व्यक्तित्व की महनीयता का विस्तृत व्याख्यान किया।

जब महादेवी जी बोलने के लिये खड़ी हुईं तब तालियों की गड़गड़ाहट और निराला की मुस्कान का ताल-मेल देखने ही लायक था। निराला-साहित्य के सांस्कृतिक महत्व और उसकी विराट-व्यापक परिधि की चर्चा करते हुये उन्होंने हिन्दी को और निराला जैसी प्रतिभा के प्रतिदान के लिये बंगभूमि के प्रति कृतज्ञता

में भी निराला-प्रेमियों की बहुत बड़ी संख्या है। महादेवी जी, जोशी जी, दिनकर जी के साथ दक्षिण भारत की यात्रा में मैंने पाया कि नागपुर से लेकर कन्या कुमारी तक सभी जगह सरस्वती वन्दना में निराला की 'वीणा वादिनि वर दे' का प्रचार है और हर स्थान पर निराला-प्रेमियों की पर्याप्त संख्या भी पाई जाती है।

सन् १९५४ में 'गीत-गुन्ज' का प्रकाशन हुआ जो सन् '५६ में परिवर्द्धित रूप में सामने आया। भाषा, भाव और सम्प्रेषण की अबाध सहजता में 'गीत-गुन्ज' अराधना की परम्परा से ही मेल खाने वाली रचना है। निराला के प्रायः परवर्ती गीत जन-गीतों की ध्वनियों के निकट हैं। 'गीत-गुन्ज' में निराला ने काव्य को हृदय और छन्द का सम्बन्ध बताकर उसकी यथार्थता का भी संकेत किया है—

यदि मिला न तुमसे हृदय छन्द
तो एक गीत मत गाना तुम।

'गीत-गुन्ज' की एक विशेषता यह है कि प्रकृति के यथा तथ्य अंकन का इसमें आधिक्य है। प्रकृति की विराट भूमि में ज्ञान, प्रेम और सौन्दर्य की त्रिवेणी का जो उच्छल प्रवाह इन गीतों में मिलता है, वह अन्यत्र विरल है। प्रकृति और मानव के सहज सम्बन्ध की रचा का उपक्रम निराला-काव्य का मेरुदण्ड है, जो इन गीतों में भी सीधा और सुरक्षित है। सबसे बढ़कर बात यह है कि अन्य प्रकार के गीतों में निराला की क्रीड़ाप्रियता भी जहाँ कहीं परिलक्षित हो जाती है, पर प्रकृति के सौन्दर्य-चित्रण में वे कहीं किसी प्रकार भी शिथिल नहीं हुये। व्यापक प्राकृतिक दृश्यों और ऋतुओं के भिन्न वर्णी रूपों के प्रति उनका आन्तरिक आकर्षण जीवन के अन्त तक बराबर बना रहा।

वास्तव में सौन्दर्यबोध मानवीय 'चेतना' का—विशेषकर कवि-चेतना का उज्ज्वलतम वरदान है। इसी के माध्यम से कवि आत्मोपलब्धि अथवा सत्य के स्वरूप को ग्रहण करता है। प्रकृति का सौन्दर्य अपनी विशालता और उदात्तता में विश्वव्यापी होता है। मानव सौन्दर्य के आदर्शों में संस्कार, जाति तथा समय के विभेदों के कारण भेद भी हो सकते हैं; पर प्राकृतिक सौन्दर्य इन भेदों का अतिक्रमण कर सभी के लिए सदैव आनन्ददायक बना रहता है। वस्तुतः प्रकृति का सौन्दर्य ही सौन्दर्य का मूल स्रोत और आधार है। उसकी नित्य नवीनता उसे अन्य प्रकार के सौन्दर्य से भिन्न एक शाश्वत विशिष्टता प्रदान करती चलती है। यही कारण है कि जीवन परिष्कार और विकास के कृत

संकल्प मनीषी आदिकाल से वाह्य प्रकृति के साथ अपनी अन्तः प्रकृति का रागात्मक सम्बन्ध अनुभव करते आये हैं। प्रकृति यदि चित्त विरहित होती तो चित्त के साथ उसका ऐसा संबन्ध किसी प्रकार सम्भव ही न होता। आशय यह कि प्रकृति सौन्दर्य और चैतन्य से पूर्ण है और कवि को जीवन में सौन्दर्य और चैतन्य की निष्काम प्रतिष्ठा के लिये प्रकृति का सहारा लेना अनिवार्य है। सामूहिक आनन्द, विकास और मुक्ति-लाभ के ही लिये निराला अन्त तक प्रकृति की शीतल छाया का आश्रय ग्रहण करते रहे, क्योंकि सामूहिक जीवन की व्यवस्था के लिये जो आध्यात्मिक संदेश वे देना चाहते थे उसकी दिव्य-प्रेरणा केवल प्रकृति से ही ग्रहण की जा सकती थी। जान पड़ता है कि व्यक्तिगत जीवन की कटु-तिक्त अनुभूतियों की तीव्रता को शान्त करने के लिये भी निराला ने प्रकृति के शीतलोपचार का ही सहारा लिया है, किन्तु अधिकतर प्रकृति के प्रति उनके आन्तरिक आह्लाद की अभिव्यक्ति हुई है—

पड़ी चमेली की माला कल।
गमक उठा निशि का नभ मंडल।
कूजे कंठ, उठे आनत मुख,
मिले लोग अपने व्याकुल सुख,
स्वर्गाभास हुआ जग का दुख,
तारों के नभ, हारों के गल।

'गीत-गुंज' के कतिपय गीत निराला के पूर्ववर्ती प्रकृति-गीतों का स्मरण दिला जाते हैं—

श्याम गगन नव-घन मँडलाये।
कानन-गिरि-वन-आनन छाये।
लदे बाग आमों के परसे,
धानों के खेतों पर बरसे,
युवती निकली अपने घर से,
पुरवाई के झोंके खाये।

●

फिर नभ घन घहराये :
छाये, बादल छाये।
कौंधी चपला अलक-बन्ध की
परी प्रिया के मुख की छवि-सी,

बूंदों सुख के आंसू ढलकर
पृथ्वी के उर आये।

इन गीतों में यत्र-तत्र शृङ्गारिक भावना और दार्शनिक उद्बोधन का पक्ष उभर आया है, किन्तु अधिकतर गीत लोक-संवेद्य भाव-संवेदना से ही समृद्ध हैं।

अपने काव्य-सृजन मे प्रगति और प्रयोग की अनेक शैलियों को अपनाते हुए भी प्रकृति के प्रति आस्थावान बने रहने की क्षमता निराला के अकुंठित सौन्दर्य-बोध और उनकी प्रबुद्ध चेतना की ही साक्षी है। इन गीतों का चमत्कार तथा अलंकारहीन सौन्दर्य-अभिव्यञ्जन भावों की गहनता और मार्मिकता का अक्षय भण्डार है। लाक्षणिक वक्रताओं को छोड़कर अभिव्यञ्जना की सीधी-सरल प्रणाली का अपनाना आकस्मिक न होकर प्रौढ़ कवि की विकसनशील प्रतिभा का प्रमाण है। निराला के इन गीतों का भाव-स्वर व्यक्तिगत भाव-चेतना की अपेक्षा समष्टिगत भाव-भूमिका पर आरूढ़ हैं, इसलिये इनकी समीक्षा का वास्तविक आधार व्यक्तिगत गीत-शैली न होकर रससिक्त प्राचीन गीत-परम्परा ही हो सकती है। इन गीतों को हम सूर, तुलसी और विद्यापति की गीत-श्रेणी में रख सकते हैं। किन्तु इन्हें किसी सम्प्रदाय के भीतर आबद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि भक्ति के वैधानिक स्वरूप की अपेक्षा इन गीतों में कवि की स्वतंत्र भाव-साधना का स्वरूप ही प्रत्यक्ष होता है। निराला की इस उपलब्धि को हम जन-काव्य की प्राण-प्रतिष्ठा के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं। भाषा की सरल सुबोधता, भावों की अकृत्रिम सीधी अभिव्यञ्जना, प्रकृति के स्वच्छ सामान्य चित्र और गीतों की सहज गेयता के संदर्भ में इसे निराला-साहित्य का अभिनव आयाम और स्वाभाविक विकास ही माना जायगा, इसमें सन्देह नहीं। सच तो यह है कि निराला इन गीतों में केवल गीतकार ही नहीं वरन् गीतों के नये रूप के विधायक और विधाता भी हैं।

'गीत-गुंज' के बाद निराला की कोई कृति प्रकाशित नहीं हुई, परन्तु उनके सृजन का क्रम अंत तक सर्वथा स्थगित नहीं हुआ। पत्रों में कभी-कभी छुट-पुट गीत प्रकाशित होते रहते थे। स्वर्गारोहण के कुछ ही दिनों पूर्व लिखी उनकी अंतिम कविता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कहा जाता है कि उनके कुछ गीत अभी तक अप्रकाशित रूप में श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी के पास सुरक्षित हैं। उनकी कहानी 'विद्या' १९६२ में प्रकाशित 'निराला' नामक पत्र में छपी थी। इस कहानी में केवल दो पात्र हैं। पुरुष संस्कृत बोलता है और स्त्री अँग्रेजी बोलती है। भाषा के व्यवधान के कारण दोनों चाहते हुये भी प्रेम-बन्धन में

नहीं बँध पाते।

स्पष्ट है कि देशव्यापी भाषा-विवाद पर कवि ने मार्मिक व्यंग्य करने के उद्देश्य से ही इस कहानी की रचना की है। संस्कृत-अँग्रेजी भाषा पर कवि के समानाधिकार का आभास पाठकों को मिल जाता है। 'अन्तर वेद' के निराला स्मृति अंक में 'इन्दु लेखा' नामक उपन्यास रचना की भी चर्चा है, पर इस विषय की कोई और जानकारी सुलभ नहीं।

सन् १९५२ में उठी बाहु-पीड़ा बीच-बीच मे उभर उठती थी और निराला बेचैन हो जाते थे। सन् '५४ में डाक्टरों और वैद्यों ने बताया कि वे अस्थिगत संधिरोग से आक्रान्त हैं। इस प्रकार उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे गिरता जा रहा था, किन्तु न जाने क्यों वे दवा का नियमित प्रयोग नहीं करते थे। सन् '५५ में बाहु-पीड़ा का पुनः भीषण प्रकोप हुआ।

मैं एक दिन शाम को मिलने गया तो पड़े कराह रहे थे। स्वास्थ्य के लिये नियमित उपचार के आग्रह करने पर बोले—"पांडे ! तुम तो रियासत (स्टेट) के रहने वाले हो, तुम्हें यह जानना चाहिये कि हाथी के बैठान ले लेने पर उसे साँगे से नहीं उठाया जा सकता, फिर व्यर्थ में दवा-दारू की बात क्यों करते हो ? इतना समझे रहो कि हनुमान बाहुक भी असफल हो गया है, तब दवा क्या काम देगी ?"

उन्होंने आँखें मूँद लीं और थोड़ी देर में खर्राटे भरने लगे। श्री कमलाशंकर जी ने बताया कि वे पिछली रात सो नहीं सके। शायद सो गये। मैं 'गीत-गुंज' की ये पंक्तियाँ गुनता हुआ लौट आया—

मधुर मधुर मृत्यु मधुर।
सफल जन्म, कम्पित उर।

निराला की बाहु-पीड़ा और अस्वास्थ्य का समाचार देश भर में विद्युत्-गति से फैल गया। उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द से महाकवि की यथोचित परिचर्या के लिये एक शिष्ट-मंडल मिला और स्वास्थ्य-परीक्षा के लिये सरकारी डाक्टरों का एक दल नियुक्त हुआ, परन्तु निराला दवा कराने को किसी तरह तैयार नहीं हुये। घरेलू दवा और मालिश से '५५ का अंत होते-होते उनकी बाहु-पीड़ा भी शान्त हो गई।

बाहु-पीड़ा के कारण उनका शरीर दुर्बल और क्षीण अवश्य हो गया था, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से बाकी कोई और बीमारी नहीं जान पड़ती थी। सन् '५६ के हीरक जयंती समारोह के अवसर पर बड़े उत्साह के साथ मालवीय छात्रावास में

पधारे और कार्य-क्रम में भाग लिया। इन दिनों की एक बात विशेष उल्लेखनीय है। यों तो बीच-बीच में सर्वथा आत्मलीन हो जाने की उनकी पुरानी आदत थी, पर अब वे प्रायः भाव-समाधि की स्थिति में रहने लगे थे। कभी-कभी तो मिलने पर 'नमोनमः' के अतिरिक्त एक शब्द भी नहीं बोलते थे। स्वगत भी नहीं सुनाई पड़ता था। रविवार के दिन महाप्रसाद (मांसाहार) बाँटते समय आनंदोल्लास में मुखरित होने के अतिरिक्त शेष दिन प्रायः मौन ही प्रतीत होते थे।

सन् '५७ के ग्रीष्मावकाश से लौटने के बाद अगस्त में मिलने गया तो उन्हें स्वस्थ और प्रसन्न मुद्रा में देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। चलते समय उन्होंने कहा—"इधर देवी जी से मुलाकात नहीं हो सकी, दो-तीन दिन के भीतर ही भेंट करूँगा।"

सम्भवतः दूसरे ही दिन वे शाम को देवी जी के निवास पर आ पहुँचे। देवी जी को देखते ही बोले—"आप को एक कवि सम्मेलन में ले चलना चाहता हूँ।' देवी जी ने सहज उत्तर दिया—"आप तो जानते हैं कि मैं कवि सम्मेलन में नहीं जाती। आप का भी स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, इधर-उधर जाने में कष्ट बढ़ सकता है।" निराला जी ने तनिक संकोच के साथ कहा—"बहुत दूर नहीं, फतेहपुर तक जाना है। जनता में स्वतंत्रता-दिवस के उत्साह की असलियत जानना चाहता हूँ। इस बार तो जाना ही है। पाँड़े को भी ले ही जाना है।"

चाय-पान के बाद जब वे चलने लगे तो मैं फाटक तक उन्हें छोड़ने के लिये उनके साथ ही चल पड़ा। उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा—"परसों तीन बजे शाम दारागंज पहुँच जाना, वहाँ से साथ ही स्टेशन चलेंगे। गाड़ी करीब साढ़े चार बजे छूटती है। भूलना मत, मैं वचनबद्ध हूँ।

मेरा जाने का मन नहीं था, किन्तु निराला के आग्रह भरे आदेश की उपेक्षा भी सम्भव नहीं थी इसलिये मैंने अनमने भाव से साथ जाने की हामी भर ली और गया भी। इधर कुछ दिनों से मैं देख रहा था कि निराला की मनोस्थिति आकुलि और किलात प्रेरित एवं प्रचारित मनु की मनोदशा से समता करने लायक हो गई थी। जिस प्रकार मनु पाक-यज्ञ छोड़ कर बलि-यज्ञ के लिये ललक उठा था उसी प्रकार निराला भी मांस-मदिरा के प्रति सतत उत्सुक रहने लगे थे। फतेहपुर की यात्रा के परिणाम-स्वरूप मेरी यह धारणा और भी अधिक प्रमाणित और दृढ़ हो गई।

निराला के नाम पर स्थानीय लक्ष्मी टाकीज का हाल ठसाठस भर गया था। मंच पर निराला एक आरामकुर्सी पर बैठे और जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल की

अध्यक्षता में कवि सम्मेलन का प्रारम्भ हुआ। भीड़ के कारण शोर बहुत हो रहा था। निराला सहसा उठे और दो वाक्य अँग्रेजी के बोल कर हिन्दी में जनता से शान्त रहने का आग्रह करते हुये 'शिवाजी का पत्र' सस्वर सुनाया कि हाल में सनाका छा गया। तब अन्य कवियों ने अपनी रचनायें सुनायीं। प्रायः १२ बजे रात कवि-सम्मेलन समाप्त हुआ। इसके पश्चात भोजन की व्यवस्था में मांस-मदिरा की माँग के कारण अप्रत्याशित विलम्ब होते देखकर मैंने सीधे स्टेशन की राह ली और मेरे पीछे वहाँ क्या हुआ यह भगवान ही जाने।

समय और औचित्य का ध्यान रखते हुये निराला मांस-मदिरा का सेवन बहुत पहले से ही करते आ रहे थे, परन्तु अब उसे वे एक ऐसी सामाजिकता देने पर उतारू थे जो अधिकतर लोगों को अप्रिय तथा अनुचित जान पड़ती थी। बहुत से लोगों ने इसे निराला की निर्भीकता और उनके सामाजिक विद्रोह का प्रतीक माना है, पर मैं ऐसा नहीं मानता। यह सच है कि निराला कृत्रिम-दिखावटी व्यवहार के प्रति आजीवन विद्रोही रहे और बहुत बार खान-पान के व्यवहार में उनका यह विद्रोह स्पष्ट होता रहा पर अस्वास्थ्य की इस स्थिति मे खान-पान का यह अतिचार किसी भी प्रकार औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। वास्तव में इस समय वे ऐसे व्यक्तियों से घिर गये थे जो उन्हें अपनी लोलुपता के लिये ऐसे कार्यों की उत्तेजना देते रहते थे। करुण विवशता की यह स्थिति अत्यंत भयानक थी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यह कितने दुख की बात है कि भोजन का यही अतिचार अन्त में उनके शरीरांत का भी कारण बना। श्री कमला शंकर जो के शब्दों में इसका प्रमाण प्रस्तुत है—'निराला जी सामिष भोजन बनाने में पारंगत थे। बीमारी के दिनों में भी प्रति रविवार को महाप्रसाद पकाने और उसे प्रियजनों को खिलाने में आनन्द लेते थे। डाक्टर के बार-बार मना करने पर भी वह इतना श्रम करते ही थे। १३ अक्टूबर को वह दो बजे तक चार घन्टे लगातार महाप्रसाद बनाने में लगे रहे। कुर्सी से उठ-उठकर जब चूल्हे में लकड़ी बढ़ा कर वह आँच लगाने लगते तब उनका हार्निया पेट से नीचे की ओर बार-बार लटक आता था।'

उन दिनों निराला स्वयं मांस नहीं खाते थे, केवल औरों को ही खिलाते थे पर उस दिन—'थोड़ा महाप्रसाद उन्होंने स्वयं भी पा लिया। यही उनका अंतिम भोजन था। शाम को ६-७ बजे उन्हें कष्ट का अनुभव होने लगा।' १५ अक्टूबर को प्रातः ९-२३ पर उनका स्वर्गवास हो गया। अस्तु, जो होना था सो

हो चुका। अब इस विषय में निराला को तथा मांस-प्रेमी उनके प्रियजनों को कुछ भी कहना व्यर्थ है।

फतेहपुर से लौटने के बाद प्रायः दो माह तक मैं दारागंज नहीं गया, तब निराला जी एक दिन आये और कभी-कभी मिलते रहने का आदेश देकर चले गये। मैं इतवार के दिन पहुँचा तो देखा कि वे अपने प्रियजनों से घिरे बैठे हैं। आओ, आओ, कहकर निराला जी चुप हो गये परन्तु चेष्टा, दृष्टि और काना-फूसी से ऐसा लगा कि उनके प्रियजनों को मेरा वहाँ जाना अत्यन्त अप्रिय लगा। तमाखू खिलाने के बाद निराला मुस्कराते हुये चौके की ओर चले गये और मैं वापस चला आया। बीच रास्ते में एक साइकिल तेजी से आयी और मेरा रिक्शा रोकते हुये सामने खड़ी हो गई। उस पर आसीन सज्जन बोले—"बुरा मत मानियेगा, पर आप यदि महाकवि के पास इतवार को न आया करें तो अच्छा है। आपको मालूम होना चाहिये कि महाकवि शाक्त हैं। रविवार उनकी शक्ति-साधना का दिन है। आपको कहीं कोई हानि न पहुँच जाय इसलिये मैंने सावधान कर दिया, यों मर्जी आपकी।"

मैंने इसे सुना, गुना और चुप रहा। रविवार का जाना भी छोड़ दिया। दूसरे दिनों जाने पर भी मुझे ऐसा लगा कि इस शक्ति-साधना में समय और तिथि-दिन का कोई व्यवधान नहीं, केवल सुविधा का ही महत्व है। फिर भी मैं निरन्तर कभी-कभी जाता-आता रहा। इतना अन्तर तो अवश्य ही आ गया कि पहले यदि प्रति सप्ताह जाता था तो अब जाने का समय एक माह, दो माह और कभी-कभी तीन माह की लम्बी अवधि तक खिंच जाता था। उन दिनों निराला को लेकर पत्र-पत्रिकाओं में जो विडम्बना का बवण्डर उठा था उसमें शाक्त-वैष्णव द्वन्द्व की उत्तेजना भरना मेरा उद्देश्य भी नहीं हो सकता था। मैं क्रमशः तटस्थ होता गया, क्योंकि मेरे पास कोई दूसरा उपाय भी नहीं था। निराला की दीनता के बखान के साथ उनके लिये दान की अपील पर यद्यपि मैंने कभी हस्ताक्षर नहीं किये, परन्तु ऐसी अपील को प्रकाशित देखकर जो पीड़ा होती थी वह वर्णनातीत है। आचार्य वाजपेयी ने बड़े पते की बात लिखी है—'निराला जी के विवश और व्याधिग्रस्त क्षणों को लेकर कुछ लोग उन्हें अपदस्थ करने और उनकी खिल्ली उड़ाने का दुष्कर्म भी करते रहे हैं। ऐसे लोगों को निराला जी के उन तथाकथित 'भक्तों' के अचिंतित वक्तव्यों से सहायता मिलती रही है। अच्छाई केवल इतनी ही थी कि निराला पत्र-पत्रिकायें नहीं पढ़ते थे अन्यथा उनकी जो दशा होती उसकी कल्पना करना भी कठिन है।

सितम्बर '५६ में स्वर्गीय राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त प्रयाग आये और महादेवी जो के यहाँ ठहरे। निराला भी उनसे मिलने आये। परस्पर कुशल-प्रसन्न पूछने के बाद दोनों महाकवियों में बड़ी देर तक बहुत प्रकार की बातें होती रहीं। गुप्त-जी ने छेड़-छाड़ शुरू की—"महाराज हम साग-पात खाने वाले प्राणी बीमार और दुबले-पतले दिखें तो दिखें, पर आप लोग मुर्ग-मुसल्लम वाले भी वैसे ही हैं।" निराला जी ने कहा—"आजकल हम खान-पान में, लिखने-पढ़ने में आपके ही अनुगामी हैं। साग-पात खाते हैं, भजन लिखते हैं। आपकी सहज उपलब्धि की हमें भी खोज है।" गुप्त जी जैसे कुछ संकुचित होकर बोले—"अरे महाराज, हमारी उपलब्धि तो आप सबकी कृपा है। आपकी 'अर्चना', 'आराधना' के गीत हमें बहुत अच्छे लगते हैं। आपकी तो हमने सभी तरह की रचनाएँ आपके मुख से सुनी हैं। एक भजन भी सुनाइये न? फिर न जाने कब भेंट हो न हो।" निराला जी ने उनका आग्रह स्वीकार कर लिया और अर्चना का एक गीत—'भजन कर हरि के चरण मन,' इतनी तन्मयता से गाकर सुनाया कि गुप्त जी ने सजल नेत्र होकर निराला को गले से लगा लिया।

श्रद्धा, प्रेम और करुणा की उस त्रिवेणी का स्नान प्रयाग मे प्रथम बार सुलभ हुआ। चलते समय गुप्त जी ने निराला जी से अत्यंत स्नेह के साथ कहा—"निराला जी अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखिये। अभी आपको राष्ट्र और राष्ट्र भाषा के लिये बहुत कुछ करना है।" निराला के ओझल होते ही गुप्त जी ने देवी जी से कहा—"दीदी, आज से हम भी मान गये कि निराला को पागल कहने वाले स्वयं पगले हैं। ऐसे पहुँचे हुये संतों को लोगों ने सब दिन पागल ही तो कहा है। संसार विचित्र है।" देवी जी ने अनुमोदन किया—"कुछ न कहिये दद्दा! हमारे यहाँ की स्थूल आचार-प्रणाली और जातीयता की भावना बड़ी ही विलक्षण है। एक सज्जन को निराला जी की रविदास के प्रति लिखी ये पंक्तियाँ भी सामाजिक मर्यादा और वर्ण-व्यवस्था के लिये घातक और अनुचित जान पड़ती हैं—

ज्ञान-गंगा में समुज्ज्वल चर्मकार,
चरण छू कर कर रहा मै नमस्कार।

सम्भवत: इसके बाद निराला जी अंत तक दारागंज के बाहर नहीं निकले। सन् '६० की वसंत पंचमी के अवसर पर केवल एक दिन के लिये बनारस मोटर से गये और वापस आ गये। यही उनकी अंतिम यात्रा थी। अगस्त सन् '६० में सहसा उनकी तबियत बहुत खराब हो गई, पर सँभल गये। अक्टूबर के प्रारम्भ

से ही स्वास्थ्य तेजी के साथ गिरने लगा और वे शोथ-ज्वर और खाँसी से अत्यंत पीड़ित हो गये। पेट और पैर में सूजन, दुबले हाथ और धँसी आँखें उनके सुदृढ़ विशाल शरीर को कारुणिक रूप देने में समर्थ हो गये थे। सेवा, दवा और संयम से कुछ सुधार अवश्य हुआ, पर इसके बाद वे पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो सके, थोड़ा स्वस्थ होने पर वे दवा छोड़ देते थे और बीमार पड़ जाते थे। उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानंद ने निराला जी से भेंट की और उनकी दवा की यथोचित व्यवस्था कर दी। इस प्रकार उनकी बाधायें कुछ दिनों के लिये प्रायः शान्त सी हो गई।

जौलाई '६१ से पैरों में पुनः सूजन बढ़ने लगी। स्थानीय डाक्टरों के अतिरिक्त लखनऊ-कानपुर से भी डाक्टर आये और महाकवि के स्वास्थ्य की परीक्षा की। अगस्त में एक दिन उनको इतना कष्ट हुआ कि डाक्टरों की दवा न खाने का उन्होंने निश्चय कर लिया।

एक दिन मैंने बहुत गिड़गिड़ाते हुये कहा—"निराला जी अब यौवन के दिन तो हैं नहीं कि अपनी शक्ति से आप ठीक हो जायँ, अब तो दवा का सहारा लेना अनिवार्य है।" उन्होंने आवेश के साथ कहा—"ये डाक्टर दवा कहाँ देते हैं। जहर देते है जहर, और जहर से मरने के बजाय रोग से मरना अच्छा है।"

कमला शंकर जी के आग्रह और डा० बी० बी० दास तथा डा० वृजबिहारी लाल के सम्यक उपचार से सूजन में कमी आ गई और निराला अपेक्षाकृत स्वस्थ और प्रसन्न दिखने लगे। विजयदशमी के अवसर पर घर जाने के पहले मैं उनसे मिला तो वे प्रायः स्वस्थ जान पड़ते थे। कहने लगे—"इन दिनों चित्रकूट क्षेत्र में जगह-जगह रामलीला का दृश्य देखने लायक होता है। एक बार मैंने भी हनुमान का पार्ट अदा किया था। आज भी सुतीक्ष्ण की भूमिका में तो उतर ही सकता हूँ।"

मैं घर चला गया। मुझे इसकी कल्पना भी नहीं थी कि यह भेंट निराला जी से अंतिम भेंट सिद्ध होगी।

१३ अक्टूबर की उस दुर्घटना से, जिसका उल्लेख ऊपर कर चुका हूँ, निराला जी की स्थिति चिंताजनक हो गई और १५ अक्टूबर, १९६१ को प्रातःकाल ९-२३ पर उनका स्वर्गवास हो गया।

कमला शंकर जी के लेख और पत्र-पत्रिकाओं से पता चलता है कि उस दिन नगर में प्रधानमंत्री नेहरू, केन्द्रीय गृहमंत्री शास्त्री तथा उत्तर प्रदेश के मुख्य-मंत्री गुप्त जी आदि उपस्थित थे और निराला की चिंताजनक स्थिति का समाचार

पत्रों में प्रकाशित हो चुका था पर इनमें से किसी ने किसी प्रकार की चिंता अथवा उत्सुकता नहीं प्रकट की, यह महान दुख और आश्चर्य की बात है। स्वतंत्र राष्ट्र मे राजनीतिकों और साहित्यकों के बीच ऐसा अलगाव और ऐसी उदासीनता कितनी लज्जास्पद और घातक होती है, यह कहने की बात नहीं।

निराला का पार्थिव व्यक्तित्व यद्यपि हमारे बीच नहीं है, पर उनका साहित्यिक व्यक्तित्व युग-युगों तक हमारे बीच स्थिर रह कर हमें प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहेगा, इसमें सन्देह नहीं है।

निराला जीवन की जिस भाव-धारा से सम्बंधित थे उसमें मृत्यु अनंत जीवन का एक लघु पद-विन्यास तथा परम सिद्धि का साधन-मात्र है। उन्होंने लिखा है—

दे, मैं करूँ वरण
जननि, दुख हरण पद-राग-रंजित मरण।
लांछना ईंधन, हृदय-तल जले अनल,
भक्ति-नत-नयन मैं चलूँ अविरत सबल
पार कर जीवन-प्रलोभन समुपकरण।

उनकी दृढ़ आस्था थी कि—

मरण को जिसने बरा है
उसी ने जीवन भरा है।
परा भी उसकी, उसी के
अंक सत्य यशोधरा है।

अस्तु, उनकी मृत्यु को हम उन्हीं के शब्दों में 'पूर्ण-आलोक-वरण' और 'ज्योतिः शरण' के अतिरिक्त और कह ही क्या सकते हैं?

निराला काव्य चित्रावली | २

निराला ने अनुभव किया कि 'हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जित रक और भी विराट् भावनायें मिलनी चाहिये। इतने ही से उसका दैन्य दूर नहीं होता, और न अभी उसकी दिगंत पुष्टि ही हुई है। जैसा भी कारण हो, हिन्दी के नवीन पद्य-साहित्य में विराट् चित्रों के खींचने की तरफ कवियों का उतना ध्यान नहीं, जितना छोटे-छोटे चित्रों की ओर है। युक्त प्रान्त, विहार, मध्य प्रदेश आदि एक ऐसी प्रकृति की गोद में हैं, जहाँ विराट् दृश्यों की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषतः सूझते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं। साहित्य में साहित्य के हृदय को दिगंत व्याप्त करने के लिये विराट् रूपों की प्रतिष्ठा करना अत्यंत आवश्यक है। अवश्य छोटे रूपों के प्रति यहाँ कोई द्वेष नहीं दिखलाया जा रहा। रूप की सार्थक लघु-विराट् कल्पनायें संसार के सुन्दरतम रंगों से जिस तरह अंकित हैं, उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप मे सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सब से अच्छा निष्कर्ष।'

और वे स्वयं इस अभाव की पूर्ति में जुट गये। अपने काव्य में निराला ने लघु-विराट् रूप एवं भाव-चित्रों की ऐसी चित्रशाला सजायी है जिसकी परिणति सर्वव्यापी अरूप सार्थकता को ग्रहण करने में सहज ही सफल है। कवि के इन चित्रों को देख कर, समझकर उसके कला-कौशल के प्रति विस्मित तथा मुग्ध होने के अतिरिक्त कोई दूसरी प्रतिक्रिया सम्भव ही नहीं है। यदि तीव्रता, गहनता और विराटता के निस्संग चित्रण की भूमिका आधुनिक काव्य का विवेचन किया जाय तो निराला के सहयात्री कम ही मिलेंगे। यों तो छोटे-बड़े रूपों, भावों की अभिव्यक्ति मात्र उतनी साधना साध्य नहीं, जितनी उनके सम्यक् प्रभाव के चित्रण की सफलता। शब्दों द्वारा चित्रों का रेखांकन करना और फिर शब्दों ही द्वारा उनमें यथाक्रम उपयुक्त रंग भरना, वस्तु निष्ठा और भाव के जिस समीकरण की अनिवार्यता पर आधारित है वह साधारण कला-साधना की क्षमता से परे है। निराला के काव्य में यह चित्रमत्ता पूर्णता का स्पर्श करती जान पड़ती है। स्वभाव सुकुमार लालित्य और उद्दीप्त ओजस्वी

लावण्य में मुखरित निराला के काव्य-चित्र अपने सौन्दर्य और प्रभाव में अचूक और असाधारण हैं। स्थूल भौतिक और सूक्ष्म आध्यात्मिक रूप, भाव, वातावरण और मनोस्थितियों के जो चित्र निराला ने चित्रित किये हैं, उनकी जोड़ खोजना कठिन है।

'भिक्षुक', 'विधवा', 'संध्या सुन्दरी', 'राम की शक्ति-पूजा', 'वन बेला', 'सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति,' 'तोड़ती पत्थर', 'तुलसीदास' आदि अनेक कविताओं में रूप और भाव के चित्रों का अत्यंत सजीव अंकन हुआ है। 'प्रेयसी' और 'रेखा' में कवि ने नर-नारी के प्रणय-मिलन को इतने तटस्थ ढंग से चित्रित किया है कि आश्चर्य होता है। शून्य तथा नीलिमा के मिलन से उपमित करते हुये उसे ज्योति छवि से ज्योति छवि का मिलन रूपक देकर जिस दिव्य धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है वहाँ 'प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई' है।

निराला के देश, काल, पात्र तथा प्रकृति के रूप-भाव चित्रों की विशेषता का विश्लेषण-विवेचन करके उन चित्रों को ही पाठकों के सामने उपस्थित कर देना अधिक सुन्दर तथा समीचीन जान पड़ता है, क्योंकि चित्रों का सौन्दर्य सत्य होता है न कि उसकी विज्ञप्ति, अस्तु—

स्थूल आधार पर अंकित रूप-चित्र—

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुये पेट को चलते,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।—भिक्षुक

●

वह तोड़ती पत्थर
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन;
गुरु हथौड़ा हाथ, करती बार-बार प्रहार,
सामने तरु-मालिका अट्टालिका प्राकार! —तोड़ती पत्थर

हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक् चली मन्द मराल। —गीतिका

●

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना।
मन्द मलय भर अंग-गंध मृदु,
बादल अलकावलि कुञ्चित ऋजु;
तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु—
सुकृत-पुञ्ज-अशना। —चाँदनी (गीतिका)

●

निरुपमे नव वेश !
चकित चपला के नयन नव,
देखती हो भू-शयन तव,
मन्द-लहरा-पट-पवन, रव
छा रहा सब देश। —पावस (गीतिका)

●

यह सान्ध्य समय
प्रलय का दृश्य भरता अम्बर,
पीताभ अग्निमय, ज्यों दुर्जय,
निर्धूम, निरभ्र दिगन्त प्रसर,
कर भस्मीभूत समस्त विश्व को एक शेष,
उड़ रही धूल नीचे अदृश्य हो रहा देश। —ग्रीष्म (व वे ला)

सूक्ष्म आधार पर अंकित भाव-रूप चित्र—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृतिरेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन। —विधवा

●

भारति, जय, विजय-करे।
कनक-शस्य-कमल धरे।
लंका पद तल—शतदल

गर्जितोर्मि सागर-जल—
धोता शुचि चरण युगल
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे । —गीतिका

●

बह चली अब अलि, शिशिर समीर ।
काँपी भीरु मृणालवृन्त पर
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर,
प्रात-अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर । —गीतिका

●

अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी-नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली !— संध्या सुन्दरी

विराट् चित्र—

व्योम-मण्डल में—जगतीतल में—
सोते शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में
धीर वीर गम्भीर शिखर पर हिम गिरि अटल-अचल में
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में
क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा 'चुप चुप चुप'
है गूंज रहा सब कहीं । —संध्या सुन्दरी

●

रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत चरण,
शलथ धनु-गुण है, कटि-बन्ध त्रस्त-तूणीर-धरण,
दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार । —राम की शक्तिपूजा

देखो बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत हरित-गुल्म-तृण से सुन्दर,
पार्वती, कल्पना है इसकी, मकरन्द-बिन्दु;
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु,
दश दिक् समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महा-भाव मङ्गल पदतल धँस रहा गर्व—
मानव के मन का असुर मंद, हो रहा खर्व !

—राम की शक्तिपूजा

●

यह श्री पावन, गृहिणी उदार
गिरि-वर उरोज, सरि पयो धार,
कर वन-तरु, फैला फल निहारती होती;
सब जीवों पर है एक दृष्टि,
तृण-तृण पर उसकी सुधा वृष्टि;
प्रेयसी, बदलती वसन सृष्टि नव लेती। —तुलसीदास

●

देखा, शारदा नील-वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन-समीर शुचि निःश्वसना, वरदात्री;
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर
फूटीं वर अमृताक्षर—निर्झर
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री।

—तुलसीदास

इस प्रकार के अन्य अनेक चित्र निराला-काव्य में चित्रित हैं, परन्तु विस्तार-भय से उन सब का प्रदर्शन यहाँ सम्भव नहीं है। निराला-काव्य के पारायण के साथ उन चित्रों का सौन्दर्य-दर्शन पाठकों के लिये सदैव सुलभ रहेगा। मैं तो केवल यही कहता हूँ—

रही आज मन में,
वह शोभा जो देखी थी वन में।
उमड़े ऊपर नव घन, घूम-घूम अम्बर,

नीचे लहराता वन, हरित श्याम सागर;
उड़ा वसन बहती रे पवन तेज क्षण में।
नदी तीर, श्रावण तट नीर छाप बहता,
नील डोर का हिंडोर चढ़ी पेंग रहता,
गीत-मुखर तुम नव-स्वर विद्युत ज्यों घन में।
साथ-साथ नृत्य परा कलि-कलि की अप्सरा,
ताल लताएँ देतीं करतल-पल्लव धरा,
भक्त मोर चरणों के नीचे, नत तन में।

●

अस्ता चल रवि, जल छलछल-छवि,
स्तब्ध विश्वकवि, जीवन उन्मन;
मन्द पवन बहती सुधि रह-रह
परिमल की कह कथा पुरातन।
दूर नदी पर नौका सुन्दर
बीखी मृदुतर बहती ज्यों स्वर,
वहाँ स्नेह की प्रतनु देह की
बिना गेह की बैठी नूतन।
ऊपर शोभित मेघ छत्र सित;
नीचे अमित नील जल बोलित,
ध्यान-नयन मन-चिन्त्य-प्राण-धन;
किया शेष रवि ने कर अर्पण!

● ● ●

युग प्रवर्तक कवि निराला | ३

महादेवी जी ने लिखा है—भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युग-प्रवर्तक साहित्यकार प्राप्त होता है। भाव में कोई मार्मिक परिष्कार लाना, ज्ञान में कुछ सर्वथा नवीन जोड़ना, अथवा कर्म में कोई नवीन लक्ष्य देना, अपने आप में बड़े काम हैं अवश्य; परन्तु जीवन तो इन सब का सामञ्जस्यपूर्ण संघात है, किसी एक में सीमित और दूसरों से विच्छिन्न नहीं। बुद्धि, हृदय अथवा कर्म के अलग-अलग लक्ष्य संसार को दार्शनिक, कलाकार या सुधारक दे सकते हैं, परन्तु इन सब की समग्रता नहीं। जो जीवन को सब ओर से एक साथ स्पर्श कर सकता है उस व्यक्ति को युग-जीवन अपनी सम्पूर्णता के लिये स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है। और ऐसा, व्यापकता मे मार्मिक स्पर्श साहित्य में जितना सुलभ है उतना अन्यत्र नहीं। इसी से मानवता की यात्रा में साहित्यकार जितना प्रिय और दूरगामी साथी होता है उतना केवल दार्शनिक, वैज्ञानिक या सुधारक नहीं हो पाता।

निराला मानवता के ऐसे ही सहयात्री एवं प्रिय साथी थे। उनका साहित्य पारस निर्मित उस विशाल अडिग भूधर के समान था, जो अपने स्पर्श के निकट मानवता के लौह परमाणुओं को तो स्वर्ण बनाता ही है, अपने से दूर अपरिचित तथा अनदेखे प्राणों के संतृप्ति-सिंचन के लिये संवेदना, करुणा और सहानुभूति की अपराजेय स्रोतस्विनी का अखिल प्रवाह भी प्रसारित करता है। जिस प्रकार पर्वत-पुत्र होकर भी प्रपात को अपनी सहोदरा शिलाओं से टक्कर लेनी पड़ती है, संघर्ष करना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्यकार—सृजन मनीषी, युग-प्रवर्तक द्रष्टा को भी समाज की रूढ़ि, उसकी जड़-पाषाणी प्रवृत्तियों से जूझना ही पड़ता है। आशय यह कि गति के लिये, वांछित विकास के लिये, व्यापक प्रसार के लिये संघर्ष आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। जिस प्रकार माँ को संसति-सुख के साथ प्रसव-पीड़ा को अपनाना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्य समाज को सुखी तथा सम्पन्न बनाते हुये उसमें उद्वेलन तथा वेदन का भी संचार करता है। जिस युग में समाज की जड़ता का स्तर जितना ही रूढ़ एवं कठोर होता है उस युग के साहित्य को उतना ही भीषण संघर्ष भी करना पड़ता है। पहाड़ आगे-पीछे टूटकर

नदी को पथ प्रदान नहीं करता बल्कि नदी का प्रवाह ही अपने प्रवेग से पहाड़ को चीरता-फाड़ता अपना पथ प्रशस्त करता है।

निराला का सम्पूर्ण जीवन तथा साहित्य संघर्ष-प्रस्फुटित, आवेगपूर्ण सर्वप्लवी ऐसा प्रवाह था, जो न केवल स्वेदकणों से वरन् अपने रक्त-कणों से उसकी गति और विस्तार में गहनता एवं तीव्रता भरता चलता था। जीवन की कठिनतम कराल-कठोर परिस्थितियाँ, विरोध के चक्रव्यूह, उपेक्षापूर्ण अनर्गल आरोप तथा अविवेकजनित उपहास साहित्यकार के जीवन-स्वर्ण-साहित्य को कसने की काली करतूतें मात्र हैं, उसकी अबाध स्वच्छंद गति को बाँधने वाली बेड़ियाँ नहीं। निराला का बहुमुखी विशाल-विराट सृजन इसका अजर-अमर साक्षी है।

सच तो यह है कि जो साहित्यकार युग की संस्कार-च्युत, रूढ़ तथा अधोमुखी बाधाओं के हलाहल को पीकर उसे अपने आत्मरस से अमृत में बदल देने की क्षमता और शक्ति नहीं रखता उसे युग-प्रवर्तक का शिवत्व भी नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि शिवत्व की गरिमा ग्रहण करने के लिये विषपान आवश्यक है। निराला इस गरिमा से मंडित हैं, अपने युग के शिव हैं। उन्होंने घोषणा भी की है—

और कोई, कवि, तुम, एक तुम्हीं,
बार-बार, झेलते सहस्रों वार
निर्मम संसार के।
शरत्-हेमन्त-शिशिर पिक प्रिय वसंत की,
नश्वरता को करते अविनश्वर तत्काल
तुम अपने ही अमृत के
पावन-मृदु-सिंचन से!

वास्तव में सर्जनात्मक शुचिता, शक्ति, साधना और व्यापक सारल्य की गतिशीलता में जीवन के सारे संघर्ष और द्वन्द्व प्रवाह में पड़े पत्थर की तरह स्निग्ध-स्वच्छ होकर विम्ब-प्रतिविम्ब का रूप ग्रहण कर सृजन के उत्कर्ष और विकास में सहायक बन जाते हैं। पथरीले प्रवाह का पानी अधिक स्वच्छ और शक्तिशाली होता है। वस्तुतः सृष्टि की गति के लिये, उसकी सार्थकता और सफलता के लिये विरोधी तत्वों की स्थिति अनिवार्य रहती है।

अर्द्धनारीश्वर के रूपक में प्रकृति और पुरुष, नर और नारी एक दूसरे से मिले हुये रहते हैं। प्रकृति और पुरुष मुक्ति के अर्थ में, नर और नारी भुक्ति के

युग प्रवर्तक कवि निराला | ३

महादेवी जी ने लिखा है—भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युग-प्रवर्तक साहित्यकार प्राप्त होता है। भाव में कोई मार्मिक परिष्कार लाना, ज्ञान में कुछ सर्वथा नवीन जोड़ना, अथवा कर्म में कोई नवीन लक्ष्य देना, अपने आप में बड़े काम हैं अवश्य; परन्तु जीवन तो इन सब का सामञ्जस्यपूर्ण संघात है, किसी एक में सीमित और दूसरों से विच्छिन्न नहीं। बुद्धि, हृदय अथवा कर्म के अलग-अलग लक्ष्य संसार को दार्शनिक, कलाकार या सुधारक दे सकते हैं, परन्तु इन सब की समग्रता नहीं। जो जीवन को सब ओर से एक साथ स्पर्श कर सकता है उस व्यक्ति को युग-जीवन अपनी सम्पूर्णता के लिये स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है। और ऐसा, व्यापकता में मार्मिक स्पर्श साहित्य में जितना सुलभ है उतना अन्यत्र नहीं। इसी से मानवता की यात्रा में साहित्यकार जितना प्रिय और दूरगामी साथी होता है उतना केवल दार्शनिक, वैज्ञानिक या सुधारक नहीं हो पाता।

निराला मानवता के ऐसे ही सहयात्री एवं प्रिय साथी थे। उनका साहित्य पारस निर्मित उस विशाल अडिग भूधर के समान था, जो अपने स्पर्श के निकट मानवता के लौह परमाणुओं को तो स्वर्ण बनाता ही है, अपने से दूर अपरिचित तथा अनदेखे प्राणों के संतृप्ति-सिंचन के लिये संवेदना, करुणा और सहानुभूति की अपराजेय स्रोतस्विनी का अखिल प्रवाह भी प्रसारित करता है। जिस प्रकार पर्वत-पुत्र होकर भी प्रपात को अपनी सहोदरा शिलाओं से टक्कर लेनी पड़ती है, संघर्ष करना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्यकार—सृजन मनीषी, युग-प्रवर्तक द्रष्टा को भी समाज की रूढ़ि, उसकी जड़-पाषाणी प्रवृत्तियों से जूझना ही पड़ता है। आशय यह कि गति के लिये, वांछित विकास के लिये, व्यापक प्रसार के लिये संघर्ष आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। जिस प्रकार माँ को संसृति-सुख के साथ प्रसव-पीड़ा को अपनाना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्य समाज को सुखी तथा सम्पन्न बनाते हुये उसमें उद्वेलन तथा वेदन का भी संचार करता है। जिस युग में समाज की जड़ता का स्तर जितना ही रूढ़ एवं कठोर होता है उस युग के साहित्य को उससे उतना ही भीषण संघर्ष भी करना पड़ता है। पहाड़ आगे-पीछे हटकर

नदी को पथ प्रदान नहीं करता बल्कि नदी का प्रवाह ही अपने प्रवेग से पहाड़ को चीरता-फाड़ता अपना पथ प्रशस्त करता है।

निराला का सम्पूर्ण जीवन तथा साहित्य संघर्ष-प्रस्फुटित, आवेगपूर्ण सर्वप्लवी ऐसा प्रवाह था, जो न केवल स्वेदकणों से वरन् अपने रक्त-कणों से उसकी गति और विस्तार में गहनता एवं तीव्रता भरता चलता था। जीवन की कठिनतम कराल-कठोर परिस्थितियाँ, विरोध के चक्रव्यूह, उपेक्षापूर्ण अनर्गल आरोप तथा अविवेकजनित उपहास साहित्यकार के जीवन-स्वर्ण-साहित्य को कसने की काली करतूतें मात्र हैं, उसकी अबाध स्वच्छंद गति को बाँधने वाली बेड़ियाँ नहीं। निराला का बहुमुखी विशाल-विराट सृजन इसका अजर-अमर साक्षी है।

सच तो यह है कि जो साहित्यकार युग की संस्कार-च्युत, रूढ़ तथा अधोमुखी बाधाओं के हलाहल को पीकर उसे अपने आत्मरस से अमृत में बदल देने की क्षमता और शक्ति नहीं रखता उसे युग-प्रवर्तक का शिवत्व भी नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि शिवत्व की गरिमा ग्रहण करने के लिये विषपान आवश्यक है। निराला इस गरिमा से मंडित हैं, अपने युग के शिव हैं। उन्होंने घोषणा भी की है—

और कोई, कवि, तुम, एक तुम्हीं,
बार-बार, झेलते सहस्रों वार
निर्मम संसार के।
शरत्-हेमन्त-शिशिर पिक प्रिय वसंत की,
नश्वरता को करते अविनश्वर तत्काल
तुम अपने ही अमृत के
पावन-मृदु-सिंचन से!

वास्तव में सर्जनात्मक शुचिता, शक्ति, साधना और व्यापक सारल्य की गतिशीलता में जीवन के सारे संघर्ष और द्वन्द्व प्रवाह में पड़े पत्थर की तरह स्निग्ध-स्वच्छ होकर विम्ब-प्रतिविम्ब का रूप ग्रहण कर सृजन के उत्कर्ष और विकास में सहायक बन जाते हैं। पथरीले प्रवाह का पानी अधिक स्वच्छ और शक्तिशाली होता है। वस्तुतः सृष्टि की गति के लिये, उसकी सार्थकता और सफलता के लिये विरोधी तत्वों की स्थिति अनिवार्य रहती है।

अर्द्धनारीश्वर के रूपक में प्रकृति और पुरुष, नर और नारी एक दूसरे से मिले हुये रहते हैं। प्रकृति और पुरुष मुक्ति के अर्थ में, नर और नारी भुक्ति के

अर्थ में। हिमालय के उच्चतम शिखर को भारतीय वाणी में 'गौरीशंकर' की संज्ञा मिली है। जल-तत्व के कारण वहाँ गति भी है और जल की सघनता—हिम के कारण स्थिति भी, वस्तुतः जड़ भी, चेतन भी। मानव की इकाई में भी यही सत्य चरितार्थ होता है। शरीर की जड़ता के साथ चित्त की चेतनता का आभास भी स्पष्ट है। किसी राष्ट्र या जाति के साहित्य में भी यही परिलक्षित होता है। जिस अनुपात में किसी समाज का मानसिक (चेतन) जगत विकसित होता है उसी अनुपात से उसका वाह्य (जड़) जगत भी परिष्कृत होता चलता है। जीवन की विषम दुर्बलता के कारण जब अंतर और वाह्य जगत एक दूसरे से विच्छिन्न होकर दूर पड़ जाते हैं तब पानी के ऊपर तेल की तरह तैरती हुई चेतना जीवन से अलग अपने अस्तित्व का परिचय तो देती रह सकती है, परन्तु जीवन में घुल-मिलकर उसे प्रेरणा देने की न तो उसमें क्षमता शेष रहती है और न प्रसरण की प्रखरता। अंतर-वाह्य के सामञ्जस्यपूर्ण चिंतामणि को छोड़कर जब जीवन अपनी पराजय के विषाद को भुँठलाने के लिये बाहर से चमकीले और आकर्षक लगने वाले विगुण रंगीन कंकड़ों-पत्थरों की सजावट में ही व्यस्त हो जाता है तभी साहित्य में रीति युग का अभ्युदय होता है। इस स्थिति में भावों की विविधता, कल्पना की विधायक शक्तिमत्ता, विचारों की नवोन्मेषशीलता तथा सौन्दर्य की नाना छवियों का रूढ़ियों और चमत्मकारी उक्तियों में उलझ कर स्पदंनहीन हो जाना ही स्वाभाविक हो उठता है। हमारे साहित्य का रीति-युग इसका प्रमाण है।

द्विवेदी-युग ने भी अन्तर-वाह्य के सम्यक सामञ्जस्य की क्षमता नहीं दिखलायी। वह केवल समाज निर्देशित सुधारों और वाह्य सिद्धान्तों से ही उलझता-सुलझता रहा।

साहित्य-सृजन-प्रक्रिया जब तक जीवन के दोनों पक्षों (अन्तर-वाह्य) में एक सामंजस्य की प्रतिष्ठा नहीं कर लेती तब तक उसकी गति कुंठित रहती है और स्रष्टा-साहित्यकार जब तक अपने वाह्य जीवन को अपने अंतर जगत का

तरह तैरती हुई चेतना जीवन से अलग अपने अस्तित्व का परिचय तो देती रह सकती है, परन्तु जीवन में घुल-मिलकर उसे प्रेरणा देने की न तो उसमें क्षमता शेष

दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई
उसकी अश्रुभरी आँखों पर मेरे
करुणांचल का स्पर्श
करता मेरी प्रगति अनंत...।

हिन्दी साहित्य का यह पहला स्वर है जिसमें अभिव्यक्ति की पौराणिक, सामाजिक स्वाधीनता और कवि के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का आग्रह स्पष्ट शब्दों में मुखरित हुआ है। कवि के इस आग्रह में अभिव्यक्ति की मुक्ति के साथ उसके आचरण और अभिव्यंजना का अटूट साहस भी सन्निहित है। कवि के आत्म-प्रसार और भाव-विस्तार का यह स्वर युग-प्रवर्तन का प्रथम सोपान है। स्वानुभव और आस-पास की चेतन-अचेतन स्थितियों के साथ विकसित और विस्तीर्ण होना ही आत्म-प्रसार की प्रक्रिया है। भारतीय मनीषा सब वस्तुओं में आत्मतत्व और आत्मा में सब का समत्व मानती आयी है। आत्म-प्रसार की इस आकुलता में निराला ने परिवार, जाति, समाज तथा देश की सभी संकीर्णताओं के विरुद्ध केवल शाब्दिक प्रबल प्रहार ही नहीं, अपने आचरण से भी उसे चरितार्थ किया है। 'सरोज-स्मृति' में इस सत्य के साक्ष्य संग्रहीत हैं। सामाजिक, धार्मिक रूढ़ियों को तोड़ने के साथ ही निराला ने भाग्य के अंक मेटने का भी साहस दिखाया है—

खंडित करने को भाग्य अंक,
देखा भविष्य के प्रति अशंक।

सरोज-स्मृति में सरोज—अपनी पुत्री के यौवन-सौन्दर्य का जो निरपेक्ष एवं वीतराग वर्णन निराला ने किया है, वह हिन्दी में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी अकेला है। सौन्दर्य की ऐसी ही निष्काम अनासक्त प्रतीति कवि को विश्व की विभूतियों में आनन्द की अनुभूति देकर कला को उदात्त और सम्पन्न बनाने में सहायक सिद्ध होती है। सत्य के बोध द्वारा जिस प्रकार हम प्राकृतिक नियमों का आकलन और अनुभव करते हैं, उसी प्रकार सौन्दर्य-बोध से हमें विश्व में व्याप्त समता का ज्ञान प्राप्त होता है। निराला के सौन्दर्य-बोध की यह सहज प्रवृत्ति है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

निराला का काव्य राष्ट्रीय जागरण की वह प्रभाती है जिसमें आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा मानसिक सभी तरह की स्वाधीनता का स्वर-संधान पाया जाता है। भाषा, भाव, छंद, शैली सभी क्षेत्रों में निराला का प्रचंड विद्रोही प्रताप दीप्तमान है। मानव व्यक्तित्व की आत्मचेता दृढ़ता,

उद्देश्य की व्यापक अविचलता, सांस्कृतिक स्वाभिमान की स्थिरता और सामूहिक समता तथा स्वतन्त्रता की ओजस्वी चेतना में निराला का साहित्य अपने युग में सहज ही सशक्त और अद्वितीय है। काव्य की विविध संवेदनाओं, आयामों और प्रयोगों एवं शैलियों में उनका सृजन दीप-स्तंभ की भाँति आलोकित है। सदियों से जकड़े बंद हृदय-कपाट को अपने वज्र-प्रहार से खोल कर उसे व्यापकता और विराटता देने के लिये निराला न केवल सम्पूर्ण धरती को बल्कि अनंत आकाश को भी अपनी भुजाओं में बाँध लेने की अदम्य आकांक्षा रखते हैं—

बहता अंध प्रभंजन ज्यों,
यह त्यों ही स्वर-प्रवाह
मचल करके चंचल आकाश,
उड़ा-उड़ाकर पीले पल्लव
करे सुकोमल राह—
तरुण तरु, भर प्रसून की प्यास।
ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े
हृदय कपाट,
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार,
आये अभ्यंतर संयत चरणों से
नव्य विराट
करे दर्शन, पाये आभार।
भर उद्दाम वेग से बाधा हर तू कर्कश
प्राण,
दूर कर दे दुर्बल विश्वास
किरणों की गति से आ, आ तू, गा तू
गौरव-गान,
एक कर दे पृथ्वी-आकाश।

सम्पूर्ण विश्व के समस्त मनुष्यों के बीच एकात्मा का अनुभव करना ही कवि के आत्म-प्रसार की सार्थकता है। इस सार्थकता की प्रत्याशा और प्राप्ति में कवि कहीं कभी किसी सीमा को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि समस्त मानवता के मूलभूत एकत्व, ममत्व एवं समत्व पर उसकी आस्था अडिग रहती है। कवि की अभिव्यक्ति का यही चरम उत्कर्ष है। इस उत्कर्ष की ऊँचाई पर पहुँच कर कवि की व्यक्ति-सीमा का धरातल विश्व मानवता के साथ संयुक्त हो जाता है।

निराला की साहित्य-साधना इसी कोटि के विराट मनुष्यत्व की साधना है, इसी सब में समान रूप से स्थित अंतर के मनुष्य की उपलब्धि है। बाहर विभिन्न देशों की, विभिन्न समाजों की विभिन्न नाना जातियाँ और उपजातियाँ हैं, किन्तु सबके अंतर में एक ऐसा मनुष्य है जो जाति, देश की कृत्रिम सीमा छोड़कर सब के साथ समान रूप से प्रतिष्ठित है। निराला के साहित्य-दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता इसी मनुष्य का विश्व भाव है। एडवर्ड अष्टम के प्रति लिखी गई कविता में निराला ने स्वाभाविक अन्तर्राष्ट्रीयता—मानवीय एकता का उद्घोष किया है—

मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हों श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं विलग्न,
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर।

मनुष्य की सीमा-मुक्ति का स्वर निराला का सहज स्वर है।

'परिमल' की भूमिका में उन्होंने कहा है—मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मुक्त-काव्य साहित्य के लिये अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण का ही मूल होती है। साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है।

निराला की प्रथम कविता 'जुही की कली' मुक्त-काव्य की चरम सफलता का प्रौढ़तम प्रतीक है। इस कविता में भाषा, भाव, छंद तीनों मुक्त हैं, फिर भी काव्य के मूल राग को सम्पूर्णता देने के लिये भिन्न-भिन्न स्वरों की सहकारिता की तरह सर्वथा संगठित। भाव, शैली और चित्र का यह मुक्त सामञ्जस्य आधुनिक हिन्दी-काव्य में बेजोड़ है, उनके युग-प्रवर्तक होने का अनन्य उदाहरण है। केवल छंद की ही दृष्टि से भी देखा जाय तो आज का साहित्य इसी निराला-छंद पर गतिशील है। इसको छोड़ कर जैसे काव्य-संचरण ही सम्भव नहीं।

निराला अपने जीवन, व्यक्तित्व और कवित्व सभी में मुक्त, मौलिक एवं असाधारण थे। विभिन्न विरोधी तत्वों का उनमें एक ऐसा सामञ्जस्य था जो

विविधता में एकता और असंगतियों में संगति का आकलन करता चलता था। 'मतवाला' की विज्ञप्ति रूप में लिखी गयीं उनकी ये दो पंक्तियाँ—

अमिय-गरल शशि-सीकर-रविकर-राग-विराग भरा प्याला,
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह मतवाला।

उनके जीवन में, काव्य में निरंतर विकसित होती चली गयी हैं। कोमल-कठोर, स्थूल-सूक्ष्म, वीर-करुण, लघु-विराट, भाव-विचार, शब्द-अर्थ, स्वर-वाणी, शक्ति-श्रद्धा, माधुर्य-ओज, भौतिक-आध्यात्मिक का उनके काव्य में ऐसा आश्चर्यजनक समाहार और समीकरण तथा संतुलन है कि जान पड़ता है कि जैसे अखिल विश्व-प्रकृति ही उनके सृजन में सिमट कर मूर्तमान हो गयी है।

इस प्रकार रूपवैचित्र्य की उत्सुकता, अभिव्यक्ति का आवेगपूर्ण औद्धत्य, भाव-गठन की संयमशीलता, हृदय के आकुल उद्गारों की संगीतात्मकता तथा दार्शनिक बौद्धिक विचारों की रागात्मक तटस्थता के साथ भाव, भाषा, शैली, छंद के अनेक अनूठे प्रयोगों की सफलता को मिलाकर देखा जाय तो निराला अनायास ही युग-प्रवर्तक कवि की सशक्त एवं अद्वितीय क्षमता से विभूषित हैं।

विराटता के समर्थक निराला में हमें हृदय की वही विशालता और सब के साथ परम ऐक्य की वही आकुलता दिखायी पड़ती है जो 'सर्व मेवा विशांति' अथवा 'सर्व भूताधिवासः साक्षी' में पायी जाती है। निराला के लिये सब समान हैं—

तोल तू उच्च नीच समतोल,
एक तरु के-से कुसुम अमोल।

●

प्रतिजन को करो सफल
जीर्ण हुये जो यौवन
जीवन से भरो सकल।

यही निराला का मूल भाव है, जिसके बल पर भगवान राम के ऊपर अपने व्यक्तित्व का आरोप करने वाले निराला कुत्तों के साथ जूठी पत्तल चाटने वाले भिखारी के बच्चों को अपने हृदय के अमृत से सींच देने को तैयार रहते हैं, कली के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर भी पथ के पत्थर तोड़ने वाली मजदूरिन की व्यथा का भी ध्यान रखते हैं, प्रेयसी के रूप-लावण्य का चित्र खींचते हुये विवश विधवा का भी चित्रांकन करते हैं, प्रेम-संगीत के स्वरों के साथ गरम पकौड़ी का भी राग अलापते हैं, वसंत की परी और ठूँठ, गुलाब और कुकुरमुत्ता के

प्रति बराबर ममता रखते हैं। आशय यह कि महान, विराट एवं लघु, क्षुद्र तथा उपेक्षित सभी निराला की स्नेह-छाया के समान अधिकारी हैं। अपने जीवन और काव्य के प्रारम्भ से ही वे संतप्त और शोषितों को अपने रक्त सिंचन से संजीवन देने के लिये, समता और समरसता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने के लिये बराबर प्रयत्नशील रहे। महादेवी जी ने बड़े मर्म की बात कही है—"किसी की व्यथा इतनी हल्की नहीं जो उनके हृदय में गंभीर प्रतिध्वनि नहीं जगाती, किसी की आवश्यकता इतनी छोटी नहीं जो उन्हें सर्वस्व दान की प्रेरणा नहीं देती।"

वस्तुतः 'सर्व व्यापी स भगवान तस्मात् सर्वगतः शिवः' की भावना ही निराला-साहित्य का मूल उत्स है—

रोक रहे हो जिन्हें
नहीं अनुराग मूर्ति वे
किसी कृष्ण के उर की गीता अनुपम ?
और लगाना गले उन्हें—
जो धूल धूसरित खड़े हुये हैं—
कब से प्रियतम है भ्रम ?

काव्य में प्रचलित प्रगतिशीलता के बहुत पहले निराला ने सच्चे अर्थों में प्रगतिशील रचनायें की थीं। 'बेला', 'नये पत्ते' में तो ग्रामीणों, किसानों और श्रमिकों के मर्म को प्रकट करने वाली रचनाओं का अक्षय भांडार ही सुरक्षित है। भाव, विचार और रचना-विधान की प्रयोगशीलता में 'कुकुरमुत्ता' बाद के प्रचलित प्रयोगों की आधार-पीठिका है। काव्य में सर्वग्राही संवेदना और बुद्धि-तत्व के समावेश का उनका आग्रह आज की नयी कविता में सर्वथा स्वीकृत है। राष्ट्रीय जागरण के साथ मानव की अन्तर्राष्ट्रीय एकता एवं समता का जो प्रथम स्वर-संधान निराला ने अपनी भैरवी में किया था, वह आज सर्वत्र ध्वनित और मुखरित हो रहा है।

यह प्रत्यक्ष है कि छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता, सभी में निराला की काव्य-प्रतिभा का छाया-प्रकाश अपनी स्पष्ट रेखाओं तथा अपने गहरे रंगों में प्रतिबिम्बित और उद्भाषित है। बोल-चाल की सहज-सरल भाषा, सामान्य विषयों की काव्याभिव्यक्ति, साधारण और उपेक्षित-अकिंचन के प्रति समानुभूति और सहानुभूति, हास्य-व्यंग्य की मर्मस्पर्शी फुलझड़ियाँ और जीवन के साथ विकसित होने वाली नित नूतन काव्य-वृत्तियों का जो स्रोत उनके काव्य से

फूटा था वह आज के काव्य में गतिमय आवेग भरने और उसके प्रवाह को प्रशस्त करने में अक्षय उत्स की अनन्य गरिमा रखता है, इसे सभी एक स्वर से स्वीकार करते हैं। काव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र एवं समालोचना आदि विविध सर्जनात्मक विधाओं से संगठित निराला का सर्वाच्छादी सर्वाभिषेकी एवं सर्वात्मदानी बादल-सा विराट व्यक्तित्व आषाढ़ की सजल-सघन घटाओं की तरह साहित्याकाश को सम्पूर्णतः छाये हुए है, इसमें सन्देह नहीं।

यही कारण है कि कोई महाकाव्य न लिखने पर भी निराला युग-प्रवर्तक महाकवि हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वे महाकवि होने के साथ ही महामानव भी हैं। इन दोनों स्थितियों में वे केवल कवीन्द्र रवीन्द्र से ही तुलनीय हैं। 'राम की शक्तिपूजा' में राम के प्रति कहे गए देवी के शब्द स्वयं उनके प्रति भी परम उपयुक्त जान पड़ते हैं—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।

वास्तव में निराला का जीवन और उनका साहित्य मानवता की विजय और मुक्ति का वह जयघोष है, जो युग-युगों तक हमको सत्य की विजय का अटूट विश्वास, संघर्ष का अदम्य साहस, और मनुष्य की विकासशील महत्ता पर श्रद्धा रखने का संबल देकर चिरकाल तक प्रगति की प्रेरणा देता हुआ अपने स्थायित्व को प्रमाणित करता रहेगा।

● ● ●

निराला का विराट बादल-राग | ४

दशदिक्व्यापी, सर्वाच्छादी और सर्वाभिषेकी वर्षोन्मद आषाढ़ की सजल श्यामल घटा को यदि आपने देखा है तो उसकी नीलम नीलिमा के भीतर निहित धरती के ताप-शमन, शस्य क्षेत्रों के दारिद्र-अपहरण और सूखे नदी-नाले-सरोवरों की जीवन-हीन कृशता और विपन्नता को दूर करने के उसके आकुल आश्वासन, दृढ़ संकल्प तथा उसकी सर्व सुलभ निष्काम करुणा का भी अनुमान और अनुभव अवश्य ही किया होगा।

स्वस्थ मांसल कजरी कपिला गाय के समान सर्ववत्सल उसकी मंद-मंथर गति और दुग्ध-धार सबके तन की, मन की रिक्तता को सर्वांशतः भर देने में सहज ही समर्थ होती है। सबके लिये समान रूप से मंगलमय परिपूर्णता का ऐसा कोई दूसरा प्रतीक नहीं है। सजल श्यामल बादल के सौन्दर्य, गुण और त्याग की दूसरी उपमा न खोज सकने के ही कारण कालिदास को उसकी उपमा शिव के नीलकंठ से देनी पड़ी है, जो सौन्दर्य, मंगल और त्याग के चरम स्वरूप और आशुतोष हैं। निराला ने उसे—'ऐ त्रिलोकजित। इन्द्र धनुर्धर! सुर बालाओं के सुख-स्वागत, विजय! विश्व में नवजीवन भर, उतरो अपने रथ से भारत' जैसे महिमा-मंडित शब्दों और सम्बोधनों में स्मरण किया है।

विराट, इसलिये कि अपने-आपको विस्तारित एवं व्यापक बनाने के लिये बादल के भीतर स्वतः-स्फूर्त एक ऐसी शक्ति निहित रहती है कि क्षण भर में वह सारे आकाश को छा लेता है। बादल की इस विकास-विहार क्षमता को रोकने की सामर्थ्य किसी में नहीं, क्योंकि वह कामरूप है। समस्त भौतिक व्यवधानों को छिन्न-भिन्न करता वह अपनी इच्छानुसार गतिशील रहता है। अन्तःसार की गुरुता के कारण प्रचंड वायु का वेग भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता, क्योंकि आन्तर दुर्बलता-सारहीनता के ही कारण किसी पर किसी का बल-प्रयोग सफल होता है। दीपक को बुझा देने वाला वायु-वेग आग की प्रज्वलन-क्षमता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है। इसलिये भीतर से भरा-पूरा, भारी-भरकम बादल वायु को अपना रथ बनाने में सफल होता है। निराला ने उसे—'मंद-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल' कहा है।

सजल बादल की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह सर्वस्व दान के पश्चात स्वयं सम्पूर्णतः निश्शेष हो जाता है। वैभवहीन या जीवन जल हीन होने की स्थिति उसे कभी नहीं भोगनी पड़ती। सर्वस्वदानियों की यही स्वाभाविक गति होती है। अपने जल (प्राण) दान देने से बादल सम्पूर्ण संतप्तलोक को शान्ति और शीतलता देता है। उसके लिये यह कहा जा सकता है—संतप्तानां-त्वमसि शरणम्!

जलदागम से निखिल प्रकृति यौवनवती होती है, पशु-पक्षी आनंदित होते हैं, मनुष्य का हृदय प्राण के स्थूल रूप अन्न की आशा से पुलकित, प्रसन्न और आश्वस्त हो उठता है। कवियों ने उसे साधु, सुभग और सौम्य के उदात्त विशेषणों से अलंकृत किया है। वास्तव में बादल का जलदान वन्य प्रकृति, निखिल जीव और अखिल मानवीय जीवन के विकास एवं पोषण के लिये अमृत स्वरूप है। उसकी मनमोहक आकृति और उदार प्रकृति सब के लिये लाभप्रद होने के साथ आनंददायिनी भी होती है। महादेवी जी के शब्दों में बादल की गति, ध्वनि और रंगमयता का स्वरूप देखिए—

मेरा पग-पग संगीत भरा,
श्वासों से स्वर्ण पराग झरा,
नभ के नवरँग बनते दुकूल,
छाया में मलय-बयार पली।
पथ को न मलिन करता आना,
पद-चिन्ह न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अंत खिली।

कवियों के अतिरिक्त सामान्य जन और गाँवों के किसानों के लिये तो बादल जीवनाधार ही है। जलदागम का जो प्रीति-स्निग्ध स्वागत गाँवों में होता है उसका कोई दूसरा उदाहरण खोज लेना कठिन है। इस अहेतुकदानी का स्वागत किसानों के लिये स्वाभाविक भी है, क्योंकि वे जानते हैं कि उनकी कृषि का कल्याण बादल की दानशीलता पर ही निर्भर है। निराला ने इसका संकेत किया है—

जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर!

बादल का सम्पूर्ण संचय, त्याग के लिये होता है, सर्वस्व दान के लिये होता है, प्रजा-पालन के लिये होता है, इसीलिये उसे प्रजापति का भी गौरव दिया गया है। उसकी उदारता और सहृदयता का अक्षय कोष सब के लिये मुक्त रहता है, किन्तु उचित तथा न्यायपूर्ण व्यवस्था के लिये उसे दंड का भी विधान करना पड़ता है। वस्तुतः वह अमृत-जीवन, जल-वर्षा के साथ ओलों की ही नहीं, बज्र की भी वर्षा करता है। ओले तो जैसे उसको व्यंग्य-बौछार हैं और बज्र अंचलों के अभिमानांकुरों को भंजन करने का अमोघ अस्त्र। प्रकृति-पुरुष होने के नाते वह प्रकृति के भीषण, कठोर तथा उग्रतम रूपों के साथ मृदु, कोमल और शान्त-सुस्थिर रूपों का अद्‌भुत समीकरण है।

निराला ने उसे—'कुसुम कोमल, कठोर पवि' कहा है। बादल अपने इन दोहरे रूपों से प्रकृति की द्वन्द्वमयता का निर्वाह करता है। उसकी इस स्थिति की अवगति के लिए यह उक्ति कितनी सार्थक है—

जनामित्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः

निराला के 'कुसुम कोमल, कठोर पवि', वाले विराट व्यक्तित्व का पूर्ण तादात्म्य इसी प्रकृति-पुरुष बादल से ही सम्भव है। बादल पर लिखी उनकी दर्जनों कविताएँ इसका ज्वलन्त और जीवंत साक्ष्य उपस्थित करती हैं। मनीषियों की मान्यता है कि कवि की नैसर्गिक प्रतिभा वाह्य प्रकृति का ही अन्तः स्वरूप है। इसलिए प्रकृति द्वन्द्व प्रतिभा में परिलक्षित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। निराला के द्वन्द्वबहुल व्यक्तित्व और उनकी द्वन्द्वशील प्रतिभा में बादल की भाँति एक सामंजस्य पाया जाता है, जो विश्व के बहुत कम कवियों में मिलता है। इस व्यक्तित्व और प्रतिभा का बहुविध प्रकृति रूप उनकी बादल-राग कविताओं में पूर्णतया स्पष्ट हुआ है। निराला के भैरव घोष भरे बादल-व्यक्तित्व का एक विप्लवी रूप देखिये—

ऐ निर्बन्ध !
अन्धतम-अगम-अनर्गल-बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मन्द-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल।
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण।
बाधा रहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !

सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले उन्माद !
विश्व विभव को लूट लड़ने वाले अपवाद !
श्री बिखेर, मुख फेर कली के निष्ठुर पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
बज्र घोष से ऐ प्रचण्ड !
आतंक जमाने वाले !
कम्पित जंगम-नीड़ विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले !
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विपल्व के नव जलधर !

सम्पूर्ण कविता में बादल के लिये प्रयुक्त सभी सम्बोधन सहज ही निराला के लिये भी परम उपयुक्त ठहरते हैं। कविता को स्वयं कवि की व्याख्या के अनुसार इस प्रकार रखिये और पंक्ति-पंक्ति में निराला को भेंटिये—

ऐ बन्धनहीन ! घोर से घोर अंधकार (आपत्ति-अड़चन) में भी मुक्त-स्वभाव वाले ! ऐ स्वतंत्र, वायु के रथ पर (कल्पना लोक में) चलने वाले उच्छृंखल (भाव-स्वातन्त्र्य के उपासक) मनमानी करने वाले ! ऐ साहसी, ऐ अनंत अभिलाषाओं को सार्थक और फलवती बनाने वाले। ऐ मुक्त ! ऐ विशाल ! ऐ युगान्तर करने वाली भिन्न भावनाओं की बाढ़ बहाने वाले। सावन के-से मेघाच्छन्न भावों के मनोनभ के ऐ सम्राट्। ऐ न टूटने वाले भाव (रूढ़ियों) पर आक्रमण करने वाले उन्माद रूप। ऐ विश्व के वैभव (शोषण-संचित-सम्पत्ति) को लूट-लूट कर लड़ने वाले अपवाद ! बुरे कार्यों से गढ़े गये सौन्दर्य को बिखेर कर, चेहरा फेर कर उच्चता और सुन्दरता पर इतराने वाली कली स्वरूपा किसी को निष्ठुर होकर पीड़ित करने वाले ! पत्र-पुष्प-पौदे-वन-उपवन (सम्पूर्ण प्राचीन प्रकृति) जैसे प्राचीन विरोधी वस्तु-विषयों को भाव रूप से छिन्न-भिन्न कर वज्र की जैसी गर्जना से (नया रूप देने वाले) ऐ प्रचण्ड ! स्वार्थरतों पर अपनी सत्ता का भय पैदा करने वाले ! चलते-फिरते और नील-विहंगम-रूप, घर में रहने वाले जन काँप रहे है—फिर भी उनके लिए व्यथा न पाने वाले—सहानुभूति न रखने वाले, क्योंकि वे नवीन सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ऐ भय के—उनके भ्रमपूर्ण केन्द्र पर युग-प्रवर्तन के नवीन जीवन वाले।

गरजो—गम्भीर ध्वनि करो।

इस प्रकार इस कविता में कवि ने संकीर्ण, रूढ़िप्रिय, अवरुद्ध तथा जड़ता-ग्रस्त जीवन में परिवर्तन, परिष्कृति तथा गति लाने के लिये ही विप्लवकारी बादल के रूप में अपने व्यक्तित्व को सामने रखा है। यह बादल कवि की प्रतिभा का वाह्य प्रकृति-रूप-मात्र है। कवि की वांछित सामूहिक मुक्ति ही इस विप्लवी मेघगीत की मूल-प्रेरणा है।

निराला को यह भली-भाँति ज्ञात है कि 'निर्दय विप्लव की प्लावित माया' के बिना संसार में सामूहिक उन्मेष सम्भव नहीं हो सकता। वस्तुतः कवि विप्लवी बादलों का आह्वान करता है—

तिरती है समीर सागर पर
अस्थिर दुख पर सुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया !
यह तेरी रणतरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं ऐ विप्लव के बादल !
फिर फिर।

और जब विप्लवी बादल गरजता है, मूसलाधार बरसता है तब सारा संसार काँप उठता। वज्रपात से बड़े-बड़े अभिमानी पर्वतों के शरीर चूर-चूर हो जाते हैं। केवल छोटे पौदे (साधारण जन) प्रसन्न और पुलकित होते हैं—'विप्लव रव से छोटे ही हैं शोभा पाते' और धनी-मानी स्थापित लोग बादल की गर्जना से थर्रा उठते है, क्योंकि क्रांति से वे घबड़ाते हैं। जीर्ण बाहु, शीर्ण शरीर किसान उसका स्वागत करते हैं। शोषण से हाड़-मात्र शेष किसान का पोषण-पालन बादल ही करता है। आशय यह कि यह विप्लवी बादल निराला के चिर विप्लवी व्यक्तित्व और कृतित्व का बहुत ही सार्थक प्रतीक है, इसमें सन्देह नहीं।

कवि ने अपने व्यक्तित्व के विविध रूपों के अनुरूप ही बादल के विविध रूपों का चित्रण किया है—

आज श्याम—घनश्याम, श्याम छवि,
मुक्त कंठ है तुम्हें देख कवि,
अहो कुसुम—कोमल कठोर पवि ।
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र-रवि-संस्तुत
नयन मनोरंजन !
बने नयन अंजन !

इस कविता में निराला ने बादल के रूप और अपने व्यक्तित्व के स्वरूप को एक ऐसी विराटता में पर्यवसित कर दिया है कि विश्व के नाना रूपों में प्रवाहित चेतना हमारी आँखों में अंजन बन कर समाविष्ट हो जाती है। सभी वस्तुओं में आत्मतत्व और आत्मा में समत्व की यही मान्यता मनुष्य और प्रकृति में एक ही आध्यात्मिक स्पंदन की स्थापना करती है, जिसके अनुसार प्रकृति और मनुष्य एक ही व्यापक सत्य के अंग बन जाते हैं। वास्तविक आनंद की उपलब्धि तभी होती है जब हम अपनी आत्मा का संसार से और संसार की आत्मा का विराट भूमा की आत्मा से सहज एकत्व का अनुभव करने लगते हैं।

मुक्त तुम्हारे मुक्त कंठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द्र, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन श्याम कानन
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात ।
बधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग
मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग ।

यहाँ हमें निराला के मुक्त स्वभाव, वाणी के स्वर-ताल-लय का नाद साधन और उनके शिशु-सुलभ निश्छल हृदय का अनायास परिचय मिल जाता है। जीवन, जगत की सर्वथा तूफानी परिस्थितियों, आपत्तियों, संघर्षों, विपत्तियों और कटुताओं के बीच अपने शिशु-सारल्य तथा क्रीड़ा-कौतुक को सहेज रखना कवि की परमहंसी वृत्ति का अनन्य उदाहरण है। उनको पता है कि—

क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर ।

रोग-शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर !

बादल-राग की एक-एक कविता निराला के सर्वस्वदानी करुणामय रूप को, कोमल-कठोर के कल्याणकारी स्वरूप को सब के सामने स्पष्ट करती चलती है। नीचे लिखित कविता में कवि ने अपनी अनन्त धार अन्तर्बादल प्रतिभा से सर्वमंगल विधायक रस-वर्षण द्वारा अखिल लोक को स्नेह-संसिक्त करने की कामना की है। यहाँ पहुँच कर कवि के भाव-अमृत-सिंचन का महाप्रसाद सब को समान रूप से सुलभ है। अहं प्रेरित अपनत्व के भ्रम से मुक्ति पाने के पश्चात् ही मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वत्व का स्वामी बनता है और अपनी सहज उदारता से सबके साथ समभाव का आकलन और अनुभव करता है। सर्व कल्याण ही निराला जैसी दिव्य प्रतिभा का पोषण और सर्वप्रेम ही उसकी प्रेम-विजय है। उसे केवल रसवर्षण में ही आनन्द है—

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर।
राग अमर। अम्बर में भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन में
मन में, विजय-गहन कानन में
आनन आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग अमर। अम्बर में भर निज रोर।
अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रस धार।
उथल-पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल,—
मेरे पागल बादल !

ताप-शाप, रोग-शोक तथा दुख-दारिद्र की पीड़ा से लुंठित-कुंठित विश्व पर, उसके संवेदनात्मक स्पन्दनों पर अमृत की धार बहाने की यह अदम्य आकांक्षा निराला के व्यक्तित्व का उज्ज्वलतम रूप है। विराट सजल घटनाओं की तरह अपने संघर्ष की भीषण ज्वाला एवं कसक-कौंध की विद्युत को अपने भीतर दबाये हुये कवि विश्व के लिये केवल रस-वर्षण करना चाहता है। स्वयं विष

का पान कर औरों के लिये अमृत का दान करना चाहता है। वस्तुतः वह रुद्रशक्ति से सम्पन्न होकर भी शिव है, कठोर पवि होकर भी कुसुम कोमल है, विप्लव का उद्घोषक होकर भी नवजीवन का पोषक है, अति चेतन होकर भी पागल है—शंकर का साक्षात प्रतिरूप है। सामूहिक प्रगति के प्रत्याशी और प्रयासी निराला का यह बादल-राग उनके आत्म-चरित का ही प्रकाशन है। अस्तु, निराला के विराट व्यक्तित्व और प्रतिभा की बहुमुखता का प्रतीक इन बादल-राग की कविताओं में पूर्णतया सफल और सार्थक सिद्ध हुआ है, यह निर्विवाद है।

इन कविताओं का शीर्षक बादल-राग बहुत ही साभिप्राय और सांकेतिक है। राग का मूल ध्वनि है। अक्षर या शब्द से जो ध्वनि उच्चरित होती है उससे समस्त वायुमंडल में एक संक्षोभ होता है और उसमें लहरें उत्पन्न होती हैं जो अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती है। भारतीय तत्वज्ञानियों ने इसे प्राण-शक्ति की संज्ञा दी है। इस दृष्टि से बादल के प्राण और कवि के प्राण में कोई अन्तर नहीं है, बादल-राग तथा कवि-राग भी अभिन्न हैं। सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति शब्द अथवा ध्वनि के स्पन्दन से होने के कारण सबके संगीत या राग में एक स्वाभाविक साम्य पाया जाता है। सामगान की व्यापकता और सामवृत्ति की साधुता ही के कारण निराला ने अपने राग को बादल-राग और बादल-राग को अपना राग बनाने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। वे वास्तव में प्रतिभा-पुरुष थे। उनका बादल-राग साम-संगीतात्मक होने के कारण शाश्वत और कालातीत है। युग-युगों तक सर्व सुखदायी जलदागम स्वयं इन कविताओं का रहस्योद्घाटन संसार के समक्ष अपने मृदु-मंद्र स्वरों से करता रहेगा और लोग इसी प्रयास ही निराला के गीतों में मुखरित होते रहेंगे—

अलि, घिर आये घन पावस के।
लख ये काले-काले बादल,
नील सिन्धु में खिले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के रस के—
अलि, घिर आये घन पावस के!

● ● ●

विद्रोही कवि निराला | ५

विद्रोह पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक एवं और भी कई प्रकार का हो सकता है, किन्तु सृजनात्मक विद्रोह एक सर्वथा भिन्न स्थिति रखता है। प्राप्ति और ख्याति की अपेक्षा इसमें आप्ति तथा व्याप्ति का महत्व अधिक रहता है। इसकी सक्रियता के लिये तन, मन, धन सभी कुछ देना पड़ता है। विश्व मानवता की कल्याण-भावना ही इसकी सबसे बड़ी पहचान होती है। सन्देह नहीं कि ऐसा विद्रोह जातीय तथा राष्ट्रीय जीवन में जागृति उत्पन्न करता है पर यह उसकी सीमा नहीं, क्योंकि उसका प्रमुख आधार और उद्देश्य जाति अथवा राष्ट्र नहीं वरन् सम्पूर्ण मनुष्यता है।

हमारे सीमित समाज से वाह्य रूप में भिन्न, परन्तु आंतरिक रूप से मिला हुआ एक और भी समाज अपनी स्थिति रखता है जो किसी भी जाति या राष्ट्र में सीमित न होकर सम्पूर्ण धरातल के मनुष्यों से निर्मित होता है। इस विराट समाज में केवल उन्हीं मानवीय भावों और विचारों की प्रतिष्ठा होती है जो मनुष्य-मात्र के अपने कहे जा सकते हैं। साहित्यकार की भावना का क्षेत्र यही विराट-समाज है। किसी प्रकार के संकीर्ण-साम्प्रदायिक उपकरणों के साथ इस समाज की सदस्यता दुर्लभ है। इस समाज के विद्रोही साहित्यकार का विद्रोह इस समाज की व्यापकता एवं विराटता से ही संजीवन पाता है।

निराला का विद्रोह व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध-सूत्रों से संग्रथित एक ऐसी अकलुष अभिव्यक्ति है जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण मानवता का विकास और कल्याण है। इस विद्रोह के लिये निराला को त्याग और तपस्या का जो पथ अनुसरण करना पड़ा वह आज किसी से छिपा नहीं—

ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत,
ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि।

इसीलिये उनका विद्रोह अपने महत्व और प्रभाव में अद्वितीय है। उनका विद्रोह स्वयं उनकी जीवन-कसौटी में कसा जाकर ही कृतकृत्य हुआ है, इसमें सन्देह

नही। निराला ने इस अग्नि-परीक्षा में जो सफलता प्राप्त की है, वह केवल कष्ट-साध्य ही नहीं साधना-साध्य भी है। बौद्धिक प्रामाणिकता, नैतिक क्रिया-शीलता, त्यागप्रियता, सर्जनात्मक तीव्रता अथवा भौतिक आध्यात्मिक प्रसरण प्रक्रिया की किसी भी कसौटी पर वह अपने सृजन और संवेदना में बराबर सोलह आने खरे सिद्ध हुये है। उनकी उद्घोषित मान्यता है—जिस प्रकार मेघमुक्त होकर किसी भी देश का जल देश की मिट्टी को छूने से पहले तक एक ही-सा निर्मल और दोष-रहित रहता है, यदि हवा में उड़ते हुये सूक्ष्मातिसूक्ष्म दूषित बीजों का मिश्रण छोड़ दें, उसी प्रकार एक मात्र मनुष्यता के आधार पर किसी राष्ट्र का सच्चा साहित्यिक है—सभी राष्ट्रों को बराबर प्यार करने वाला—मनुष्य मात्र का मित्र। विचार की इससे बढ़कर शुद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी शुद्धि तब होती है जब वह हवा की तरह सबके हृदय से लगे, चाँदनी की तरह सब की आँखें ठण्डी कर दे।

निराला का विद्रोह भी इसी तरह का था। उनका विद्रोह मानवता की जड़ कठोर विषम परिस्थितियों और जीवन के रूढ़िगत निर्जीव संस्कारों के प्रति सदा सचेत रहा है। वास्तविकता जो है, उससे विद्रोह करके जो होना चाहिये के प्रति आकर्षण और उसके आकलन की निरन्तर साधना ही उनके विद्रोह की मूल प्रेरणा थी। यही कारण है कि उनके विद्रोह मे सहज सामूहिक कल्याण के संकल्प से प्रस्फुटित शक्ति, ओज और उद्दाम पौरुष का अबाध आवेग पाया जाता है। उन्होंने अपने समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक—सभी क्षेत्रों की गलित मान्यताओं, पद्धतियों एवं निर्जीव, मृत, रूढ़ संस्कारों के प्रति विद्रोह किया और उन्हें सुधारने की और अपने जीवन और सृजन से उस दिशा का निर्देश भी किया, जिसे वे विकासशील और वांछ-नीय समझते थे। साहित्य की भाषा, भाव, छंद, शैली आदि के प्रति उनके विद्रोह में बादल का निर्बंध, स्वच्छंद, अटूट पर टूट पड़ने वाला उन्माद, विप्लव का प्लावन, बाधा-रहित-विराट का गर्जन-स्वर और उसकी चंचल-समीर-रथ पर चलने वाली क्षिप्र गति का समावेश है। बादल के माध्यम से जैसे उन्होंने अपने को ही सम्बोधित किया है। निराला जानते हैं कि संसार में नवजीवन लाने के लिये विप्लव के निर्दय प्लावन की परम आवश्यकता ही नहीं, अनिवार्यता है, सम्पूर्ण जीवन के नये-नये अंकुरों को—प्रगतिशील प्रवृत्तियों के विकास को सम्भव बनाने वाले बादल के साथ अपने विद्रोही-स्वभाव का पूर्ण साम्य अनुभव करने के बाद ही निराला विप्लवी-विद्रोही बादल का अभिवादन करते हैं।

विप्लव से विश्व को आंतकित करने की बात सुझाते हैं।

विप्लव के बादल की तरह कवि भी अपने व्यक्तित्व, स्वभाव और सृजन में कुसुम कोमल और कठोर-पवि था। 'जागो फिर एक बार' में कवि की दोनों प्रवृत्तियों की अत्यन्त सार्थक अभिव्यक्ति हुई है—

जागो फिर एक बार।
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
अरुण-पंख तरुण किरण
खड़ी खोल रही द्वार—
जागो फिर एक बार।

में कोमल भावना का उन्मेष है तो—

जागो फिर एक बार।
समर में अमर कर प्राण
गान गाए महासिन्धु-से
सिन्धु-नद-तीरवासी।—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरङ्ग चमू सङ्ग,
सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।

आदि-आदि में कठोर भावना के साथ जागरण की प्रभाती है। इस प्रकार उनका सम्पूर्ण साहित्य हृदय की कोमलता, विचार का कठोर साहस, आत्मा के समरस सौजन्य और निर्भय आचरण के हास-व्यंग्य की त्रिवेणी से सतत् मुखरित है। उनका साफ-साफ कहना है—

मेरे प्राणों में आओ
गाने दो प्रिय मुझे भूलकर
अपनापन—अपार जग सुन्दर,
खुली करुण उर की सीपी पर
स्वाती-जल नित बरसाओ।
मेरे स्वर की अनल-शिखा से
जला सकल जगजीर्ण दिशा से

हे अरूप, नवरूप-विभा के ।
चिर स्वरूप पा के जाओ ।

प्रायः किशोरावस्था में ही निराला का विवाह हो गया था । पत्नी रूप में उन्हें गृहलक्ष्मी ही नहीं, जीवन की सरस्वती भी मिल गई और तब से बराबर उन्होंने अपने सृजन से साहित्य-भाण्डार को बड़ी ही सजगता और क्षमता से पूर्ण किया—शिवा को पाकर वे पूर्ण शिव बन गये । कविता के प्रति उनका सम्बोधन उनके विद्रोह को ही व्यक्त करता है—

आज नहीं है, मुझे और कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़ कर बंधनमय छन्दों की छोटी राह ।

और इसके बाद उनके काव्य में मुक्तछंद का अबाध प्रचंड एक प्रखर-प्रपात के उद्दाम वेग से पथ के झाड़-झंखाड़, कंकड़-पत्थरों को तोड़ता-फोड़ता प्रवाहित हो चला । सम्पादकों ने ही नहीं, उनके सहकर्मियों ने भी उनके इस छंद का विरोध किया, मजाक उड़ाया, पर उन्होंने हार नहीं मानी । अपने साहस का उल्लेख निराला ने इस प्रकार किया है—

तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाध गति मुक्त छन्द
पर सम्पादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे, एक-पंक्ति-दो में उत्तर !

अपने कला-कौशल के लिये निराला को जिस रण-कौशल का सामना करना पड़ा है, उसे स्मरण कर आज भी रोमांच हो उठता है—

एक साथ जब शत घात घूर्ण
आते थे मुझ पर तुले तूर्ण,
देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शर-क्षेप, वह रणकौशल ।

परन्तु इन दुर्घटनाओं से वे कभी निराश नहीं हुये । उनका आत्म-विश्वास और साहस बढ़ता ही गया और अपनी अडिग-आस्था और अदम्य विद्रोह के बल पर वे अपनी रचनाओं को निखार और विस्तार देते हुये आगे बढ़ते गये, जैसे अचल पर्वत झंझा के झोंकों की उपेक्षा करता हुआ अपने हृदय के अपराजेय स्नेह-स्रोत

को निरन्तर गतिशील रखता है। उन्होंने किसी से कुछ कहा नहीं, केवल अपने मन की रचनायें करते रहे और एक दिन, पानी पर तलवार चलाते-चलाते लोगों के हाथ स्वयं थक गये। अपलक खडे तमाशा देखने का एक कारण और है। निराला का विद्रोह सामूहिक कल्याण की सजलता से उसी प्रकार ज्योतिर्मय बना रहा है, जैसे बादल के बीच विद्युत-रेखा। उन्होंने लिखा भी है—

बादल गरजो।
घेर घेर घोर गगन धाराधर ओ।
ललित-ललित काले घुंघराले
बाल-कल्पना के-से पाले
विद्युत छवि उर में, कवि
वज्र छिपा, नूतन कविता
फिर भर दो।

'वज्र छिपा' में कवि का संयम और 'नूतन कविता फिर भर दो' में कवि का साहस साँसें ले रहा है। सम्भवतः 'नूतन कविता' का यह प्रथम प्रयोग है। इस प्रकार निराला का साहस और उत्साह अविचलित रहा है, इसमें सन्देह नहीं। उत्साह, वीर रस का स्थायी भाव है, अस्तु—

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा।
पत्थर की, निकले फिर गंगा जल धारा
गृह-गृह की पार्वती
पुनः सत्य सुन्दर शिव को सँवारती
उर-उर की बनो आरती
भ्रांतों की निश्चल ध्रुवतारा!

यौवन स्वभावतः मुक्त होता है, निराला का मुक्त छंद छायावाद के यौवन का ही प्रतीक है। भाव, भाषा, छंद की इस मुक्त अभिव्यक्ति के लिये उन्हें सम्पादकों, सामाजिकों, परम्परा के पंडों, प्राचीनता-प्रेमियों, राजनीतिकों और स्वयं सहकर्मी साहित्यकों से कितना बड़ा लोहा लेना पड़ा है, उसकी चर्चा न करना ही अच्छा है।

महादेवी जी के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों से उन्होंने कभी ऐसी हार नहीं मानी जिसे सह्य बनाने के लिये हम समझौता कहते हैं। स्वभाव से उन्हें वह निश्छल वीरता मिली है, जो अपने बचाव के प्रयत्न को भी कायरता की संज्ञा देती है। उनकी वीरता राजनीतिक कुशलता नहीं, वह तो

साहित्य की एक निष्ठता का पर्याय है। छलके व्यूह में छिपकर लक्ष्य तक पहुँचने को साहित्य लक्ष्य प्राप्ति नहीं मानता। जो अपने पथ की सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बधाओं को चुनौती देता हुआ, सभी आघातों को हृदय पर झेलता हुआ लक्ष्य तक पहुँचाता है उसी को युगस्रष्टा साहित्यकार कह सकते हैं। निराला जी ऐसे ही विद्रोही कलाकार हैं। जिन अनुभवों के दंशन का विष साधारण मनुष्य की आत्मा को मूर्छित करके उसके सारे जीवन को विषाक्त बना देता है, उसी से उन्होंने सतत् जागरूकता और मानवता का अमृत प्राप्त किया है।"

वास्तव मे विरोध, यंत्रणा और वेदना के आघातों को साहस के साथ झेलने के पश्चात् ही सर्व विजयी सत्य की परम उपलब्धि होती है। सम्पूर्ण सृष्टि भीषण अंधकार को पार करने के बाद ही प्रकाश की प्राणदा शक्ति प्राप्त करती है। इसी सत्य की सौन्दर्यात्मक अभिव्यक्ति साहित्य के द्वारा मुक्त, उच्च और सुखी मानवता का आदर्श उपस्थित करना निराला के विद्रोही जीवन-दर्शन का एकमात्र ध्येय रहा है। उनमें हर समय और हर किसी के अन्याय, अतिचार और अकल्याणकारी प्रवृत्तियों के विरोध की; रोक-टोक की, जो सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, उसके कारण बहुतों में, सत्य को स्वीकार न करने वालों मे उनके प्रति विद्वेष एवं दुर्भावना का जग जाना अनिवार्य था और हुआ भी यही। परन्तु उन्होंने कभी इसकी चिन्ता नहीं की। 'राम की शक्ति पूजा' में भगवान राम की ग्लानि, क्षोभ और पीड़ा पर बौद्धिक चेतना की विजय का जो विश्वास बोल रहा है, वह स्वयं निराला का अपना विश्वास है—

धिक वह जीवन जो पाता ही आया विरोध,
धिक साधन जिसके लिये सदा ही किया शोध,
जानकी ! आह, उद्धार, दुख जो हो न सका,
वह एक और मन रहा राम का जो न थका,
जो नहीं जानता दैन्य नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत शक्ति हत चेतन।
राम में जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन।

भावुकता पर भावज्ञता की विजय का यह अदभुत उदाहरण है। विद्रोही को भाव और बुद्धि दोनों का सहारा लेना अनिवार्य है अन्यथा उसका विद्रोह बच्चों के रूठने-मचलने वाले विद्रोह की तरह एक खेलवाड़ होकर ही रह जायगा। विद्रोही होने के नाते निराला के साहित्य में भावना और प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना

का सम्मिश्रण बराबर पाया जाता है। उनकी भावुकता कभी भी उनकी बोध-वृत्ति को सर्वथा आत्मसात नहीं कर पाती। भाव के सौन्दर्य विम्ब और वस्तु के रूप-विधान में बुद्धि का समन्वय उनके सृजन की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है। वास्तविकता के ठोस आधार पर प्रतिष्ठित भाव-निष्ठा मे बुद्धि की उपेक्षा सम्भव भी नहीं। क्योंकि वास्तविकता का ग्रहण अनुभूति और चिन्तन के समन्वय से ही सुन्दर और सुदृढ़ होता है। उनके काव्य में एक ओर कविता को छन्दों के बन्धन से मुक्त करने की माँग है, माधुर्य में ओज भरने की चाह है, रूढ़ि को ध्वस्त कर उसकी जगह भव्य विराट की प्रतिष्ठा का आग्रह है, नयी शैली और नये भावविचार की उद्भावना की आकुल आकांक्षा है तथा नये-नये प्रयोगों की अनाविल अभिव्यंजना है तो दूसरी ओर मानवमात्र के प्रति करुणा का अक्षय स्रोत है, दीन-हीन के प्रति ममता और सहानुभूति का अविरल प्रवाह है, स्व-पर अभेद का उत्कट आग्रह है, जो भावना और बौद्धिक चेतना के समन्वय से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

प्रारम्भ से ही निराला का स्वर विद्रोही रहा है। छायायुग के उत्कर्ष-काल में जिन-जिन विषयों को नितांत ग्राम्य तथा अछूत समझा जाता था और उसके कल्पना कुंज में जिनका प्रवेश निषिद्ध था उनके ऊपर अपनी प्रतिभा का प्रकाश विकीर्ण करने में निराला को कोई झिझक नहीं हुयी। 'परिमल', 'विधवा', 'भिक्षुक', 'दीन' तथा अन्य बहुत सी कविताएँ तत्कालीन प्रचलित भाव-धारा के विरुद्ध निराला के विद्रोहात्मक विन्यास से सजग, चेतन तथा स्पंदित हैं। उस समय भी स्वयं के लिये घोर उत्पीड़न और दूसरों के लिये क्रीड़नक बनकर निरंलकार कवित्व की अविराम धारा किसी महाकवि के कलित कंठ से कुसुम दल की तरह निरंतर झरती रहती थी, तो वह निराला ही थे—

वह इष्टदेव के मंदिर की प्रतिमा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।

इस कविता में विधवा की व्यथा, उसकी दिव्यता और कवि के व्यंग्य-विद्रोह की परिणति बहुत ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुयी है। 'दलित भारत' राष्ट्र की सांस्कृतिक च्युति के प्रति क्षोभ और 'की ही विधवा है' में यह संकेत है कि इतनी पीड़ित और असहाय विधवा संसार के और किसी स्थान में नहीं

मिल सकती। पति-हीन विधवा को 'इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी', कह कर कवि धर्म के प्रति अपने विद्रोह-व्यंग को भी स्पष्ट कर देता है। विधवा के लिये प्रयुक्त विशेषणों और उपमाओं से हम कवि की करुणा, विवशता, विधवा की पवित्रता और सदाशयता तथा राष्ट्र की दयनीय स्थिति के साथ निराला के अर्थवाही विद्रोह से सहज ही परिचित हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि सन् '१४ से लेकर सन् '६५ तक के बीच की सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारधाराओं का जो सम्यक नियोजन हमें निराला-साहित्य में मिलता है, वह किसी अन्य कवि में नहीं। यही कारण है कि उनका काव्य-व्यक्तित्व भावुक-कवि-कलाकार की सीमा पार कर एक जागरूक युग-पुरुष की महिमा से मंडित और आलोकित था। वे जानते थे कि—

करना होगा यह तिमिर पार
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व समर
रह सत्य मार्ग पर स्थिर निर्भर।

अपने इसी निश्चय के अनुसार उन्हें जीवन व्यापी अंधकारपूर्ण परिस्थितियों से लड़ना-जूझना और विद्रोह करना पड़ा है। उनकी स्वजातीयता की विद्रोह-भावना पर ध्यान दीजिये—

ये कान्यकुब्ज-कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषय-बेलि में विष ही फल,
यह दग्ध मरुस्थल—नहीं सुजल !

अर्थ-पिशाचों पर उन्होंने करारी चोट की है—

लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर,
हारता रहा मैं स्वार्थ समर।

●

है वहाँ मान,
इसलिये बड़ा है एक, शेष छोटे अजान,
पर ज्ञान जहाँ,
देखना—बड़े, छोटे, असमान, समान वहाँ—

सब सुहृद् वर्ग
उनकी आँखों की आभा से दिग्देश स्वर्ग !

धनी-मानी और ज्ञानी का यह अन्तर कितना बोधगम्य और उदात्त है, इसे निराला अच्छी तरह जानते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि प्राचीनों ने लक्ष्मी का वाहन उल्लू बनाकर धनियों को ही उल्लू बनाया है।

साधारण जनों के नाम पर जो राजनीतिज्ञ अपने अज्ञान पर मिट्टी डालने के लिये भाषा की सरलता और हिन्दू-मुस्लिम एकता के नाम पर भाषा को असंस्कृत बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं तथा साहित्य को अपने नपे-तुले दिमाग के विचारों की तरह अथवा आय-व्यय की संख्या की तरह प्रकोष्ठों में बन्द करना चाहते रहे हैं, उन पर भी निराला ने बहुत तीव्र छींटाकशी की है। उन्होंने लिखा है—जब कुछ खास आदमियों के कल्याण की बात सोची जायगी, तब कुछ खास आदमियों का अकल्याण भी साथ-साथ होगा। यह अनुल्लंघ्य दर्शन है। इसीलिये वृहत् साहित्य यानी ऊँचे भावों से भरा हुआ साहित्य कभी देश, काल या सख्या में नहीं रहा और उसी से देश, काल और संख्या का अब तक यथार्थ कल्याण हुआ है। उन प्राचीन बड़े-बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। साहित्य में भावों की उच्चता का ही विचार रखना चाहिये। भाषा भावों की अनुगामिनी है। फिर नेतृत्व का एक संस्कार भी होता है; जो चेतन को जड़ और समझदार को मूर्ख मानता है।

दूसरी तरह से भी राजनीतिकों की उन्होंने पोल खोली है—

वायुयान से भारत पर रखता चरण-कमल,
पत्रों के प्रतिनिधि दल में मच जाती हलचल,
दौड़ते सभी, कैमरा हाथ, कहते सत्वर
निज अभिप्राय, मैं सभ्य मान जाता झुककर,
होता फिर खड़ा इधर को मुखकर कभी उधर,
बीसियों भाव की दृष्टि सतत् नीचे ऊपर;
फिर देता दृढ़ सन्देश देश को मर्मान्तिक,
भाषा के बिना न रहती अन्य गंध प्रान्तिक !

इनके साथ लोक-रीति, कुल-रीति, धार्मिक जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं पर भी उन्होंने विद्रोहात्मक प्रहार बराबर किया है। प्राचीन भार ढोने में अपमान समझ कर उन्होंने अपनी एकमात्र कन्या का विवाह 'आमूल नवल' ढंग से कर दिया और दामाद से कहा—

तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम
मैं सामाजिक योग के प्रथम,
लग्न के, पढ़ूंगा स्वयं मंत्र
यदि पंडित जी होंगे स्वतंत्र

इतना ही नहीं, उन्होंने एक कार्य और किया तथा उसका उल्लेख भी उसी मुक्त-हृदय से कर दिया—

माँ की कुल शिक्षा मैंने दी
पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची
सोचा मन में, 'वह शकुन्तला
पर पाठ अन्य यह अन्य कला'।

यह निराला का सजीव तथा सक्रिय विद्रोह है। एक बात और ध्यान देने की है—पिता द्वारा कन्या के यौवन-सौन्दर्य का ऐसा दीप्त तथा उदात्त चित्रण केवल हिन्दी में ही नहीं, विश्व-साहित्य में भी खोजने पर शायद ही मिले। इसके भीतर भी निराला का विद्रोह व्यंजित है। जिस प्रकार धरती के पंक से ऊपर उठकर ही पंकज अपने सौन्दर्य को प्रस्फुटित करता है, समुद्र का खारा जल प्रकाश किरणों के साथ मुक्त आकाश में विचरण के बाद ही माधुर्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार कवि-कलाकार अपनी दैहिक तथा प्राणिक स्थितियों से ऊपर उठकर जब अपने आत्मलोक में संस्थित होता है तभी उसके सृजन में सौन्दर्य और माधुर्य के ऐसे अस्खलित चित्र अंकित होते हैं—

धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज-तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सत्वर
ज्यों मालकौश नव वीणा पर
नैश स्वप्न ज्यों तू मंद मंद
फूटी ऊषा जागरण छंद,
काँपी भर निज आलोक भार।
काँपा वन, काँपा दिक प्रसार।

●

तू खिची दृष्टि में मेरी छवि,

जागा उर में तेरा प्रिय कवि,
उन्मन-गुंज सज हिला कुंज
तरु-पल्लव कलि दल पुंज-पुंज
बह चली एक अज्ञात वात
चूमती केश-मृदु नवल गात,
देखती सकल निष्पलक-नयन
तू, समझा मैं तेरा जीवन !

विद्रोही निराला की तटस्थता और मार्मिकता का इससे श्रेष्ठ उदाहरण और हो भी क्या सकता है ? सम्पूर्ण काव्य-साहित्य में शाकुंतल के कण्व की करुणा के पश्चात् नारी के कन्या-रूप का यह चित्र केवल निराला के ही काव्य में गौरवान्वित है।

जो भी हो, भाग्य, धर्म, समाज सभी की संकीर्ण सीमाओं पर प्रहार करना, उनसे विद्रोह करना निराला की जन्मजात प्रवृत्ति थी। सीमा तो वे किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करना चाहते। 'पंचवटी-प्रसंग में राम सीता से कहते हैं—

छोटे घर की लघु सीमा में
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये,
प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निःसीम भू पर।
प्रेम की महोर्मि-माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।

मूर्ति-पूजा के प्रति भी निराला ने अपना विद्रोह प्रकट किया है—मूर्तियों को पूजा कर प्रसाद स्वरूप एक भाई के सिर पर दोहत्था लट्ठ धमकने वाले मूर्ति-पूजन का कितना बड़ा तत्व जानते हैं, यह तो यहाँ रोज साबित हुआ करता है। दस पैसे के स्वार्थ में अशक्त एक सजीव मूर्ति की जान लेने के लिये तैयार धनी मूर्ति-पूजक जी अपनी उस प्रकार की स्थिति में डटे हुए विश्व का हिला देंगे, ऐसे प्रसंग अपनी चौपाल की चारपाई पर ही लोग छेड़ा करें। बाहर हम लोगों को कुछ लज्जा लगती है। पुरुषों और स्त्रियों में देव और देवियाँ नहीं, पत्थरों में हैं। पर हमारे ठाकुर जी तो मंदिर के अहाते से बाहर भी नहीं निकल पाते, न हमारे ज्ञान से और न अपने कर्मों द्वारा। इसलिये हम समाज

तथा साहित्य में अपनी बहुत दिनों की भूली हुई उस शक्ति को आमंत्रित करना चाहते हैं, जो अव्यक्त रूप से सब में व्यक्त, अपनी आँखों से विश्व को देखती हुई अपने ही भीतर उसे डाले हुए है; पानी की तरह सहस्रों ज्ञान-धाराओं में बहती हुई, स्वतंत्र; किरणों की तरह सब पर पड़ती हुई मधुर, उज्ज्वल, अम्लान मृत्यु की तरह नवीन जन्मदात्री, सर्व शाखाओं की तरह अगणित प्रसार से फैली हुई, प्रत्येक मूर्ति में चिरकमनीय ।

समस्त विश्व प्रकृति को, समस्त प्राणियों को अपने में समाहित कर लेने वाले कवि का यह विद्रोह कितना व्यापक, विराट और समभाव की अभेद दृष्टि से आलोकित है, कहने की आवश्यकता नहीं । समात्म भाव की यही चेतना कलात्मक उच्चता की जननी है ।

हिन्दी भाषा और साहित्य का यह सौभाग्य रहा है कि अपने जन्मकाल से ही उसे शासन और राजनीतिकों से मोर्चा लेना पड़ा है, जिससे उसकी शक्ति निरंतर बलवती होती गई है । आज देश के स्वतंत्र हो जाने पर भी उसका संघर्ष समाप्त नहीं हुआ । इस भाषा और साहित्य के रूप, प्रयोग और व्यापकता के लिये हमारे युग में निराला ने सबसे अधिक संघर्ष और विद्रोह किया है, इतिहास इस बात का साक्षी है । गांधी और नेहरू से भी उनकी मुठभेड़ हुई थी और भाषा-साहित्य के विषयों पर निराला ने अपने अकाट्य तर्क उनके सामने रखे थे । उनके साहस तथा विद्रोह की ये ऐसी अजर-अमर रेखायें है, जिन्हें साहित्य का इतिहास कभी मिटाने में समर्थ नहीं हो सकता । विशेषता यह है कि भ्रम, रूढ़ि, संकीर्णता तथा किसी भी अनौचित्य के विरुद्ध निराला का विद्रोह बड़े ही कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है । यही कारण है कि कभी व्यक्तिगत राग-द्वेष की गंध उसमें नहीं आने पायी । अपने विद्रोह की आकुलता में कवि 'यौवन दुर्द्धर्ष कर्ष-मर्ष' से लड़ा अवश्य, परन्तु उसमें एक संयम के साथ विरोधियों के प्रति सहानुभूति भी है—

उसके भीतर जो स्तव,
सुना नहीं कोई रव ?
हाय देव, दव ही दव
बन्धु को मिला ।
कुहरित भी पंचम स्वर,
रहे बंद कर्ण-कुहर,
मन पर प्राचीन मुहर,
हृदय पर शिला ।

यह भी सच है कि एक व्यापक सामूहिक कल्याण के उद्देश्य के लिए विघ्न-विषम प्राचीनता को अपने तूफानी विद्रोह से उलट देने में निराला को कभी कोई शंका नहीं हुयी। परन्तु नवीनता के आकर्षण और पुरातनता के प्रति विद्रोह का आशय यह नहीं कि निराला ने अपनी स्वस्थ संस्कृति अथवा विकासशील परम्पराओं की भी उपेक्षा की है। 'यमुना के प्रति', 'तुलसीदास', 'महाराज शिवाजी का पत्र', 'जागो फिर एक बार' आदि अनेक काव्य-कृतियों में जातीय तथा राष्ट्रीय गौरव, अतीत के प्रति सम्मान और प्राचीन उपयोगी परम्पराओं के प्रति आस्था का स्वर अपने उदात्त रूप में मुखरित हुआ है। निराला की मान्यता है कि अतीत-वर्तमान के आदान-प्रदान पर ही भविष्य की कल्पना गीतशील होती है और उसका स्वरूप गठित होता है—

कठिन-शृङ्खला बजा-बजाकर
गाता हूँ अतीत के गान,
मुझ भूले पर उस अतीत का
क्या ऐसा ही होगा ध्यान ?
शिशु पाते हैं माताओं के—
वक्षस्थल पर भूला गान,
माताएँ भी पातीं शिशु के—
अधरों पर अपनी मुस्कान।

वास्तव मे जो कवि-मनीषी अपने उच्च उद्गम का अनुभव कर लेता है, वह व्यक्तित्व और परिवार की परिधि पाकर भी अपने भाव-प्रसार में पारावार बन जाता है। व्यक्ति की असरण-शक्ति के विकास का ही रूप युग-धर्म बनता है। अनेकानेक प्राचीन बातें, प्राचीन राहें, प्राचीन चाहें और आहें, प्राचीन रंग-ढंग, आचार-व्यवहार, भाव-विचार युग-धर्म के आग्रह पर अपना रूप बदल देते हैं। कुछ स्वेच्छा से कुछ दबाव की विवशता से। साहित्य इस क्रिया मे आग भरता चलता है क्योंकि उसके अस्तित्व की शपथ ही निरन्तर गतिशीलता है तभी वह जीवित भी रह सकता है अन्यथा मृत या पिछड़ा हुआ। साहित्य में निराला का विद्रोह इसी गति की आकांक्षा का प्रतिफलन है। 'देवी' कहानी में उन्होंने स्वयं अपने प्रति, छाया-युग के पूरे आन्दोलन के प्रति विद्रोह का स्वर ऊँचा किया है। पगली का जीवन समाज के ठेकेदारों, राजनीतिकों, नेताओं के साथ कला और साहित्य के उन महारथियों के प्रति भी विद्रोही है जो साहित्यिक

आभिजात्य के रंगमहल में बैठकर उसकी नींव की ईंटों—दीन-हीन, शोषित-उपेक्षित जनों को सवर्था भुला देते है। आशय यह कि आवश्यकतानुसार निराला ने किसी पर भी अपने विद्रोह की 'चाबुक' चलाने में आनाकानी नहीं की, पर उनका लक्ष्य सदा व्यक्ति न होकर वह व्यवस्था रही है जिसमें विषम भीषण वृत्तियों की जड़ता को प्रश्रय और पोषण मिलता है। अपने पौरुष, ओज और विद्रोह के माध्यम से उन्होंने जो शक्तिमत्ता प्रदान की है, उसकी समानता मिलनी कठिन है। व्यक्तिगत संवेग के साथ संवेदना की महार्घता में वे अकेले ही हैं।

निराला का विद्रोह उस प्रचंड आँधी की तरह है जो मृत जीर्ण-शीर्ण तथा नीरस तिनकों एवं सूखे विवर्ण पत्तों को उड़ाकर धरती में नये-नये बीजों को बिखेर देती है, सड़ी-गली अकारण स्थान घेरने वाली वस्तुओं को हटाकर उपयोगी तथा नूतन वस्तुओं के लिये जगह बना देती है, अंधी से अंधी गुहा-गली के भीतर घुसकर वहाँ के जीवन को अपने कठोर झोंकों से संचालित एवं स्पंदित कर देती है, पुराने तथा फलदान में असमर्थ पेड़ों को उखाड़कर धराशायी कर देती है और मुक्त-गति के साथ जीवन की विकासमयी चहल-पहल का संचार करती हुयी समस्त धरातल को अपनी प्रचंड बाहों में भर लेती है। यह आँधी देखने में उद्दंड तथा उच्छृंखल मालूम पड़ती है, पर अपने उद्देश्य में सुश्रृंखलित एवं परम उपयोगी होती है। निराला का विद्रोह भी ऐसा ही था। ठीक प्रलयंकर शिव के तांडव नृत्य की तरह, जिसका उद्देश्य नवीन सृष्टि होती है।

छाया-युग के साथ अत्यंत घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हुये भी उसमें व्याप्त तथा प्रचलित दुर्बलताओं का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। उसकी अति मधुरता, शृंगारिकता, लघुचित्रों की बहुलता, भाव-क्षेत्र की संकीर्णता के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह किया और उसे दिगंत व्याप्त बनाने की साधना भी की। उन्होंने साफ शब्दों में अपना अभिमत प्रकट किया है—हिन्दी की मधुरता के साथ इस समय ओज की भी जरूरत है।

इसकी पूर्ति के लिये उन्होंने ओजस्वी रचनाओं की सृष्टि भी की और शृंगार की अतिशयता से ऊब कर वीर, रौद्र रसों की उद्भावना से उसके भंडार को सम्पन्न किया। 'राम की शक्ति पूजा' में शृंगार, वीर, रौद्र और करुण रसों का सफल समाकलन पाया जाता है। विराट चित्रों के तो निराला विधाता ही थे। ग्रीष्म का एक विराट प्रलयंकर चित्र देखिये—

यह सान्ध्य समय

प्रलय का दृश्य भरता अंबर,
पीताभ, अग्निमय, ज्यों बुर्जय
निर्धूम, निरभ्र, दिगन्त प्रसर
कर भस्मीभूत समस्त विश्व को एक शेष,
उड़ रही धूल, नीचे अदृश्य हो रहा देश।

ऐसे उदाहरणों से पता चलता है कि भाषा और साहित्य के जिन क्षेत्रों में जो अभाव निराला देखते थे उनकी पूर्ति के लिये औरों को तो ललकारते ही थे स्वयं भी उसके आकलन में जुट जाते थे। वास्तव मे निराला ने साहित्य में जिन विकासशील नूतन प्रवृत्तियों के स्थापन की चेष्टा की है, वे प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिजों का स्पर्श करती हुई आधुनिक विश्व-साहित्य का शृंगार करती हुयी दिखायी पड़ती हैं। वस्तुतः उनका विद्रोह अपनी सार्वभौमिकता के कारण न केवल राष्ट्रीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का अधिकारी है।

विदेशी संस्कृति और शोषण के प्रतीक गुलाब तथा नवीनता के उपासक संस्कृति-हीन देशी उद्भूति, दोनों के प्रति निराला ने विद्रोह किया है। उनकी 'कुकुरमुत्ता' कविता इसका प्रौढ़ प्रमाण है। 'कुकुरमुत्ता' की 'एक बात'—भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है—'युग के अनुकूल इसकी रूप-रेखा है। पाठक आधुनिकता का आदर्श देखेंगे। लिखने वालों के लिये भी, भाषा और भावों के संस्कार से सुविधा कर दी गई है। वे कविता के एक आधुनिक अंग की भाषा की लीक पकड़ सकेंगे। किताब पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना विज्ञप्ति पढ़ने से अच्छा है।' निराला के इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि इस कृति में जिस मानवीय चेतना के ऐतिहासिक विकास के अधुनातनकाल की प्रबुद्धता—आधुनिकता का सकेत किया गया है, युगव्यापी जिस संवेदना को उभारा गया है, बुद्धिसाध्य जिस चिंतन को प्रश्रय दिया गया है, साधारण बोल-चाल की जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, व्यंग्य की जिस तीक्ष्ण दोधारी तलवार का उपयोग किया गया है और जिन उपेक्षित विषयों और वर्गों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है, वही आज की कविता की संचरण-भूमि है। बाद के प्रयोगवाद और नयी कविता इसी केन्द्र की पार्श्वच्छवियाँ हैं। आधुनिकता के उन्मेष का प्रथम स्वर यही है। कह सकते हैं कि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के मूल प्रेरणा-स्रोतों का उद्गम निराला की विराट काव्य-भूमि ही है, इसे सभी स्वीकार भी करते हैं।

अस्तु, आज काल के इस वर्तमान बिन्दु पर खड़े होकर जब हम अपने साहित्य के पिछले पचास वर्ष के इतिहास की ओर मुड़ कर दृष्टिपात करते हैं

तब सहज ही यह समझ लेते हैं कि निराला का विराट विद्रोही-बादल व्यक्तित्व हमारी सम्पूर्ण साहित्य-धरती को अपने विशाल और प्रबुद्ध बहुविधि सृजन की शीतल छाया से आच्छादित किये हुये है। ऐसे प्रतिनिधि कवि, युग-पुरुष, महाप्राण, विद्रोही व्यक्ति के आदान का प्रतिदान हम केवल इसी रूप में दे सकते हैं कि उनके द्वारा निर्मित पथ को प्रशस्त से प्रशस्ततर और प्रशस्ततर से प्रशस्ततम करते चलें, क्योंकि इससे बढ़कर निराला के प्रति कृतज्ञता का कोई दूसरा साधन नहीं हो सकता।

महादेवी जी की यह प्रेरणा हमें स्मरण रखनी है—'दीपक चाहे छोटा हो या बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्तव्य उसे सौंप कर चुपचाप डूब जाता है तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना ही उसका जाने वाले को प्रणाम है!'

व्यंग्यकार निराला | ६

'निराला किसी से भयभीत नहीं, अतः किसी के प्रति क्रूर होना उनके लिये सम्भव नहीं। उनके तीखे व्यंग्य की विद्युत-रेखा के पीछे सद्भाव के जल से भरा बादल रहता है।'

—महादेवी

साहित्य में व्यंग्य की सृष्टि सामान्यतः प्रायः दो कारणों से होती है। एक का आधार व्यक्तिगत होता है, तो दूसरे का सामाजिक। निराला के व्यंग्य अधिकतर सामाजिक आधार पर खड़े हैं। पूंजीवादी सभ्यता के दुष्परिणाम और राजनीतिकों की वाचाल ढोंगी मनोवृत्ति तथा अपरिणामदर्शी कृत्रिम नैतिकता ही उनके व्यंग्यों का मूलाधार है।

व्यापक जीवन की विपन्न स्थिति एवं मानवोचित साधारण अधिकारों के अन्यायपूर्ण अपहरण की तीव्र अनुभूति से उनके व्यंग्य उनकी स्वाभाविक प्रक्रिया का स्वरूप धारण करते से जान पड़ते हैं। भावुक उत्तेजना को दबाकर एक तटस्थ परीक्षण के पश्चात ही उन्होंने व्यंग्य का उपयोग किया है। यही कारण है कि उनके समस्त व्यंग्यों में स्वच्छ-सहज निर्वैयक्तिक भावधारा का प्रखर प्रवाह इठलाता चलता है, जिसमें सीमित क्षुद्र व्यक्तिगत राग-द्वेष की गंध खोज सकना सम्भव नहीं है। जिन्हें ऐसी गंध मिली है उन्हें अपनी नाक की दवा करनी चाहिए।

यह ठीक है कि ब्राह्मण, पुरोहित, पूंजीपति, पदवीधर, नेता, शासक, शोषक और ढोंगी उनके व्यंग्यों के शिकार हुये हैं, किन्तु मूललक्ष्य व्यक्ति नहीं, समाज ही रहा है। सामाजिक कुरीतियों और जीवन-व्यापी शोषण-शठताओं के प्रतीक व्यक्ति रूप यदि उनके व्यंग्यों की लपेट में आये भी हैं तो यह स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में इन व्यंगों को व्यक्तिगत आक्षेप का उदाहरण समझना अपने बुद्धि-वैभव को नकारना मात्र होगा।

प्रथम महायुद्ध के बाद प्रकाशित अपने उपन्यास 'अलका' में उनके व्यंग्यों का स्वस्थ सामाजिक स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'सुराज' का ठीक अर्थ भी न जानने वाले किसानों के साथ उस समय भारत में जो अमानुषिक

अत्याचार जमीदारों ने, देशी शासकों ने और विदेशी सरकार के साथ मिलकर जनता का रक्त चूसने वाले समाज के पंडों ने किया था, उन पर इस उपन्यास में बड़े ही कठोर और मार्मिक व्यंग्य किये गये हैं। पूंजीपतियों की युद्धकालीन लोलुपता और अवसरवादी अनाधिकारियों की अधिकार-पिपासा ने निरीह तथा श्रमजीवी जनसाधारण को जो पीड़ा पहुँचायी थी, उसी का इन व्यंग्यों में उद्‌घाटन और बखान पाया जाता है।

प्रथम महायुद्ध के घाव पूरी तरह भर भी न पाये थे कि द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका पहले से शतशः अधिक भयानक और भीषण रूप में सामने आ गई। ऐसी स्थिति में निराला को अपने व्यंग्यों की धार को और भी अधिक तीक्ष्ण करना पड़ा तो यह उचित ही था। वर्ग, समाज तथा देश के कुहराछन्न-सघन-अंधतम वातावरण को बिद्ध करने के लिये व्यंग्यों के जिन अग्नि-बाणों का संधान निराला ने उस समय किया था, उनका सामाजिक एवं ऐतिहासिक महत्व सर्वविदित है। उनका एक-एक व्यंग्य उनकी ज्वलंत सामाजिक चेतना के प्रतीक रूप में प्रमाणित और प्रतिष्ठित है। इन व्यंग्यों के लिये समाज के व्यवसायी ठेकेदारों और जनता को मूर्ख बनाने वाले पुरोहित-नेताओं से निराला को वही सब सुनना पड़ा जो कभी रूसो और वाल्टेयर को सुनना पड़ा था, किन्तु उन्होंने उसकी तरफ ध्यान न देकर अपनी व्यंग्य-बाणों की बौछार को ही बढ़ावा दिया। वे भली भाँति जानते थे कि जीर्ण-शीर्ण पुरातन संस्कारों, अंधविश्वासों और ढोगों को भस्मीभूत करने का और कोई दूसरा उपाय ही नहीं है। वस्तुतः मन-बुद्धि-भाव की सच्ची प्रेरणाओं को व्यंग्य के कठोर धरा-तल पर रखकर उनसे जीवन सत्य को अंकुरित करने की चेष्टा उनकी अपनी निजी विशेषता रही है। सत्य को व्यक्ति के निजत्व से उठाकर उसे सर्व साधा-रण का बना देने की क्षमता का यह प्रौढ़ प्रमाण है।

युद्धकालीन स्थिति पर प्रकाश डालने वाली इन पंक्तियों की ओर ध्यान दीजिए—

> **दीठ बँधी, अँधेरा उजाला हुआ,**
> **सेधों का ढेला शकरपाला हुआ।**
> **माल हाट में है मगर भाव नहीं,**
> **जैसे लड़ने को खड़े दाव नहीं।**

गुलामी के जादू से, दलबंदी के उन्माद से, पदाधिकार की लोलुपता से, स्वार्थ की आसक्ति-अंधता से आँखे बँधी हैं। सफेद सेंधा नमक शकरपाला दिखाई

पड़ता हैं। उस समय यही हालत थी। जनता के हृदय का क्षोभ, असंगठित विद्रोह और विवशताजनित पारस्परिक कलहपूर्ण अकर्मण्यता के आलेख के साथ मानव कृत अकाल का संकेत इन पंक्तियों में साँस ले रहा है।

सन् '४२ की भीषण स्थिति पर प्रहार करने के लिये तथा साधारण जन और मानवीय सहानुभूति के परम उपयुक्त पात्रों की सत्ता का सच्चा स्वरूप चित्रित करने के लिये निराला की प्रख्यात कविता 'कुकुरमुत्ता' बेजोड़ और अमोघ है। इसमें हास्य तथा व्यंग्य एवं विनोद की सरस त्रिवेणी का स्निग्ध प्रवाह मन को मुग्ध करने के साथ-साथ सामाजिक चेतना का वह उन्मेष देता है, जो जीवनव्यापी विषमता को स्पष्ट करने में सहज ही सफल है।

'कुकुरमुत्ता' के व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह तीव्रता के साथ व्यापकता को भी संयोजित किये है। यह व्यंग्य किसी एक व्यक्ति, वर्ग, समाज, राष्ट्र पर ही लागू न हो कर जीवन की विविध क्षेत्रीय स्थितियों पर कुठाराघात करता है। इसीलिये गुलाब के साथ स्वयं कुकुरमुत्ता की भी खिल्ली उड़ाई गई है। यह सच है कि गुलाब उच्च-वर्ग का तथा कुकुरमुत्ता निम्न-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। गुलाब यदि पूँजीपतियों की शोषण रीति-नीति को प्रत्यक्ष करता है तो कुकुरमुत्ता भी उन बुद्धिजीवियों के ढोंग को स्पष्ट करता है जो अपनी वाचालता के बल पर अपने को विश्व-जीवन का केन्द्र मानते हैं। गुलाब-प्रेमी नवाब का कुकुरमुत्ता के प्रति सहसा आकर्षित होने का तथ्य विलास-कामी इन्द्रियलोलुप अवसरवादियों के प्रति चोंट करने के ही उद्देश्य से उभारा गया है। इसमें तत्कालीन साहित्य-प्रवृत्तियों के प्रति भी व्यंग्य किया गया है—

मुझी में गोते लगाये आदि कवि ने व्यास ने,
मुझी से पोथे निकाले भास कालीदास ने;
देखते ही रह गये मेरे ही किनारे पर खड़े,
हाफिज और टैगोर जैसे विश्ववेत्ता बड़े।
कहीं का रोड़ा, कहीं का लिया पत्थर,
टी० यस० एलीयट ने जैसे दे मारा,
पढ़ने वालों ने जिगर पर हाथ रख कर
कहा—'कैसा लिख दिया संसार सारा'
देखने के लिये आँखें दबाकर
जैसे सन्ध्या को किसी ने देखा तारा,

जैसे प्रोग्रेसिव का लेखनी लेते
नहीं रोका रुकता जोश का पारा
यहीं से यह सब हुआ
जैसे अम्मा से बुआ !

स्पष्ट है कि ईलीयटवादी—प्रयोगवादियों पर तथा प्रगतिवादियों पर यहाँ बौछार की गई है। नवीनता या आधुनिकता के आवेश में जो लोग अपने को अपनी सांस्कृतिक परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न करके चलना चाहते हैं, उनकी भी इसमें अच्छी मरम्मत की गई है—

आगे चली गोली जैसे डिक्टेटर
उसके पीछे बहार, जैसे भुक्खड़ फालोवर,
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर—
आधुनिक (Poet)

यह कहकर कि गोली और बहार ने 'कुकुरमुत्ता' का कबाब खाया और परम आत्मीय स्नेह-सम्बन्धों में बँध गईं, कवि वर्ग-सामंजस्य के माध्यम से एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है, जो उसका मुख्य उद्देश्य है। अन्त में माली की यह उक्ति कि 'कुकुरमुत्ता उगाया नहीं उगता' इस बात को स्पष्ट करती है कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति और उसका आधिपत्य स्वतः प्रेरित होना चाहिए न कि किसी के उपदेश या फैशनपरस्ती के फलस्वरूप। यदि ऐसा न हुआ तो जो परोपजीवी होने का दोष गुलाब में है, वही 'कुकुरमुत्ता' में भी आ जावेगा।

आशय यह कि 'कुकुरमुत्ता' का व्यंग्य इतना अनेकोन्मुखी है कि किसी एक वर्ग पर उसका आरोप उपयुक्त नहीं बैठेगा।

आधुनिक साहित्य में व्यंग्यास्त्रों के कुशल संचालक भारतेन्दु और निराला युग के कर्ण और अर्जुन के समान हैं। अन्तर केवल यह है कि भारतेन्दु के व्यंग्य यदि अखिल भारतीय थे तो निराला के अन्तर्राष्ट्रीय। वास्तव में संकट तथा अव्यवस्था के जिस ताण्डव ने निराला के व्यंग्यों को तीक्ष्णता और गति दी, वह भारतेन्दु-युग के लिये अकल्पनीय था। संसार भर के शोषितों, पीड़ितों और दलितों को 'कुकुरमुत्ता' के माध्यम से निराला ने जो आत्मचेतना दी है, वह केवल एकदेशीय न होकर अन्तर्देशीय भाव-स्थिति से सजग और समृद्ध है ! वर्ग-संघर्ष को उभार कर वर्गहीन समाज का आकलन और उन्मेष ही मुझे 'कुकुरमुत्ता' का मूल-उद्देश्य और उसकी मूल-शक्ति जान पड़ती है, क्योंकि

इसमें केवल भारतीयों की ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व की पीड़ित मानवता की पुकार प्रतिध्वनित है। व्यंग्य की ऐसी सार्वभौमिकता व्यंग्यकार के विराट व्यक्तित्व का ही प्रतिफलन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

विषमता और अव्यवस्था की तीव्र अनुभूति ही ऐसे व्यंग्यों की जननी होती है और बीसवीं शती की विषमता और भीषणता इतिहास में अनन्य है। इस शती के विश्वव्यापी जीवन में परिस्थितियों का जितना बड़ा व्यंग्य व्याप्त है शायद ही और कभी रहा हो। स्वभावतः इसकी प्रतिक्रिया साहित्य में भी परिव्याप्त है। व्यक्ति, वर्ग, समाज, राष्ट्र तथा अखिल मानवता के कलुष-कारण को काटने के लिये ही निराला ने अपने व्यंग्य-कुठार का उपयोग किया है। संसार के शोषितों को जयी बनाने के लिये सत्य, निर्भयता और प्रसन्न-साहस की जिस त्रिगुणात्मक प्रकृति-प्रवृत्ति को अनिवार्यता रहती है, वह निराला की जागरूक प्रतिभा को सहज ही सुलभ है। उनके व्यंग्य शक्ति, गति सहानुभूति और ओज से सधे अचूक अस्त्रों की भाँति चोट करने के साथ ही अपने प्रभाव मे भी स्थायित्व रखते हैं—

देख मुझको मैं बढ़ा;
डेढ़ बालिश्त और ऊँचे पर चढ़ा,
और अपने से उगा मैं
नहीं दाना, पर चुगा मैं,
कलम मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता !

अस्तु, यह निस्संकोच भाव से कहा जा सकता है कि निराला का 'कुकुरमुत्ता' आधुनिक युग का सब से बड़ा व्यंग्य है और निराला सबसे बड़े व्यंग्यकार।

स्पष्ट है कि यह व्यंग्य युग पर है, किन्तु कविवर बच्चन ने इसे निराला-पंत के पारस्परिक व्यंग्य-विनोद में बाँधने का प्रयत्न किया है, जो नितान्त काल्पनिक और अप्रत्याशित है। इसे स्वीकार करने वाला दूसरा व्यक्ति मिलना सम्भव नहीं। निराला जैसा सांस्कृतिक व्यक्ति संस्कृति-हीन कुकुरमुत्ते को अपना प्रतीक कैसे मान सकता था।

वर्ग-संघर्ष की उत्तेजना के साथ इस युग का आर्थिक वैषम्य भी अपनी नारकीयता में अद्वितीय है। इस कुरूप स्थिति पर भी निराला ने व्यंग्य किया है। धनिकों या पदवीधरों के सब दुर्गुण भूल कर लोग उनकी चाटुकारी में किस

प्रकार व्यस्त रहते हैं, उनकी झूठी प्रशंसा करते हैं, पत्रों में उनके चित्र छापते हैं, उन पर कविताएँ लिखते हैं, आदि की सजीव झाँकी इन पंक्तियों में मिलती है—

फिर लगा सोचने यथा सूत्र—मैं भी होता
यदि राजपुत्र—मैं क्यों न सदा कलंक ढोता,
ये होते—जितने विद्याधर—मेरे अनुचर
मेरे प्रसाद के लिये विनत-सिर उद्यत कर,
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर,
सम्मिलित कंठ से गाते मेरी कीर्ति अमर,
जीवन-चरित्र
लिख अग्रलेख अथवा छापते विशाल चित्र !

●

जमाने की रफ्तार में कैसा तूफाँ,
मरे जा रहे हैं, जिये जा रहे हैं !
खुला भेद विजयी कहाये हुये जो,
लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं।

●

भेद कुल खुल जाय वह
सूरत हमारे दिल में है.
देश को मिल जाय जो
पूँजी तुम्हारी मिल में है।

समाज, राष्ट्र और संसार में जब मिथ्या और धूर्तता की पूजा होने लगती है, सत्य का गला घोंटा जाने लगता है, व्यक्तिगत या संगठित पशु-शक्ति को बढ़ावा मिलने लगता है तब साहित्यकार के लिये व्यंग्यात्मक एवं विद्रूपात्मक हो उठना अनिवार्य हो जाता है। निराला ने इस अनिवार्यता का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। व्यंग्य का ऐसा उच्चाशयी सृजन केवल वही कलाकार कर सकता है, जो समस्त मानवता की व्यथा-वेदना से स्वयं आकुल-व्याकुल हो, दूसरा नहीं। निराला के व्यंग्यों में उनके अन्तर की गहनतम अनुभूतियों का आभास है, क्योंकि वे अपनी विराट संवेदना से मानवता के प्राणों को स्पर्श करने की क्षमता रखते हैं। भिखारी के बच्चों को जूठी पत्तल चाटते देखकर उन्होंने ही कहा था—

ठहरो अहो मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
अभिमन्यु जैसे हो सकोगे तुम
तुम्हारे दुःख मैं अपने हृदय में खींच लूंगा।

व्यंगकार के लिये जिस परिपक्व बुद्धि, व्यापक अनुभव और हृदय की विशाल संवेदनशीलता की आवश्यकता रहती है, वह निराला में अपनी परिपूर्ण स्थिति तक पहुँच चुकी है। परिणामतः उनके व्यंग्य बहुत ही मार्मिक और लक्ष्यभेदी हैं। अपने को सभ्य और शिक्षित कहने वाले आधुनिक मानव की हिंसात्मक वृत्तियों, शोषक नीतियों, युद्ध-प्रवृत्तियों और नितान्त बरबर रीतियों पर कठोर से कठोर कशाघात करने के लिये निराला ने अपने गद्य-पद्य में जिस व्यंग्य-सेना को मोर्चे पर रखा है उसका बहुत बड़ा महत्व और व्यापक उद्देश्य एवं उपयोग है। यों तो 'अनामिका' से ही उनके व्यंग्य का क्रम प्रारम्भ हो चुका था, पर सन् '४० के बाद वाली रचनाओं में उनके व्यंग्याग्नि की लपट अधिक दाहक और साथ ही प्रकाशप्रद भी है—

उठी निगह कि कहाँ से
कहाँ हुये हम भी,
दिखा कि ज्योति की छाया
में ह्रास बजता था।

रूस के आधार पर समाजवाद का ढोल बजाने वाले समाजवादियों पर तीखा व्यंग्य देखिए—

मेरे नये मित्र हैं श्रीयुत गिडवानी जी,
बहुत बड़े सोशलिस्ट
'मास्को डायलाग्स' लेकर आये हैं मिलने।
मुस्करा कर कहा, 'यह मास्को डायलाग्स' है,
सुभाष बाबू ने इसे जेल में मँगाया था।

●

उपन्यास लिखा है,
जरा देख दीजिए।
अगर कहीं छप जाय
तो प्रभाव पड़ जाय उल्लू के पट्ठों पर।

●

देखा उपन्यास मैंने

श्रीगणेश में मिला—
पृथ्य असनेहमयी स्यामा मुझे प्रेम है।
इसको फिर रख दिया, देखा 'मास्को डायलाग्स'
देखा गिडवानी को।

इसी प्रकार 'गर्म पकौड़ी' तथा 'प्रेम-संगीत' सामाजिक व्यंग्य के उदाहरण है। 'थोड़ों के पेट में बहुतों को आना पड़ा' आर्थिक शोषण पर करारा प्रहार है। 'मँहगू मँहगा रहा' में राष्ट्रीय नेता और काँग्रेसी नीति पर गर्म छींटा है। साथ ही जेल के प्रमाण-पत्रों पर अधिकार तथा व्यवसाय को बढ़ाने वाले लोगों पर, निहत्थी जनता पर गोली चलाने वालो शासन-व्यवस्था पर और व्यावसायिक पत्रों के मालिकों पर भी बौछार की गई है। साधारणजनों की तो बात ही क्या ? निराला ने भगवान राम के प्रति भी शूद्रों को लेकर व्यंग्य किया है—

मैंने देखा, बड़ा मैला
मन उसका समाज से,
चोट खाई हुई वह रामजी के राज से,
शूद्रों को मिला नहीं
जिनसे कुछ भी कहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यंग्य विधा में निराला की रचना 'नये पत्ते' का स्थान 'कुकुरमुत्ता' से कम नहीं। इसमें उनकी यथार्थवादी सामाजिक दृष्टि की पूर्णतम अभिव्यक्ति पायी जाती है और उनका सतत् साथी प्रगतिशील दृष्टिकोण भी सर्वथा स्पष्ट हो गया है।

अस्तु, बैर यह बाधाओं से अंध
प्रगति में दुर्गति का प्रतिबन्ध

सहते हुये निराला ने अपने व्यंग्यों द्वारा जीवन में जागरण का जो स्वर फूंकने का प्रयत्न किया है, वह अपनी क्षमता में अकेला है। हम उन्हीं के शब्दों को उन्हें ही अर्पित करते हुये केवल यही कह सकते हैं—

प्राणों में परमस्पन्द, भाषा में सुषुम छन्द,
भरा चरण-गमन-मन्द जीवन विष-विषम लिया,
साधन कितना उत्तम किया, जला दिया दिया !

निराला के व्यंग्यों में दिया जलाने की सार्थकता सभी को स्वीकार करनी होगी, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

● ● ●

समापन | ७

जग को ज्योतिर्मय कर दो।
प्रिय कोमल-पद-गामिनि ! मन्द उतर
जीवन मृत तरु-तृण-गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर
नूतन जीवन भर दो।

●

नव गति, नवलय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे

अपनी इस प्रार्थना को—हार्दिक इच्छा को अपने सृजन मे सक्रियता एवं सार्थकता देने वाले महाप्राण निराला का महाप्रयाण साहित्य-जगत के लिये कितना स्तब्धकारी है, कहने की आवश्यकता नही। 'जिनकी छाया में हमारे युग की यात्रा आरम्भ हुई, जिनकी वाणी में हमने नये जीवन की पुकार सुनी और जिनकी दृष्टि ने अन्धकार को भेदकर हमें भविष्य का पहला उज्ज्वल संकेत दिया, उनके अवश्यम्भावी अभाव की कल्पना (तक) हमारे लिये सह्य नहीं होती।' इसीलिये निराला का अभाव हमें एक अपूरणीय क्षति की विकलता से अभिभूत किये हुये है।

क्षीण का न छीना कभी अन्न
मैं लख न सका वे दृग विपन्न
अपने आँसुओं अतः बिंबित
देखे हैं अपने ही मुख चित।

ऐसे दुखव्रती और—

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
देख खड़ी करती तप अपलक,
हीरक-सी समीर-माला जप,

शैल-सुता अपर्ण-अशना;
पल्लव-वसना बनेगी—
वसन वासन्ती लेगी

ऐसे तपस्या-पूत नव जागरण के सृजन-उन्मद और

मेरे कवि ने देख तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानता क्यों तू इतना करती मुझको प्यार।
तेरे सहज रूप से रँगकर
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार।

ऐसे मधुव्रती विश्वासी तथा अमरता नापने वाले पदों की अर्चना-वन्दना शब्दों की किस ध्वनि से की जाय, अविचल गुरुता के गौरव-गान के लिए कौन सी रागिनी छेड़ी जाय, शिव और शक्ति से समन्वित युग के अर्द्धनारीश्वर को स्तब्ध, विगलित हृदय की किस संवेदना से श्रद्धांजलि दी जाय, समझ में नहीं आता।

परन्तु उनकी स्मृति, उन्हीं के शब्दों में—

मृदु सुगंध-सी कोमल दल फूलों की
शशि-किरणों की-सी वह प्यारी मुस्कान,
स्वच्छंद गगन सी मुक्त, वायु-सी चंचल
खोयी स्मृति की फिर आई-सी पहचान।
वह कली सदा को चली गई दुनिया से,
पर सौरभ से है पूरित आज दिगंत।
कवियों ने पहनाये चुन-चुन तुमको कितने हार,
वहाँ हृदय की हार—आँसुओं का अपना उपहार

देने में संकोच होना स्वाभाविक है, परन्तु इसके अतिरिक्त सर्वस्व त्यागी, अवढरदानी को कोई दे भी क्या सकता था, और दिया भी क्या है? अस्तु—

हे महा मानव! महाकवि।
हे कला के प्राण,
लिखे तुमने रक्तलिपि में
अमर अपने गान।
शब्द ध्वनि से सधी